गिरती दीवारें

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

गिरती दीवारें

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
प्रयाग

प्रथम संस्करण १९४७
द्वितीय संस्करण १९५१
तृतीय संस्करण १९५७

मूल्य ११)
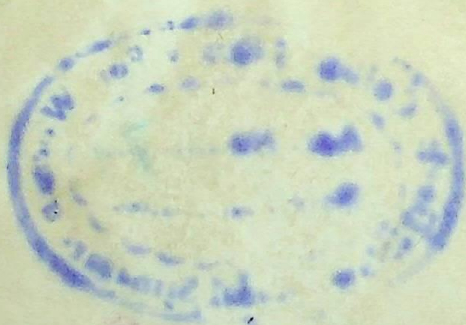
प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह, ५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद
मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

ज़िन्दगी के नाम

जो अपने सारे सुख-दुख के बावजूद दिलचस्प है

"......दुख और ग़रीबी का एक रोशन पहलू भी है। इनमें से गुज़रकर इंसान इंसान बनता है और उसमें दृढ़ता आती है......"

—प्रेमचन्द

प्रकाशक की ओर से

'गिरती दीवारें' आज से लगभग दस-बारह वर्ष पहले छपा था। इस अर्से में हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में इसने अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। पिछले दस वर्ष में किसी उपन्यास के पक्ष-विपक्ष में इतना नहीं लिखा गया जितना 'गिरती दीवारें' के और यह बात उपन्यास की शक्तिमत्ता का सहज-प्रमाण है।......जहाँ श्री नलिन विलोचन शर्मा अपने सारे भारीभरकमपन के साथ उपन्यास को अति साधारण बताते हैं, वहाँ श्री शिवदानसिंह चौहान उतने ही ज़ोर से इसे प्रेमचन्द की परम्परा में सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास मानते हैं। एक ओर रामविलास शर्मा इसे एक आँख नहीं देख पाते, दूसरी ओर शमशेर बहादुर सिंह न केवल इसमें स्वयं रस पाते हैं, वरन् दूसरों का मार्ग भी सुगम करते हैं। फिर श्री सुमित्रा-नन्दन पंत इसकी एक-एक पंक्ति पढ़ जाते हैं और श्रीमती महादेवी इसकी भूलभुलैयाँ में राह नहीं पातीं—अज्ञेय, अमृतराय, प्रभाकर माचवे, सुरेन्द्र बालूपुरी, आदित्य मिश्र, शिवचन्द्र शर्मा, देवराज उपाध्याय, मिसला मिश्रा, गंगाप्रसाद पांडेय...अलग-अलग स्कूल के आलोचकों और

साहित्यिकों में ही नहीं वरन् एक ही स्कूल के आलोचकों और साहित्यिकों में भी इसके सम्बन्ध में घोर मतभेद है।....और लेखक ने सारे-के-सारे उपन्यास में कहीं कुछ नहीं कहा। अपनी ओर से कोई भाषण नहीं दिया। उसकी बात जानने के लिए उपन्यास के हर पन्ने को पूरे ध्यान से पढ़ना ज़रूरी है।

इस संस्करण को लेखक ने महीनों के श्रम से संशोधित और परिवर्धित कर, पहले से कहीं अच्छा बना दिया है।

उन पाठकों के लिए जो केवल मनोरंजन के लिए उपन्यास नहीं पढ़ते, दो आलोचनाएँ और लेखक का अपना दृष्टि-कोण भी संकलित कर दिया गया है, जिससे इस संस्करण की उपादेयता कहीं अधिक बढ़ गयी है।

प्रकाशक की ओर से हम उपन्यास के पहले प्रकाशक के शब्दों को ही दोहराना पर्याप्त समझते हैं कि "भले ही कुछ लोग चेतन (उपन्यास के नायक) के विचारों से सहानुभूति न रखें, परन्तु उनकी उपेक्षा करना उनके लिए भी कठिन होगा और जैसा कि श्री देवराज उपाध्याय ने उपन्यास की तीव्र-आलोचना करते हुए भी विवश हो माना है—"चेतन के जीवन-प्रवाह की घटनाओं में हम अपने ही जीवन की झलक पाते हैं और लाख कोशिश करने पर भी उसकी सत्यता में अविश्वास नहीं कर पाते। उपन्यास में वर्णित घटनाएँ छाया की तरह हमारा पीछा करती हैं और उनसे पिंड छुड़ाना कठिन हो जाता है।"

९ फरवरी १९५१ **प्रकाशक**

अपने पाठकों और आलोचकों से

आज से लगभग तेरह-चौदह वर्ष पहले की बात है, मैं एक साँझ मकतबा-ए-उर्दू[1] लाहौर में बैठा योंही किताबें उलट रहा था कि प्रो० फ़य्याज़ महमूद आ गये। प्रोफ़ेसर साहब मेरी ही उम्र के युवक थे। उन्हीं दिनों लिखने लगे थे। कहानियाँ और एकांकी लिखते थे। दो चार रचनाओं ही से उन्होंने साहित्यिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था—न बहुत उतार न चढ़ाव, एक-सी गति से बहने वाली मैदानी नदी की-सी उनकी शैली थी। पर बड़े सूक्ष्म व्यंग्य और मँजी हुई लेखनी से वे उसे आकर्षक बना देते थे—बात-बात में जाने कैसे, उपन्यास की बात चल पड़ी। उन दिनों मेरा उपन्यास 'सितारों के खेल' प्रकाशित हुआ था, उसको लेकर बात आरम्भ हुई अथवा चौधरी नज़ीर[2] ने उनसे कोई उपन्यास लिखने को कहा, जो भी हो, प्रोफ़ेसर साहब बोले कि वे पहले से गढ़े-गढ़ाये उपन्यास पसन्द नहीं करते। वे कभी लिखेंगे तो ऐसा उपन्यास लिखेंगे जो जीवन ही की तरह चले, बढ़े और फैले; पहले से तय-शुदा आरम्भ या अन्त उसका न हो। (ऐसे उपन्यास का अन्त पहले से निश्चित हो भी कैसे सकता है? अन्त तो व्यक्तियों का निश्चित है, जीवन तो अविरत हिलोरें लेने वाले महासागर-सा अक्षय है।)

नहीं जानता प्रोफ़ेसर साहब ने अपना वह उपन्यास लिखा या नहीं?

---

[1] **मकतबा-ए-उर्दू=लाहौर का प्रसिद्ध प्रकाशन-गृह, जो लाहौर के साहित्यिकों की रांदेवू (सम्मिलन-स्थल) था। घूमते-फिरते लेखक जहाँ दिन में एक-आध बार अवश्य जा पहुँचते थे।**

[2] **चौधरी नजीर अहमद=मकतबा के संचालक।**

(उपन्यास तो दूर, वर्षों से उनकी कोई कहानी भी नहीं देखी। साहित्य-सृजन शायद उनके एकांत क्षणों का विनोद-मात्र था। एक से जब दो हुए तो शायद उन्हें समय नहीं मिला।) पर मेरे दिल में अनजाने ही उनकी बात रम गयी। 'सितारों के खेल' १९३८ में लीडर प्रेस, प्रयाग से छपा था और यद्यपि 'हंस' में उसकी बड़ी ही अच्छी समालोचना हुई और दूसरे पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसका प्रोत्साहन भरा स्वागत किया, पर मैं अपने उस उपन्यास से उतना सन्तुष्ट न था और जिस प्रकार 'जय-पराजय' लिखने के बाद मैंने तय कर लिया था कि वैसा नाटक न लिखूँगा, इसी तरह 'सितारों के खेल' समाप्त करते ही मैंने तय किया कि वैसा गढ़ा-गढ़ाया उपन्यास अब मेरी कलम से दूसरा न आयेगा।

मेरा यह निर्णय केवल प्रोफ़ेसर महमूद की उस चलते-चलते कही गयी बात के कारण हो, ऐसा नहीं। मेरा अपना जीवन उन दिनों कुछ ऐसी तेज़ी से बदला कि उसके साथ, जाने या अनजाने, ज़िन्दगी के बारे में मेरा दृष्टि-कोण बदल गया। पहले मन कुछ ऐसे कल्पना-लोक में रहता था कि निकट का कूड़ा-करकट, भूख-ग़रीबी, रोग-शोक, गंदगी, ग़लाज़त कुछ भी दिखायी न देता था। उन दिनों मैंने बग़दाद और बम्बई को बिन देखे वहाँ की रोमानी कहानियाँ लिखीं; पहाड़ी प्रदेशों से बिना गुज़रे वहाँ के प्रेम-अफ़साने लिखे और राजस्थान के जीवन का गहन अध्ययन किये बिना अपना नाटक 'जय-पराजय' लिखा, जिसमें कई आदर्श-मानवों की सृष्टि की। वे चीज़ें बहुत अच्छी समझी गयीं और आज भी बहुत से पाठकों को प्रिय हैं, पर मेरे लिए वह सब अरुचिकर हो गया। बहुत से ऐसे कवि जो मुझे प्रिय थे और जिनकी रचनाएँ पढ़कर मैं झूम उठता था और मेरी नींद हराम हो जाती थी (अब भी अपनी कला को सँवारने के लिए मैं जिनकी शरण जाता हूँ) मुझे वस्तु के लिहाज़ की दृष्टि से एकदम फीके लगने लगे। मेरी उस नयी दृष्टि ने अपने आस-पास जो जीवन

देखा, उनमें से कोई भी उसे न छूता था। ठहरे पानी की सतह पर ज़ोर से फेंकी गयी चपटी ठीकरी की तरह वे जीवन-सागर के ऊपर-ऊपर बड़े सुन्दर ढंग से फिसलते चले जाते थे। वैसे फिसलते चले जाना मुझे नहीं रुचा।

'जय-पराजय' की 'भारमली' के सम्बन्ध में कभी डाक्टर नगेन्द्र ने लिखा था—'और भारमली। वह तो देवसेना और मालविका के गौरव की अधिकारिणी है। भारमली इस युग की अमर-सृष्टि है'—और यदि मैं उसी पथ पर अग्रसर रहता तो लेखनी की प्रौढ़ता से निश्चय ही 'चंड' अथवा 'भारमली' से कहीं ऊँचे पात्रों की सृष्टि करता। पर उस नयी दृष्टि से देखने पर मुझे लगा कि चंड और भारमली जैसा तो एक भी पात्र कहीं नहीं मिलता; कि मानव तो गुण-दोषों से बना है; कि जीवन तो कूड़े-करकट, धुएँ-धुंध, गर्द-गुबार, कीचड़ और दलदल से अटा पड़ा है; कि प्रकृति मानव के दुख-सुख से नितान्त उदासीन, अपनी आभा व अप-रूपता बिखेरती है और वह अपने सुख-दुख के चश्मे से उसे देखता है; कि वह सुखी होता है तो प्रकृति की भयावहता भी उसे सुन्दर लगती है, दुखी होता है तो उसका अनुपम सौन्दर्य भी उसे वीभत्स दिखायी देता है; कि वह इतना सरल नहीं कि देवता हो, वह पासे का सोना नहीं, अष्ट-धातु का मिश्रण है; कि उसके बाहर ही उलझनों का अपरिमित विस्तार नहीं, उसके अन्तर में भी बेगिनती स्तर हैं, जिनके नीचे ऐसी-ऐसी अँधेरी कन्द-राएँ हैं, जिनकी झाँकी-मात्र कँपा देने को यथेष्ट है। और मैंने सोचा कि किसी पासे के सोने से बने देवता का चरित्र-चित्रण करने के बदले इस अष्ट-धातु से बने मानव का चित्रण क्यों न किया जाय और देवता की आँखों से उस प्रकृति को देखने के बदले इसी मानव की आँखों से उसे क्यों न देखा जाय।

उन्हीं दिनों मैंने 'गोदान' पढ़ा और मुझे यह मानने में तनिक भी

संकोच नहीं कि उसका मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा। पहली बार प्रेमचंद के आदर्शवाद ने यथार्थ की आँखों से देख, गुण-दोषों का पुतला, अपने वातावरण में पिसता और उससे लड़ता, अपनी विवशता ही से शक्ति ग्रहण करता एक पात्र सृजा था—और 'होरी' का चरित्र-चित्रण मुझे बहुत अच्छा लगा।

लेकिन मेरी आकांक्षा बड़ी थी, अनुभूतियाँ भी बड़ी (गहरी) थीं, मैं 'गोदान' से कहीं बड़ा उपन्यास लिखना चाहता था। बीसियों छोटे-छोटे ऐसे अनुभव थे जो नाटकों अथवा कहानियों में—जैसी नख-शिख से दुरुस्त कहानियाँ मैं तब लिखता था—न समा सकते थे और मैंने देखा था कि जीवन तो वास्तव में उन्हीं छोटे-छोटे अनुभवों, उन्हीं नन्हीं-नन्हीं, प्रकट में अकिंचन और निरर्थक, पर यथार्थ-जीवन पर गहरा असर छोड़ जाने वाली तफ़सीलों (Details) से बना है और मैंने, कदाचित प्रो० महमूद की बात से प्रेरणा पाकर, निम्न-मध्य-वर्ग के एक साधारण युवक के जीवन का ख़ाका खींचने का फ़ैसला कर लिया। मैंने उपन्यास का जो ढाँचा बनाया, वह उन्हीं अनुभूतियों को दृष्टि में रखकर बनाया और उस युवक के जीवन के पाँच वर्ष ले लिये और सोचा कि उस पाँच वर्ष के जीवन पर तीन भागों में एक बड़ा उपन्यास लिखूँगा। (मन में कहीं यह आकांक्षा भी थी कि यदि वह उपन्यास लिखा गया तो अगले पाँच वर्षों पर फिर उतना ही बड़ा और उनसे अगले पाँच वर्षों पर एक और उतना ही बड़ा उपन्यास लिखूँगा।) 'गिरती दीवारें' उस वृहद उपन्यास का पहला भाग—अथवा यों कहा जाय कि पहले भाग से (जहाँ मैं पहला भाग समाप्त करना चाहता था, उससे) कुछ कम है। उपन्यास का ढाँचा बनाकर मैंने चार परिच्छेद लिख भी लिये। पर नायक की अन्तर और बाह्य की उलझनों को समान-रूप से प्रकट करने वाला जैसा उपन्यास मैं लिखना चाहता था, यह पुराने पैटर्न (बुनावट) पर चल न सकता था और नया पैटर्न मेरे पास था नहीं। तब मैंने नये पैटर्न की खोज की।

दुर्भाग्य से मैंने अधिक उपन्यास न पढ़े थे। (अब तक भी नहीं पढ़े, पहले धन और बाद में अवकाश का अभाव सदा मेरी इस अभिलाषा के मार्ग की दीवार बना रहा) मेरे एक मित्र तुर्गनेव पर फ़िदा थे। उन्होंने मुझे तुर्गनेव के उपन्यास पढ़ने की राय दी। छोटे-छोटे उपन्यास। कम क़ीमत। एक-एक करके मैं सभी पढ़ गया——रूडिन, स्मोक, लिज़ा, फ़ादर एंड सन्ज़ और वर्जिन साइल——मुझे वे बड़े ही रोचक लगे, बिलकुल शरत बाबू के उपन्यासों ऐसे——पर जिन अनुभूतियों को मैं व्यक्त करना चाहता था, वे उस पैटर्न में ढाली न जा सकती थीं। तब किसी ने मुझे रोमा रोलाँ का 'याँ क्रिस्ताव' पढ़ने का परामर्श दिया। मैं लाहौर के प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता 'रामाकृष्णा' के निकट ही अनारकली में रहता था। झट दुकान पर पहुँचा, पर 'याँ क्रिस्ताव' का मूल्य सुनकर चुप रह गया। था तो उस समय साढ़े पाँच छः रुपये, पर तब मैं अपने खाने रहने पर बारह-तेरह रुपये महीने से अधिक ख़र्च न करता था। बहरहाल पड़ोसी के नाते मैत्री तो थी, एक-आध छोटी-मोटी पुस्तक भी ख़रीद लेता था, वहीं दुकान पर चार छः बार जाकर मैंने उस उपन्यास के डेढ़ दो सौ पृष्ठ पढ़ डाले और उसका पैटर्न मुझे ठीक लगा।

लम्बाई और छोटी-छोटी तफ़सीलों को लेकर चलने वाली शैली की समस्या तो हल हो गयी, पर साथ ही ऐसा पैटर्न दरकार था जिसमें नायक के अन्दर और बाहर की उलझनों को भी बुना जा सके। उन्हीं दिनों मैंने 'वर्जीना वुल्फ़' अथवा उसी ग्रुप के किसी लेखक का उपन्यास पढ़ा। उसमें कुल कार्य-सम्पादन नायक के बिस्तर से उठकर खिड़की तक जाने अथवा सैर करके आने तक ही सीमित है और उसी में उसका सारा जीवन लेखक ने बड़ी चतुराई से बुन दिया है। यह बुनावट मेरे अनुकूल थी, इसलिए दोनों को लेकर मैंने अपने उपन्यास का पैटर्न बना लिया।

एक आलोचक ने लिखा है—"उपन्यास (गिरती दीवारें) पर 'सर-

शार' का प्रभाव स्पष्ट है पर उसकी किस्सा-गोई की विविधता नहीं।"
पहली बात तो यह है कि 'गिरती दीवारें' किस्सा-गोई के ख़याल से नहीं लिखा गया—किस्सा-गोई में केवल सुनने वालों का ध्यान रहता है, वे जैसे प्रसन्न हों, वही ढंग किस्सा-गो को अपनाना पड़ता है। यह उपन्यास, जैसा कि मैंने कहा, निम्न-मध्य-वर्ग के युवक की अन्दर और बाहर की उलझनों को दर्शाने और कुछ ऐसी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए लिखा गया है, जिन्हें व्यक्त किये बिना कई बार लेखक को निष्कृति नहीं मिलती, फिर सरशार का कोई उपन्यास मैं (इच्छा होते हुए भी) नहीं पढ़ सका। हाँ यदि प्रभाव की ही खोज करनी हो तो मेरे ख़याल में आलोचक को उन्हीं लेखकों में उसे ढूँढ़ना होगा, जिन्हें मैं उस ज़माने में पढ़ता रहा—तुर्गनेव, गाल्ज़वर्दी, रोमा रोलाँ, वर्जीना वुल्फ़, शॉलोख़ोव और प्रेमचन्द—मुझे तुर्गनेव का परिष्कृत (Polished) चुलबुलापन और हास्य मिला व्यंग्य, गाल्ज़वर्दी का छोटी-छोटी तफ़सीलों को उजागर करने वाला चरित्र-चित्रण; रोमा रोलाँ के 'याँ क्रिस्ताव' का पैटर्न और प्रेमचन्द की जागरूकता अच्छी लगी। शॉलोख़ोव से मैंने, जहाँ तक इस उपन्यास का सम्बन्ध है, क्या पाया? यह नहीं कह सकता—शायद कथानक का ढीलापन!

'गिरती दीवारें' के नाम ने आलोचकों को ख़ासी परेशानी में डाल दिया। पन्द्रह बीस लेख मेरी दृष्टि से गुज़रे हैं और एक भी ऐसा नहीं जिसमें आलोचक ने किसी-न-किसी तरह, कोई-न-कोई दीवार गिराने का प्रयास न किया हो। दोष उनका नहीं। दोष मेरा है। जब मैंने उपन्यास का नाम 'गिरती दीवारें' रखा तो आलोचकों के लिए यह स्वाभाविक ही था कि उपन्यास में गिरती हुई दीवारों की घड़घड़ाहट अथवा मलबे की गर्द-धूल देखने की वांछा रखें। 'दीवारें' शब्द ने ही कुछ को

उपन्यास का रस लेने के बदले दीवारें ढूँढ़ने और परेशान होने की उलझन में डाल दिया। फिर आलोचकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार इसमें दीवारें और उनका गिरना देखना चाहा और वैसा न होने पर उन्हें निराशा हुई।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैं पहले इस उपन्यास का नाम 'चेतन' रखना चाहता था। चेतन के नाम से इसके दो-तीन परिच्छेद तब पत्र-पत्रिकाओं में छपे भी थे। उपन्यास छपने के बाद कभी-कभी मैं सोचता था कि मैंने नाहक इसका नाम बदला! 'गिरती दीवारें' नाम जिस योजना के कारण रखा था, वह तो पूरी न हुई, जिस रूप में छपा, उसमें 'चेतन' से भी काम चल सकता था। लेकिन आलोचकों ने इस नाम को लेकर जो पटखनियाँ खायी हैं, उन्हें देखकर (मुझे आलोचक-गण क्षमा करें) रस भी मिला और मन में आया कि अच्छा हुआ इसका यह नाम रखा गया (कुछ आलोचकों ने मुझे मूर्ख मानकर जो गालियाँ दीं, उसका कुछ प्रतिकार भी, उनकी इस झुँझलाहट को देखकर अवश्य हुआ।) एक दो को छोड़, किसी 'समझदार' को यह नहीं सूझा कि उपन्यास पूरा नहीं, एक भाग अथवा उससे भी कम है, यह और बात है कि पूरा जान पड़ता है, किसी ने यह नहीं किया कि लिखता—"हमारे ख़याल में उपन्यास का नाम 'गिरती दीवारें' न होकर 'चेतन' होना चाहिए था"—और इतना कहकर उपन्यास के गुण-दोषों का विवेचन करने लगता।

जैसा कि मैंने कहा, मैं उपन्यास को तीन (सम्भव हो तो नौ) भागों में लिखना चाहता था और मैंने सब का नाम मिलाकर 'गिरती दीवारें' रखा था। इसी कारण मैंने 'चेतन' नाम छोड़ दिया और चूँकि 'चेतन' को छोड़ दिया, इसलिए अकेले चेतन की प्रेम कहानी भी छूट गयी। चेतन मात्र रह गया, क्योंकि वही तो वह सूत्र था, जिसमें मुझे उन पाँच अथवा पन्द्रह वर्षों के मनके पिरोने थे। इसीलिए उपन्यास में छोटे-छोटे पात्र

अपनी छोटी-छोटी दुनियाओं को लिये हुए आ गये। यों यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह तो पहले तय था कि उपन्यास यथार्थ के निकट रहेगा; गढ़ा-गढ़ाया कथानक न होगा; जीवन में जैसे आदमी चलता, बढ़ता, आगे पीछे की सोचता है, वैसे ही इसका नायक भी चले, बढ़े और सोचेगा। यदि उपन्यास के सारे भाग मैं लिख पाता तो शायद इसके नाम के सम्बन्ध में किसी को आपत्ति न रहती।

बड़े-बड़े तीन अथवा नौ उपन्यास लिखना कठिन था, अथवा उतने पृष्ठों में मनोरंजकता न बनी रह सकती थी, ऐसी बात नहीं। अपनी अनुभूतियों के विस्तार और कला पर मुझे विश्वास है (था भी) पर जो बात आशा और उत्साह से भरी मेरी जवानी ने तब नहीं सोची, वह यह थी कि इस महाजनी युग में किसी निम्न-मध्य-वर्गीय लेखक के लिए उतना अवकाश पाना असम्भव है, जिसमें उतने बड़े उपन्यास का सृजन हो सके। उसके लिए टैगोर अथवा तालस्ताय अथवा रूस के आधुनिक लेखकों की सुविधा चाहिए। और वह सुविधा जीवन की साधारणतम आवश्यकताओं को जुटाने के निरन्तर संघर्ष में रत भारतीय लेखक का भाग्य नहीं। साल डेढ़ साल के अनवरत श्रम से जो उपन्यास लिखा जा सकता था, उसे सात वर्ष लग गये, और अभी पहला भाग भी पूरा न हुआ था कि मेरा स्वास्थ्य एकदम गिर गया। जब यह लगा कि जाने जियेंगे भी या नहीं तो जितना लिखा गया था उसे राउँड-अप (Round Up) कर दिया।

रहीं 'दीवारें' तो वे इस भाग में भी मौज़ूद हैं। उपन्यास के अन्त में चेतन देखता है कि—'यह दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक के मध्य भी हैं। न केवल यह, बल्कि कविराज और चेतन, चेतन और जयदेव, जयदेव और यादराम—इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी अगनित दीवारें खड़ी हैं......'

लेकिन दीवारें स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म भी हैं। स्थूल दीवारें तो साफ़ दीख जाती हैं और जैसा कि ख़्वाजा अहमद अब्बास ने उपन्यास के उर्दू संस्करण का मसौदा पढ़ते हुए कहा—वे हर पृष्ठ पर गिरती हैं। (पाठकों के लिए, चेतन के लिए नहीं, क्योंकि उसे तो सब ओर दीवारें खड़ी दिखायी देती हैं।—केवल यौन कुंठा की नहीं, जैसा कि एक 'अध्यवसाई' आलोचक ने उपन्यास को बड़ी सरसरी दृष्टि से पढ़कर लिखा है—बहुमुखी कुंठा की दीवारें जो कि सारे के सारे निम्न-मध्य-वर्गीय जीवन को घेरे हुए हैं।) लेकिन उन स्थूल दीवारों के साथ सूक्ष्म दीवारें भी हैं, जो नायक के मन-मस्तिष्क को बाँधे हैं और जो उसके अनुभवों के बढ़ने के साथ गिरती हैं। जिनके गिरने से वह जीवन की यथार्थता को देखने और समझने में धीरे-धीरे सफल होता है। जिनके गिरने से उसके मस्तिष्क का अंधकार दूर होता है और यथार्थता के ज्ञान का प्रकाश उसके कोने-अँतरे जगमगाता है। दिल और दिमाग़ की दीवारों का टूटना क्योंकि निःस्वन होता है और वे धीरे-धीरे गिरती हैं, इसलिए उनकी घड़घड़ाहट सुनायी नहीं देती।

कुछ आलोचकों ने उपन्यास के इस स्थूल रूप ही को देखा है और इसे घोर-यथार्थवादी, अथवा केवल फ़ोटोग्राफ़िक, प्रकृतिवादी, अथवा कोई ऐसी ही उपेक्षा-पूर्ण संज्ञा देकर टाल दिया है। किंतु उपन्यास की मनोवैज्ञानिकता की ओर उनकी पूर्व-ग्रह-युक्त उपेक्षा-भरी दृष्टि का ध्यान नहीं गया। जो ब्योरे अथवा घटनाएँ उनको चेतन की प्रेम-कहानी की दृष्टि से असंगत लगती हैं और जिनसे उनके विचार में 'रस-भंग' होता है, वे बड़े सोच-विचार के बाद रखी गयी हैं। उपन्यास किसी प्रेम कहानी का लेखा-जोखा देने अथवा रसों का परिपाक करने के विचार से नहीं लिखा गया। कहानी उसमें महत्व नहीं रखती, महत्व रखता है निम्न-मध्य-वर्ग के वातावरण का चित्रण और उस वातावरण के अँधेरे में अपनी प्रतिभा

के विकास का पथ खोजने वाले जागरूक अति-भाव-प्रवण युवक की तड़प और उसका मानसिक विकास।

जहाँ तक 'गिरती दीवारें' के इस भाग का सम्बन्ध है वह नायक की उम्र के उस हिस्से को लेकर लिखा गया है जब कि वह नहीं समझ पाता कि अन्ततोगत्वा जीवन में उसे क्या करना है? कि उसकी प्रतिभा जीवन में किस मार्ग को पकड़कर विकसित होगी? वह कभी इस मार्ग को पकड़ता है, कभी उसको; कभी एक ओर सरपट भागता है, कभी दूसरी ओर—वह कथाकार, कवि, उपन्यासकार, संगीतज्ञ, चित्रकार, अभिनेता सभी कुछ बनना चाहता है। आज-कल मेरे यहाँ एक युवक कथाकार सातवें आठवें आते हैं। उनकी जेब में नयी लिखी कहानी, हाथ में स्केच की कापी और तर्जनी में मिज़राब होती है और मुझे शिमले के चेतन की याद हो आती है—उम्र के इसी भाग के जोश, वलवलों, आशाओं, निराशाओं, कल्पना के पारस को छूकर एक क्षण में बन उठने वाले और यथार्थता की ठोकर से दूसरे क्षण ढह जाने वाले बुदबुद से सपनों और निम्न-मध्य-वर्गीय युवक के अन्तर और बाह्य के द्वन्द्वों को उपन्यास का यह भाग दर्शाता है।

बहुत से मध्य-वर्गीय युवक जीवन भर अपने ध्येय अथवा मार्ग का निर्णय नहीं कर पाते और उनकी प्रतिभा अँधेरे में टामकटोये मारते खतम हो जाती है। कुछ पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं। कुछ किसी छोटे-बड़े दफ़्तर की फ़ाइलों में उसे समाप्त कर देते हैं, विरले अपनी प्रतिभा के विकास का ठीक माध्यम चुन पाते हैं, चेतन कुछ बनेगा या नहीं, यह उपन्यास के इस भाग का विषय नहीं। अभी से कुछ नहीं कहा जा सकता। ठीक मार्ग पाने के लिए उसके दिमाग़ का और विकसित होना आवश्यक है और दिमाग़ का विकास बिजली का बल्व नहीं कि लेखक बटन दबाकर उसे दिखा दे। उसके लिए नायक को जीवन के छोटे-मोटे अगनित अनुभवों से गुज़रना ज़रूरी है।

अपने पाठकों और आलोचकों से

उपन्यास लिखते समय मैंने दो बातों का ख़ास खयाल रखा जिनकी ओर आलोचकों का ध्यान नहीं गया।

१. यह कि जो कुछ कहा जाय, वह पात्रों के जीवन, उनके जीवन की घटनाओं, अन्तर्द्वन्द्वों और उलझनों के माध्यम से कहा जाय। लेखक, जहाँ तक सम्भव हो, स्वयं उसमें न कूदे। न बहस में पड़े, न भाषण झाड़े।

[उस समय जब मैंने उपन्यास लिखना आरम्भ किया था, श्रेष्ठ-कला का यही गुण समझा जाता था। कुछ आलोचकों को इसमें कदाचित इसी कारण, दर्शन और चिन्तन की कमी लगी है। बड़े-बड़े दार्शनिकों ने जीवन की भट्ठी में तपकर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें बटोरकर उपन्यास में इस या उस पात्र के मुँह में भर देना कठिन नहीं, पर मैंने यही अच्छा समझा कि अपने सामाजिक जीवन के जिस कूड़े-कचरे की सफ़ाई मैं चाहता हूँ, अथवा जिसकी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना मुझे अभीष्ट है, उसको ही—उसकी सारी यथार्थता के साथ—व्यक्त कर दूँ और पाठकों को निष्कर्ष निकालने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दूँ।]

२. यह कि नायक जितनी उम्र का है उससे बड़ी उम्र की बात न बोले। उसके मुँह में बड़ी-बड़ी बातें रखना मुश्किल न था, मुश्किल न रखना था।

उपन्यास के इस पैटर्न और निम्न-मध्य-वर्ग के एक बीस इक्कीस वर्षीय युवक के अनुभवों द्वारा निम्न-मध्य-वर्ग के जीवन का चित्र उपस्थित करने के कारण, कुछ आलोचकों को उपन्यास के घेरे की परिमितता की शिकायत रही है। प्रेमचन्द से असर पाकर भी जो मैंने देश के आन्दोलनों का ज़िक्र नहीं किया, उसका कारण भी यही पूर्व-निश्चित योजना रही। जीवन सागर की विशालता और उसकी गगन-चुम्बी महोर्मियों को दिखाना मुझे अभीष्ट न था। सागर का पानी जहाँ आकर रुक गया है और सड़ रहा है, उसकी ओर पाठकों का ध्यान मैं दिलाना चाहता था। और

जिन मित्रों ने इसकी कटु आलोचना की है, उन्होंने भी माना है कि मैं (कम-से-कम) इसमें सफल रहा हूँ। फिर प्रेमचन्द ही से मैंने यह भी पाया कि जिस चीज़ का पूरा अनुभव न हो, उसे न छेड़ा जाय। प्रेमचन्द ने जहाँ किसान जीवन का वर्णन किया है, वहाँ वे पूर्ण-रूप से सफल हुए हैं, पर उच्च-मध्य-वर्ग के जीवन का उतना अनुभव न होने से वे उसे उतनी अच्छी तरह से नहीं दिखा सके। इस तरह के लोभ से अपने-आपको बचाने का भरसक प्रयास मैंने किया और उसी जीवन का चित्र खींचा जिसका मुझे पूरा अनुभव है।

आलोचनाओं और आलोचकों की बात चली है तो मेरे सामने 'गिरती दीवारें' पर की गयी कई तरह की आलोचनाएँ और आलोचक आ गये हैं। इन आलोचनाओं के माध्यम से आलोचकों को पढ़ना उपन्यास लिखने अथवा पढ़ने से कम मनोरंजक नहीं। चार तरह के आलोचक इन आलोचनाओं में दिखायी देते हैं :

१. जो आलोचक नहीं, उपन्यासकार हैं और बड़े सफल उपन्यासकार हैं, उनके अहं को यह स्वीकार नहीं कि उनके सिवा कोई दूसरा भी अच्छा उपन्यासकार कहलाये। वे आलोचना का कुठार लेकर मैदान में उतर आये हैं और छोटे-छोटे लेखकों की पीठ ठोंक और सम-वयस्कों को ललकारते अथवा लताड़ते, छोटे-छोटे चूज़ों में गर्दन उठाये फिरने वाले मुर्गों की भाँति साहित्य-संसार में एंड रहे हैं। अपनी व्यंग्योक्तियों के कुठार उन्होंने 'गिरती दीवारें' और उसके लेखक पर भी चलाये हैं। उनके प्रयास, उनकी महानता को देखते हुए दयनीय हैं। इनमें से एक ने उपन्यास की डिटेल्ज़ (Details) की शिकायत करते हुए उसकी घोर नीरसता व असफलता का उल्लेख किया है; लेखक को, बड़ी कृपा कर, कला के कुछ मर्म भी समझाये हैं और व्यंग्य किया है कि उपन्यास में 'दीवारें

नहीं, नारियाँ गिरती हैं।' दूसरे ने अपने अहं में उपन्यास के उद्देश्य को समझने का प्रयास किये बिना, उसके नायक (अथवा लेखक) को 'किसी मूर्ति पर चलते हुए उस चींटे जैसा बताया है, जो उस मूर्ति की रचना की एक-एक बारीकी और सतह के खुरदरेपन को तो देखता है, लेकिन मूर्ति को नहीं देख सकता और उसके रूप की तो कल्पना ही नहीं कर सकता' [और इस प्रकार वे यह कहते से जान पड़ते हैं कि यह काम मैंने अपने उपन्यास में करके दिखाया है——जब कि उन्हीं के उपन्यास के नायक के (अथवा उनके) सम्बन्ध में एक दूसरे सफल उपन्यासकार ने लिखा कि 'वह उस कुत्ते के समान है जो अपनी ही दुम को पकड़ने के प्रयास में चक्कर काटता रहता है।']

इन्हीं के उपन्यास की जटिलता का उल्लेख करके किसी ने उस 'द्रविड़ प्राणायाम' का उल्लेख किया था जो साधारण पाठक को उसका अर्थ समझने में करना पड़ता है। इन्होंने वड़े इत्मीनान से उसी दोष का आरोप 'गिरती दीवारें' पर करके अपनी चोट को सहला लिया है। 'द्रविड़ प्राणायाम' की शिकायत करने वाले महानुभावों से मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि कोई उत्कृष्ट कलाकृति लेखक ही से श्रम और समझदारी की माँग नहीं करती, पाठक और आलोचक से भी उसकी अपेक्षा रखती है।

२. जो आलोचक ही हैं, पर ऐसे असफल कहानीकार अथवा उपन्यास-कार, जिनकी कुंठा ने उन्हें आलोचक बना दिया है। जो हिन्दी उपन्यासों से अँग्रेज़ी जासूसी उपन्यासों को अच्छा समझते हैं (और पढ़ते हैं।) इन्होंने न केवल 'गिरती दीवारें' को हर लिहाज़ से निकृष्ट साबित कर दिया है, वरन् इस बात की भी घोषणा कर दी है कि लेखक ने ऐसा निकृष्ट उपन्यास इसलिए लिखा है कि हिन्दी में घटिया उपन्यासों की माँग है और लेखक को कदाचित पैसे की तंगी थी। [मन को वे यों तसल्ली दे लेते हैं कि ऐसे 'अनगढ़' उपन्यास लिखना कोई मुश्किल न था, पर हम जो लिखते हैं,

उसकी हिन्दी में माँग नहीं, इसलिए सृजन की अपेक्षा पहले हिन्दी वालों की रुचि का परिष्कार करना चाहिए।]

इन महानुभावों से मेरा निवेदन है कि यदि वे हिन्दी पाठकों की रुचि का परिष्कार अपनी आलोचनाओं से नहीं, सुन्दर कला-कृतियों से करें तो उनका और हिन्दी पाठकों दोनों का भला होगा।

३. ऐसे आलोचक जो प्रसिद्ध रूसी कहानी से प्रेरणा पाकर आलोचक बने हैं और वह रूसी कहानी कुछ यों है :

एक मूर्ख था। उसे सब लोग 'मूर्ख कहकर चिढ़ाते थे, आख़िर एक दिन अपने ठस दिमाग़ से उसने एक तरकीब सोच निकाली। जब एक मित्र ने उससे एक प्रसिद्ध लेखक की नयी पुस्तक के स्टाइल की प्रशंसा की तो वह बोला :

"अच्छा स्टाइल! मियाँ तुम ज़माने से बहुत पीछे हो, वह स्टाइल तो कभी का पुराना हो गया। कुछ नयी चीज़ पढ़ा-लिखा करो।"

मित्र ने हैरानी से उसकी ओर देखा और सोचता हुआ चला गया।

दूसरे दिन उसके पड़ोसी ने उनके एक साझे परिचित का ज़िक्र किया कि कितना भला है वह।

"भला!" मूर्ख बोला, "भाई तुम ज़माने से बहुत पीछे हो। तुम उसे नहीं जानते, वह अव्वल दर्जे का बदमाश है।"

और वह इसी तरह हर चीज़ की निन्दा करता चला गया, पहले लोगों ने उसे सनकी समझा, फिर वे उसकी बात पर कान देने लगे, फिर उन्होंने कहना शुरू किया कि बात तेज़ कहता है, पर तत्व उसकी बातों में ज़रूर है और फिर एक पत्रिका के संचालक ने उसे अपनी पत्रिका का सम्पादक बना दिया। नये लेखक डर के मारे उसकी चिरौरी करने लगे और वह महान-आलोचक बन गया।

४. आलोचक जो केवल आलोचक हैं, न बिगड़े कवि, न कथाकार,

न औपन्यासिक—केवल आलोचक! गम्भीर, परिश्रमी, चीज़ को पढ़कर, नाप-जोखकर, उसके गुण-दोषों की विवेचना (अपने-अपने मत के अनुसार) करने वाले। इनमें से कुछ ने उपन्यास को सराहा है और उसके कुछ दोष भी दिखाये हैं, कुछ ने उपन्यास की निन्दा की है और उसके कुछ गुण भी बताये हैं। इनका मैं आभारी हूँ। उनकी सराहना का भी और निन्दा का भी। इनमें से कुछ की धारणाओं से मेरा मतभेद है। लेकिन उन्होंने जिस श्रम से उपन्यास को समझने का प्रयास किया और अपनी बात कहते हुए लेखक के पक्ष को जानने की चेष्टा की है, वह स्तुत्य है। अपनी बात मैंने इस लेख में साफ़ कर दी है। आशा है वे इसे ध्यान से पढ़ेंगे। श्री शमशेर बहादुर सिंह मेरे विशेष आभार के अधिकारी हैं, क्योंकि वे ही अकेले ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने कम-से-कम उपन्यास का काल जानने की कोशिश की है और उसमें उन प्रगतिशील सिद्धांतों को ढूँढ़ने का प्रयास नहीं किया जो बाहर चाहे कभी के पुराने हो गये हों, पर हिन्दुस्तान में कहीं बाद आये।

उन आलोचकों से जो चैख़व के शब्दों में, गऊ मक्खी की तरह काट-कर ही अपनी सत्ता सिद्ध करना चाहते हैं, मुझे कुछ नहीं कहना, पर उन बंधुओं से, जिन्होंने उपन्यास की 'नन्हीं-नन्हीं निरर्थक तफ़सीलों;' 'अति साधारण घृणित जीवन' और उसमें घिरे हुए 'रीढ़-रहित, ढुलमुल कमज़ोर और अत्यन्त साधारण मानवों' का उल्लेख कर, 'साहित्य के आस्वादन में हृदय के लोकोत्तर चमत्कार और तृप्ति;' 'उसकी आत्मा को अपील करने और छूने;' 'जीवन के व्यापक दृष्टिकोण;' 'आध्यात्मिकता' और 'उन्नयन' की बात की है, मैं रूस के प्रसिद्ध यथार्थवादी उपन्यासकार 'गोगोल' के शब्दों में केवल यही कहना चाहता हूँ—कि उन नन्हीं-नन्हीं निरर्थक तफ़सीलों और उन छोटे-छोटे, अकिंचन, अति हेय पात्रों को—जिनसे हमारा जीवन-

पथ अटा पड़ा है और जिन्हें आसमान में लगी हुई हमारी दृष्टि देखकर भी नहीं देख पाती—उस दैनिक जीवन की दलदल से निकाल, बना-सँवार आपकी अन्यमनस्क, उदासीन आँखों के सामने इस प्रकार रखना कि आप उन्हें बरबस देखने और उनका नोटिस लेने को विवश हो जायँ, कम कष्ट-साध्य नहीं; कि सूर्य की भव्यता का दिग्दर्शन कराने वाली दूरबीन के मुक़ाबिले में नन्हें-नन्हें अदृश्य, अकिंचन कीटाणुओं को दिखाने वाली खुर्दबीन कम महत्वपूर्ण और उपादेय नहीं; कि जीवन के किसी साधारण ख़ाके में रंग भरकर उसे कला की उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए आत्मा की उतनी ही गहराई दरकार है जितनी कि उसकी महानता और व्यापकता का दिग्दर्शन कराने के लिए !

कुछ बंधुओं को उपन्यास में सब जगह फ़्रायड दिखायी दिया है। मैंने फ़्रायड नहीं पढ़ा। मैंने जो लिखा है, पंजाब के निम्न-मध्य-वर्गीय युवकों के जीवन को अत्यन्त निकट से देखकर लिखा है। यदि फ़्रायड ने भी वह सब कहा है तो उसने निश्चय ही ठीक कहा है और हमें उस महान वैज्ञानिक की बारीक सूझ की दाद देनी चाहिए। सच्चाई कटु है, सूफ़ी कवि साईं बुल्ले शाह ने कहा है :—

झूठ आखाँ ते कुछ बचदा ऐ
सच आखाँ से भांबड़ मचदा ऐ
दिल दोहाँ गलाँ तो जचदा ऐ
जच जच के जिह्वा कहंदी ऐ
.... मुँह आयी बात ना रहंदी ऐ[1]

---

१ झूठ कहता हूँ तो कुछ लाभ होता है। सच कहता हूँ तो शोले लपकते हैं। दिल दोनों बातों से डरता है। डर-डरकर ज़बान कहती है, सच्ची बात मुँह पर आये बिना नहीं रहती।

यथार्थवादी लेखक की स्थिति साईं बुल्ले शाह से भिन्न नहीं, अंतर केवल यह है कि वह जच-जचकर, संकोच से, सच्ची बात नहीं कहता, निर्भीकता से कहता है।

रविबाबू ने कवि कालिदास के सम्बन्ध में लिखा है कि न जाने कितना गरल स्वयं पीकर उस महाकवि ने रसिकों को अमृत पिलाया है। हिन्दी के कुछ कलापारखी आज के संघर्ष-मय जीवन में रत लेखक से भी कुछ ऐसी ही वांछा रखते हैं। चाहते हैं कि वह स्वयं तो गले तक डूबा, कीचड़ में लथपथ रहे, पर किनारे पर खड़े उनको उस कीचड़ का छींटा तक न लगने दे। उनके हाथों में चुपचाप कमल तोड़-तोड़कर देता जाय, जिनके रंग, रस और गंध से शराबोर होकर वे जीवन के रोग, शोक और पीड़ा को भूले रहें। पर प्रश्न तो यह है कि आज के संघर्ष-मय युग का कथाकार किसके लिए लिखता है? कालिदास के समकालीन महाराजाओं का स्थान लेने वाले आज के सेठ-साहूकारों और अभिजात-वर्गीय साहित्यिकों अथवा आलोचकों के लिए या अपने ही जैसे संघर्ष में रत सहस्रों लोगों के लिए! कालिदास और उनके समकालीन कवि, राजाओं और महाराजाओं के आश्रय में रहकर, उन्हीं के सुख के लिए साहित्य का सृजन करते थे और प्रकट है कि राजाओं को रोग, शोक, दुख, दैन्य, जीवन की छोटी-छोटी तफ़सीलों और झुँझला देने वाली––मुँह में कड़ुवा-स्वाद भर देने वाली–– अति साधारण, अकिंचन घटनाओं से क्या काम। हमारे कुछ कला पारखी भी अपने-आपको उन राजाओं के रूप में ही देखते हैं और लेखक से वैसी ही आशा रखते हैं। पर यदि साहित्यिक उनके लिए नहीं लिखता, उस कीचड़ में लथपथ अपने जैसे सहस्रों दूसरे लोगों के लिए लिखता है तो प्रकट है कि वह उन्हें कमल का सौन्दर्य नहीं, तालाब में फैली हुई जड़ें, कीचड़, फिसलन, गढ़े और वह सब कुछ दिखायेगा, जिससे वे तालाब को साफ़

करना चाहते हैं—वह सब कुछ—जो कि दस पाँच कमल चाहे उगाता हो, रोग के कोटिशः कीटाणु और सड़ांध पैदा कर रहा है।

जहाँ तक कालिदास और रविबाबू का सम्बन्ध है उनकी कृतियों की महानता से मुझे इन्कार नहीं, मेरा केवल यही निवेदन है कि अपने सम्पन्न वातावरण में वे वही दे सकते थे जो उन्होंने दिया। वे अपनी प्रतिभा की सारी प्रांजलता के साथ भी यदि चाहते तो वह न दे सकते जो गोर्की ने अपनी जीवनी और प्रेमचन्द ने 'गोदान' में दिया। जिस प्रकार कोई कुवाँरा कल्पना मात्र से वैवाहिक जीवन के सत्यों को नहीं जान सकता, चाहे वह दस लड़कियों के साथ भी क्यों न रहे, उसी प्रकार जीवन की सच्चाइयों को जानने के लिए उसकी चक्की में पिसना आवश्यक है। उससे दूर रहकर, आसमान में उड़ती कल्पना चाहे कितने ही सुन्दर चित्र क्यों न प्रस्तुत कर दे, जीवन के घिनावने यथार्थ को व्यक्त नहीं कर सकती।

वर्षों पहले लिखे हुए उपन्यास का संशोधन, जिये हुए जीवन को फिर उसी तरह जीने के बराबर है। आदमी जो जीवन जी चुकता है, उसे यदि वह फिर जीना पड़े तो निश्चय ही वह उसके कुछ अंशों को बदल देना चाहता है, लेकिन वह बदला हुआ जीवन पूर्णतः उसकी तुष्टि करता है, यह कहना कठिन है। क्योंकि यदि कुछ वर्षों के बाद उसे फिर वही जीवन दिया जाय तो वह फिर उसमें कुछ-न-कुछ बदल देना चाहेगा।

इधर दो तीन महीनों से मैं लगातार 'गिरती दीवारें' का संशोधन करता रहा हूँ। दो एक बहुत अच्छे परिच्छेद मैंने इसमें बढ़ा दिये हैं, कुछ काट-छाँट दिये हैं। जैसा मैं चाहता था, वैसा संशोधन तो मैं कर नहीं पाया। इसका दूसरा भाग लिखकर ही करूँगा। पर तो भी पहले संस्करण से यह काफ़ी बढ़ गया है।

अपने पाठकों और आलोचकों से

अपने पाठकों का मैं बड़ा आभारी हूँ कि उन्होंने इसे हृदय में स्थान दिया है। आलोचकों से मेरा निवेदन है कि वे इसे फिर एक बार ध्यान से पढ़ें।

५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद
९ फरवरी १९५१

उपेन्द्रनाथ अश्क

तीसरे संस्करण पर दो शब्द

'गिरती दीवारें' के तीसरे संस्करण पर ये पंक्तियाँ लिखते हुए मुझे ख़ुशी है कि मेरा यह उपन्यास जिसे लिखते और छपवाते समय मैं इसकी सफलता के सम्बन्ध में सशंकित था, पाठकों को मेरे सभी उपन्यासों में सर्वाधिक प्रिय हुआ। अभी चार वर्ष पहले मैंने इसका एक संक्षिप्त संस्करण 'चेतन' के नाम से प्रकाशित कराया था। उसका चौथा संस्करण इस समय प्रेस में जा रहा है।

मुझे इस बीच में बराबर इस उपन्यास के सम्बन्ध में पाठकों के पत्र मिलते रहे हैं। यहाँ डलहौज़ी में वे सब पत्र मेरे पास नहीं कि मैं उनका आभार प्रकट करूँ। लेकिन अभी दो दिन पहले रूस से प्रो० बेस्क्रोवनी अध्यक्ष हिन्दी-विभाग लेनिनग्राड विश्वविद्यालय का एक पत्र मिला है। वे लिखते हैं :

> "कुछ दिन हुए मैंने आपकी 'गिरती दीवारें' पढ़ी। वह मुझे बहुत पसन्द आ गयी। जिस वातावरण में आपका नायक रहता है, वह स्पष्ट रूप से आँखों के सामने आ रहा है। जब

> पाठक पुस्तक पढ़ना समाप्त करता है तो उसे अनुभव होता है कि जैसे उसने आत्म-कथा पढ़ी हो या डायरी।"

यह जानकर कि उपन्यास अन्य देश के हिन्दी भाषी को भी रुचा और वे इसमें रस पा सके, मुझे सचमुच प्रसन्नता हुई है। यद्यपि यह भाग अपने में पूरा है तो भी जो मैं 'गिरती दीवारें' में लिखना चाहता था, वह सब इसमें नहीं आया और मैंने तय किया कि पहली फ़ुर्सत में इस उपन्यास को मैं आगे बढ़ाऊँ। मैं आशा करता हूँ कि मैं शीघ्र ही पाठकों की सेवा में इसका दूसरा भाग प्रस्तुत करूँगा।

दूसरा पत्र जिसका मैं उल्लेख करना चाहता हूँ सर्वोदय आश्रम चुरु (राजस्थान) के श्री गोविन्द अग्रवाल का है। पत्र फुल स्केप काग़ज़ के सात पृष्ठों पर फैला है। अग्रवाल जी लिखते हैं :

> "उपन्यास (गिरती दीवारें) को दोबारा पढ़ गया। इच्छा होती है कि एक बार इसे और पढ़ डालूँ (फिर भी शायद तृप्ति न हो।) उपन्यास दरअसल ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं का संकलन है, जो प्रत्येक मनुष्य के जीवन में घटती रहती हैं। घटनाएँ साधारण होते हुए भी उनका वर्णन ऐसा सजीव और सांगोपांग हुआ है कि वे असाधारण बन गयी हैं और पाठक पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। पाठक को ऐसा लगता है जैसे उसके ही दिल की बात खोलकर रख दी गयी हो......"

इन शब्दों के साथ अग्रवाल जी ने उपन्यास की बहुत-सी ग़लतियों की ओर मेरा ध्यान दिलाया है। उनमें से अधिकांश भूलें प्रेस की हैं। कुछ मेरी भी हैं।

मैं अग्रवाल जी का विशेषकर आभारी हूँ कि न केवल उन्होंने उपन्यास को श्रम से पढ़ा, बल्कि काफ़ी समय लगाकर उन भूलों की सूची भी बनायी।

तीसरे संस्करण पर दो शब्द

उन ग़लतियों को ठीक करने के बहाने मैं उपन्यास को लेकर बैठा तो मैं पूरी तरह इसका संशोधन कर गया। कई पैरे मैंने काट दिये और कई बढ़ा दिये और इस संस्करण में मैंने वही ग़लतियाँ ठीक नहीं कीं जिनकी ओर अग्रवाल जी ने मेरा ध्यान आकर्षित किया था, बल्कि वे भी, जिनकी ओर उनका ध्यान नहीं गया।

लेकिन इस पर भी यह तीसरा संस्करण छापे की भूलों से एकदम पाक होगा, इसका विश्वास मैं नहीं दिला सकता। क्योंकि प्रेस का काम हमारे यहाँ सुचारु रूप से नहीं होता और बड़े-से-बड़े प्रेस में भी छापे की भूलें रह जाती हैं।

तो भी यदि अग्रवाल जी का यह पत्र और भूलों की उतनी लम्बी सूची न आती तो मैं कभी उपन्यास को फिर लेकर न बैठता। मैं उनका आभारी हूँ कि उन्होंने उपन्यास को बेहतर बनाने का एक बहाना मुझे जुटा दिया। प्रकट है कि इस संशोधन-परिवर्धन से उपन्यास का यह संस्करण पहले संस्करणों से कहीं बेहतर हो गया है।

स्नो व्यू-डलहौज़ी
४ अगस्त ५७

उपेन्द्रनाथ अश्क

१

तंग आकर आख़िर एक दिन चेतन चुपचाप अपनी भावी पत्नी को देखने के लिए बस्ती ग़ज़ाँ की ओर चल पड़ा।

बस्ती ग़ज़ाँ जालन्धर से कुछ अधिक दूर नहीं। दोनों में इतना ही अंतर है कि सुन्दर-से-सुन्दर घोड़े-ताँगे वाला भी बड़ी ख़ुशी से फ़ी सवारी दो पैसे ले लेता है और कभी-कभी किसी सूखी-सड़ी कंजूस बुढ़िया को एक पैसे पर ले जाने को भी तैयार हो जाता है। किसी ज़माने में यह ग़ज़ जाति के लम्बे-तगड़े पठानों की बस्ती थी, लेकिन अब इसमें पतले-दुबले तपेदिक के रोगी-से हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियों के लोग आबाद हैं। न जाने ये बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं या उन्हीं सुन्दर, सुगठित, बलिष्ठ पठानों के वंशज हैं।

चुपचाप अपने मन में उस लड़की का चित्र बनाता, (जिसकी चर्चा इतने दिनों से उसके घर में बराबर हो रही थी) चेतन चला जा रहा था। दिन ढल रहा था और बाज़ारों में छिड़काव के कारण मिट्टी की सोंधी-सोंधी महक फैल रही थी। चारों ओर ख़ासी चहल-पहल थी। 'बाजियाँ वाला

बाज़ार' में अपनी-अपनी दूकानों के तख़्तों पर बैठे दो कलावन्त क्लार्नेटों पर मुँह फुला-फुलाकर अपनी कला का परिचय दे रहे थे। कुछ आगे चौरस्ती अटारी में गाकर किस्से बेचने वाले दो व्यक्ति तहमद लगाये, लट्ठे की खुले गले वाली कमीज़ें पहने, उल्टी-सीधी पगड़ियाँ बाँधे, पान से ओठ लाल किये अनपढ़ सास और पढ़ी-लिखी बहू की लड़ाई का किस्सा गा-गाकर सुना रहे थे और भीड़ जैसे, अपनी ही कटी हुई पतंग को दूसरों के हाथों तार-तार होते देखकर प्रसन्न होने वालों की भाँति, बड़े मज़े से सुन रही थी।

'सूदाँ' के बड़े खुले चौक में ट्रंक वालों ने बाहर चौक में लगी, एक दूसरे के ऊपर रखे ट्रंकों की कतारें शाम के ग्राहकों के लिए झाड़-पोंछकर चमका दी थीं। 'बाज़ार शेखाँ' को जाने वाले मार्ग के कोने पर, तमोली की दूकान के सामने, दो उतरी हुई वारांगनाएँ पान चबा रही थीं और ओठों के कोनों से पान की पीक थूकती हुई आते-जाते देहातियों तथा छावनी से आने वाले फ़ौजियों की ओर कनखियों से देखकर मुस्करा भी देती थीं। 'छत्ती गली' के कोने पर दीनू हलवाई ने अपने मिठाई के थालों को बाहर सजा दिया था और गर्मागर्म इमरतियाँ भूखे ग़रीबों की भूख को और भी तेज़ कर रही थीं।

इन सब की उपेक्षा करता हुआ चेतन छत्ती गली में दाख़िल हुआ। और 'बड़ा बाज़ार' की भीड़ से किसी तरह बचता-बचाता बस्ती के अड्डे पर आकर एक ताँगे में बैठ गया। ताँगे में उस समय केवल दो ही सवारियाँ बैठी हुई थीं। चेतन चाहता था कि चार बजे से पहले ही बस्ती पहुँच जाय। ताँगे वाले से उसने पूछा, "क्यों भाई कितनी देर है?"

"बस एक सवारी और ले लूँ बाबू जी, चलता हूँ।"

तभी एक हाँफते-काँपते लाला जी दूर से आते दिखायी दिये। ताँगे वाले ने वहीं से हाँक लगायी, "ताँगा बस तैयार ही है सेठ जी!"

और सेठ जी आकर पिछली सीट पर चेतन के साथ लद गये। तब ताँगे वाले ने फिर ज़ोर से पुकारा—"चलो भई कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को।"

चेतन का धैर्य जाता रहा, चिढ़कर उसने कहा, "अब चल भी! चार सवारियाँ तो हो गयीं, अब चालान करायेगा क्या?"

हँसकर ताँगे वाला बोला, "आपका क्या जाता है बाबू जी, आगे बैठा लूँगा।"

चेतन चीख़ा, "मुझे जल्दी है, और फिर चार सवारियाँ तो हो गयीं।"

ताँगे वाले ने लापरवाही से उत्तर दिया, "एक सवारी तो सरकार, यहीं उतर जायगी।"

चेतन का जी चाहा, ऐसे पाजी ताँगे वाले को छोड़कर दूसरी सवारी पर जा बैठे, पर दूसरा कोई ताँगा तैयार न था और उसे जल्दी थी। बोला, "अच्छा ज़रा तेज़ी से चला, एक सवारी के पैसे मैं और दे दूँगा।"

प्रसन्न होकर ताँगे वाले ने दुआ दी, टिटकारी भरी और ताँगा हवा से बातें करने लगा।

२

बस्ती ग़ज़ाँ को आसानी से दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक वह, जो उत्तर और दक्षिण के दो पुराने, बड़े, महराबदार दरवाज़ों के अन्दर, छोटी ईंटों के अँधेरे सीलदार मकानों को अपनी चारदीवारी में लिये, अपनी दुनिया में मस्त है—इसमें छोटा, तंग, टेढ़ा-मेढ़ा, कटे-फटे फ़र्श पर अपने निवासियों के दिलों की भाँति; गहरे गढ़े लिये हुए एक ही बाज़ार है। दूसरा वह, जो बड़ी ईंटों के नये ढंग पर बने हुए मकानों से सजा है। इसमें यद्यपि बाज़ार के नाम पर अड्डे की चन्द दूकानें ही हैं, लेकिन इसकी गलियाँ बड़ी चौड़ी हैं और हाल ही में उन पर म्युनिसिपल कमेटी का काला, बेडौल, तारकोल की सड़कों पर मस्त हाथी की तरह झूमकर चलने वाला इंजन भी फिर गया है। इसके अतिरिक्त इस हिस्से की एक गली में लड़कियों का एक मिडिल स्कूल भी है और नगर की ओर दो तीन नयी सुन्दर कोठियों के सामीप्य का सौभाग्य भी इसे प्राप्त है। यह हिस्सा नगर के साथ बस्ती वालों के बढ़ते हुए मेल-मिलाप और पुराने हिस्से के कौटुम्बिक झगड़ों के कारण धीरे-धीरे अपना एक अलग अस्तित्व पा गया है।

इन दोनों भागों के बीच--एक के महराबदार दरवाज़े और दूसरे की दूकानों के सामने--नगर से आने वाली सड़क आकर समाप्त हो गयी है और प्रातः ६ बजे से रात के ११ बजे तक हर घड़ी यहाँ ताँगे वालों की आवाज़ें सुनी जा सकती हैं।

सड़क के साथ पुराने भाग की ओर एक बड़ी नाली है और इसके साथ ही मकानों की दीवारों तक खुली-सी जगह है। इस तरह सड़क, इसके पास का स्थान और नाली के साथ की खुली जगह—सब को मिलाकर एक चौक-सा बन गया है। पुराने भाग की ओर, इसी चौक में बस्ती के बेकार और भिखमंगे दिन भर बैठे धूप में ऊँघा करते हैं और नये हिस्से की दूकानों पर बस्ती के बेफ़िक्रे, पान चबाते, गँडेरियाँ चूसते या आती-जाती स्त्रियों पर शरारत भरी नज़र डालकर आवाज़ें कसते रहते हैं।

इसी चौक में आकर चेतन चुपचाप ताँगे से उतरा। उसने ताँगे वाले को पैसे दिये और लपककर बायीं तरफ़ नये हिस्से की एक गली की ओर बढ़ा। तेज़ चलता हुआ वह लड़कियों की पाठशाला के पास से गुज़रा और एक उड़ती हुई दृष्टि उसने उसके बन्द दरवाज़े पर भी डाली। गली के कोने वाले मकान के सामने जाकर वह रुका और उसने ज़ोर से आवाज़ दी, "मुल्कराज, मुल्कराज!"

एक छोटे क़द के पतले-दुबले लड़के ने किवाड़ खोले और जैसे हँसने की नक़ल उतारते हुए कहा, "आओ, आओ!"

"नहीं मैं आऊँगा नहीं"—यह कहता हुआ चेतन अन्दर दाखिल हो गया।

कमरा छोटा और अँधेरा था। फ़र्श पर एक पुरानी दरी बिछी हुई थी जिस पर पुस्तकों के अम्बार लगे हुए थे। वहीं जाकर अपने स्थान पर बैठते हुए मुल्कराज ने पुस्तकों से बची हुई दरी पर कुछ खाली जगह की ओर इशारा किया और चेतन से कहा, "बैठो, बैठो!"

"नहीं मैं बैठूँगा नहीं," यह कहते हुए चेतन बैठ गया और फिर तनिक खिसियानी-सी मुस्कराहट के साथ उसने कहा, "इतना न पढ़ो, मर जाओगे !"

मुल्कराज केवल हँस दिया।

"देखो," चेतन बोला "मुझे जल्दी है। एक मामले में तुम्हारी सहायता लेने आया हूँ। यहाँ तुम्हारी गली में जो स्कूल है, उसमें 'बेरी वाली' गली के पंडित दीनबन्धु की लड़की पढ़ती है।"

"चन्दा ? हाँ, हाँ !"

"तुम उसे जानते हो ?"

"अरे, मैं—बस्ती का रहने वाला—बस्ती की लड़कियों को न जानूँगा ? और फिर वे तो हमारे दूर के शरीक[1] होते हैं।"

"लड़की यहीं पढ़ती है न ?"

"हाँ, हाँ !"

"तो उठो। छुट्टी होने वाली होगी, मुझे पहचान नहीं, वह निकले तो ज़रा बता देना।"

उठते हुए एक अर्थ-भरी-दृष्टि से चेतन की ओर देखकर मुल्कराज ने कहा, "क्यों ?" और अपने वही साधारण मैले कपड़े पहने वह गली में आ गया। जब चेतन भी बाहर निकल आया तो मुल्कराज ने किवाड़ बन्द करके कुंडी लगा दी।

गली के सामने चौक में, एक हाथ में छोटी-सी बाँसुरी थामे उस पर 'जग विच मैंनूं कमलिए हीरे' की तर्ज़ का कोई गीत गाता और दूसरे से डुगडुगी बजाता हुआ, एक मदारी लोगों को इकट्ठा करने का प्रयास कर रहा था। दूकानों पर बैठे हुए बेफ़िक्रे और अपने फटे हुए कुर्तों और पैवन्द लगे तहमदों में मस्त बेकार वहाँ जमा होने लगे थे और कहीं से छोटे-छोटे

---

[1] शरीक=खानदानी।

नंग-धड़ंग बच्चों की टोली, शैतानी सेना की भाँति, उधर उमड़ पड़ी थी। अड्डे के ताँगे वाले तब और भी ज़ोर-ज़ोर से सवारियों को आकर्षित करने के लिए अवाज़ें लगाने लगे थे और जैसे मदारी की बाँसुरी और उनकी आवाज़ों में घोर प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी।

मुल्कराज और चेतन उस गली से निकलकर प्रकट तमाशा देखने के उद्देश्य से भीड़ के पास आ खड़े हुए। गली की ओर देखते हुए मुल्कराज ने कहा, "अब छुट्टी होने ही वाली है?"

तभी छोटी-छोटी लड़कियाँ अपनी तख़तियाँ और बस्ते लिये पाठशाला के फाटक से निकलीं और पेड़ की डाली से विभिन्न दिशाओं को उड़ जाने वाली चिड़ियों की भाँति बिखर गयीं।

मुल्कराज बोला, "अब कुछ देर बाद ही ऊँचे दर्जों में भी छुट्टी होगी।"

चेतन ने जैसे यह बात नहीं सुनी; मुल्कराज के कन्धे पर हाथ रखते हुए उसने पूछा, "तो तुम्हें पसन्द नहीं!"

"पसन्द को तो कोई ऐसी बुरी वह नहीं, पर मैंने तुम्हें अपनी राय दे दी।" मुल्कराज ने कन्धे सिकोड़ते हुए कहा, "ढीली-ढाली, सुस्त, मझोले क़द की लड़की है। साधारण युवतियों की भाँति मैंने उसे कभी हँसते-बोलते इठलाते-खेलते नहीं देखा। तुम ठहरे चालाक चुस्त! तुम्हारे साथ उसकी निभ सकेगी, कह नहीं सकता।"

"रंग कैसा है?" चेतन ने पूछा।

"गेहुआँ है, गोरा तुम उसे नहीं कह सकते।"

चेतन का उत्साह मन्द पड़ गया। उसने सोचा कि वहीं से वापस हो जाय। फिर ख़याल आया—माँ ने पूछा तो क्या जवाब दूँगा और स्वयं ही सोच लिया—कह दूँगा कुरूप है। लेकिन फिर अन्तर में किसी ने कहा—कौन जाने सुन्दर ही हो! मुल्कराज बस्ती ही का रहने वाला है, उनके घराने में से ही, शायद वह न चाहता हो कि उनके शरीक की लड़की

को ऐसा अच्छा वर मिले। और सन्देह की एक दृष्टि मुल्कराज पर डाल-कर अनमना-सा वह तमाशा देखने लगा।

सड़क की ओर जिन मकानों की खिड़कियाँ खुलती थीं, उनमें बच्चों के नन्हें चेहरे झाँकने लगे थे। किसी-किसी खिड़की की चिलमन के पीछे प्रातः से संध्या तक काम-काज में जुटी रहने वाली, कोई पर्दे वाली गृहणी भी आ खड़ी हुई थी। खेल कोई नया न था। वही तीन सींगों वाला बैल, वही रुपया पैदा करने वाला जादू का मंत्र और गोली गुम करने वाली थैली! किंतु मदारी की बातें ही कुछ ऐसी दिलचस्प थीं कि कुछ क्षण तक चेतन उनमें खो गया। और फिर यद्यपि उसके कानों में मदारी के शब्द स्वप्न-संसार के शब्दों की भाँति सुनायी देते रहे, किंतु उसकी आँखों के सम्मुख अनायास कई प्रकार के चित्र अंकित हो चले। कल तक ये सब चित्र सुन्दर कोमलाँगी तरुणियों के चित्र थे। पर आज वे सब असुन्दर बन बन आते। वहीं खड़ा वह एक बार फिर इन कुरूप चित्रों को उन्हीं सुन्दर तस्वीरों में परिणत करने का प्रयास कर रहा था, पर बार-बार वही असुन्दर मँझोले गेहुँएँ रंग के चित्र उसकी आँखों में आते और फिर सब कुछ जैसे गडमड हो जाता। खीझ-खीझकर वह तमाशे में ध्यान जमाता, किंतु कल्पना उसे कहीं का कहीं ले जाती।

तभी मुल्कराज ने उसके बाज़ू को छूते हुए धीरे से कहा, "छुट्टी हो गयी है, बड़े दर्जों की लड़कियाँ आने लगी हैं।"

चेतन चौंककर मुड़ा और दोनों कुछ तिरछे होकर ऐसे खड़े हो गये कि न मालूम हो कि तमाशा देख रहे हैं और न मालूम हो कि बाज़ार में किसी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

एक सुन्दर, बारह-तेरह वर्ष की लड़की, हाथ में किताबें थामे मानो माप-मापकर क़दम रखती हुई, जैसे अपनी चाल की सुन्दरता से अभिज्ञ, तीन-चार सहेलियों के साथ जा रही थी। जाते-जाते उसने एक चंचल

दृष्टि चेतन पर भी डाली। चेतन का दिल धक-धक करने लगा और उसके गाल सुर्ख़ हो गये।

अनायास उसने मुल्कराज के बाज़ू को छुआ। इशारे से मुल्कराज ने बता दिया कि यह नहीं।

चेतन लज्जित-सा चुप खड़ा हो गया, फिर उसने कहा, "मैं चलता हूँ।"

"अब तो वह आने ही वाली है।"

"नहीं मैं चलता हूँ।"

"पागल हो गये हो क्या!"

इस बीच में छोटी-बड़ी लड़कियों की कई टोलियाँ निकल गयीं। वे सब ग़रीब, साधनहीन बेफ़िक्रे जो केवल देखकर ही अपनी वासना की भूख को मिटा पाते, आज मदारी का तमाशा देखने में व्यस्त थे और उनकी अनुपस्थिति के कारण लड़कियाँ अपनी इर्द-गिर्द की दुनिया से अनभिज्ञ, धरती में निगाहें गाड़े न चली जा रही थीं। एक दो ने अड्डे पर खड़े इन दोनों को भी देखा, पर कल्पना-ही-कल्पना में चेतन उस चंचल किशोरी का चित्र देखने में इतना मस्त था कि बाकी कौन आया, कौन गया, इसकी उसे सुध न रही। तभी मुल्कराज ने उसके कन्धे को छुआ और जैसे अपने ही कन्धे से बात करते हुए धीरे से कहा, "वह आ रही है।"

उत्सुकता से चेतन ने देखा—एक मँझले क़द की, कुछ मोटी-सी, गेहुएँ रंग की लड़की जैसे घर के ही धुले, मटमैले कपड़े पहने, सीधी-साधी चाल से चली आ रही है। उसके दोनों हाथों पर स्लेट थी जिस पर लगा हुआ किताबों का अम्बार जैसे उसके वक्ष का सहारा लिये पड़ा था। उसकी आँखें जैसे धरती में गड़ी जा रही थीं।

चुपचाप वह उसके पास से होकर गुज़र गयी।

मदारी का खेल खतम हो गया था। भीड़ के ऊपर से पैसों की थाली

वाला हाथ उसने चेतन के आगे कर दिया । लाचारी से एक 'उँहुँ' करके चेतन वहाँ से चल पड़ा और एक ताँगे की पिछली सीट पर जा बैठा ।

मुल्कराज ने सड़क पर खड़े-खड़े पूछा, "क्यों ?"

चेतन जैसे विवशता से सिर्फ़ मुस्कराकर रह गया ।

मुल्कराज बोला, "मैंने तो कहा था शादी ......"

चेतन ने बात काटकर कहा, "इस मोटी-मुटल्लो से ? हरगिज़ नहीं !"

३

इसी वर्ष स्थानीय कॉलेज से चेतन ने बी० ए० की परीक्षा दी थी और उसकी माँ को उसके विवाह की चिन्ता लग गयी थी। लाहौर की पढ़ाई का ख़र्च सह सकने की शक्ति उनमें नहीं थी। इतना भी न जाने कैसे हो गया? पिता का अपना ही ख़र्च मुश्किल से चलता था। माँ ने जैसे-तैसे अब तक चेतन की शिक्षा का प्रबन्ध किया था। पर उसे लाहौर भेजना तो उसके बस में भी न था। गहने थे, पर कितने? और वे भी न जाने कहाँ-कहाँ गिरवी रखे हुए थे? इन्हीं कारणों से अब वह चाहती थी कि उसका यह बेटा जब इतना पढ़-लिख गया है तो उसका कर्तव्य है कि कहीं नौकरी करे, घर-बार बसाये और इस प्रकार शीघ्र ही नौकरी से रिटायर होने वाले अपने पिता और गृहस्थी के झंझटों से रिटायर होने वाली माँ को सहारा दे।

किंतु चेतन की उच्चाकांक्षा इस तरह सीमित होने को तैयार न थी। कारागार के सीखचों में बन्द व्यक्ति के अरमानों की भाँति वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती थी। यद्यपि परीक्षा-फल निकलने से कई दिन पहले उसने

अपने ही स्कूल में नौकरी कर ली थी और जिन दर्जों की बेंचों पर बैठकर अध्यापकों की झिड़कियाँ सुनी थीं, उन्हीं में अब अध्यापक की कुर्सी को सुशोभित करने का गर्व भी उसने अनुभव कर लिया था तो भी यह कोल्हू के बैल का-सा जीवन उसे पसन्द न था। लाहौर के किसी कॉलेज के बदले स्कूल जैसे उस स्थानीय कॉलेज में बी० ए० तक पढ़ने के कारण कॉलेज-जीवन के जिन अनुभवों से वह वंचित रह गया था, उन्हें एक बार लाहौर जाकर प्राप्त कर लेने की उत्कट लालसा उसके मन में, जैसे विवश हो, दबी पड़ी थी। वह चाहता था कि यदि बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाय तो जैसे भी हो, लाहौर जाकर एम० ए० या एल-एल० बी० करने का प्रयत्न करे।

जब वह लाहौर में शिक्षा पाये हुए अपने ही मुहल्ले के मित्रों को देखता था तो अपने-आपको उनके सामने निरा स्कूल का छात्र पाता था। क्या सामाजिक, क्या धार्मिक, क्या देशी, क्या विदेशी सभी विषयों पर वे बड़ी सुगमता से अँग्रेज़ी में धारा-प्रवाह बोलते चले जाते थे। स्वयं उससे तो अँग्रेज़ी का एक शुद्ध वाक्य भी न बोला जाता था। इसलिए लाहौर भाग जाने को उसका मन छटपटाया करता था। तभी एक दिन बस्ती से एक लकवे की बीमारी से लाचार वृद्ध महाशय अपने हिलते हुए शरीर को एक डंडे के सहारे थामे, एक दूसरे व्यक्ति के कन्धे पर हाथ रखे, उनके घर आये। बैठक के साथ जो कमरा था, चेतन उस समय उसी में बैठा कहानियों की एक पुस्तक पढ़ने का प्रयास कर रहा था। प्रयास इसलिए कि पढ़ने की अपेक्षा वह स्वयं कहानी लिखने को अधिक व्यग्र था, पुस्तक तो वह केवल प्रेरणा के लिए पढ़ रहा था। उसने कहानी लिखने का प्रयत्न किया था, पर वह सफल न हो पाया था। किसी काग़ज़ पर दो, किसी पर चार और किसी पर दस-बीस पंक्तियाँ तक लिखकर वह फेंक चुका था और पुनः कहानियों की पुस्तक पढ़ने में निमग्न हो गया था।

मकान के बाहर मुहल्ले के खुले चौक में खड़े होकर उन वृद्ध के साथ आने वाले व्यक्ति ने चेतन के दादा का नाम लेकर आवाज़ दी।

चेतन के दादा भोजन करके बड़े इत्मीनान से ऊपर बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। उन अपरिचित व्यक्तियों को अपना नाम पुकारते सुन हुक्का हाथ में ही लिये नीचे बैठक में आ गये और उन्हें सादर बैठाकर आप भी बैठ गये। इसके बाद उन आगन्तुकों की बातें सुनकर दादा के चेहरे पर जो उल्लास खेलने लगा था और धीरे-धीरे होने वाली बातों की जो भनक चेतन के कान में पड़ी थी, उससे उसने जान लिया था कि उन महानुभावों के आने का प्रयोजन क्या था। वास्तव में ब्राह्मण जाति के निम्न-मध्य-वर्ग में अच्छे पढ़े-लिखे और रोज़गार से लगे हुए लड़कों का अभाव है। इसी कारण जो लोग उसकी प्रतिभा का पता पाकर और यह जानकर उनके घर आया करते थे कि कॉलेज से निकलते ही वह अपने स्कूल में चालिस रुपये मासिक की नौकरी प्राप्त करने में सफल हो गया है, उनकी बातों से वह पूरी तरह परिचित था। उसे पूरा विश्वास था कि अभी उसके दादा उसे आवाज़ देंगे और उसे कुछ मनोरंजन का सामान मिलेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। वह प्रकट पुस्तक में ध्यान जमाये इसी बात की प्रतीक्षा करता रहा, पर उसके दादा ने कोई आवाज़ न दी और कुछ देर बातें करने के बाद वे ऊपर, सम्भवत: चेतन की माँ से कुछ पूछने, चले गये।

ऐसी दशा में पहले वह स्वयं उठकर बैठक में आ जाया करता था और आगन्तुकों को अवसर दे दिया करता था कि वे उससे बातें करके विवाह सम्बन्धी उसके विचारों को जान लें या फिर वह अपने मित्र अनन्त को बुला लाता था और वे दोनों मिलकर आगन्तुकों को लड़कियों के पिता होने का दंड दिया करते थे। किंतु उस दिन दादा के चले जाने पर भी वह उठकर वहाँ न जा सका। लकवे के कारण, शरीर-कम्पन की बीमारी में ग्रसित, प्रतिक्षण अत्यन्त दयनीय रूप में अपने हाथ और गर्दन को हिलाते

रहने वाले उन बुज़ुर्ग की आकृति में कुछ ऐसी बात थी कि वह उनसे किसी तरह के परिहास का विचार मन में न ला सका। उनका स्वर इतना धीमा, गम्भीर और संयत था कि साधारण लोगों की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व से अनायास ही श्रद्धा हो जाती थी। भागकर पास की गली से अपने मित्र अनन्त को बुला लाने की इच्छा भी तब उसे नहीं हुई।

कुछ देर बाद दादा ने एक काग़ज़ उनके हाथ में लाकर दिया। बड़ी कठिनाई से उसे अपने काँपते से हाथ में थामकर, उन्होंने अपनी जेब से ऐनक का डिब्बा निकाला और उसे अपने शरीर से सटाकर खोलने का प्रयास करने लगे। तब जैसे चौंककर उनके साथ आये हुए व्यक्ति ने झट उसे खोलकर उन्हें दे दिया। सफ़ेद कमानी की साधारण सस्ती ऐनक—उसे बड़ी कठिनाई से नाक पर लगाकर उन्होंने काग़ज़ पढ़ा और लपेटकर जेब में रख लिया। चेतन समझ गया, उसके दादा ने उसकी माँ से पूछकर चारों अंग[1] लिखकर दिये हैं।

इसके बाद नमस्कार करते हुए वे वृद्ध उठे। जाते-जाते चेतन के पास आकर उन्होंने अपना काँपता हुआ हाथ उसके सिर पर फेरा और कहा, "अब तो परीक्षा हो चुकी है बेटा, अब इतनी मेहनत न किया करो। कुछ दिन आराम करो और सेहत बनाओ।" बस इतना कह, अपने हिलते हुए शरीर को जैसे-तैसे सम्हालते हुए, वे बैठक की सीढ़ियाँ उतर गये। न उन्होंने दूसरों की भाँति उसकी शिक्षा-दीक्षा, वेतन या विचारों के सम्बन्ध में प्रश्न किये, न अपने ही बारे में कुछ बताया।

---

[1] लड़के का, लड़के की माँ का, उसके पिता तथा उसके दादा का, अपना और ननिहाल का गोत्र बताने को चारों अंग बताना कहते हैं। पुराने विचार के हिन्दुओं में यदि लड़के के इन चारों अंगों में कोई लड़की के चारों अंगों में से किसी से मिल जाय, तो सगाई नहीं होती।

उनके चले जाने के बाद चेतन के मन में प्रबल आकांक्षा उठी कि वह अपनी माँ अथवा दादा से उनके इस आगमन का ठीक कारण पूछे, पर वह मन मारकर बैठा रहा।

शाम को खाना खाते समय उसे पता चल गया कि उसका अनुमान ग़लत न था। लकवे की बीमारी से ग्रसित वे बुज़ुर्ग रिटायर्ड ओवरसियर थे। उनके साथ उनका छोटा भाई था जिसके ईंटों के दो भट्टे 'काला-बकरा' में थे। उसी की लड़की के सम्बन्ध में बात करने वे आये थे। उसे यह भी पता चला कि वे चारों अंग लिखकर ले गये हैं। तब खीझकर चेतन ने अपनी माँ से कहा था, "दादा जी न जाने क्यों उनको साफ़ इन्कार नहीं कर देते। क्यों व्यर्थ दो भलेमानुसों को परेशान करते हैं?"

माँ ने आँखों में आँसू भरकर वही पुरानी बातें दुहरानी शुरू की थीं—'बच्चा यदि तू घर न बसायेगा तो मैं मुहल्ले में किस तरह मुँह दिखा सकूँगी? विवाह, शादी और बीसियों दूसरे संस्कारों और त्योहारों पर किसी-न-किसी घर से कुछ-न-कुछ आता रहता है। मेरे घर अब तेरे विवाह के सिवा इतनी जल्दी और कौन-सा उत्सव होगा कि मैं उन सब का बदला दे सकूँगी। और फिर तेरे विवाह न करने से कुल को लाँछन अलग लगेगा। यह कोई न कहेगा, लड़का नहीं मानता सब यही कहेंगे कि वंश ही में कोई दोष होगा जो अब तक शादी नहीं हुई।

इन बातों का कोई जला-कटा उत्तर देने के बदले चेतन ने अपना वही पुराना अस्त्र प्रयोग में लाने का विचार किया। गम्भीरता से उसने कहा, "मैं तुम्हारी सब बातें मानता हूँ, पर मैं लड़की देखे बिना विवाह न करूँगा, और इस बात के लिए शायद वे तैयार न हों।"

माँ ने कहा, "वे लड़की दिखा देंगे।"

और माँ ने बात ठीक ही कही थी। दूसरे ही दिन वे वृद्ध फिर आये और उन्होंने कहा कि परमात्मा की कृपा से अंग तो नहीं मिले और आग्रह

किया कि यह नाता तो अब हो ही जाना चाहिए। तब दादा ने उत्तर दिया कि उनकी और बहू की ओर से तो कोई आपत्ति नहीं, वे तो घर अच्छा चाहते हैं—भलेमानुस लोग ! बाकी किसी चीज़ की उन्हें परवाह नहीं .... पर लड़के के पिता से भी पूछ लेना चाहिए। और फिर सकुचाते-सकुचाते उन्होंने कहा कि लड़के को मना लेना भी आप ही का काम है।

इस पर वृद्ध ने दादा से चेतन को बुलाने के लिए कहा था और दादा ने चेतन को आवाज़ दी थी।

जैसे गहरे लाल रंग के ऊपर हल्का-पीला रंग उसकी ललाई को नहीं छिपा पाता, इसी तरह जब पहिले ऐसे अवसरों पर चेतन आकर बैठा करता था तो उसके चेहरे पर जो हल्की-सी गम्भीरता होती थी उसके नीचे शरारत साफ़ छिपी दिखायी देती। किंतु उस दिन जब रोग से विवश उन वृद्ध के सामने चेतन जाकर बैठा तो उसकी वह शरारत ऐसी छिप गयी जैसे उसका कभी अस्तित्व ही न था। चुप, गम्भीर, शर्माया-शर्माया-सा वह जाकर बैठ गया।

बड़े मीठे स्वर में हकलाते-हकलाते उन बुज़ुर्ग ने पूछा "क्यों बेटा तुम्हें इस रिश्ते में कुछ आपत्ति तो नहीं?"

चेतन ने चाहा आश्चर्य प्रकट करता हुआ पूछे, "किस रिश्ते में?—पर न तो वह आश्चर्य का प्रदर्शन कर सका और न कुछ पूछ ही सका, बस चुप बैठा रहा।

उन वृद्ध ने कहा, "तुम्हें लड़की दिखा देंगे बेटा, मैं स्वयं आज़ाद-खयाल आदमी हूँ। जिसके साथ जीवन भर का नाता हो, उसे देखा तक न जाय, इसे मैं अन्याय समझता हूँ।"

चेतन फिर भी चुप बना रहा, उसकी सब मुखरता न जाने कहाँ हवा हो गयी।

फिर कुछ देर बाद वे बोले, "रहे तुम्हारे पिता जी तो भाई उनकी

सेवा में उपस्थित होकर भली-भाँति उनकी अनुमति प्राप्त कर ली जायगी। तुम्हारी ओर से तो कोई आपत्ति नहीं ?"

चेतन का गला सूख-सा रहा था, उसके कंठ में जैसे गोला-सा अटक गया था, पर उनके अन्तिम वाक्य से उसे जैसे ज़बान मिल गयी। धीरे से बोला, "जी . . . जी . . . मैं अभी आगे पढ़ना चाहता हूँ!"

"तुम जैसे अध्ययनशील, बुद्धिमान युवक से ऐसी ही आशा है बेटा," उन्होंने समर्थन करते हुए कहा, "आगे ज़रूर पढ़ो! गुण अपने पास हो तो क्या बुरा है? कोई छीन तो लेगा नहीं। और दो वर्ष तो पलक झपकते बीत जायँगे। चन्दा उन लड़कियों में से नहीं जो पति के मार्ग का रोड़ा बन जायँ। सरल, सीधी, समझदार लड़की है, तुम्हारी पढ़ाई में किसी प्रकार की बाधा न डालेगी। फिर हमसे भी जहाँ तक हो सका तुम्हारी सहायता करेंगे।"

चेतन क्या कहे? वह स्थिर न कर सका।

वृद्ध अपने भाई के कन्धे का सहारा लेकर उठे और दादा की ओर देखकर बोले, "हम आज ही पंडित जी के पास जायँगे और परमात्मा ने चाहा तो उन्हें मनाकर ही आयँगे, नमस्कार!"

और अपने हिलते हुए हाथ जोड़कर उन्होंने विदा ली।

कृतज्ञता के बोझ से जैसे दबकर दादा भी उनके साथ उठे।

"आप बैठिए, व्यर्थ कष्ट न कीजिए!" और यह कहकर वे तनिक हँसते हुए अपने छोटे भाई को साथ लेकर उसी दयनीय दशा में काँपते, हिलते, झूलते, डोलते सीढ़ियाँ उतर गये।

कुछ देर तक चेतन चुपचाप वहीं बैठा रहा था। फिर उसका सारा क्रोध पोते के विवाह की सुखद कल्पना में डूबे, धीरे-धीरे हुक्का गुड़गुड़ाते हुए अपने सत्तर वर्ष के बूढ़े दादा पर उतरा। चीखकर उसने कहा, "मैंने कितनी बार आपसे कहा है कि मुझे तंग न किया करें, फिर क्यों आप लोग मुझे

सताते हैं ? मैं घर छोड़कर चला जाऊँगा।" और पैर पटकता हुआ वह अपने कमरे में जाकर लेट गया।

दोपहर को उसकी माँ जब खाना खाने के लिए उसे बुलाने आयी तो वह छत की ओर टकटकी लगाये चारपाई पर लेटा था।

माँ चारपाई पर जाकर बैठ गयी और प्यार से बोली, "खाना नहीं खाओगे आज ?"

बिना उसकी ओर देखे रुखाई से चेतन ने कहा, "मुझे भूख नहीं।"

इस वाक्य के पीछे जो बवंडर छिपा हुआ था, वह शायद माँ से छिपा न रहा। खाना खाने के लिए फिर उसने नहीं पूछा।

कुछ क्षण तक चुप रहकर वह बोली—"आज ज्वाली महरी की लड़की आयी थी।"

चेतन चुप रहा।

"उसकी ससुराल भी तो बस्ती ग़ज़ाँ ही में है," माँ ने कहा "बेचारी बड़ी दुखी है। अभी दो वर्ष भी नहीं हुए कि उसका ब्याह हुआ था। फिर लड़का भी कौन घर-घर का पानी भरने या कुल्फ़ियाँ लगाने वाला था।[1] रेलवे में पैंतीस रुपये पाता था। अभी छः महीने हुए उसके घर लड़का हुआ था। सब तरह आनन्द था......"

किसी पर उतार न सकने से चेतन के हृदय में क्रोध उमड़ा पड़ रहा था, पर ज्वाली महरी की इस मन्द-भाग्य लड़की के दुख की बात सुनकर जैसे वह कुछ क्षण के लिए सन्न होकर बैठ गया।

एक दीर्घ-निश्वास छोड़कर और सहज ही भर आने वाली आँखों को पोंछकर माँ ने कहा, "आज बेटा वह विधवा है। कुछ ही दिन हुए

---

[1] पंजाब के धीवर प्रायः घरों में पानी भरते हैं या मलाई की कुल्फ़ियाँ लगाते हैं।

उसके पति की बदली सम्मा-सट्टा की ओर किसी रेगिस्तानी स्टेशन पर हुई थी। बड़ी लाइन, दिन-रात का काम और रेगिस्तान की गर्म झुलसा देने वाली लू। वहाँ जाते ही उसे ज्वर हो आया। पर काम तो ज्वर की अपेक्षा नहीं करता। इससे पहले कि छुट्टी की प्रार्थना स्वीकार होकर आती और उसके स्थान पर दूसरा बाबू जाता, वह घर में बेहोश होकर पड़ गया। उस वीराने में अपना कौन था? दूसरे ज्वाली की लड़की बच्चे से थी और रेल का डाक्टर भी इन छोटे स्टेशनों पर कहाँ आता है। बेचारा अकेला चार-पाँच दिन बेहोश पड़ा रहा। यहाँ तक खबर पहुँची जब वह सभी व्याधियों से सदा के लिए मुक्त हो चुका था।"

चेतन का क्रोध बिलकुल जाता रहा। ज्वाली की लड़की के दारुण दुःख से जैसे दुखी होकर उसने कहा, "तुम बीरो ही की बात कर रही हो न?"

माँ ने कहा, "हाँ हाँ, उसी की! उन्हीं की गली के पास तो उनका घर है।"

"किनका?"

"पंडित दीनबन्धु का।"

"कौन दीनबन्धु?"

"वही जो आज बस्ती से आये थे।"

"कौन?" समझकर भी चेतन ने न समझते हुए पूछा।

माँ ने किंचित हँसकर कहा, "अरे वही जो आज तुम्हारे लिए आये थे। बातों बातों में बीरो से लड़की की बात चली थी। उसने कहा, "भाभी, लड़की तो ऐसी सुशील और हँसमुख है कि क्या कहूँ। स्वर तो इतना मीठा है कि जो दो मिनट उससे बात कर लेता है उस पर निछावर हो जाता है।"

चेतन चुप रहा।

माँ ने कहा, "बेटा, लड़कियाँ तो एक से एक बढ़कर सुन्दर, सुशि-

क्षित मिल जाती हैं, पर सरल और सुशील लड़की का मिलना कठिन है। तू जाकर देख क्यों नहीं आता, न पसन्द होगी न करना!"

माँ यह कहकर चुप हो गयी और चेतन अपने मन-ही-मन उस भोली-भाली लड़की के चित्र बनाने लगा।

कुछ देर बाद जब फिर माँ ने उससे खाना खाने के लिए कहा तो वह चुपचाप उठ खड़ा हुआ।

माँ की बातों का, उस भोली-भाली लड़की की उस प्रशंसा का जो बीरो से मिलने के बाद वह प्रतिदिन किया करती थी और उस लड़की को एक नज़र देख आने के लिए माँ के अनुरोध का खयाल करके चेतन मन-ही-मन हँस पड़ा। सिनेमा के चित्रों की भाँति गत कई दिनों के दृश्य उसकी कल्पना के सम्मुख घूम गये और सिर नीचा किये वह उन्हीं के विवेचन में मग्न चलता आया। उसे नहीं मालूम—कब वह अड्डे पर ताँगे से उतरा; कब उसने पैसे दिये और कब वह इतने लम्बे, तंग, जन-संकुल बाज़ारों को पार करके इतनी दूर चला आया। जब उसने सिर उठाया तो वह चौरस्ती अटारी के समीप पहुँच गया था।

संध्या के सूरज की अन्तिम मुस्कान ऊँचे श्वेत मकानों की छतों को सुनहरा बना रही थी। मुहल्ले के चौक में केवल विधवा मंसो का चर्खा अभी तक चल रहा था। शेष स्त्रियाँ अपने घरों में जाकर काम-धन्धे में जुट गयी थीं। कुएँ पर भीड़ क्षण-प्रतिक्षण बढ़ रही थी और किसी पल भी झगड़े की सम्भावना की जा सकती थी। कुएँ के पास ही ज़रा हटकर काले-कलूटे शरीर को लिये मोटा, बलिष्ठ तेलू भैंसों की सानी-पानी का प्रबन्ध कर रहा था। कुर्ते की आस्तीनें उसकी चढ़ी थीं और हाथ भूसे तथा खली के पानी से लिथड़े थे। खली की एक तीखी-सी बास मुहल्ले के चौक में फैल गयी थी।

उस समय धीरे-धीरे चलता हुआ चेतन मुहल्ले में दाख़िल हुआ।

———

४

माँ रसोई-घर में बैठी खाना पका रही थी जब चेतन ने जाकर कहा, "देख आया हूँ तुम्हारी बस्ती वाली शहज़ादी! उससे तो मैं सात जन्म शादी करने की बात नहीं सोच सकता।"

माँ रोटी बेल रही थी। रुककर उत्सुकता से उसने पूछा, "तुमने कहाँ देखा उसे?"

"बस्ती में और कहाँ," चेतन ने उत्तर दिया।

बेसब्री से माँ ने कहा, "तुम इधर आकर बैठो तो मालूम हो। वहीं खड़े-खड़े क्या बातें कर रहे हो।"

"अब जूते तो मैं उतारने से रहा," चेतन ने ज़रा हँसकर उत्तर दिया। "और फिर बातें ही ऐसी कौन-सी हैं, बस स्कूल से घर जाते समय देखा उसे! मझोले क़द की भद्दी सुस्त लड़की है......।"

माँ रोटी बेलना छोड़कर चौखट में आ खड़ी हुई। चेतन कहता गया, "अपने शरीर का, अपने कपड़ों का, अपनी किसी बात का उसे होश

नहीं—बाल बिखरे, कपड़े मैले—ऐसी फूहड़ लड़की से मैं ब्याह करूँगा? ठीक ही वह मेरी पढ़ाई में मुझे मदद देगी!"

"पढ़ाई" खीझकर माँ ने कहा, "अब तुम और कहाँ तक पढ़ते जाओगे। बहुतेरा पढ़ लिया। नौकरी मिली है तो अब कुछ दिन उस पर टिको, शादी करो, घर बसाओ और ऐसे रहो जैसे दुनिया रहती है। तुमसे तीन-तीन वर्ष छोटे लड़के मुहल्ले ही में दो-दो बच्चों के बाप हैं। सालिगराम को देख लो, चरणदास को देख लो....।"

कटु होकर चेतन बोला, "सारे का सारा मुहल्ला कुएँ में जा पड़े तो क्या मैं भी कूद पड़ूँ? और नौकरी भी क्या मैं अभी छोड़ रहा हूँ। लाहौर जाकर पढ़ लेना भी कौन आसान बात है? मैं तो उन महाशय की बात कर रहा था जो यह कहते थे कि लड़की समझदार है और मेरे रास्ते की रुकावट न बनेगी।"

और यह कहकर चेतन उपेक्षा से हँस दिया।

माँ ने कहा, "तो बहुत ही कुरूप और फूहड़ है? बीरो तो कहती थी.....।"

"मैंने तुम्हें बता दिया न कि मोटी-मुटल्ली, ढीली-ढाली लड़की है। मोटे ओठ और पिलपिला-सा मुँह, सुस्त इतनी दिखायी देती है कि क्या कहूँ। अपने कपड़े धोना, बाल सँवारना तक नहीं जानती।" फिर चबा-चबाकर कहने लगा—"बीरो कहती थी—बीरो कहती थी—बीरो...।"

पर माँ ने बात काटकर कहा, "बेटा सीधी लड़कियाँ अच्छी होती हैं और बनाव-सिंगार—मैं तो इससे पहले ही जली बैठी हूँ। अपनी भावज ही को देख लो। वह ताश शतरंज में लगा रहता है, यह बनाव-सिंगार में और मैं उनकी बाँदी बनी सारा दिन घर का काम करती रहती हूँ।"

चेतन ने हँसकर रद्दा जमाते हुए कहा, "तो यह तुम्हारा काम करेगी, इस आशा से हाथ धो रखो ! माँ-बाप के लाड़-प्यार में पली इकलौती लड़की है। हाथ से तिनका उसने कभी तोड़ा नहीं, यदि तुम अब बाँदी हो तो फिर भी बाँदी ही रहोगी, इसका मैं तुम्हें विश्वास दिला देता हूँ।"

"तो ऐसी निकम्मी लड़की को लेकर मैं क्या करूँगी ?"

तवे पर जो रोटी पड़ी थी, वह जलने लगी और जब तीखी गंध उड़-कर उन तक पहुँची तो झट माँ ने जाकर उसे उठाया। एक ओर से बिलकुल कोयला होकर तवे से चिमट गयी थी। रोटी को एक ओर फेंककर माँ ने चिमटे से तवे को साफ़ किया, कपड़े से पोंछा और नीचे आग को मन्द करके फिर रसोई-घर की चौखट पर आ खड़ी हुई।

चेतन जाने लगा था। उसे रोककर माँ ने कहा, "तुम उन्हें चिट्ठी लिख दो।"

"चिट्ठी !" चेतन ने हैरानी से पूछा।

"हाँ, चिट्ठी के बिना वे बेचारे शायद दुबिधा में रहें और शायद तुम्हारे पिता के पास वे हो आये हों, इसलिए तुम उन्हें लिख दो।"

"क्या लिख दूँ ?"

"कोई बहाना बना दो। लिख दो, मैं अभी आगे पढ़ना चाहता हूँ, मैं जल्दी विवाह नहीं कर सकता। जो तुम्हें उचित लगे लिख दो।"

यह कहकर वह जल्दी से अपने आसन पर जा बैठी और रोटी बेलने लगी।

चेतन नीचे अपने कमरे में गया, जल्दी-जल्दी उसने वह सूट उतार डाला, जिसे जाते समय पहनने में उसने आधा घंटा लगाया था। गले में कुर्ता पहन और कमर में तहमद कसकर वह बाहर अपने दोस्तों में गपशप करने निकल पड़ा। तभी ऊपर रसोई-घर की खिड़की से झाँककर माँ

ने कहा, "देखो देर न लगाना, जल्दी आ जाना, और वह 'बुढ़ऊ' कहीं मिले तो उसे भेजना। आकर खाना खा जाय, फिर मेरी ओर से चाहे सारी रात पड़ा ताश शतरंज से सिर फोड़ा करे।" और फिर जैसे माँ ने अपने से कहा, "सुबह से खाना खाकर गया है, एक मिनट के लिए भी नहीं आया। भगवान शत्रु को भी ऐसी निकम्मी सन्तान न दे!"

———

५

चेतन के बड़े भाई रामानन्द को माँ ने यों ही 'बुढ़ऊ' की उपाधि न दे रखी थी चेतन के दादा उनके विषय में कहा करते थे—'इसके सामने घी का घड़ा लुढ़क रहा हो तो यह हिलने का नाम न ले!' घर के सुख-दुख तो दूर रहे, अपनी परेशानियाँ भी उन्हें छू न पाती थीं, पिता की डाँट-डपट, मार-पीट; माँ के गिले-शिकवे, कोसने-उलाहने; पत्नी के ताने-मेहने और रोना-रूठना—कोई वस्तु कभी उनकी निर्लिप्तता को भंग न कर पाती। एक विचित्र ढंग की, शुष्कता की सीमा को पहुँची हुई, वीतरागता उनकी आकृति से सदैव टपका करती।

यह वीतरागता उस ढीठपने ही का दूसरा रूप थी जो प्रायः रोज़-रोज़ की डाँट-डपट या मार-पीट के कारण बच्चों में पैदा हो जाया करती है। चेतन के ये बड़े भाई, न केवल बचपन ही में अधिक पिटे थे, वरन् युवावस्था में भी उनकी ख़ूब 'आवभगत' हुई थी। बचपन में पिता की निर्दयता के भय से माँ ने उन्हें अपने पीहर भेज दिया था। वहाँ मार-पीट से तो मुक्ति मिल गयी, किंतु नानी सौतेली थी, इसलिए डाँट-डपट,

ताने-मेहने आठों पहर उनके गले का हार रहे। चेतन के पिता रेलवे में थे। जब वे 'रिलीविंग' में हुए, माँ ने सब बच्चों को जालन्धर दाख़िल करा दिया और नानी इस 'डहूस'[1] से तंग आ गयी तो माँ ने भाई साहब को भी जालन्धर बुलवा लिया। यहाँ नानी के सौतेले व्यवहार और नाना की रूखी-फीकी डाँट-डपट से पिंड छुटा तो पिता के तूफ़ानी दौरे और तूफ़ानी मार-पीट से पाला पड़ने लगा। चेतन के पिता पंडित शादीराम किसी दूरस्थ स्टेशन से किसी दूरस्थ स्टेशन को (छुट्टी पर जाने वाले किसी स्टेशन मास्टर का स्थान लेने के हेतु) जाते हुए जालन्धर से गुज़रते तो अपने इस आगमन की स्मृति के रूप में अपने इस बड़े लड़के को सौ-पचास थप्पड़ और दस-बीस पटखनियाँ दे जाते।

चेतन या उसके छोटे भाइयों की अपेक्षा उसके ये बड़े भाई ही क्यों अधिक पिटते? इसका कारण सम्भवतः उन दो उपाधियों में निहित हैं जो माँ और नानी ने उन्हें दे रक्खी थीं—'बुढ़ऊ' और 'डहूस'।

वे बड़े थे, इसलिए शायद पंडित जी की दृष्टि सब से पहले उन्हीं पर पड़ती और प्रायः उन्हीं को पंडित जी की 'कृपाओं' का भाजन बनना पड़ता।

या फिर नानी की उपाधि के अनुसार उन्होंने ऐसा मन-मस्तिष्क और शरीर पाया था कि न उन पर मार-पीट का प्रभाव पड़ता और न वे उससे बचने के उपाय सोच पाते। पंडित शादीराम भी, जिन्हें मार-पीट की कला में अपूर्व दक्षता प्राप्त थी, कई बार अपने बड़े बेटे की इस सहनशीलता से हारकर कह उठते, 'पीटते-पीटते मेरे हाथ दुखने लगते हैं, लेकिन इस 'डहूस' के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती,' और उनके इस ढीठपने से चिढ़कर वे पंजाबी भाषा की एक लोकोक्ति सुनाते :

---

[1] डहूस=मन्द-बुद्धि, मोटी खाल वाला बैल सरीखा व्यक्ति।

दो पइय्याँ, विस्सर गइय्याँ
सदका मेरी ढूई दा[1]

पंडित जी साधारणतः पढ़ाई के सिलसिले ही में पीटते। यदि वे अपने किसी बेटे के हाथ में पुस्तक देख लेते तो पहले मामूली तौर पर, बड़े स्नेह से, हँसते-हँसते, पुस्तक लेकर उसके दो चार पृष्ठ उलटते। फिर सहसा उसकी परीक्षा लेने के लिए (जैसी भी पुस्तक हो, उसके अनुसार) कोई अँग्रेज़ी, गणित, भूगोल अथवा इतिहास का प्रश्न पूछ बैठते। यदि उत्तर ठीक होता तो लड़के की पीठ ठोंकते, उसे उठाकर चूम लेते और प्रसन्नता से उसके भविष्य के सम्बन्ध में कई उत्साह-भरी भविष्यद्वाणियाँ करते हुए अपने उस जोश में और भी कठिन प्रश्न पूछते—परिणाम सदैव ठकाई होता।

चेतन भी बचपन में दो तीन बार पिटा था, इस बुरी तरह कि वह महीनों बीमार रहा था; किंतु बचपन में पिटा सो पिटा, उसके पश्चात् यथाशक्ति उसने ऐसा अवसर न आने दिया। वह सदा उनकी मार-पीट से बचने; उनके सामने न पड़ने, जिस समय वे घर में हों, उस समय घर से ग़ायब हो जाने के बीसों बहाने सोच लेता। उसका छोटा भाई, छोटा होने पर भी, उसकी इस 'दूरदर्शिता' से लाभ उठा लेता और पिता की मार-पीट से बचने के उपाय सोचने और उन्हें कार्यरूप में परिणत करने में सदैव उसकी सहायता करता। वह बीमार पड़ जाता कि चेतन उसे डाक्टर के पास ले जा सके; पीड़ा से कराहने लगता कि चेतन उसका सिर दबा सके; गुम हो जाता कि चेतन उसे ढूँढ़ने का बहाना कर सके।

जब पंडित जी घर पर होते तो दोनों छोटे भाई सदा उनके सामने जाने से बचने के बीस बहाने सोच लेते। वे इस बात का भी विशेष ध्यान

---

[1] **दो पड़ीं भूल गयीं, सदक़े मेरी पीठ के!**

रखते कि पंडित जी आयें तो उन दोनों के हाथ में तो क्या, घर के किसी कोने में भी उन्हें पुस्तक का कोई पृष्ठ तक न दिखायी दे। बाहर मुहल्ले ही से उनकी आवाज़ सुनकर वे पुस्तकें छिपाना आरम्भ कर देते। पंडित जी नीचे होते तो वे तुरन्त ऊपर की पुस्तकें छिपा देते और जब वे ऊपर आते तो बहाने से नीचे जाकर, वहाँ यदि कोई पुस्तक पड़ी हो तो उसे उड़ा देते। अपनी समस्त सतर्कता और चाबुकदस्ती के बावजूद यदि उन्हें पंडित जी के कमरे में जाना पड़ जाता तो न केवल वे कभी हाथ में पुस्तक न ले जाते, वरन् पंडित जी जिस कमरे में हों, वहाँ यदि भूले से भी कोई पुस्तक पड़ी रह गयी हो तो बातों-बातों में उसे बड़ी कुशलता से, उनकी दृष्टि बचाकर, उड़ा देते। यदि पंडित जी को गर्मी लग रही हो तो उन्हें इस ज़ोर से पंखा करते कि उनका मन लेट जाने को चाहे। वे लेट जाते तो उनके पाँव तथा पिंडलियाँ इस निष्ठा से दबाते कि वे खुर्राटे लेने लगते।

यदि इस समस्त सावधानी के बावजूद दुर्भाग्य उनका कोई वश न चलने देता। उनमें से कोई पंडित जी के चंगुल में फँस जाता और पंडित जी उसकी परीक्षा लेने लगते तो दूसरा सदैव इस बात का प्रयास करता कि पंडित जी के किसी घनिष्ठतम मित्र को उनके आने का समाचार इस भाँति पहुँचा दे कि वह भागा-भागा पंडित जी से मिलने चला आये और भाई का गला छूटे।

किंतु चेतन के ये बड़े भाई (यों चाहे सदा उपन्यास पढ़ते या आवारा-गर्दी करते) जब पंडित जी घर आते तो तुरन्त पुस्तकें ले बैठते। न केवल वे घर से गुम रहने या पंडित जी के समक्ष जाने से बचने के उपाय न सोचते, वरन् जब पंडित जी घर आते तो वे सदैव घर ही में बने रहते—सम्भवतः अपनी आवारागर्दी का हाल छिपाने और पढ़ने में अपनी निष्ठा उन्हें बताने के लिए! फिर चेतन और उसके छोटे भाई की-सी सतर्कता और चाबुक-

दस्ती भी उनके यहाँ न थी। वे न हाज़िर-जवाब थे, न जल्दी बहाने सोच सकते थे। पिटने पर भी वे सदा अपने पिता के साथ चिपके रहते और इसीलिए प्राय: घर तो घर, बाज़ार में भी पिटते।

पंडित जी पुस्तक देखकर ही प्रश्न पूछते हों, यह बात न थी। कई बार सहसा वे ऐसे समय और ऐसा प्रश्न पूछते जिसकी रत्ती भर भी सम्भावना न होती।

...एक बार वे एक दावत के सिलसिले में (पूर्ववत भाई साहब साथ थे।) सड़क की ओर से जाने के बदले लाइन-लाइन थानेदार के यहाँ जा रहे थे कि सहसा एक सिगनल की ओर संकेत करके उन्होंने पूछा "इसे अँग्रेज़ी में क्या कहते हैं?"

भाई साहब ने तुरन्त उत्तर दिया, "सिंगल!"

और धड़ से एक थप्पड़ उनके मुँह पर पड़ा, "साले, यह पंजाबी भाषा का नहीं, अँग्रेज़ी का शब्द है। स्टेशन मास्टर का लड़का होकर गँवारों की तरह 'सिंगल सिंगल' बके जा रहा है।"

दो और थप्पड़ जड़ते हुए उन्होंने वैसे ही और शब्द पूछे। थानेदार बेचारे बढ़िया पुरानी देशी शराब रखे उनकी प्रतीक्षा करते रहे, किंतु पंडित जी भाई साहब की मरम्मत करते हुए रास्ते से ही लौट आये।

...'चीचोकी मलियाँ' स्टेशन के सामने एक मिलेट्री का डिपो था। चेतन के बड़े भाई उस समय आठवीं श्रेणी में पढ़ते थे और चेतन छठी में। वह पहली बार अपने बड़े भाई के साथ चीचोकी मलियाँ आया था। एक दोपहर जब अपने पिता के साथ वे दोनों डिपो के सामने से जा रहे थे, चेतन ने सहसा अपने भाई से प्रश्न किया "यह बैरक-सी क्या है, भरा जी।"

भाई साहब ने बोर्ड पढ़ते हुए बताया "चीचोकी मलियाँ मिलेट्री डिपोट. . ."

अभी उन्होंने वाक्य पूरा भी न किया था कि पूरे ज़न्नाटे के साथ एक थप्पड़ उनकी कनपटी पर पड़ा और उनकी आँखों के आगे तारे नाचने लगे, "आठवीं में पढ़ता है और यह भी मालूम नहीं कि शब्द 'डिपो' है 'डिपोट' नहीं।"

और पंडित जी ने काँटे वाले से वहीं कुर्सी मँगायी और भाई साहब से पुस्तक लाने को कहा। चेतन पानी पीने के बहाने खिसक गया। पीछे भाई साहब की जो दशा हुई उसका अनुमान लगाया जा सकता है।

. . . . . .उन दिनों चेतन स्वयं आठवीं श्रेणी में पढ़ रहा था उनका नया मकान अभी पूरा न बना था और वे सब मुहल्ले के साथ ही 'खोसलों की गली' में एक विधवा का मकान किराये पर लेकर रहते थे। उसकी गणित की परीक्षा थी और घर पर पंडित जी (मकान बनवाने के हेतु छुट्टी लेकर) आये हुए थे।

चेतन को गणित से तनिक भी लगाव न था। वह सदैव सौ में से एक दो नम्बर ही पाता। ये एक दो नम्बर भी उसकी योग्यता की अपेक्षा अध्यापक की उदारता ही का प्रमाण होते। वार्षिक परीक्षा में रेखागणित ही उसकी सहायता करता।

बात यह थी कि बचपन ही से उसका गणित कमज़ोर और अँग्रेज़ी अच्छी थी। पंडित शादीराम ने उसका गणित सुधारने की ओर कभी ध्यान न दिया था और उस समय जब उसे दूसरी का गणित भी न आता था, तीसरी कक्षा में दाखिल करा दिया था। उन्हें विश्वास था, कि वह एक ही वर्ष में दो कक्षाओं का गणित सीख लेगा। इसीलिए स्कूल ही के एक अध्यापक की टयूशन भी उसे रख दी थी। यद्यपि वे महाशय वर्ष भर उसे

गणित पढ़ाते रहे और चेतन उन महाशय के कारण तीसरी श्रेणी में पास भी हो गया तो भी गणित में वह कोरे का कोरा ही रहा। रहता भी क्यों न, जब कि अध्यापक महाशय उसे गणित का अभ्यास कराने की अपेक्षा उससे हुक्का भरवाते और पाँव दबवाते। गणित में यह कमज़ोरी धीरे-धीरे उस विषय से अरुचि और फिर घृणा में परिणत हो गयी और फिर ऐसा हुआ कि गणित की पुस्तक देखकर ही चेतन एक विचित्र प्रकार की उदासीनता और उकताहट अनुभव करने लगा।

उस दिन यद्यपि परीक्षा चार बजे ही समाप्त हो गयी थी, किंतु चेतन बड़ी देर बाद घर पहुँचा—इस आशा से कि उसके पिता अपने अभिन्न-हृदय-मित्र देसराज के साथ बाज़ार शेखाँ की शोभा बढ़ाने चले गये होंगे, पर कदाचित उस दिन देसराज आया न था, या पंडित जी की जेब में मदिरा के लिए पर्य्याप्त पैसे न थे या कोई और कारण था, नियम के विरुद्ध वे घर ही पर थे। चेतन के जाते ही उन्होंने डाँटकर पूछा, "कहाँ मर गये थे? अब परीक्षा समाप्त हुई है तुम्हारी?"

चेतन का गला सूख गया। उसकी आँखों में धुँधियाली-सी छा गयी। हकलाते हुए उसने जो बहाना बनाने की चेष्टा की, उसे पंडित जी ने बीच ही में काट दिया और उससे प्रश्न-पत्र माँगा।

काँपते हाथों से चेतन ने पेपर अपने पिता की ओर बढ़ा दिया।

झटके के साथ पेपर उसके हाथों से छीनते हुए उन्होंने पूछा "कितने प्रश्न ठीक हैं?"

यद्यपि चेतन का एक भी प्रश्न ठीक न था तो भी उसने कहा कि उसके पाँच प्रश्न ठीक हैं। सहपाठियों से सुने हुए ठीक उत्तर उसने अपने पिता को बता दिये और अपने इस झूठ को सत्य का रंग देते हुए उसने यह भी कहा कि केवल 'काम और वक्त' और 'सूद-दर-सूद' के प्रश्न उसकी समझ में नहीं आये।

इससे पूर्व कि पंडित जी ठीक प्रश्नों के विषय में उसके सत्य की जाँच करते, उन्होंने 'काम और वक्त' का प्रश्न पढ़ा और बोले "इसमें मुश्किल क्या है? कौन-सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आयी?"

चेतन मुँह ही में कुछ बड़बड़ाकर रह गया।

"जाओ अपनी पुस्तक लाओ।"

उस समय भाई साहब ने, जो उन दिनों मैट्रिक में पढ़ते थे, अपने पिता से पेपर लिया और प्रश्न पढ़कर बोले, "यह तो बिलकुल आसान है।"

चेतन ने एक क्रोध-भरी दृष्टि अपने भाई पर डाली और धीरे-धीरे उस व्यक्ति की-सी चाल से लड़खड़ाता हुआ पुस्तक लेने चला जिसके भाग्य का निर्णय, मृत्यु के रूप में, जज ने सुना दिया हो।

भाई साहब ने इस बीच में प्रसन्नता पूर्वक लैम्प लाकर उसकी चिमनी को साफ़ किया, बत्ती काटी, तेल भरा और उसे चौकी पर रखकर जला दिया। इस ओर से निश्चिन्त होकर वे अपने पिता के लिए हुक्का भर लाने को चले गये। जब इतने पर भी चेतन पुस्तक लेकर न आया तो उसके पिता गरजे। तब माँ ने आकर रुआँसे स्वर से कहा कि भूखा था, खाना खा रहा है......।

चेतन ने बैठे-बैठे यह बात सुनी। उसके पेट में एक गोला-सा उभरकर उसके कंठ तक आ गया। यदि नीचे न जाना होता तो वह फूट-फूटकर रो उठता, किंतु किसी प्रकार अपनी समस्त शक्ति से अपने-आपको संयत रख, दो कौर किसी-न-किसी तरह निगलकर वह उठा। उसके पाँव मन-मन भर के हो रहे थे। उसे कुछ दिखायी न दे रहा था। पुस्तक यद्यपि ताक ही में पड़ी थी, फिर भी उसे ढूँढ़ने में उसे काफ़ी देर लग गयी। इतने में उसके पिता की गरज फिर सुनायी दी। काँपते हुए रुआँसे स्वर में "आया जी" कहकर, पुस्तक स्लेट और पेंसिल ले वह चींटी की-सी चाल से नीचे को चला। उस समय उसे ऐसा लग रहा था जैसे प्रत्येक

सीढ़ी उसे किसी गहरे अँधेरे गर्त्त में लिये जा रही है। उसका शरीर रेंगते हुए उस ग़रीब घोंघे की तरह अपने-आप में सिकुड़ा-सा जा रहा था जिसने संकट का स्पर्श पा लिया हो।

जब वह जाकर पंडित जी के सामने बैठ गया तो उन्होंने स्लेट पेंसिल और पुस्तक लेकर उसे एक उदाहरण समझाया कि यदि पच्चीस मज़दूर एक खेत को पाँच दिन में काटते हैं तो पाँच मज़दूर उसे पच्चीस दिन में काटेंगे। और उन्होंने उसे समझाया कि काम करने वालों की संख्या अधिक हो तो समय कम हो जाता है और कम हो तो अधिक।

चेतन का वह भय जो मार-पीट की निकट सम्भावना से उत्पन्न हुआ था, कुछ दूर हो गया। भय के दूर होने के कारण घोंघा फिर खौल से बाहर निकलने लगा। चेतन फिर सम्हलकर बैठ गया और ध्यान से समझने लगा। उस समय उसे न जाने कैसी एकाग्रता प्राप्त हो गयी कि वह प्रश्न जो गणित से घृणा होने के कारण कभी उसकी समझ में न आया था, अपनी समस्त सूक्ष्मता के साथ तुरन्त उसकी समझ में आ गया। वास्तव में उसने कभी समझने का प्रयास ही न किया था। उस समय मार के भय से या समझाने वाले के सामीप्य के कारण प्रश्न की समस्त जटिलता सर्वथा स्पष्ट होकर उसकी समझ में आ गयी।

जब चेतन के पिता ने उससे पूछा कि प्रश्न उसकी समझ में आ गया है या नहीं तो उसने 'हाँ' सूचक सिर हिलाया।

तब पंडित जी ने उससे योंही एक मौखिक प्रश्न पूछा। चेतन ने झट उसका उत्तर बता दिया। फिर वे उससे प्रश्न करते गये और चेतन उत्तर देता गया। हर बार वे प्रश्न को जटिल बनाते गये यहाँ तक कि उन्होंने एक ख़ासा मुश्किल प्रश्न उससे पूछा।

चेतन का साहस बँध गया था। उसने कहा, "जी मैं तनिक सोचकर बताता हूँ।"

चेतन की मेधा-शक्ति से प्रसन्न होकर उसके पिता ने उसे सोचने का समय दे दिया और जब सोचने पर भी उसने डरते-डरते कहा, "जी यह मेरी समझ में नहीं आया," तो सहसा पंडित जी की दृष्टि मूर्खों की तरह मुँह बाये बैठे अपने बड़े लड़के पर चली गयी। और उन्होंने जैसे बन्दूक दाग़ी, "तू बता!"

भाई साहब सिटपिटाये! काफ़ी सोचने के बाद उन्होंने जो उत्तर दिया उसकी दाद में एक ज़ोर का थप्पड़ उनके गाल पर पड़ा।

"मैट्रिक में पढ़ता है साले और आठवीं क्लास का प्रश्न नहीं आता।"

और पंडित जी ने अपनी कृपा-दृष्टि को चेतन के बदले भाई साहब की ओर मोड़ दिया।

मैट्रिक तक मार-पीट के बल पर किसी-न-किसी तरह पढ़कर भाई साहब कॉलेज में दाखिल तो हो गये, किंतु परीक्षा में सफल होना उन्होंने उतना आवश्यक नहीं समझा। वे अँग्रेज़ी में कमज़ोर थे, किंतु संस्कृत से तो जैसे उनके प्राण जाते थे। यह बात वे कभी न समझ पाते कि यह क्लिष्ट भाषा, जो न किसी सरकारी नौकरी में काम आती है, न किसी व्यापारिक दफ़्तर में, जो आर्यों के समय में भी जन-साधारण की भाषा न थी, आज-कल क्यों पढ़ायी जाती है? क्यों आवश्यक है कि संस्कृत या अरबी फारसी में से एक विषय अवश्य लिया जाय। इसके स्थान पर किसी ललित कला या शिल्प की शिक्षा क्यों नहीं दी जाती जिसमें वे निश्चय अपने जौहर दिखा सकते थे। और एक दिन गर्मी की छुट्टियों से पहले, तीन महीने की फ़ीस लेकर वे दिल्ली भाग गये थे और वहाँ एक पेंटर की दुकान पर शिष्य हो गये थे। दुर्भाग्य से पंडित शादीराम के एक पुराने मित्र ने उन्हें देख लिया और इस प्रकार भाई साहब को न केवल विवश

होकर लौट आना पड़ा, बल्कि उसी कॉलेज में फिर से शिक्षा पाने के लिए बाध्य होना पड़ा।

पिता की कठोरता से भाई साहब घबराये नहीं। मार के भय से वे कॉलेज में दाख़िल भी हो गये, किंतु क्लास में बैठकर प्रोफ़ेसरों के शुष्क लैक्चर सुनने की अपेक्षा कॉलेज के सुहाने उपवन के किसी घने वृक्ष की छाया में बैठकर नित्य-नये मनोरंजक उपन्यास पढ़ने लगे। वे सब उपन्यास भाई साहब 'महन्तराम बुक सेलर' की दुकान से, दो पैसे प्रतिदिन के हिसाब से, किराये पर ले आते। महन्तराम की दुकान भैरों बाज़ार में थी और उसमें फ़ज़ल बुक डिपो लाहौर से लेकर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ तक सभी प्रकार की संस्थाओं से छपी हुई पुस्तकों के ढेर लगे रहते थे। भाई साहब वह राशि-राशि ज्ञान दीमक की भाँति चाट गये थे और साहित्य के उस महान्-कोष को चाट जाने पर भी वे दीमक ही की तरह कोरे के कोरे थे।

उपन्यास वे केवल मन बहलाव या समय काटने के लिए पढ़ते थे, मनन-चिन्तन के लिए नहीं। इसी कारण जिस उल्लास और उत्सुकता से वे 'बेगुनाह कैदी', 'नीली छतरी', 'बहराम डाकू', 'चन्द्र कान्ता संतति', 'भोलानाथ' और तीरथराम फ़िरोज़पुरी के अनुवाद आदि पढ़ गये थे, उतने ही आनन्द से वे बंकिम चन्द्र, टैगोर, शरत् और प्रेमचन्द के उपन्यास निगल गये थे।

परिणाम वही हुआ जिसकी उन्हें आशा थी। उनकी हाज़रियाँ कम हो गयीं, और यद्यपि पंडित शादीराम ने अपने सिद्धान्त 'तेल तमों जिसको मिले तुरत नरम हो जाय' के अनुसार प्रोफ़ेसरों को रिश्वत देने का प्रयास भी किया और दूसरे विषयों में किसी तरह भाई साहब के लेक्चर पूरे भी हो गये, किंतु संस्कृत के प्रोफ़ेसर को वे किसी भाँति राम न कर पाये। भाई साहब परीक्षा में न बैठ सके और जब एक बार नहीं बैठे तो फिर नहीं बैठे।

कॉलेज से पिंड छूटा तो भाई साहब ने जीविकोपार्जन की चिन्ता करने की अपेक्षा ताश और शतरंज को अपना साथी बनाया। इसमें कुछ उनका दोष था, कुछ उनके पिता का। जब भाई साहब दिल्ली से आ गये तो माँ के परामर्श से पंडित जी ने इस चंचल 'बोते'[1] को बाँधने के विचार से, उसकी नाक में नुकेल डालना आवश्यक समझा। अपने एक स्टेशन मास्टर मित्र की लड़की से उनकी सगाई कर दी। जब भाई साहब परीक्षा में बैठने के स्थान पर घर बैठ गये तो उन्हें किसी काम पर लगाने या कोई कला-कौशल सिखाने के बदले पंडित जी ने उनकी शादी कर दी।

इसके बाद, यद्यपि दूसरे वर्ष भाई साहब ने कॉलेज जाने से साफ़ इन्कार कर दिया, तो भी पंडित जी को उन्हें नौकर कराने की चिन्ता नहीं हुई। एक बार माँ के अनुरोध से तंग आकर वे उन्हें ऑडिट आफ़िस में, अपने एक मित्र के पास, अवश्य ले गये, किंतु जब उसने उन्हें केवल पैंतीस रुपये मासिक पर 'ऑफ़िस ब्वाय' रखने से अधिक कुछ करना स्वीकार न किया तो पंडित जी ने अपने उस मित्र को बीसियों गालियाँ दीं और कहा कि "पैंतीस रुपये तो मैं रोज़ शराब पर खर्च कर देता हूँ साले।" और अपने इस थर्ड डिविजन मैट्रिक पास सुपुत्र को लेकर चले आये।

फिर यद्यपि पंडित जी ने उनकी नौकरी लगाने के हेतु फ़िरोज़पुर, लाहौर और दिल्ली जाने के लिए, चेतन की माँ से कई बार रुपये लिए, किंतु वे बाज़ार शेखाँ के साक़ी की दुकान तक होकर ही लौट आये।

रहे भाई साहब, तो उन्होंने अपने लिए मॉटो बना रखा था— "सोचो मत।" इसी मॉटो पर अक्षरशः चलने का परिणाम था कि इस बेकारी और बेरोज़गारी के होते भी एक लड़का और दो लड़कियाँ उनके यहाँ हो गयी थीं। एक मर चुकी थी और दूसरी को उनकी पत्नी कूल्हे

---

[1] ऊँट।

से लगाये फिरती थी और वे स्वयं अपने इन बीवी-बच्चों को पालने के लिए कहीं नौकरी ढूँढ़ने की बात एकदम भुलाये, गुलछर्रे उड़ा रहे थे। कभी जब माँ या पत्नी घर में उनका नाक में दम कर देतीं और ऐसे तीखे व्यंग्य-बाण छोड़तीं कि भाई साहब सोचने को विवश हो जाते तो वे आँगन में किसी औंधी बाल्टी पर या दरवाज़े की किसी चौखट में कुछ क्षणों के लिए घुटनों पर कुहनियाँ टिकाये, हथेलियों पर ठोड़ी रखे, अतीव एकाग्रता से सोचने की मुद्रा बनाकर बैठ जाते। सम्भवतः वे सोचना भी चाहते, किंतु इस क्षेत्र में वे अपने-आपको सदैव उस खिलाड़ी-सा पाते जिसे खेल का आरम्भिक-ज्ञान भी न हो। कुछ क्षण इसी मुद्रा में बैठे रहने के बाद सहसा सिर को झटककर वे उठते और सरदार नन्दासिंह सोडावाटर वाले की दुकान या पंडित बनारसी दास सूत वाले की दुकान पर जाकर किसी ताश या शतरंज की टोली में सम्मिलित हो जाते। धीरे-धीरे वे उस क्षेत्र में अपना स्थान बना लेते। ताश और शतरंज में उनकी अपूर्व प्रतिभा के सम्मान में कोई-न-कोई खिलाड़ी उनको अपना स्थान दे देता और फिर एक बार जूते एड़ियों से ठकोरकर झाड़ने के बाद वे जमकर जो बैठते तो दूसरों को अपनी योग्यता का लोहा मनवाये बिना न उठते।

किंतु चेतन की माँ अपने इस बेटे की बेकारी और अकर्मण्यता तथा उसकी बहू के कर्कश, झगड़ालू, स्वभाव से अत्यन्त दुखी थी। जब अपने सुपुत्र को काम में लगा देखने के लिए पिता के समस्त प्रयत्न शराबखाने तक जाकर ही समाप्त हो गये तो माँ ने कहीं से ऋण लेकर उसे एक लाँडरी खोल दी।

बात वास्तव में यों हुई कि भाई साहब के प्रिय मित्र सरदार नन्दा-सिंह सोडावाटर वाले की दुकान पर, जहाँ शीतकाल में सोडे का बाज़ार सर्द और शतरंज की महफ़िल गर्म रहती थी, फ़िरोज़पुर का एक व्यक्ति

आया जो शतरंज का ज़बरदस्त खिलाड़ी था। उसने पहली ही बैठक में भाई साहब को, जो उस इलाके में शतरंज के चैम्पियन माने जाते थे, निरन्तर कई बार मात दे दी।

जब बिसात उठी तो एक सच्चे खिलाड़ी की तरह भाई साहब ने उसके खेल की भूरि-भूरि प्रशंसा की और लेमोनेड की एक बोतल खोलते हुए उसे दूसरे दिन के लिए आमंत्रित किया। तब उसने बताया कि वह तो काम की खोज में जालन्धर आया है। उधर से निकला था, शतरंज बिछी देखकर बैठ गया, नहीं उसे तो काम-धन्धा ढूँढ़ना है। भाई साहब का कुतूहल बढ़ा और वे उसे उसके अड्डे—स्टेशन की सराय तक छोड़ने गये। बातों-बातों में उन्हें यह ज्ञात हो गया कि उसका नाम राजाराम है। वह लाँडरी के काम में निपुण है, धोने और रँगने में दोआबा (सतलज और व्यास नदी के मध्य का प्रदेश) भर में उसका कोई सानी नहीं। किसी समय फ़िरोज़पुर ही में उसकी लाँडरी थी, किंतु १९२१ के असहयोग आन्दोलन में वह जेल चला गया और उसकी लाँडरी चौपट हो गयी। जेल में उसने दो चीज़ें सीखीं—एक शतरंज, दूसरे राष्ट्रीय कविता। भाई साहब को उसने अपने कई बैत सुनाये और यह भी बताया कि वह प्रसिद्ध डाइर और ड्राइक्लीनर[1] होने के साथ-साथ ही ख्याति प्राप्त राष्ट्रीय कवि भी है। फ़िरोज़पुर में उसकी रँगाई-धुलायी के साथ उसके बैतों की भी धूम है। जब लाहौर काँग्रेस के लिए सरकार ने मिंटो पार्क देना स्वीकार न किया था तो उसी ने यह प्रसिद्ध बैत लिखा था।

मिंटो पार्क नूँ ले जाओ वई लन्दन चुक्क के।
असाँ रावी ते झंडा झुलावाँगे वई॥[2]

---

[1] रंगने और धोने वाला। [2] मिंटो पार्क को लन्दन उठाकर ले जाओ, हम अपना झंडा रावी पर झुलायेंगे।

कि एक बार लाँडरी टूटने पर उसने कई बार पुनः लाँडरी स्थापित करने का प्रयास किया, पर उसे सफलता नहीं मिली। अब फ़िरोज़पुर छोड़कर वह जालन्धर आया है कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जो थोड़ी बहुत पूँजी लगाने को तैयार हो तो साझे में लाँडरी खोले।

शतरंज के इस कुशल खिलाड़ी और राष्ट्रीय कवि के दुर्भाग्य से भाई साहब को बड़ी सहानुभूति हुई, किंतु शतरंज और ताश की चैम्पियनशिप के अतिरिक्त उनके पास कुछ न था। फिर भी उन्होंने उसे दूसरे दिन आने के लिए कहा और सान्त्वना दी कि वे उसके लिए कुछ-न-कुछ प्रबन्ध अवश्य करेंगे।

उस दिन दिये जले जब चेतन घर आया तो उसने देखा कि माँ बर्तन मल रही है और उनके पास ही एक औंधी बाल्टी पर बैठे हुए भाई साहब लाँडरी के काम की प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं।

"हींग लगे न फिटकरी, रंग चोखा आये" वे कह रहे थे, "कपड़े लोगों के और धोकर देने वाले धोबी, लाँडरी वाले को तो मुफ़्त में लाभ हो जाता है। कोई ही ऐसा बिज़नेस होगा जो इतनी कम पूँजी से आरम्भ किया जा सके और जिसमें इतना अधिक लाभ हो।"

चेतन उस समय जल्दी में था, इसलिए उसने भाई साहब की पूरी बात नहीं सुनी, किंतु उस दिन के पश्चात् उसने देखा कि लाँडरी के काम में भाई साहब का उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। दिन का पर्य्याप्त समय वे घर ही में रहने लगे हैं, ड्राई क्लीनिंग और डाइंग की कला में उन्हें पर्य्याप्त दक्षता प्राप्त होती जा रही है और जितना समय वे घर पर रहते हैं, माँ को लाँडरी के काम के लाभ समझाते रहते हैं...।

एक दिन उसने सुना भाई साहब कह रहे थे, "यदि मैं ताश शतरंज में व्यर्थ समय नष्ट करता रहा तो इसमें मेरा क्या दोष है। मुझे किसी ने कोई कला-कौशल सिखाया ही नहीं। मैं दिल्ली भाग गया था, यदि

मुझे वहाँ से वापस न बुलाते तो मैं अब तक वहाँ प्रसिद्ध पेंटर हो गया होता। अब भी अगर मैं लाँडरी का काम सीख जाऊँ तो न सिर्फ़ अपना, बल्कि सारे परिवार का बोझ अपने कन्धों पर उठा लूँ।"

माँ बहुत प्रसन्न हुई कि अन्त में सुबह का भूला शाम को घर आ गया है। उसी दिन से वह इस बात का जतन करने लगी कि अपने इस बेटे को किसी-न-किसी प्रकार लाँडरी के लिए रुपये इकट्ठे कर दे। सुयोग भी आ उपस्थित हुआ। पंडित शादीराम को उन दिनों 'सट्टे' की नयी-नयी लत लगी थी। दुनिया भर के साधु-सन्तों, पीरों-फ़कीरों की सेवा-सुश्रूषा के पश्चात् वे इसी व्यसन के कारण खासे ऋणी भी हो गये थे। तभी उन्हें जालन्धर छावनी के एक पहुँचे हुए ज्योतिषी का पता चला। बस वे पन्द्रह दिन की छुट्टी लेकर जालन्धर आ पहुँचे। जालन्धर से छावनी और छावनी से जालन्धर, बीसियों चक्कर काटने और उन ज्योतिषी जी की चौखट पर निरन्तर माथा रगड़ने के बाद उन महाराज के दर से उन्हें 'दड़े' [१] का नम्बर मिला और इसे भाई साहब का भाग्य कहिए या उनके फ़िरोज़पुरी मित्र का कि वह नम्बर आ गया और पंडित जी को साढ़े तीन हज़ार रुपये मिल गये।

यद्यपि उस समय पंडित जी के सिर पर लगभग उतना ही ऋण था और माँ की इच्छा थी कि परमात्मा ने जब उनको सुअवसर दिया है तो उन्हें उसका पूरा लाभ उठाकर सट्टे को सदैव के लिए 'नमस्कार' कह देना चाहिए, किंतु पंडित जी अपने भगवान् को इतना कृपण न समझते थे, पत्नी के उपदेश भरे परामर्श के उत्तर में "भगवान् तेरी लीला अपरंमपार है?" का नारा बुलन्द करते हुए उन्होंने कहा "जिस भगवान् ने एक बार

---

[१] दड़ा=सट्टा=एक तरह की लाटरी है जिसमें १०० तक नम्बर होते हैं। जिनका नम्बर आ जाता है उन्हें सौ गुना पैसे मिलते हैं।

दिया है वह फिर क्यों न देगा ?" और केवल डेढ़ हज़ार का ऋण उतारा; फल, मिठाई, कपड़ों और रुपयों का एक थाल ज्योतिषी जी के घर पहुँचाया और शेष रुपया अस्सी-नब्बे प्रतिदिन के हिसाब से सट्टे पर लगाते रहे, किंतु जब माँ ही की बात पूरी हुई कि वह तो भगवान् ने उन्हें सुधरने का एक अवसर दिया था, नहीं लक्ष्मी यों मारी-मारी नहीं फिरती तो सारा रुपया ठिकाने लगाकर, डेढ़ हज़ार का फिर साढ़े तीन हज़ार ऋण बनाकर और माँ को "काल जीभी"[१] की उपाधि से विभूषित करके वे पुनः अपने स्टेशन पर चले गये।

माँ ने भाई साहब की प्रेरणा और सहायता से जैसे-तैसे उस रुपये में से तीन चार सौ बचा लिया था। दो तीन सौ कहीं से उधार लिया और लाँडरी खोलने की व्यवस्था कर दी।

उन दिनों भाई साहब का उत्साह अपने शिखर पर था। उनके पाँव धरती पर न पड़ते थे। बड़े तमतराक से उन्होंने अड्डा होश्यारपुर पर एक तबेला किराये पर लिया, कपड़े धोने के लिए घाट बनवाये और बड़े-बड़े विज्ञापनों के साथ, जिनमें उनके मित्र फ़िरोज़पुरी राष्ट्रीय कवि ने अपने बैंतों में लाँडरी के गुणों का बखान करने में बड़ी उदारता से काम लिया था 'भारत लाँडरी वर्क्स' की घोषणा कर दी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस लाँडरी में राष्ट्रीय कवि बराबर के साझीदार थे।

लाँडरी खोलने में भाई साहब ने इतनी निष्ठा और लगन का परिचय दिया कि चेतन को आप-से-आप उनकी सहायता के लिए तैयार होना पड़ा। अपने कॉलेज के होस्टल, स्कूल के होस्टल, अपने कॉलेज और स्कूल ही के नहीं वरन् अपने मित्रों की सहायता से दूसरे स्कूलों के होस्टलों से भी उसने 'भारत लाँडरी' के लिए कपड़े लाने का प्रबन्ध कर दिया।

---

[१] काली जीभ वाली।

पीतल की बड़ी-बड़ी इस्त्रियाँ ख़रीदी गयीं, ताँबे के बड़े-बड़े तबलबाज़ लाये गये, शो केस बनवाये गये और बड़े धड़ल्ले से लाँडरी का काम चलने लगा। भाई साहब ने रँगाई और धुलाई का काम सीखने में रत्ती भर भी आलस्य नहीं दिखाया। चेतन ने यह भी देखा कि जब धोबी न होते या दूसरा काम कर रहे होते तो भाई साहब स्वयं ही इस्त्री लेकर कपड़ों के ढेर-के ढेर प्रेस कर देते।

भाई साहब की इस काया-पलट पर चेतन मन-ही-मन चकित हुआ करता और उसे किसी प्रसिद्ध दार्शनिक का यह कथन स्मरण हो आता—"मनुष्य का मन एक अथाह समुद्र है। इसके गर्भ में क्या है, यह सतह को देखकर नहीं जाना जा सकता।" और माँ नित्य पूजा के समय भगवान् से कहतीं "हे भगवान्, जैसे तूने मेरी सुनी, वैसे ही सब की सुन!"

कुछ महीनों तक मज़े में काम चलता रहा। फिर क्या हुआ, कैसे हुआ, चेतन को कुछ भी ज्ञात नहीं, किंतु जहाँ-जहाँ से उसने कपड़े लाकर दिये थे, वहाँ-वहाँ से उसके पास निरन्तर शिकायतें पहुँचने लगीं। उसके एक मित्र ने उलाहना दिया कि तीन सप्ताह तक उसे कपड़े नहीं मिले और जब वह लाँडरी में गया तो धोबियों ने उसके कपड़े पहन रखे थे। एक दूसरे ने शिकायत की कि उसने अपनी बहन की जो साड़ी रँगने के लिए दी थी, जब वह उसे लेने गया तो उसे कोई दूसरी ही साड़ी मिली। उसने अपनी साड़ी के लिए तगादा किया तो भाई साहब और उनके मित्र उससे लड़ने पर उतारू हो गये कि रँगने के बाद साड़ी वैसी ही कैसे रह सकती है। चेतन का मित्र पूछ रहा था . . . 'रँगने के पश्चात् साड़ी का रंग तो बदल सकता है, किंतु साड़ी किस रासायनिक क्रिया से बदल गयी।'

चेतन उन दिनों परीक्षा की तैयारी कर रहा था। जब इन शिकायतों, उलाहनों और अभियोगों में प्रतिदिन वृद्धि होने लगी और सब ओर त्राहि-

त्राहि मच गयी तो एक दिन अपनी पुस्तकों को पटककर वह लाँडरी पहुँचा। तब उसने देखा कि कपड़ों और उनके झमेलों से मुक्त होकर, तबेले के घने पीपल की छाया के नीचे, भाई साहब अपने उस फ़िरोज़पुरी मित्र के साथ बिसात बिछाये बैठे हैं और उसे मात पर मात दे रहे हैं और नन्दासिंह की दुकान पर उसने उन्हें जो शिकस्त दी थी, उसका भरपूर बदला चुका रहे हैं......

चेतन बोला, बका, भाई साहब ने लाँडरी का काम देखने का वचन भी दिया, किंतु दशा सुधरने के बदले प्रतिदिन बिगड़ती ही गयी। अन्त में एक दिन उसने सुना कि भाई साहब लाँडरी को उसके भाग्य पर छोड़कर काँग्रेस के डिक्टेटर हो गये हैं।

भाई साहब ने अपने उस फ़िरोज़पुरी मित्र से जहाँ लाँडरी के लाभ सुन रखे थे, वहाँ कारावास के राजनीतिक-जीवन के विषय में भी बहुत-सा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। बड़े-बड़े नेता पकड़े जा चुके थे। इसलिए जो भी नेता बनने और जेल जाने को तैयार होता, डिक्टेटर बन सकता था। घर में माँ और पत्नी के कोसनों, लाँडरी में धोबियों और ग्राहकों के तगादों और दूसरे व्यावसायिक झगड़ों से भाई साहब का जीवन इतना कटु हो गया था कि उन्हें जेल की कोठरी कहीं अधिक लुभावनी लगती थी। शतरंज के उस फ़िरोज़पुरी चैम्पियन की चालें देखने और उसे मात देने की जिस उत्कंठा ने भाई साहब को, उपचेतन मन में, इतना बड़ा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने और 'नीच जात का काम' करने के लिए उकसाया था, वह यह जानकर शांत हो गयी थी कि आखिर उसकी गढ़-रचना कोई ऐसी दुर्जेय नहीं और वे अनायास ही उसकी ईंट-से-ईंट बजा सकते हैं। जब उन्होंने फ़िरोज़पुर के उस चैम्पियन पर अपनी गढ़-रचना का सिक्का, उसे निरन्तर शिकस्तें देकर, जमा लिया तो लाँडरी

जैसे 'नीच' काम का जंजाल पाले रखना उन्हें एकदम निरर्थक मालूम हुआ।

चेतन को भी एक तरह से शांति मिली। यह सच है कि घर में कुहराम मच गया और जिन लोगों के कपड़े गुम हो गये थे, उनके उलाहने और गालियाँ सुनते-सुनते उसके कान पक गये, किंतु उसने अपने मित्रों से कह दिया कि भाई साहब लाँडरी से अलग हो गये हैं और अब इस विषय में उनके फ़िरोज़पुरी मित्र ही से पूछ-ताछ की जाय।

भाई साहब ने जिस निष्ठा से लाँडरी खोली थी, उससे कहीं अधिक निष्ठा से वे राष्ट्र-सेवा में निमग्न हो गये। दिन रात वे काँग्रेस के काम में व्यस्त रहते। कहीं चन्दा इकट्ठा कर रहे हैं, कहीं झंडे को सलामी दे रहे हैं, कहीं जलूस निकाल रहे हैं और कहीं सभा की व्यवस्था कर रहे हैं। घर वालों को उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गये। अपने लम्बे छरहरे शरीर पर खादी की शेरवानी और खादी ही का चूड़ीदार पायजामा पहने, सिर पर तिरछी गाँधी टोपी रखे वे शुतर-बे-मुहार[1] की तरह घूमते और घर वालों को इस प्रकार देखते मानो वे किसी नाली में किलबिलाने वाले अत्यन्त उपेक्षणीय, हेय, अन्धे, बुच्चे कीड़े हों।

चेतन के मन में अपने भाई का सम्मान, घर में नित्य नयी दी जाने वाली गालियों के बावजूद, बढ़ने लगा कि उसे काँग्रेस की एक सभा देखने का सुयोग मिला और उसे ज्ञात हो गया कि भाई साहब के लिए काँग्रेस की डिक्टेटरी भी लाँडरी से अधिक महत्व नहीं रखती।

उस दिन भाई साहब ने उससे अनुरोध किया था कि वह उस दिन की सभा देखने अवश्य आये और उन्होंने बताया था कि प्रेस के विषय में सरकार

---

[1] शुतरे-बे-मुहार=बेलगाम का ऊँट।

ने जिस कठोरता की नीति से काम लिया है, उसके विरुद्ध प्रोटेस्ट के तौर पर समाचार-पत्र बन्द हो गये हैं। देश में चारों ओर विरोध सभाएँ हो रही हैं। इसी सम्बन्ध में उन्होंने भी सभा की व्यवस्था की है, जिसमें वे स्वयं एक बहुत ज़ोरदार भाषण देने जा रहे हैं। इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि उन्हें सभा में गिरफ़्तार कर लिया जाये। उन्होंने चेतन से अनुरोध किया कि वह उनका भाषण सुनने अवश्य आये और चलते-चलते यह भी कहा कि यदि सम्भव हो तो एक आध हार ज़रूर ख़रीद लेता आये।

चेतन उस दिन एक अत्यन्त मनोरंजक उपन्यास पढ़ रहा था। यद्यपि उपन्यास को बीच ही में छोड़कर जाना उसे बड़ा अप्रिय लगता था तो भी भाई साहब का अनुरोध था और फिर इस बात की आशंका भी थी कि जाने वे उस दिन पकड़ लिये जायँ और जाने कितने वर्षों के लिए जेल की कोठरी में ठूँस दिये जायँ, इसलिए पुस्तक को हाथ ही में लिए वह चल पड़ा और भाई साहब की इच्छानुसार उसने रास्ते में फूलों का एक हार भी ख़रीद लिया।

जब वह चौक इमाम-नासरुद्दीन में पहुँचा तो सभा प्रारम्भ हो चुकी थी। वह एक ओर खड़ा हो गया। उसने देखा कि डाइंग और ड्राइक्लीनिंग के विशेषज्ञ, राष्ट्रीय-कवि सभापति के आसन की शोभा बढ़ा रहे हैं और भाई साहब एक समाचार-पत्र से किसी नेता का वक्तव्य पढ़ रहे हैं (इसी को शायद वे भाषण देना कहते थे) उनके हाथ काँप रहे हैं; उनकी टाँगें काँप रही हैं, यहाँ तक कि तख़्त और उस पर रखी हुई मेज़ भी काँप रही है।

तभी एक ओर से जनता उठ खड़ी हुई और 'पोलीस, पोलीस' का शोर मच गया। इस भगदड़ में चेतन हाथ में हार लिये हुए समीप ही खड़ी एक बैलगाड़ी पर चढ़ गया। दूसरे क्षण उसे पता चला कि जिसे लोग पुलिस समझते थे, वह तो एक भयभीत साँड़ है। न जाने किस मसखरे ने उसे सभा की ओर भगा दिया था। कभी वह डरकर एक ओर जाता, कभी दूसरी

ओर किंतु जब साँड़ भय की सीमा पार कर निर्भीक हो गया तो श्रोताओं ने, जो भाषण सुनने की अपेक्षा यह तमाशा देखने लगे थे, उसे रास्ता दे दिया। लोग फिर इकट्ठे होने लगे। चेतन भी बैलगाड़ी से उतरकर सभा के मध्य में रखे हुए तख़्त की ओर बढ़ा। उस समय उसने देखा कि वहाँ न सभापति महाशय हैं और न वक्ता महोदय और लोग मंच पर चढ़कर हुल्लड़ मचा रहे हैं.......

जब चेतन घर पहुँचा तो उसे पता चला कि वक्ता महोदय तो उससे कहीं पहले घर पहुँच गये हैं और बड़े आराम से ख़र्राटे भी ले रहे हैं। सभापति महाराज उसके बाद महीनों जालन्धर में दिखायी नहीं दिये। वे दोआबा के गाँवों में भागते, छिपते और अपनी राष्ट्रीय कविताएँ सुनाकर देहातियों का आतिथ्य स्वीकार करते, यह कहते फिरे कि उनकी गिरफ़्तारी के वारंट निकले हुए हैं और वे पुलिस को छकाते हुए अपने राजनीतिक कार्य को जारी रखे हुए हैं।

एक लम्बी अवधि के पश्चात् होश्यारपुर की एक नयी लाँडरी का विज्ञापन चेतन के हाथ लगा जिसकी प्रशंसा में वही बैंत छपे थे, जो कभी राष्ट्रीय-कवि ने 'भारत लाँडरी वर्क्स' की प्रशंसा में लिखे थे।

दूसरे दिन जब भाई साहब उठे तो लाँडरी की तरह काँग्रेस की डिक्टेटरी भी उनके मस्तिष्क से विलुप्त हो गयी थी और क्योंकि ग्रीष्म ऋतु आ गयी थी, इसलिए भाई साहब ने सरदार नन्दासिंह सोडावाटर वाले की दुकान को अपना अड्डा बनाने का निश्चय कर लिया था।

६

अपने बड़े भाई की प्रकृति के इस पक्ष पर विचार करता हुआ चेतन जब 'बाजियाँ वाला बाज़ार' में पहुँचा तो उसने देखा कि उसके भाई पंडित बनारसी दास की दुकान पर चन्द बेफ़िक्रों के साथ ताश खेल रहे हैं। चेतन चुपचाप दुकान के तख़्ते पर जा खड़ा हुआ। बाज़ी शुरू हो चुकी थी और वे बड़ी तन्मयता से पत्ते लगा रहे थे। उस समय उनकी आकृति पर कुछ ऐसी गम्भीरता विद्यमान थी जो अपनी सेना की व्यूह-रचना करते समय नायक की आकृति पर होती है। पत्ते लगाने के बाद उन्होंने कनखियों से अपने इर्द-गिर्द बैठे हुए खिलाड़ियों पर एक नज़र डाली, फिर दोपहर से उकड़ूँ बैठे रहने के कारण थकी हुई अपनी टाँगों को पसारकर ज़रा सीधा किया और फिर पत्तों को छिपाते हुए उसी प्रकार जमकर बैठ गये।

तभी पंडित बनारसी दास ने एक थकी हुई हँसी के साथ कहा, "बस अब इस पर टिकट[१] लगाकर खतम करो।"

---

[१] जब एक व्यक्ति उस समय तक पत्ते बाँटता रहे जब कि उस पर सौ

इशारा पत्ते बाँटने वाले की ओर था।

चेतन के बड़े भाई ने कहा, "परमात्मा ने चाहा तो इस बार टिकट बस लग ही जायगी!" और फिर अपने पत्तों पर एक उल्लास-भरी दृष्टि डालकर अपने बैठे हुए साथी को आदेश दिया। "माँगो भी अब जल्दी या सारी उम्र पत्ते ही लगाते रहोगे!"

धीमी आवाज़ में साथी ने कहा, "सात!"

तब दूसरे ने कहा, "आठ!"

लेकिन उनसे भी बढ़कर, जैसे उछलकर चेतन के भाई ने कहा, "ग्यारह!" और फिर इस बात की प्रतीक्षा किये बिना कि चौथे को भी कुछ बोलना है, उन्होंने कहा, "रंग पान!" और पत्ता फेंक दिया।

चुपचाप दुकान के तख़्ते पर खड़ा चेतन सोचने लगा, 'ये लोग कैसे इस फ़ज़ूल के खेल में समय नष्ट कर सकते हैं? कोई काम नहीं, काज नहीं, आशा नहीं, आकांक्षा नहीं। बस, किसी तरह वक्त को ज़िबह किये जाते हैं!' एक दया-भरी दृष्टि उसने उन सब पर डाली। चारों खिलाड़ी तन्मय होकर भूत, भविष्य की चिन्ताओं को भुलाकर खेल में निमग्न थे। उनको भी चेतन ने देखा जो खेल को देखकर ही खेलने वालों से अधिक रस पा रहे थे। उन्हीं में सब से अधिक दिलचस्पी लेने वाले थे स्वयं दुकान के मालिक पंडित बनारसी दास!

वहीं खड़े-खड़े उस व्यक्ति का सारा जीवन चेतन के सामने घूम गया। उनके दादा का चित्र भी उसके सामने आया। पतला दुबला शरीर, श्याम-

---

तक नम्बर हो जायँ, तब उस पर टिकट लग जाती है—पंजाब के ताश खेलने वालों की भाषा में! कहीं-कहीं उसे 'राय साहब' की उपाधि भी दे दी जाती है। टिकट लगने के बाद उसका दूसरा साथी ताश फेंटने लगता है।

रत्न नाम। इसी दुकान में जहाँ खेल जमता है वे नोन-तेल बेचा करते थे। पर नोन-तेल बेचने से ज़्यादा वे मुहल्ले के रोगियों का इलाज किया करते थे। उनके नुसखे अचूक होते। प्रायः मरणासन्न रोगी भी एक बार उठकर बैठ जाता। इसके अतिरिक्त वे मुहल्ले के बच्चों को गणित के प्रश्न भी समझाया करते थे। उन्हें आँख से कुछ अधिक दिखायी न देता था। चेतन को स्वयं उनका वह आँखों के पास स्लेट ले जाकर, एक आँख को प्रायः बन्द करके, गणित के प्रश्न समझाना याद था।

पं० बनारसी दास के बचपन ही में उनके पिता परलोक सिधार गये थे। उनकी माँ को पं० श्यामरत्न ने घर से निकाल दिया था।

हिन्दू विधवा का जीवन आज भी उतना सुगम नहीं, पर तब तो बाघों से घिरी असहाय मृगी के समान था। ससुराल में किसी प्रकार का स्थान न होने के कारण, प्रायः विधवा को किसी देवर, जेठ या ऐसे ही किसी रिश्तेदार के आश्रय में रहना पड़ता था। और इस आश्रय का मूल्य भी उसे भरपूर चुकाना पड़ता था। पंडित बनारसी दास की माँ के साथ भी वही हुआ जो दूसरी अनेक विधवाओं के साथ होता था। पर पंडित श्यामरत्न को जब मालूम हुआ कि उनकी बहू अपने सतीत्व को नहीं निभा सकी और पाप का भार उठाये हुए है तो एक रात जब मुहल्ले वाले सुख की नींद सो रहे थे, वे उसके मायके का किराया देकर चुपचाप स्टेशन पर छोड़ आये।

मातृ-पितृ-स्नेह तथा भय-विहीन पं० बनारसी दास जल्द ही उन सब गुणों से सम्पन्न हो गये, जिन्हें बे-माँ-बाप के बच्चे शीघ्र ही ग्रहण कर लेते हैं। यही कारण है कि दो-दो तीन-तीन वर्ष में दादा के यत्नों से छोटे दर्जे पास करके जब वे दसवें दर्जे तक पहुँचे तो उन्होंने वहीं डेरा डाल दिया।

पंडित श्यामरत्न ने भरसक प्रयत्न किया कि किसी तरह वे अपने इस 'योग्य' पोते को मैट्रिक पास करा के उसे कहीं खाते कमाते देखकर मरें, पर उनकी यह लालसा मन की मन में रही। चौथे वर्ष फिर मैट्रिक में फेल

होने पर जब पंडित बनारसी दास अपने दादा की रही-सही पूँजी लेकर चम्पत हो गये तो उसी फ़िराक में पं० श्यामरत्न ने प्राण त्याग दिये।

इसके बाद जब तक पूँजी रही पंडित बनारसी दास ख़ूब घूमते रहे, पर जब वह सब खतम हो गयी तो फिर वापस आ गये और अपने दादा की उस दुकान का जीर्णोद्धार करके उस पर जमकर बैठ गये। बुजुर्गों में से किसी ने नौकरी जैसा निकृष्ट काम न किया तो फिर वे ही क्यों करते? दादा नोन-तेल बेचते थे, उन्होंने इन सब झंझटों से छुट्टी पाकर रुई और सूत का काम शुरू कर दिया। कौन दो-दो पैसे की चीज़ें तोलता फिरे। एक तो देहाती फँस जाते तो उतनी बचत निकल आती, जितनी उनके दादा को दिन भर तराज़ू से जूझकर प्राप्त न होती। फिर पं० बनारसी दास दो दिन कमाते तो चार दिन बैठकर खाते। जिस दिन चार मित्र न आते उस दिन खोये-खोये से दुकान पर बैठे रहते, फिर स्वयं ही उठकर उन्हें इकट्ठा कर लाते। शादी तो इस हालत में क्या होती, रहा रोटी का प्रश्न तो उसके लिए यार-बाश मौजूद थे। कभी-कभी खुद भी दो रोटियाँ सेंक लेते। जब और कोई डौल न होता तो सेर-दो-सेर दूध पीकर पड़ रहते।

"यह भी कोई जीवन है।" और निमिष भर के लिए चेतन के सामने अपनी आकांक्षाएँ घूम गयीं—"कीड़े!"—उसने मन-ही-मन उपेक्षा से कहा, "किसी दिन योंही मौत के मुँह में जा पड़ेंगे।"

तभी उसने देखा, उसके बड़े भाई अपने एक प्रतिपक्षी के साथ गुत्थम-गुत्था हो रहे हैं। चेतन का ध्यान उधर नहीं था। बात यह हुई कि उनके एक प्रतिपक्षी ने रंग का पत्ता छिपा लिया। लेकिन चेतन के भाई को धोखा देना आसान न था, एक थप्पड़ उसके मुँह पर जमाते और गाली देते हुए उन्होंने कहा, "यह पत्ता कब का अपनी माँ के पास छिपा रखा था?"

एक तो तीन चार घंटे से पीसते रहने का दुःख, दूसरे चालाकी के पकड़े जाने का गुस्सा, तीसरे थप्पड़ की चोट, चौथे गाली... उसने थप्पड़

के जवाब में तानकर घूँसा दे मारा और दोनों गुत्थम-गुत्था हो गये। इससे पहले कोई दूसरा उनकी मदद करता, रुई तोलने के बाटों से दोनों के सिर फट चुके थे। चेतन जब चौंका तो उसने देखा कि एक को पं० बनारसी दास ने पकड़ रखा है और दूसरे को दुर्गादास अपनी बाहों में बाँधे हुए हैं और दोनों घायल सिंहों की तरह एक दूसरे को ताक रहे हैं और दहाड़ों के नाम पर गालियाँ दे रहे हैं।

चेतन को तब याद आया कि वह तो अपने भाई को बुलाने आया था। वह आगे बढ़ा और श्री रामानन्द का हाथ थाम उन्हें घर की ओर ले चला।

७

फटे हुए सिर से बहता हुआ रक्त लिये जब श्री रामानन्द घर पहुँचे तो अपने पुत्र को लोहू में लथपथ देख माँ के हाथ-पाँव फूल गये। अपना सब ग़ुस्सा उसे भूल गया और रोने के हद तक चीखकर उसने चेतन से कहा कि लपककर वह पानी गर्म करे, इतने में वह स्वयं अन्दर से कपड़ा लाती है—कपड़ा तो उस बदहवासी में क्या मिलता, माँ ने अभी-अभी धोबी के यहाँ से आयी हुई नयी धोती फाड़कर पट्टी बनायी। इतने में चेतन पानी लाया और—"मैं कहता हूँ कुछ नहीं," "मैं कहता हूँ—कुछ नहीं,"—रामानन्द के यह कहते रहने के बावजूद माँ ने इस प्रकार जैसे वह कोई दूध-पीता बच्चा हो, ताश और शतरंज के उस चैम्पियन का सिर अपनी गोद में लेकर घाव धोया और पट्टी बाँध दी। तब उलाहने के स्वर में थकी-रुआँसी आवाज़ में उसने पूछा, "कहाँ से यह चोट खा आया तू?"

चेतन ने बता दिया कि खेलते-खेलते झगड़ा हो गया था।

तब चेतन की भाभी श्रीमती चम्पावती (जो इस समय तक उधर से उदासीन अपने कमरे में बैठी ब्लाउज़ सी रही थीं) वहाँ आ गयीं और

चीख़कर बोलीं, "मैं कहती हूँ आपको यही सब कुछ करना है तो मुझे मायके भेज दो।"

चेतन की भाभी चम्पावती आदमपुर दोआबा के स्टेशन मास्टर पं० गिरधारीलाल की लड़की और पटवारी पं० गंगाराम की पोती थी—पं० गंगाराम के दो लड़के थे—चम्पा के पिता पं० गिरधारीलाल और चचा पं० मुंशीराम।

जब दोनों पुत्र काम पर जा लगे, तो पटवारगिरी छोड़ पिता ने संयास ले लिया। कौन ऐसी बात थी जिससे वे एकदम संसार से विरक्त हो बैठे, इसे तो भगवान् ही जाने, पर पत्नी के मृत्यु के बाद वे बहुत दिन तक नौकरी पर नहीं रहे। वे वन में जा बैठे हों, या ज्ञान-ध्यान में उन्होंने मन लगा लिया हो, यह बात नहीं। उनके विचार तथा भ्रम वैसे ही बने रहे और आत्मा और परमात्मा के झगड़ों से वे उतने ही दूर रहे, जितने पहले थे। हाँ उन्होंने जोगिया कपड़े अवश्य पहन लिये और जहाँ पहले अपना घर ही उनका घर था, वहाँ अब सब के घर उनके घर हो गये।

चम्पा के पिता आयु में बड़े थे, उन्होंने पदवी भी बड़ी पायी। अपने पिता पं० गंगाराम की पटवारगिरी के ज़माने ही में वे तार बाबू हो गये थे, फिर बढ़ते-बढ़ते स्टेशन मास्टर के पद तक जा पहुँचे। पंडित मुंशीराम छोटे थे, इसलिए छोटे रहने ही में उन्होंने अपना गौरव जाना। वे क़स्बे की प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गये और यह समझकर कि विद्या-दान ही सब से उत्तम दान है, वे सहज सन्तुष्ट बने रहे।

किंतु सम्पन्नता और विपन्नता में कम ही बनती है और पं० मुंशीराम और उनके भाई में भी कभी नहीं बनी। एक को अपनी सम्पन्नता का गर्व था, दूसरे को अपनी विपन्नता का अभिमान। पं० गिरधारीलाल की पत्नी

मर गयी थी, इसलिए उनके लड़के लड़कियों ने लड़ना-झगड़ना और अपने अहंकार में रत रहना ख़ूब सीख लिया था। इन्हीं पं० गिरधारीलाल की बड़ी लड़की चम्पावती से चेतन के बड़े भाई रामानन्द का विवाह हुआ तो उनके घर की कलह श्रीमती चम्पावती द्वारा इस घर में भी चली आयी। चम्पावती ने अपने घर में माँ और चची में, माँ और बड़ी भावज में नित झगड़ा होते देखा था, और जब दोनों भाई अलग हो गये और माँ भी परलोक सिधार गयी तो उसके पद-चिन्हों पर चलने को अपना परम कर्तव्य मानकर श्रीमती चम्पावती ने अपनी बड़ी भावज को सास की अनुपस्थिति खटकने न दी थी। यह सब होते हुए यह कैसे सम्भव था कि वह अपनी ससुराल में शांति का अखण्ड राज्य रहने देती। वह तो आते ही अलग हो जाती पर दुर्भाग्य से श्री रामानन्द काम के नाम पर सिर्फ़ ताश और शतरंज खेलना जानते थे और अपनी सुपत्नी की डाँट-डपट, रोने-पीटने और रूठने का उस धीर-वीर युवक पर कुछ प्रभाव न पड़ता था।

जब चेतन की भाभी ने अपने पति के फटे हुए सिर और लोहू में शराबोर कपड़ों की ओर कोई ध्यान न दिया तो चेतन के भाई पहली बार कराहे। तब बीमार बनने ही में उन्होंने अपनी कुशल समझी। झगड़े का सिगनल होता देख चेतन ने माँ से कहा कि खाना परोस दो, मैं नीचे बैठक ही में जाकर खा लूँगा। और झटपट वह थाली लेकर वहाँ से खिसक गया।

नीचे अपने कमरे में जाकर खाना खाने के बाद चेतन ने पानी बाहर कुएँ ही से पी लिया। ऊपर जाना उसे उचित नहीं लगा। फिर जैसे निश्चिन्त होकर वह माँ के आदेशानुसार बस्ती ग़ज़ाँ के पं० दीनबन्धु को चिट्ठी लिखने लगा। ऊपर होने वाले झगड़े का स्वर उसकी तन्मयता को भंग न करे, इस विचार से उसने किवाड़ भी लगा लिये और कलम-दवात लेकर बड़े इत्मीनान के साथ बैठ गया।

तब ऊपर उठने वाले तूफ़ान ने कितना ज़ोर पकड़ा, कितने बादल गरजे, कितना पानी बरसा, यह सब उसे मालूम नहीं हुआ। कभी-कभी बन्द किवाड़ों को भेदकर आने वाले भावज के कर्कश स्वर से उसे तूफ़ान के पूरे ज़ोरों पर होने का आभास मिल जाता था।

कलम-दवात ले बैठने पर भी वह चिट्ठी न लिख सका, क्योंकि चिट्ठी लिखना और खाना खाना दोनों एक-सी बातें न थीं, और फिर उस समय जब कि ऊपर तूफ़ान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता था। तभी जब वह हैरान था कि क्या करे और क्या न करे, उसे बाहर किसी अपरिचित कंठ की आवाज़ सुनायी दी—"रामानन्द, रामानन्द!"

कोई आगन्तुक उसके भाई का नाम लेकर पुकार रहा था।

वह एक क्षण रुका, किसी ने फिर बैठक के किवाड़ खटखटाये। उठकर उसने दरवाज़ा खोला। देखा—पतले छरहरे शरीर, लम्बी नाक, छोटी ठोड़ी और गोरे रंग का एक युवक नफ़ीस सूट पहने खड़ा है।

"रामानन्द हैं?" आगन्तुक ने पूछा।

"जी हैं।"

"कहना हुनर आया है।"

"हुनर साहब?"

"हाँ।"

और जैसे निमिष मात्र के लिए आगन्तुक को आँखों से पीकर चेतन भागता हुआ-सा ऊपर पहुँचा और जाकर भाई को बड़े उत्साह से उसने यह समाचार दिया कि हुनर साहब आये हैं।

उस समय उसके भाई चुपचाप चारपाई पर लेटे थे, भावज शायद मायके का सामान तैयार करके आँखों में अंगारे लिये मेज़ के एक कोने पर बैठी थीं और माँ एक पीढ़ी पर बैठी रो रही थीं।

"हुनर!" चेतन के भाई उछलकर उठे। अपने उस मित्र के आगमन

को जैसे दैवी सहायता जानकर उस झगड़े से अपना दामन बचा, वे सीढ़ियों की ओर लपके।

माँ ने कहा, "खाना तो खाते जाओ।"

"मैं आज खाना नहीं खाऊँगा," यह कहते हुए वे जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर गये।

तब उनकी पत्नी ने चीखकर क्या कहा वह सब उन्होंने नहीं सुना।

८

उस लम्बे क़द के छरहरे से युवक को चेतन मुग्ध-सा खड़ा देखता रह गया। उसके बड़े भाई ने कितनी बार उसे इस युवक की कवित्व-शक्ति की कहानियाँ सुनायी थीं। किस प्रकार कॉलेज के दिनों ही में वह आशु कविता कर लेता था :

> लस्सी दही की आज पियेंगे दुकां पे वो
> हम चूम लेंगे होंट उनके बन के बाटियाँ

या—

> हलवाई ख़ुश कि दाम ज़्यादा किये वसूल
> मैं ख़ुश कि रेवड़ियों में चवन्नी भी आ गयी

या—

> तस्वीर मेरी देखकर कहने लगा वो शोख़
> यह कारटून अच्छा है अख़बार के लिए

या—

तार इस मतलब का आया है मुझे भूपाल से
रात भर भैंसे की दुम हिलती रही भूँचाल से

ये और ऐसे कितने ही उनके शेर चेतन ने अपने भाई से सुनकर याद कर रखे थे। तब उन्हें क्या मालूम था कि ये हुनर साहब के नहीं, बल्कि हास्य-रस के एक और प्रसिद्ध कवि के हैं।

लाहौर के एक ख्याति-प्राप्त दैनिक पत्र के सम्पादन-विभाग में हुनर साहब काम करते थे। चेतन की बड़ी भारी आकांक्षा थी कि वह भी किसी समाचार-पत्र का सम्पादक बने। कई बार सपनों में अपने-आपको सम्पादक के रूप में देखकर वह प्रसन्न भी हो चुका था। इसीलिए हुनर साहब के प्रति उसके मन में वही भाव था जो किसी महान् व्यक्ति के दर्शनार्थ आने वाले श्रद्धालु के मन में होता है। हुनर साहब की बातें, उनकी आकृति, उनकी वेशभूषा, उनका सभी कुछ उसे साधारण लोगों से कुछ भिन्न जान पड़ा।

तीनों एम्प्रेस गार्डन की ओर जा रहे थे। हुनर साहब लाहौर की दिलचस्पियों का ज़िक्र कर रहे थे—वहाँ के मुशायरे, वहाँ की सम्पादक-मंडली, वहाँ की मजलिसें—और चेतन मुग्ध-सा सुन रहा था। उसके भाई साहब भी प्रभावित थे, किंतु हुनर साहब ताश या शतरंज के तो चैम्पियन थे नहीं, इसलिए उनके भाग्य से चेतन के भाई साहब को कोई ईर्ष्या न थी, पर चेतन की श्रद्धा का तो जैसे वारपार न था। उसकी दृष्टि तो उनके मुख से हटती ही न थी। उस चेहरे की एक-एक भंगिमा उसके मन पर अंकित हो रही थी और हुनर साहब की बातें उसके कानों से होकर सीधे उसके हृदय में स्थान बना रही थीं। उसके मस्तिष्क में लाहौर का वातावरण अपनी समस्त विभिन्नता और मनोरंजकता के साथ घूम जाता और अपने सीमित क्षेत्र का विचार करके उसका दम घुटने-सा लगता।

सम्पादक और अध्यापक में कितना अंतर है ? वह सोचता—सम्पादक कलम का सम्राट् है। चाहे तो साम्राज्य बना दे, चाहे बिगाड़ दे। वह बड़े से बड़े व्यक्ति तक की आलोचना बड़ी निर्भीकता से कर सकता है (चेतन को तब यह मालूम न था कि पूँजीवादी युग में समाचार-पत्र ही नहीं ख़रीदे जाते उनके सम्पादक और कई बार मालिक तक भी ख़रीदे जा सकते हैं।) और अध्यापक—चेतन के सामने घूम गया छुट्टी का दृश्य—लड़के घंटी बजते ही घरों को भाग जाते और दिन भर माथा-पच्ची करने के बाद थके-हारे अध्यापक इस बात की प्रतीक्षा किया करते कि हेडमास्टर साहब आ जायँ तो उन्हें नमस्कार करके तब चलने की सोचें। हेडमास्टर साहब कई बार अपनी क्लास को छुट्टी के बाद भी कितनी देर तक न छोड़ते थे—चेतन को भूख लग-लगकर मिट जाया करती थी। और किसी प्राइवेट संस्था का अध्यापक तब चेतन की दृष्टि में सब से बड़ा गुलाम था और सम्पादक सब से अधिक स्वच्छन्द और स्वतन्त्र !

तीनों जाकर एक लॉन में बैठ गये। एक भिश्ती सामने टाउन हाल की सीढ़ियों पर रखे हुए गमलों को पानी दे रहा था। लॉन में एक ओर कुछ छोटे बच्चे कबड्डी खेल रहे थे। दूसरी ओर कुछ मनचलों में बैतबाजी हो रही थी। लॉन के साथ एक वीथी पर दो-तीन सुन्दर पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अपने परिवार के साथ चहल-क़दमी कर रही थीं। उसी वीथी के बराबर एक बेंच पर शलवार और कमीज़ पहने एक अत्यन्त सुन्दर, सम्पन्न पर अशिक्षित युवक अपने कुत्ते को लिये हुए अपनी भाव-भंगिमा से अपने-आपको पूर्ण रूप से शिक्षित दर्शाने का उपक्रम कर रहा था। चेतन ने देखा कुत्ते को पुचकारते और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए वह उन लड़कियों की ओर देख भी लेता है, किंतु उसकी प्रत्येक भावभंगी, उसके गले का खुला बटन, उसके बालों की काट, उसकी शलवार का फुलाव, उसके निपट निरक्षर होने का पता देता है।

तब हुनर साहब ने धीमे स्वर में गाकर एक शेर सुनाया—

फिर एक तक़सीर कर रहा हूँ, ख़िलाफ़े तक़दीर कर रहा हूँ
फिर एक तदबीर कर रहा हूँ, ख़ुदा अगर कामयाब कर दे

और कहने लगे, यह हफ़ीज़ का शेर है—जालन्धर के मशहूर कवि हफ़ीज़ का और उन्हें इसकी कला पर नाज़ है। शिमले के एक मुशायरे में हम सब को बुलाया गया था। रिज्ज के ऊपर डेविको बालरूम में मुशायरा होने वाला था। मिडल बाज़ार के एक मुस्लिम होटल में हम ठहरे थे। वहीं हफ़ीज़ ने यह शेर लिखकर सुनाया। सब सिर धुनने लगे। तब मैंने अपने एक शागिर्द 'साहिर' को एक शेर लिखकर दिया। इत्तफ़ाक़ देखिए, उसकी बारी पहले आ गयी। उसने वह शेर पढ़ा तो लोग कुर्सियों से उछल पड़े। वह दाद मिली की हफ़ीज़ साहब का मुँह ज़रा-सा निकल आया। जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने अपना शेर पढ़ा ही नहीं।

चेतन ने उत्सुकता से कहा, "कृपया अपना वह शेर सुनाइए।"

गर्व के साथ सिर उठाकर हुनर साहब ने शेर पढ़ा—

मैं अपनी तक़दीर का हूँ क़ायल, हरीफ़ तदबीर पर है मायल
ख़ुदा के दर पर हैं दोनों सायल, जिसे ख़ुदा कामयाब कर दे

और लगभग उछलकर चेतन ने कहा, "वाह! तक़दीर का क़ायल होना तो यही है कि जिसे ख़ुदा कामयाब कर दे! 'जिसे' ने वह बात पैदा कर दी है कि वाह, क्या कहने हैं!"

उस समय चेतन को क्या मालूम था कि जिस शेर पर वह सिर धुन रहा है वह तो किसी दूसरे मस्तिष्क की उपज है और हुनर साहब को तो वह कहानी गढ़ने की ही दाद दी जा सकती है। लेकिन तब चेतन के हृदय में श्रद्धा का अगाध समुद्र कहीं से उमड़ पड़ा और उसका जी चाहा कि हुनर साहब के चरण चूम ले।

इसके बाद हुनर साहब ने 'जिगर मुरादाबादी' और 'फ़ानी बदायूनी'

की पूरी की पूरी ग़ज़लें अपने नाम से सुना डालीं। किंतु इसे जालन्धर की सीमित दुनिया में रहने वाला आर्य-समाज कॉलेज में बी० ए० तक हिन्दी पढ़ने वाला चेतन क्या जानता, विशेषकर उस समय, जब उसका उर्दू शायरी का ज्ञान केवल दो चार स्थानीय मुशायरों में सुनी हुई ग़ज़लों तक ही सीमित था।

रात को हुनर साहब के घर पर मजलिस जमी। वे अपने बहनोई साहब के यहाँ ठहरे थे। शेर पर शेर, ग़ज़ल पर ग़ज़ल वे सुनाते जाते थे। शेर उनकी ज़बान से ऐसे निकले पड़ते थे, जैसे वर्षा ऋतु में अनायास ही पहाड़ पर झरने फूट पड़ते हैं। उनका मस्तिष्क काव्य का एक समुद्र था जिसकी ऊर्मियाँ असंख्य और अगनित थीं।

चेतन के मन में कभी-कभी यह सन्देह अवश्य सिर उठाता कि इतनी-सी आयु में उन्होंने इतनी ग़ज़लें कैसे कह डालीं और इतना कुछ कहने पर भी उनका कोई संग्रह क्यों नहीं छपा। लेकिन लगभग हर ग़ज़ल के साथ किसी-न-किसी कवि सम्मेलन की जो एक कहानी हुनर साहब सुनाते थे उसके कारण वह सन्देह ज़ोर न पकड़ पाता और संग्रह के बारे में जब उसने झिझकते हुए प्रश्न किया तो उन्होंने कहा कि प्रकाशक तो दयानतदार मिलते नहीं, फिर कोई संग्रह छपवाये भी तो कैसे और क्यों ?

अन्त में एक बजे के लगभग हुनर साहब ने अपनी एक कहानी सुनानी शुरू की जो उन्होंने हाल ही में लिखी थी। तब चेतन के बड़े भाई जम्हाइयाँ लेने लगे। दिल-ही-दिल में अपने इस असाहित्यिक भाई को उसकी अरसिकता पर कोसते हुए चेतन ने हुनर साहब से स्वयं अपनी आरम्भिक कोशिशों का ज़िक्र किया और सकुचाते हुए अपने दो एक शेर भी सुनाये और कहा कि कहानी लिखने में उसकी रुचि अधिक है।

"तुम कहीं लाहौर होते !" हुनर साहब ने चेतन का उत्साह बढ़ाते हुए कहा, "ऐसी प्रतिभा है तुममें कि कुछ ही दिनों में चमक उठते।"

भाई साहब की जम्हाइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ रही थीं, इसलिए चेतन ने छुट्टी ली और मन-ही-मन हुनर साहब को अपना गुरु मान लिया और निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो वह लाहौर जाकर ही दम लेगा। जालन्धर में तो उसकी प्रतिभा का अंकुर सूखकर रह जायगा। लाहौर में यदि अनुकूल जलवायु मिल गया तो न जाने वह महान् विटप बन जाय।

घर आकर उसने सब से पहले उन पं० दीनबन्धु को चिट्ठी लिखी कि वह लाहौर अवश्य जायगा। विवाह का जुआ वह अपने गले में नहीं डालना चाहता। उसने लिखा कि वह उन्हें धोखा नहीं देना चाहता। उसकी आकांक्षाएँ बड़ी हैं। उसके रोज़गार का भी कोई भरोसा नहीं। उनको या उनकी लड़की को व्यर्थ का कष्ट होगा। और उसने यह भी लिख दिया कि वे अब उसके पिता के पास जेजों जाने का कष्ट न करें। मन-ही-मन उसने यह फ़ैसला भी कर लिया कि दूसरे दिन सुबह ही वह चिट्ठी डाल देगा।

———————

९

दूसरे दिन चेतन अपने बड़े भाई को बताये बिना हुनर साहब को स्टेशन पर छोड़ आया और उस प्रोत्साहन के बदले में जो उसके इस नये गुरु ने उसे दिया था पाँच रुपये का एक अकिंचन नोट भी उन्हें भेंट कर आया।

बात यह थी कि स्टेशन पर जाकर हुनर साहब को अचानक मालूम हुआ कि उनका बटुआ घर ही पर रह गया है। वे वापस चलने को तैयार हो गये थे। पर चेतन की श्रद्धा को यह गवारा न हुआ कि वे पाँच रुपये के लिए वह गाड़ी छोड़ दें, जिस पर जाना उनके कथनानुसार उनके लिए अत्यन्त आवश्यक था।

जब वह स्टेशन से घर वापस आया तो घर के बाहर मुहल्ले ही में उस 'लेक्चर' को सुनकर जो उसके भाई को ऊपर पिलाया जा रहा था, और उन 'मृदु वचनों' से जो एक पुंसत्व भरी आवाज़ में उन पर निरन्तर बरसाये जा रहे थे, चेतन ने जान लिया कि उसके पिता आ गये हैं।

अपने पिता के प्रति चेतन के मन में सदैव एक भय-सा वर्तमान रहता था। जब वे अपने जाने धीमे स्वर में बात कर रहे होते तो दूर से ऐसा

लगता जैसे लड़ रहे हैं—'माँ-पेउ दियाँ गालां, दुद्ध-घेउ दियाँ नालां'[1]—पंजाबी भाषा की इस कहावत को वे सर्वथा सत्य मानते थे। इसलिए पुत्रों से बातें करते समय वे उन्हें निरन्तर दूध-घी के ये घूँट पिलाते रहते थे।

हुनर साहब को गाड़ी पर सवार कराने में चेतन को देर हो गयी थी। पिता की आवाज़ सुनकर चेतन का माथा ठनका। उसने कोशिश की कि चुपचाप नीचे अपने कमरे में जाकर कपड़े बदल ले और स्कूल चला जाय। स्नान वह सुबह ही कर गया था। उसने सोचा कि खाना स्कूल जाकर खा लेगा और चुपचाप आँगन से होकर वह अपने कमरे में चला गया। शलवार, कमीज़ और कोट पहन वह पगड़ी बाँधने ही लगा था कि जल्दी में शीशा उसके हाथ से गिर पड़ा और उसे आया जानकर उसके पिता ने आवाज़ दे दी।

उनकी आवाज़ सुनकर चेतन बिना पगड़ी बाँधे ही ऊपर चला गया। आँगन में दीवार के साथ लगी चारपाई पर चेतन के पिता बैठे थे। पीठ उनकी दीवार से लगी थी, पगड़ी उनकी बग़ल में थी और कमीज़ के बटन खुले होने के कारण उनके विशाल सीने के कुछ सफ़ेद बाल दिखायी देते थे। चेतन ने देखा उनके सिर और मूँछों के सब बाल सफ़ेद हो गये हैं, किंतु इससे उनके चेहरे का रोब और उन छोटी आँखों की कठोरता कुछ भी कम नहीं हुई और न उनकी आवाज़ के तीखेपन में ही कोई कमी आयी है।

"कहाँ गये हुए थे?"

उसके पिता ने इस प्रकार चेतन की ओर देखा जैसे वह पाँच-छः वर्ष का बच्चा हो जिसे झिड़कना और डाँटना अत्यन्त आवश्यक हो।

---

[1] माता पिता की गालियाँ दूध-घी के घूँट होती हैं।

चेतन के कानों में अपने पिता का यह प्रश्न गूँज गया। उससे तुरन्त उत्तर न बन पड़ा। बात यह है कि छात्र से अध्यापक हो जाने में चेतन अपने बड़प्पन का जो गर्व अनुभव करता था, वह दो अवसरों पर उसका साथ छोड़ देता था—एक तो जब वह अपने किसी लाहौर से डिग्री पाये हुए मित्र से मिलता और दूसरे जब वह अपने-आपको अपने पिता के सामने पाता।

उसका गला सूखने-सा लगा। अपने उन मित्रों के प्रचुर ज्ञान के रोब को वह अपने कवि और कहानीकार होने के रोब से परास्त कर देता था। क्या हुआ यदि उसने लाहौर नहीं देखा ? क्या हुआ यदि उसे बहुत-सी बातों का ज्ञान नहीं, पर सृजन की जो शक्ति उसमें है, उसके मित्रों में कहाँ ? साहित्य के निर्माण का जो सलीका उसे है, वह उन्हें कहाँ ?—और जब उसकी कविताओं और कहानियों को सुनकर उसके मित्र मान लेते थे कि उसका भविष्य उज्ज्वल है तो अपने अभाव को वह भूल जाता था। किंतु उसका यह अस्त्र अपने पिता के सामने न चलता। वह तो उनके सम्मुख अपनी इस कवित्व-शक्ति की बात तक प्रकट करने का साहस न कर सकता था। उसे यह भी डर था कि यदि उसने उन्हें यह बात बतायी भी तो सम्भव है कि उसके पिता उसे समझ ही न पायें। मुलतान डिवीजन के सुदूर स्टेशनों पर दिन रात टिकटों, मुसाफ़िरों और गाड़ियों से वास्ता रखने वाले, पुराने ज़माने के मैट्रिक उसके पिता, अपने इस पुत्र की महत्वाकांक्षा को समझ सकेंगे, उसे इसमें संदेह था। उनसे यदि वह कहता—मैं लाहौर जा रहा हूँ, एम० ए० करने के बाद फ़ाइनान्स की परीक्षा में बैठूँगा और ए० टी० एस० बनूँगा तो वे समझ जाते, क्योंकि ए० टी० एस० उनके टी० आई० का भी अफ़सर था। किंतु चेतन एक महान् साहित्यिक बनने जा रहा है, यह बात शायद उनकी समझ से दूर थी। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, वे कवि मिलखी

राय के 'काठ का उल्लू' अथवा मोतीराम के बारहमासे से आगे न बढ़े थे।

इसलिए उसने थूक निगलकर सिर्फ़ इतना ही कहा, "अपने एक मित्र को गाड़ी पर चढ़ाने गया था।"

तब चेतन के बड़े भाई ने कुछ कहने के लिए कन्धे हिलाये। दरअसल वे हुनर साहब के बारे में कुछ कहना चाहते थे, पर चेतन की आँखों में अनुनय का जो भाव था, उसका और उन झिड़कियों का ख़याल करके जो उन्हें अभी-अभी मिल रही थीं, वे कन्धे हिलाकर ही चुप हो रहे।

वास्तव में चेतन और उसके बड़े भाई में एक तरह का मौन समझौता था। वे दोनों भाई होने की अपेक्षा एक दूसरे के मित्र अधिक थे। मानो अज्ञात-रूप से दोनों ने एक दूसरे के दोषों पर पर्दा डालना सीख लिया था। यह और बात है कि इस समझौते में अधिक भाग चेतन ही को अदा करना पड़ा था। बचपन ही से नित्य अपने बड़े भाई के लिए उसे झूठ बोलना पड़ा था। माता-पिता और यहाँ तक कि दादा की गालियाँ सुननी पड़ी थीं। इसी स्वभाव के फलस्वरूप जब एक बार चेतन के बड़े भाई उसके सिर पर ही बिस्तर उठवाकर स्टेशन पर पहुँच किसी अज्ञात स्थान को भाग गये थे (और कम-से-कम उसे रोज़ एक पत्र लिखने का वादा करके भी महीने भर में उन्होंने एक पत्र न लिखा था) उसे कई बार चुपचाप एकान्त में रोना भी पड़ा था। अपने इस बड़े भाई से उसे छोटे भाई जैसा स्नेह था। शायद चेतन के बड़े भाई भी इसे महसूस करते थे और इसीलिए वे चुप भी हो रहे थे।

"किस मित्र को छोड़ने गये थे?" पिता ने पूछा—

"लाहौर के एक मित्र को!" फ़र्श में आँखें गाड़े चेतन ने उत्तर दिया।

पर इससे पहले कि अपने कड़कते स्वर में (जो साधारणतः मुहल्ले के सिरे पर पंसारी की दुकान तक जा पहुँचता था) चेतन के पिता उससे

पूछते, "किस मित्र को—मैं उसका नाम पूछता हूँ।" कि बाहर मुहल्ले में जैसे एकदम कोलाहल-सा उठ खड़ा हुआ और एक स्त्री के रोने की आवाज़ उच्च से उच्चतर होने लगी।

जालन्धर के उस कल्लोवानी मुहल्ले में ऐसा कोलाहल और ऐसा क्रन्दन रोज़ की बात थी। कुएँ की चर्ख़ियों से पानी भरने पर; एक ओर लगी हुई टोंटियों से नहाने या दूसरी ओर लगी पत्थर की सिल पर कपड़े धोने या फिर मुहल्ले के चौक में खूँटों से बँधी हुई गायों, भैंसों या उन्हें छेड़ने वाले या उनके द्वारा उठाकर फेंक दिये जाने वाले बच्चों पर; दीवारों पर उपले पाथने या उन उपलों को चुरा ले जाने पर; किवाड़ों के आगे घर का कूड़ा-करकट फेंकने या उस कूड़े-करकट के फैलाये जाने पर और यदि कुछ नहीं तो योंही बे-बात-की-बात पर प्रायः लड़ाई-झगड़ा हुआ करता था।

मुहल्ले में सदियों से क्षत्री ब्राह्मण बसते आये थे और जब से ब्राह्मणों को अपने आत्म-सम्मान का आभास होने लगा था (दूसरे शब्दों में जब से कुछ ब्राह्मण युवक पढ़-लिखकर अच्छे पदों पर नियुक्त हो गये थे और ब्राह्मण वृत्ति को घृणा की दृष्टि से देखने लगे थे) इन दोनों जातियों के मध्य एक प्रकार का वैमनस्य भी आरम्भ हो गया था। इसके अतिरिक्त मुहल्ले में कुछ सुनार कुटुम्ब भी आकर बस गये थे। उनकी स्त्रियाँ लड़ाई की कला में विशेषतया निपुण थीं और 'कला कला के लिए है' इस सिद्धान्त में पूरा विश्वास रखती हुई कला की साधना मात्र के लिए लड़ा करती थीं।

मुहल्ले में जो घराना अधिक सम्पन्न हो जाता, वह लाहौर, अमृतसर अथवा किसी दूसरे बड़े शहर या जालन्धर ही के बाहर कोठियों में चला जाता और शेष मुहल्ला अपने उसी लड़ाई-झगड़े, उसी संकुचित वातावरण को लिये हुए पड़ा रहता।

किंतु रोज़ की बात होने पर भी लड़ाई में कुछ ऐसा आकर्षण है कि

आदमी अनायास ही अपना काम छोड़कर उसे देखने लगता है। इस कोलाहल को सुनकर चेतन के पिता और उसके बड़े भाई अचानक उठकर बैठक में चले गये, और माँ रसोई-घर की खिड़की में जा खड़ी हुई।

चेतन ने अवसर उपयुक्त समझा। स्कूल जाने में पहले ही देर हो गयी थी और हेडमास्टर की झिड़कियों का भी उसे डर था, इसलिए वह नीचे को भागा। पगड़ी बाँधना भी उसने उचित न समझा। खूँटी से टोपी उतारकर सिर पर रखी और चल पड़ा।

बाहर मुहल्ले में खूब लड़ाई हो रही थी। एक ओर अपने मकान की ऊँची खिड़की में बैठी, तीन सम्पन्न पति-विहीना बेटियों वाली धनी विधवा चौधरायन माथे से पसीने को पोंछती हुई नयी-नयी गालियों से मुहल्ले की स्त्रियों के कोष भर रही थी। दूसरी ओर ब्राह्मणी जीवी पल्ला पसारकर परमात्मा से, न जाने कैसे शब्दों में, उसके कुटुम्ब की शेष सधवाओं के भी विधवा होने की भयंकर प्रार्थनाएँ कर रही थीं। लोग पानी भरना भूलकर उन्हें देखने में व्यस्त थे।

तभी ज्वाली महरी ने अपनी लड़की को कोसते हुए कहा कि वह उधर क्या तकने लगी है, "इनका तो काम ही दिन रात लड़ना है" वह बोली, "घर में आदमियों से लड़ती है, बाहर पड़ोसियों से" और उसे डाँटा कि उसके साथ घड़ा जल्दी-जल्दी खिंचवाये।

ज्वाली का यह कहना था कि ब्राह्मणी जीवी ने अपनी प्रार्थना के क्षेत्र को विस्तार देने की ठान ली और उस महरी और उसके कुटुम्ब को भी दिल खोलकर 'मधुर-वचन' सुनाने में संकोच नहीं किया। इस पर ज्वाली ने घड़े को वहीं छोड़, कृतज्ञता के रूप में उसे कुछ नयी तरह के 'मीठे शब्द' सुनाना अपना कर्त्तव्य समझा। उसकी लड़की ने सुख की साँस ली और न केवल यह चाहा कि उसकी माँ ही इस वाक-युद्ध में सफल हो, बल्कि उसने कई बार स्वयं भी इसमें पूरा योग देने की

कोशिश की। पर हर बार उसकी माँ ने दायें हाथ से उसे अलग हटा दिया।

चेतन उपेक्षा की एक दृष्टि उन पशुओं की भाँति लड़ने वालियों पर डालकर चुपचाप खिसकने लगा कि ऊपर बैठक के बरामदे से उसके पिता की कड़कती आवाज़ आयी।

"स्कूल से सीधे घर आना!"

चेतन ने पीछे मुड़कर "अच्छा जी।" कहा और भाग चला।

जब उसे ध्यान आया कि उसे तो बस्ती के पं० दीनबन्धु को चिट्ठी डालनी थी तो वह स्कूल के फाटक पर पहुँच चुका था और मन-ही-मन हेडमास्टर के प्रश्नों का उत्तर सोच रहा था।

१०

जब आशा के विपरीत हेडमास्टर साहब ने उसे ज़रा भी न डाँटा और सिर्फ़ इतना ही कहा कि इतनी देर उस जैसे ज़िम्मेदार आदमी को न करनी चाहिए तो चेतन को आश्चर्य हुआ। कारण यह कि डाँटने के बदले हेडमास्टर साहब ने एक तरह से उसकी प्रशंसा ही की थी। पर दूसरी साँस ही में जब उन्होंने कहा, "आज अँग्रेज़ी और इतिहास के अध्यापक नहीं आये हैं और आप ही उनके पीरियड पढ़ाने का कष्ट करें" तो चेतन इस विशेष अनुग्रह का कारण समझ गया। दूसरा अवसर होता तो शायद वह पहले ही अपने अधिक व्यस्त होने का रोना ले बैठता, पर उस समय वह चुपचाप पढ़ाने चला गया।

वह भली-भाँति पढ़ा सका या नहीं, इसे तो वे छात्र ही ठीक बता सकते हैं, जिन्हें वह रोज़ पढ़ाया करता था, लेकिन जिस समय चालीस-चालीस मिनट के पूरे चार घंटे पढ़ाकर वह स्टाफ़-रूम के एक कोने में अपनी कुर्सी पर जा बैठा तो वह अत्यन्त शिथिल और क्लांत था।

वहीं बैठे-बैठे उसकी विचार-धारा अपने विवाह की समस्या की

ओर बह गयी और उसके सामने कुन्ती का चित्र घूम गया—सौन्दर्य का प्रतीक लम्बा क़द, तीखे नक्श, सुन्दर मुख, चंचल मुस्कराती आँखें, चौड़ा मस्तक और उस पर, उसे और भी सुन्दर बनाता हुआ एक बड़े से घाव का चिन्ह—और बरबस एक दीर्घ-निश्वास उसके मुख से निकल गया।

चेतन की कल्पना के सम्मुख गत दो वर्षों के स्वप्न फिर गये—वे स्वप्न जो कुन्ती के सानिध्य से स्वर्णिम थे। यौवन के प्रभात में चेतन ने कुन्ती को देखा था—उस सुनहरे प्रभात में, जब युवक महसूस करता है कि उसे संसार में शिक्षा-दीक्षा, धन-ऐश्वर्य्य, आकांक्षाओं और महत्वाकांक्षाओं के अतिरिक्त किसी ऐसी चीज़ की भी ज़रूरत है जिसका आकर्षण इन सब से अधिक है और जिसके सामीप्य के बिना ये सब चीज़ें रूखी-फीकी और सारहीन जान पड़ती हैं।

अपने मित्र अनन्त के साथ वह शीतला मन्दिर का मेला देखने गया था। तब जैसे पहली बार उसे अपर-सेक्स के विषय में कुतूहल हुआ था। तभी उसके कलाकार मन को एक बात सूझी थी और हँसकर उसने अनन्त से कहा था—"अनन्त, आओ भला देखें, इस मेले की सौन्दर्य-साम्राज्ञी कौन है।"

शीतला माता के इस मन्दिर पर यों तो प्रति मंगल मेला लगता है, पर वर्ष में दो मंगलवार ऐसे भी आते हैं जब माता के गुण गाते, मन्नतें मानते और मनाते सारे ज़िले के श्रद्धालु वहाँ इकट्ठे होते हैं। यद्यपि मेले का ज़ोर दिन के बारह बजे तक ही रहता है पर बाहर से आये हुए भक्तजन प्रायः दुपहरी वहीं व्यतीत करते हैं।

अनन्त ने चेतन के इस प्रस्ताव का सहर्ष समर्थन किया था और दोनों मित्र इस निर्वाचन के लिए चल पड़े थे। शीतला मन्दिर के बाहर खुली

जगह में वे दोनों घूमे। पहले उन्होंने उस छोटे से बाज़ार को देखा जहाँ खोंचे वालों, मनिहारी का सामान बेचने वालों, हरे चने, मूलियाँ, गाजरें और दूसरी तरकारियाँ बेचने वालों की दुकानें लगी रहती थीं। हरे चनों और मूली-गाजरों की दुकानें इसलिए लगती थीं कि मेले से लौटते हुए लोग उन्हें ख़रीदकर ले जाना शुभ समझते थे। उधर से हटकर उन्होंने उस जगह को देखा जहाँ यौवन की प्रथम हिलोर में लड़के-लड़कियाँ झूले झूल रहे थे। फिर उन्होंने उस ज़बरदस्त भीड़ में माता शीतला पर पैसे चढ़ाकर दूध की लस्सी के छींटे और बताशे भी पाये। भिचे भिचे तीन बार मन्दिर की परिक्रमा भी की। अपने-अपने बालकों का हाथ थामे अगनित माताएँ और नन्हें-नन्हें भाइयों को उठाये तथा उनका हाथ अपने हाथ में लिये अगनित बहनें इस भीड़ में दुकानों पर सामान खरीदतीं, झूले झूलतीं अथवा माता शीतला के दर्शन कर पुण्य लाभ कर रही थीं। किंतु उन्हें कोई ऐसी शक्ल दिखायी न दी जिसे देखकर चेतन का कलाकार हृदय बस धक से रह जाता। अन्त में वे मन्दिर की चारदीवारी के अन्दर उस खुली जगह में चले गये जहाँ मेले में घूम-फिरकर थक जाने वाले प्रायः आराम करते हैं और पानी के बताशे अथवा चाट उड़ाते हैं और जहाँ बरगद के बड़े-बड़े पत्ते बताशों के पानी और लाल-मीठी चटनी या दही से लिथड़े धरती पर इधर-उधर बिखरे रहते हैं।

अनन्त इतनी शिक्षा-दीक्षा के बावजूद इस मेले में सब से अधिक महत्व की चीज़ पानी के बताशों और चाट ही को समझता था। इसलिए वट के हरे पत्ते के दोने को हाथ में लेकर वह तो कुएँ पर बैठे एक खोंचे वाले के सामने डट गया, पर चेतन अन्यमनस्क-सा एक ओर खड़ा इधर-उधर ताकता रहा।

तभी उसकी दृष्टि कुएँ के प्याऊ पर पानी पीने वाली एक लड़की पर गयी। पानी पीकर उसने सादे मलमल के रूमाल से हाथ और ओठ

पोंछे। चेतन अनिमेष दृगों से उसकी ओर देखता रह गया। लड़की ने औरों की तरह सुन्दर साड़ी अथवा गोटे-किनारी से झिलझिलाते कपड़े या दमकते हुए गहने न पहन रखे थे एक सीधी-सी बैंगनी या शायद नीले किनारे की सरदई रंग की धोती उसने पहन रखी थी। ब्लाउज भी कोई हल्के ही रंग का था। उसका अपना रंग भी गेहुँआँ ही था। पर यौवन के सुप्रभात ने उसके अंगों को कुछ ऐसे सुगठित साँचे में ढाल दिया था और उसके ओठों पर ऐसी स्वर्ण-स्मिति खेल रही थी कि चेतन मुग्ध-सा खड़ा रह गया। वह स्वयं भी अनन्त के साथ पानी के बताशे खाना चाहता था, लेकिन जब वह लड़की चलने लगी तो एक पैसा खोंचे वाले की ओर फेंककर प्रायः अनन्त को घसीटता हुआ-सा वह अपने साथ लेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।

फिर जहाँ-जहाँ वह लड़की गयी, वे दोनों भी गये।

तीन वर्ष पहले की उस बचरानी हरकत के याद आते ही चेतन को हँसी आ गयी। स्टाफ-रूम के सामने मैदान में बच्चे खेल रहे थे, लड़-झगड़ रहे थे और स्कूल की चारदीवारी के साथ लगे शीशम के वृक्ष अपनी घनी शाखाओं और पीली-हरी पत्तियों के साथ झूम रहे थे। उनमें भी उन बालकों-सी सरल चपलता भरी हुई थी। बचपन...चेतन ने एक लम्बी साँस ली...लेकिन आज भी क्या उसके जीवन में वे ही क्षण सुन्दर और सुखद नहीं जब उसने मेले में कुन्ती को देखा था।

जलपान की छुट्टी खतम होने की घंटी बजी और लड़के धड़ाधड़ दायें-बायें दर्जों में जाने लगे। चेतन की विचार-धारा टूट गयी। वह उठा और उस दर्जे में चला गया जहाँ उसे पढ़ाना था। उसका जी आज पढ़ाने को बिलकुल नहीं हो रहा था। कमरे में जाते ही उसने देखा दो लड़के अपनी सीटों पर बैठने के बदले डेस्कों पर बैठे हैं। बस इसी बात पर

उसने उन्हें पीट दिया। फिर मानीटर को बुलाकर दो थप्पड़ उसके जमाये और डाँटा कि वह उन्हें चुप क्यों नहीं कराता। इसके बाद उसने उसे आदेश दिया कि गणित की पुस्तक में अगला परिच्छेद खोलकर प्रश्न लिखवाये और जिसका उत्तर ग़लत हो उसके गिनकर दस थप्पड़ जमाये, क्योंकि इस परिच्छेद को पहले भी एक बार क्लास में हल करवाया जा चुका है। यह भी उसे जता दिया कि अगर वह ठीक तरह न लगायेगा तो उसके मूँह पर दस थप्पड़ लगाये जायँगे। इस तरह आतंक जमाकर वह कुर्सी में धँस गया।

तभी उसका मन जैसे कुलांचें भरता हुआ अतीत के सीमाहीन और स्वच्छन्द क्षेत्र की ओर दौड़ चला।

उस मेले के दिन वह कॉलेज न गया था। जब वह लड़की घर जाने लगी तो वह भी अनन्त को साथ लेकर उसके पीछे-पीछे चल पड़ा था।

वह कभी-कभी घूमकर उनकी ओर देख लेती, पर उसकी आँखों में क्या था, चेतन ने उस समय इस बात का विश्लेषण नहीं किया। उस समय तो जैसे मन्त्र-मुग्ध वह उसके पीछे-पीछे चलता गया। जब पुरियाँ मुहल्ले के अपने घर में पहुँचकर वह डेवढ़ी में दाख़िल हुई और सीढ़ियाँ चढ़ने से पहले एक बार उसकी ओर देखती हुई मुस्कराकर अँधेरे में विलीन हो गयी तो चेतन का दिल धक-धक करने लगा।

वह मुस्कान दोनों में से किसके लिए थी, इसमें चेतन को किसी प्रकार का सन्देह न रहा था, क्योंकि अनन्त उधर देख ही न रहा था और मेले से लौटते समय मार्ग में भी जब-जब उस युवती ने मुड़कर देखा चेतन और केवल चेतन ही से उसकी आँखें चार हुईं। फिर यदि दूसरे दिन बिना अनन्त

को बताये वह अकेला उधर गया और तीन साल तक निरन्तर जाता रहा तो इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

और ये तीन वर्ष......जवानी की पहली शर्मीली मुहब्बत के तीन वर्ष......

उसे याद आया किस प्रकार कॉलेज में जब दो घंटे एक साथ इकट्ठे ख़ाली होते, वह किताब लेने के बहाने घर जाता। दरवाज़ा ख़ाकरूबाँ और मुहल्ला मेहन्द्रुआँ में से जाने के बदले एक मील का चक्कर काटकर अड्डा होश्यारपुर से होता हुआ, सीधी पहाड़ी की तरह ऊँची 'ढक्की'[१] चढ़कर, उसके घर की खिड़की के नीचे से गुज़रता। किस प्रकार प्रायः वह उसकी खिड़की की ओर पूरी तरह देख भी न पाता, लेकिन फिर भी उसे आभास हो जाता कि वह अपनी स्वर्ण-स्मिति लिये वहाँ बैठी है, किस प्रकार समय पर कॉलेज पहुँचने के लिए उसे अधाधुंध साइकिल चलानी पड़ती और क्लास में बैठकर कितनी देर तक उसकी आँखों में उसका चित्र घूमा करता।

उसे याद आया किस प्रकार जब एक बार सात-आठ दिन तक बीमार रहने के कारण वह उसकी ओर जा न सका था, वह स्वयं उसके मुहल्ले में चली आयी थी। बीमारी के बाद स्वस्थ होने पर वह निचली बैठक में बैठा एक उपन्यास में तन्मय था कि एक परिचित-सा मधुर स्वर सुनकर सहसा चौंक पड़ा। तब उसने देखा कि सामने मुहल्ले में कुएँ के पास वह एक बच्चे को गोद में लिये खड़ी है और उसके ओठों पर चंचल चतुर मुस्कान खेल रही है।

बच्चे से उसी की-सी तोतली भाषा में (चेतन को सुनाकर) वह कह रही थी :—"तुशीं आउँदे नहीं, अशीं उड़ीक-उड़ीक के थक जान्दे हाँ"[२]

---

[१] ढक्की—ढालुवीं जगह।

[२] आप आते नहीं, हम प्रतीक्षा करके थक जाते हैं।

तब सामने से अनन्त को आते देखकर चेतन ने अचानक वहीं से ऊँचे स्वर में कहा था—"तुम्हें क्या ख़बर अनन्त कि मैं किस तरह बीमार रहा हूँ।"

अनन्त हैरान-सा उसकी ओर देखता रह गया था, क्योंकि बीमारी के दिनों में वह सारा दिन उसी की तो सेवा-सुश्रूषा किया करता था।

उस दिन की याद आने पर चेतन का शरीर गर्म हो गया। उसकी बात सुनकर और अनन्त की हैरानी देखकर कुन्ती (क्योंकि यही उसका नाम था) मुस्करा दी थी और एक अजीब-सी स्निग्ध पिघली हुई दृष्टि से उसने चेतन की ओर देखा था। उस क्षण की स्मृति-मात्र से चेतन के शरीर में एक मीठी-सी झुरझुरी दौड़ गयी और उसने एक अनिर्वचनीय आनन्द अपनी नस-नस में अनुभव किया।

चुस्त होकर वह कुर्सी पर बैठ गया।

तब आज्ञाकारी मानीटर अपने सुयोग्य गुरु के आदेशानुसार दर्जे के प्रायः सभी लड़कों को बेंचों पर खड़ा करके प्रत्येक को गिन-गिनकर दस थप्पड़ों का दान दे रहा था।

चेतन ने सब को बैठा दिया और स्वयं एक प्रश्न लिखाया।

शेष समय उसने कुन्ती और उससे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं की याद में बिता दिया।

यह एक अजीब बात थी कि तीन वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन उसकी खिड़की के नीचे से गुज़रने पर भी उसका शर्मीला प्यार कुन्ती से बात-चीत करने की कोई राह न निकाल सका था। इस बात का ख़याल आते ही उसका हृदय धक्-धक् करने लग जाता था। कुन्ती में साहस था। चेतन के मुहल्ले में उसकी एक सहेली रहती थी। उसी से मिलने के बहाने कुन्ती उस दिन चली आयी थी और एक दिन अपनी उसी सहेली के सम्बन्ध में प्रश्न करने के लिए उसने चेतन को ऐन अपनी खिड़की के नीचे रोक भी

लिया था—"ललिता आयी या नहीं" उसने पूछा।

चेतन का रंग उड़-सा गया था। खिड़की के जँगले पर दोनों हाथ रखे झुकी हुई वह खड़ी थी। चंचल, चतुर मुस्कान उसके ओठों पर खेल रही थी। उसका चेहरा गुलाब बन रहा था। आँखें नाच उठी थीं और उसके मस्तक के घाव का चिह्न और भी साफ़ और चमकीला हो गया था।

किंतु चेतन का कंठ सूख गया था। इस अप्रत्याशित प्रश्न से वह कुछ बौखला-सा गया था और जाने क्या ऊल-जलूल उत्तर देकर जल्दी-जल्दी चला आया था।

उसकी पहली मुहब्बत ऐसी ही मौन और लजीली थी। हाँ, अपनी कविताओं और कहानियों में उसने कुन्ती से जी भर के बातें की थीं।

चार बजे छुट्टी होने पर चेतन अपने घर की ओर चला तो उसने सोचा क्यों न वह अपने पिता से कहे कि वह कुन्ती से विवाह करना चाहता है। उसने मन में सोच लिया कि यदि बस्ती वालों के यहाँ शादी करने के लिए उसके पिता ने कहा तो वह कह देगा कि वह तो कुन्ती से शादी करना चाहता है। इस बीच में उसने कुन्ती के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान लिया था। वह उनकी ही जाति की थी और हाल ही में उसे यह भी पता चला था कि वह उसके पिता के अभिन्न मित्र पंडित पोल्होराम की नातिन है। यदि उसके पिता उसका विवाह करना चाहेंगे तो आसानी से हो सकेगा।

इस विचार के आते ही वह पुलकित हो उठा और उसने फ़ैसला कर लिया कि यदि विवाह की बात चली तो वह अवश्य यही बात कहेगा। तब मन-ही-मन उसने यह चाहा कि सुबह पिता ने उसे जो जल्दी आने के लिए कहा था उसका यही अभिप्राय हो।

क्षण भर के लिए वह अपनी महत्वाकांक्षा भूल गया और तेज़ चलने लगा।

११

चेतन के पिता पं० शादीराम गठे हुए शरीर के पाँच फुट तीन इंच लम्बे रोबीले आदमी थे—गोल मुख, घुटा हुआ सिर और बड़ी-बड़ी ऐसी मूँछें जिनकी नोकें कानों तक पहुँचती थीं। आँखों में नशे के कारण लाल-लाल डोरे और कड़कती हुई कर्कश आवाज़—लड़कपन ही से न केवल परले दर्जे के उद्दंड थे वरन् पक्के शराबी भी।

चेतन के दादा पं० रूपलाल पटवारी थे। चेतन की दादी उसी समय परलोक सिधार गयी थी जब चेतन के पिता केवल तीन वर्ष के थे। तब चेतन के पिता की देख-भाल का सब बोझ चेतन की परदादी गंगादेई के सिर आ पड़ा था।

परदादी गंगादेई अत्यन्त पुराने और संकुचित विचारों की, सहस्रों देवी-देवताओं, पीरों-फ़कीरों में विश्वास रखने वाली और पुरोहिताई को प्रत्येक ब्राह्मण का धर्म समझने वाली, उद्दंड और कर्कशा ब्राह्मणी थी। उसके समय का अधिक भाग अपनी पुरोहिताई और धर्म को बनाये रखने में लग जाता था, जो बचता था उसमें कुछ लड़ाई-झगड़े और शेष पीरों-

फ़कीरों की भेंट हो जाता।

कोई त्योहार हो, परदादी गंगादेई के लिए उसमें योग देना अनिवार्य था। ठंडड़ी, बाजड़े, बाबा सोडल, दीवाली, विजय-दशमी, ईद, मुहर्रम, वैसाखी, गुरुपर्व, होला-मुहल्ला—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, किसी भी जाति का कोई त्योहार हो—वह उसमें अवश्य योग देती। मुहर्रम के दिनों में ताज़ियों के नीचे से गुज़रकर उन पर कौड़ियाँ चढ़ाती, मेंहदी और घोड़ी पर शक्कर के शर्बत की सबील लगाती और गुरुपर्व पर गुरुद्वारों में जाकर प्रसाद लेना अपना परम कर्त्तव्य समझती। असाढ़ के एक वृहस्पतिवार को मीरासियों को बुलाकर दलिया खिलाती, भादों में गुग्गे नवमी के दिन कथा सुनती, वर्ष में एक बार पंडोरी जाकर बाबा मल्ल को नज़र-न्याज़ देती,एक बार 'पद्दी पोसी' के झंडे वाले पीर के झंडा और 'धोबड़ी' के घड़े वाले पीर के घड़े अवश्य चढ़ाती। इसके अतिरिक्त नित्य चली आने वाली पूर्णिमाएँ, अमावस्याएँ, एकादशियाँ, द्वादशियाँ, तीजें, चौथें, सप्तमियाँ, अष्टमियाँ, साल के सब दिन कोई-न-कोई त्योहार लगा ही रहता। और फिर चिन्तपुरनी, ज्वाला जी, चंडिका देवी, और न जाने किस-किस देवी-देवता, पीर-फ़कीर के दर्शन करने जाती। इन सब झमेलों में अपने पोते की देख-भाल के लिए उसे जितना समय मिलता होगा, उसकी कल्पना की जा सकती है।

रहे चेतन के दादा पंडित रूपलाल, सो वे भला अपने लड़के की खबर-गीरी करते या पटवारगीरी? अपने हलके के अतिरिक्त रियासत की लम्बाई-चौड़ाई में उन्हें घूमना पड़ता था। फिर वे अपनी इस रस्मों, रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओं की बेड़ियों में जकड़ी, धर्मपरायणा माँ के अन्ध-भक्त थे। जो त्योहार वह मनाती, वे भी मनाते। वह जिन पीरों-फ़कीरों की सेवा करती, वे भी करते। जब असाढ़ महीने के एक वृहस्पतिवार को मीरासियों का न्योता होता और अपने ढोल लिये हुए

'दानी जट्टी पीर मनाया' की सदा बुलन्द करते, लोरियाँ देते-दिलाते और कपड़े तथा अनाज बटोरते वे साँझ को परदादी गंगादेई की डयोढ़ी में पैर रखते तो पंडित रूपलाल भी चौदह कोस की मंज़िल मारकर, पीठ पर माता दुर्गा के स्तोत्र, नये वर्ष का पत्रा और अन्य आवश्यक काग़ज़-पत्रों की गाँठ के अतिरिक्त कभी गेहूँ और कभी पुरानी मकई की गठरी लादे हुए आ पहुँचते। यदि उनके आगमन से पहले ही कभी मीरासियों को दलिये की थाली परोस दी जाती तो उनके क्रोध का वारपार न रहता। कन्धे की गठरी धरती पर रखते ही वे आसमान सिर पर उठा लेते और उनकी क्रोध भरी आवाज़ दूसरे मुहल्ले तक सुनायी देती। वे चंडी के उपासक थे और (उनके अपने कथनानुसार) इसी के फल-स्वरूप उनके स्वर में कर्कशता और स्वभाव में क्रोध की मात्रा कुछ अधिक थी, जो उनसे पं० शादीराम और फिर चेतन और उसके भाइयों को पैत्रिक-सम्पत्ति के तौर पर मिली थी। किंतु इस समस्त कर्त्तव्यपरायणता, धर्मनिष्ठा और कर्कशता के होते भी उनके पहलू में ऐसा भोला-भाला दिल था जिसे संसार के तीन पाँच की कुछ ख़बर न थी। उनकी माँ जो कुछ कह देती, उसे ही वेद-वाक्य समझकर वे मन में रख लेते। इसलिए जब पाँचवें दर्जे ही में पोते को बोर्डिंग हाऊस में दाख़िल कराने के लिए परदादी गंगादेई ने अपने इस आज्ञाकारी पुत्र को आदेश दिया तो किसी प्रकार की आनाकानी किये बिना पंडित रूपलाल ने उसे मान लिया।

यों इस हालत में इसके सिवा चारा भी न था। कई बार पिता ने शादीराम को अपने साथ कपूरथला ले जाकर रखा। पर 'हुक्मे हाकिम मर्गे मफ़ाजात।'[1] तहसीलदार, कानूनगो तथा माल अफ़सर जब दौरे पर होते तो उन्हें भी अपने हाकिमों की सुविधा के विचार से उनके साथ-साथ

---

[1]हाकिम की आज्ञा आकस्मिक मृत्यु ही का दूसरा नाम है।

भागना पड़ता। नहाकर वे साफ़ा निचोड़ रहे होते कि हुक्म आ जाता और बालक शादीराम को मुर्हारिर के सुपुर्द कर वे सारा दिन भागते फिरते। पूजा-पाठ करने का उन्हें अवसर न मिलता इसलिए सारा दिन उपवास ही में गुज़र जाता। ऐसा भी कई बार हुआ कि नहाकर पाठ भी उन्होंने कर लिया, लेकिन खाना पकाने बैठे कि हुक्म आ गया। चकले की रोटी चकले पर और तवे की तवे पर रह गयी। इसलिए जब-जब अपने पुत्र को वे ले गये, एक महीना भी न गुज़रा कि वापस ले आये।

परदादी ने भी बालक शादीराम को अपने साथ यजमानों के यहाँ ले जाना शुरू किया था। किंतु इतने यजमान थे और उनके यहाँ इतने-इतने दिन रहना पड़ता था कि उनके इस तजरुबे के फल-स्वरूप पं० शादी-राम दो तीन वर्ष एक ही श्रेणी में रहे।

एक तीसरी बात भी थी जिसने परदादी गंगादेई को यह प्रस्ताव करने पर विवश कर दिया और वह थी शादीराम की उच्छृंखलता! प्राय: जब परदादी बाहर जाती, अपने पोते को किसी पड़ोसिन के घर छोड़ जाती। माता-पिता तथा दादी के डर से मुक्त होकर बालक मनमाना उत्पात मचाता। इस नन्हीं-सी आयु ही में वह अखाड़े जाता, लड़ाइयाँ करता और सिर फोड़ता-फोड़वाता। कभी जब इस बीच में अचानक परदादी आ जाती और अपने पोते की दशा देखती तो फिर जब तक रहती अपने इस उद्दंड पोते के संगी-साथियों और उनके घर वालों को गालियाँ देती। यदि किसी लड़ाई में वह सिर फोड़वा आता तो मुहल्ले वालों का दिन का चैन और रात की नींद वह हराम कर देती। और यदि उसका पोता किसी दूसरे का सिर फोड़ आता तो वे लोग उसे चैन न लेने देते।

होस्टल में आकर शादीराम और भी उद्दंड हो गये। परदादी जब भी यजमानों के यहाँ से आती, होस्टल में पहुँचकर अपने पोते को कुछ दिनों के लिए घर ले आती। शादीराम उससे यह कहकर कि होस्टल जा रहे

हैं और होस्टल में यह बहाना बनाकर कि घर जा रहा हूँ, जहाँ जी चाहता चले जाते। कई-कई दिन मित्रों के घर रहते। परदादी को तभी पता चलता जब वे फिर होस्टल पहुँचती और वहाँ शादीराम को न पाती। तब वह अपने इस पोते के मित्रों को गालियाँ देती, घर-घर छान डालती और उसे बिगाड़ने वालों के पुरखों की सात-सात पीढ़ियों को घोर नरक में भेजने तक की सिफ़ारिश भी अपने समस्त देवी-देवताओं से करती।

लेकिन परदादी के कठिन शासन के बावजूद शादीराम दूसरे ही दिन भाग जाते। वास्तव में उन्हें इस लुका-छिपी में विशेष आनन्द आने लगा था। जितना ही वह उनके पीछे भागती, उतना ही वे उनके हाथ न आने की कोशिश करते। इसका एक कारण शायद यह भी था कि परदादी जब भी अपने इस पोते को पकड़ पाती उसे कुछ कहने के बदले उसके मित्रों और मित्रों के घर वालों ही को गालियाँ देती।

हारकर परदादी ने आठवें दर्जे ही में पंडित शादीराम का विवाह कर दिया। इससे उनकी सरगर्मियों में तो क्या कमी आती, हाँ इस विवाह की ख़ुशी में उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र देसराज के घर पहली बार मदिरा का भी रसास्वादन किया (सिगरेट आदि वे पाँचवीं श्रेणी ही से पीते थे) और उनकी उद्दंडता, उच्छृंखलता, निर्भीकता और उदारता ने मिलकर उन्हें जीवन में उतनी हानि न पहुँचायी थी जितनी इस 'तरल आग' के रसास्वादन ने पहुँचा दी।

बात यह है कि पहले-पहल उन्होंने इसे 'दवा' समझा था। देसराज के पिता रिटायर्ड सब-जज थे। खाने पीने वाले आदमी थे। लेकिन बाज़ार शेखां में जाने के बदले घर में मँगाकर पीते थे। दोनों लड़के उन्हें रोज बोतल से शीशे के नन्हें से गिलास में उँडेलकर कुछ पीते और फिर सरूर में आकर कुछ मुखर होते देखते। देसराज के पिता हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ आदमी थे। उनके बीमार होने की कल्पना भी न की

जा सकती थी। तब लड़कों ने समझा कि यह कोई स्वादिष्ट शक्ति-वर्द्धक औषधि है। उनकी उत्सुकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। आखिर शादीराम के विवाह की खुशी में उन्होंने इस शक्ति-वर्द्धक औषधि का रसास्वादन करने की ठान ली। देसराज बोतल ले आये। दोनों ने एक-एक घूँट पिया। अत्यन्त कड़वी लगी। उन्होंने समझा कि दवा मज़ेदार नहीं है, शक्ति-वर्द्धक चाहे कितनी भी क्यों न हो। यह भी निश्चय उन्होंने कर लिया कि फिर इसे न पियेंगे। देसराज उसे वहीं की वहीं रख भी आया था। पर दूसरे ही दिन जैसे किसी पूर्व-निश्चित निर्णय के अनुसार दोनों मित्र आधी-छुट्टी के समय घर आये और फिर वही एक-एक घूँट !

और जब तीन वर्ष मैट्रिक ही में रहकर चौथे वर्ष शादीराम ने परीक्षा पास की तो वे पक्के शराबी बन चुके थे।

१२

स्कूल से आते-आते मार्ग ही में अपने मित्र अनन्त को कुन्ती के सम्बन्ध में अपनी सारी स्कीम समझाकर जब चेतन घर आया तो उसे मालूम हुआ कि उसके स्कूल जाने के कुछ ही देर बाद देसराज आया था और उसके पिता तभी से उसके साथ गये हुए हैं और माँ प्रतीक्षा में बैठी है कि वे आयें तो उन्हें खिलाकर स्वयं भी दो कौर खाये ।

यह देसराज रिटायर्ड सब-जज का वही पुत्र और चेतन के पिता का वही अभिन्न-हृदय मित्र था, जिसने उन्हें उस 'तरल जीवन' का (चेतन के पिता शराब को यही नाम दिया करते थे) रसास्वादन करने में सहायता दी थी और उसके बाद भी इस 'पुण्य-कार्य में उनका हाथ बटाते रहने के महान् कर्तव्य को, कभी-कभी 'केवल उनका मान रखने के हेतु' जिसे अपने ऊपर ले लिया था।

अपने सब-जज पिता की मृत्यु से पहले, उनकी ही कृपा से, देसराज एक बैंक में मैनेजर हो गया था। उसके पिता काफ़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे इसलिए कोई आर्थिक चिन्ता उसे न थी, किंतु उसके स्वभाव में नीचता

कदाचित जन्मजात ही थी। देसराज के पिता ने दयानतदारी से जजी करके ही इतना रुपया कमाया हो , यह बात न थी। उनके रिश्वती स्वभाव के सम्बन्ध में बहुत-सी कहानियाँ प्रचलित थीं। एक पागल विधवा जो उन्हीं की कृपा से अपना दीवानी मुकदमा हार गयी थी, उन्हें प्रायः भरे बाज़ार में गालियाँ दिया करती थी। उनके इस पुत्र में यह नीच प्रकृति बहुरूपिनी होकर प्रकट हुई थी। वह शराब ज़रूर पीता था, पर अपने पल्ले से नहीं। पं० शादीराम जैसे पिलाने वाले उसे प्रायः मिल जाया करते, अथवा यों कह लीजिए कि वह ऐसे घनिष्ठ मित्र पैदा कर लिया करता था। यह और बात है कि उसके इन्हीं घनिष्ठ मित्रों पर उसके ऋण का बोझ चढ़ा रहता था और उसने योंही, केवल ज़ाब्ते के तौर पर, बारह आने रुपया महीना के व्याज पर कुछ प्रोनोट लिखवा रखे थे—यद्यपि उस रक़म का आधा भाग उसके अपने ही पेट में शराब के रूप में पहुँच चुका था।

इसके बाद जब बैंक से एक भारी रक़म के ग़बन के अभियोग में उसे बरबस त्याग-पत्र देना पड़ा, और वह घर आ बैठा तो सूद द्वारा या जुआ खिलाकर अथवा ऐसे और कई संदिग्ध साधनों से वह रुपया पैदा करने लगा। इसमें दड़ा[१] भी एक था यद्यपि यह व्यवसाय वह गुप्त रूप से करता था। इसके बाद एक दिन लोगों ने सुना कि वह अचानक कुटुम्ब समेत ग़ायब है।

नगर वालों को चाहे उसके इस आकस्मिक पलायन का पता न चला हो, किंतु मुहल्ले में यह बात रात के तीसरे पहर घटित होने के बावजूद सूर्य की प्रथम किरण के साथ घर-घर फैल गयी थी। उसकी कुँवारी लड़की को बच्चा हुआ था और न जाने उसके किस शत्रु ने जाकर पुलिस

---

[१] बदनी।

को सूचना दे दी थी। पुलिस आ भी गयी थी और लड़की ने अर्ध-चेतनावस्था में कह भी दिया था कि बच्चा उसके पिता का है। लेकिन रुपये से पुलिस का मुँह बन्द करके सुबह होते-होते वह भाग गया था। पत्नी तो यह दिन देखने से बहुत पहले ही मर चुकी थी, हाँ, एक वृद्धा बुआ उसके दूसरे बच्चों को सम्हाले हुए साथ ही चली गयी थी।

फिर सुना कि उसने बाहर ही अपनी इस लड़की को किसी योग्य, लेकिन जरूरतमन्द वर के हाथों सौंप दिया है। फिर कुछ समय तक उसका पता नहीं चला। हाँ, उसके किसी-न-किसी ऋणी को किसी-न-किसी तीर्थ से तगादे के पत्र बराबर आते रहे और लोगों की यह धारणा बनती गयी कि वह तीर्थ-यात्रा कर रहा है और अभी काफ़ी अर्से तक जालन्धर वापस न आयेगा। लेकिन मुहल्ले वालों के अचम्भे की कोई सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि उस घटना के दो वर्ष बाद ही एक दिन वह अचानक अपने घर में आ गया और लोंगों से बड़े तपाक से मिला। किसी के सामने उसकी आँख नहीं झुकी, किसी से उसने मुँह नहीं छिपाया और ग़रीबी की विवशता से नेक बने रहने वाले ईर्ष्यालू लोगों ने यह भी देखा कि उसने कुछ ही दिनों में पूर्ववत् मुहल्ले के चौधरी का स्थान सम्हाल लिया।

अपने पिता के इस घनिष्ठ मित्र के सम्बन्ध में ये सब बातें एकदम याद आ जाने से चेतन ने कहना चाहा—'न जाने यह कमीना देसराज कब हमारा पीछा छोड़ेगा?' पर शब्द उसके ओठों तक ही आकर रुक गये, क्योंकि जहाँ तक उसके पिता या उनके मित्रों का सम्बन्ध था, उनके बारे में किसी तरह की कटु बात सुनना भी चेतन की माँ पाप मानती थी।

तब मन-ही-मन देसराज को बीसियों गालियाँ देकर चेतन ने अपने दिल का सारा क्रोध निकाल लिया और अपनी माँ के अज्ञान, अन्ध-श्रद्धा तथा पतिव्रत-धर्म पर मन-ही-मन तिरस्कार पूर्वक हँस भी लिया।

———

१३

रही चेतन की माँ, सो वह उन पतिव्रता स्त्रियों में से थी, जिनके मस्तिष्क धर्मशास्त्रों, पंडितों और पुरोहितों ने बुरी तरह जकड़ रखे हैं। स्वर्ग पाने के लिए ही वे पति को परमेश्वर समझती हों, यह बात नहीं। बचपन ही से उन्हें बताया जाता है कि पति अन्धा, काना, लूला, लँगड़ा, निर्धन, शराबी, जुआरी—कैसा भी क्यों न हो, पत्नी के लिए वह परमेश्वर है, उसकी अवज्ञा करना महापाप है। इसलिए पतिव्रत-धर्म उनके स्वभाव का एक अंग बन जाता है।

उसके पिता पं० शिवराम मिश्र होश्यारपुर में पंडिताई करते थे। उनकी पहली पत्नी चेतन की माँ को छोड़कर तब ही मर गयी थी जब वह केवल तीन वर्ष की थी। उसके पिता घर से अत्यन्त विपन्न थे, यजमान भी उनके इतने अधिक न थे। इसलिए दूसरी जगह उनका विवाह शीघ्र न हो सका था। बात तो कई जगह लगी, लेकिन हमारे इन प्राचीन मुहल्लों में जहाँ जोड़ने वाले दो हैं, वहाँ तोड़ने वाले चार। इसलिए बात लगने को होकर भी कई बार टूट गयी। अन्त में उसकी माँ की मृत्यु के

पूरे सात वर्ष बाद जब उसके पिता एक दिन प्रकट किसी दूसरे की बारात में शामिल होने के लिए गये थे और उसके ताऊ ने उसके लिए कई तरह की चीज़ें ला देने का वादा भी किया था तो आश्चर्य-चकित बालिका ने देखा था कि विवाह से मिलने वाली मिठाई आदि की गठरी के स्थान पर वे स्वयं बहू को ही ले आये थे।

उस समय हर्ष-उल्लास और कई हैरान कर देने वाली रस्मों और बधाइयों के मध्य उसकी बुआ ने उसके बार-बार पूछने पर कहा था—
"यह तेरी नयी माँ है।"

अपनी सगी माँ के सम्बन्ध में लाजवती को (यही चेतन की माँ का नाम था) कुछ अधिक ज्ञान न था। बहुत हल्का-सा, जैसे युगों पहले देखे स्वप्न-का-सा, अपनी माँ का चित्र उसकी आँखों के सामने आया करता था। शायद पिता के रूखे व्यवहार के कारण स्नेह-विहीना लड़की की कल्पना ने उसकी माता का चित्र उसके मानस-पट पर बना दिया था। उसे कुछ ऐसा आभास था जैसे उनके अँधेरे आँगन में, जहाँ सील का सदैव राज्य रहता था और ऊपर से खुला रहने पर भी जहाँ प्रकाश कम ही आ पाता था, एक खाट पर मैली-सी, कहीं धर्मशांति अथवा शुद्धि में आयी हुई रजाई में लिपटी उसकी माँ पड़ी है—पीला ज़र्द चेहरा, पिचके कल्ले, पपड़ियों-जमे ओठ, बन्द होती-सी आकांक्षा और ज्वर के ख़ुमार से भरी आँखें और काँपता-सा हाथ जो उसने उसके सिर पर रखा था। उसके सिर पर प्यार का हाथ रखते हुए अपने सूखे ओठों से उसने कुछ कहा भी था। पर वह सब उसे याद नहीं। यह चित्र कई बार चेतन की माँ ने देखा था। उसने यह भी देखा था कि जब उसकी माँ ऐसे पड़ी थी और उसके सिर पर हाथ रखे अस्फुट स्वर में कुछ कह रही थी तो उस अँधेरे आँगन के साथ लगी, धुएँ भरी कोठरी में उसके ताऊ चाय आदि पीकर बैठे हुए अपनी कभी न दम लेने वाली गुड़गुड़ी से मन बहला रहे थे।

जब-जब कष्ट, उपेक्षा, निरादर, स्नेहाभाव के कारण चेतन की माँ विह्वल हुई, अपनी माँ की यही मूर्ति उसके सामने आती रही और उसके हृदय को शांति मिलती रही।

लेकिन उसकी यह नयी माँ तो उसकी समवयस्क ही थी, बहुत होगा दो एक वर्ष बड़ी होगी। देहात की होने के कारण कुछ बड़ी-बड़ी लगती थी। चौड़े-चौड़े हाथ-पाँव, खुले-खुले बेडौल अंग, लम्बी-मोटी नाक, स्वस्थ शरीर और साँवला रंग! एकदम असभ्य और गँवार थी। न उसे बाल बाँधने का सहूर था न कपड़े पहनने की तमीज़! नाम था मालाँ (मालिन का संक्षिप्त) और वह प्रयत्न करने पर भी इस नाम के अतिरिक्त 'माँ' या 'भाभी' या 'बीबी' कहकर उसे न बुला सकी थी।

दबे-दबे, घुटे-घुटे माँ-बाप के स्नेह से वंचित बच्चों की बुद्धि या तो बिलकुल जड़ हो जाती है या फिर उसमें एक असाधारण प्रखरता आ जाती है। बचपन में चेतन की माँ की बुद्धि भी तीक्ष्ण थी, अल्प वयस ही में वह बहुत कुछ समझने-सोचने लगी थी। उसकी सहेलियाँ पास के मुहल्ले की पाठशाला में जातीं, पर उसे स्कूल जाने की मनाही थी। आज-कल की भाँति शिक्षा व्यापक न हुई थी और पुराने विचारों के उसके पिता और ताऊ इतनी बड़ी लड़की का घर से बाहर निकलना बुरा मानते थे। लेकिन चेतन की माँ ने अपनी सहेलियों की पुस्तकों ही से उनका पढ़ा हुआ पाठ पूछ-पूछकर बहुत कुछ सीख लिया था, यहाँ तक कि एक दिन उसने जगदीश के सारे किस्से उससे लेकर पढ़ डाले थे।

जगदीश उसके फूफा का लड़का था। वहीं रहा करता था। पढ़ता-पढ़ाता तो कुछ न था, पर किस्सा जो भी नया छपता ख़रीदकर घर ले आता। एक दिन इन्हीं किस्सों में से एक को पं० शिवराम ने अपनी लड़की के हाथ में देख लिया। तब ढूँढ़-ढूँढ़कर सब किस्सों को तो उन्होंने आग लगा दी और साथ ही लड़के को भी पिता के घर भेज दिया, और चेतन

की माँ को इतना फटकारा कि वह रो दी थी। उन किस्सों में क्या बुराई है, यह तब उस सरल, निरीह, भोली-भाली बालिका को मालूम न था।

अपने लड़के का यह अपमान देखकर बुआ ने पहले तो ताने दिये कि अब जब नयी बहू आ गयी है तो उसकी क्या आवश्यकता है, फिर अभिशाप दिया कि इस गँवार बहू के हाथों उसका घर चौपट हो जायगा, फिर रोयी और अपने घर चली गयी।

तब पढ़ाई छोड़कर चेतन की माँ ने अपना ध्यान सीने-पिरोने और कशीदे की ओर लगाया था। अपनी सहेलियों ही से पूछ-पूछकर उसने बहुत कुछ सीख लिया था। यह बुद्धि और यह सब सलीक़ा उसने अपनी इस समवयस्क विमाता को सुसंस्कृत बनाने में खर्च करना शुरू कर दिया था। उसके बाल वही गूँधती, उसे कपड़े वही पहनाती, उसे सीना-पिरोना वही सिखाती और इस तरह अपनी 'माँ' को योग्य बनाने का प्रयास करती। लेकिन न पिता ने इस काम के लिए उसकी प्रशंसा की और न माता बन-कर आने वाली इस समवयस्क लड़की ने। पिता कठोर थे और उस माता को प्रशंसा करने की तमीज़ ही न थी।

लेकिन चेतन की माँ इतने ही से प्रसन्न थी कि एक दिन पंडित शादीराम से उसका विवाह हो गया।

यह ठीक है कि विवाह के बाद तत्काल वह ससुराल न गयी, और पुरानी प्रथा के अनुसार तीन वर्ष और अपने मायके में रही। किंतु इन तीन वर्षों में लड़की से वधू बन जाने पर भी उसके दैनिक जीवन में कोई अंतर नहीं आया। हुआ केवल इतना कि घर में उसका जो थोड़ा बहुत मान था, वह भी कम हो गया।

बात यह हुई कि उसके चाचा का विवाह भी इस बीच में अमृतसर में हो गया और उसकी चतुर चाची ने आते ही उसकी विमाता को अपने वश में कर लिया। इसलिए जब तीन वर्ष बाद एक दिन अचानक पं०

शादीराम उसे लेने पहुँचे तो उसे दुःख नहीं हुआ। उसकी आँखें भर आयी थीं, और चलते समय वह रोयी भी ख़ूब थी। पर यह रोना उस ख़ुशी के लिए न था जो मायके में लड़कियों को प्राप्त होती है, बल्कि उस ख़ुशी के अभाव के लिए था।

तभी जब वह ताँगे में बैठी थी और पिता ने ठंडे प्यार का हाथ उसके सिर पर फेरा था तो चेतन की माँ के सामने सीलदार आँगन के अँधेरे में पड़ी अपनी उस रोगनी माँ का चित्र घूम गया था और उसने दुपट्टे से मुँह ढाँप लिया था।

जिस मकान में लाकर पं० शादीराम ने उसे ठहराया था वह उनका अपना मकान न था। सहज-ज्ञान ही से चेतन की माँ ने यह जान लिया था। क्योंकि मायके में अपनी ससुराल के पुराने जीर्ण-शीर्ण घर के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ भनक उसके कान में पड़ चुकी थी और मन-ही-मन उसने निश्चय भी कर लिया था कि बुरा तो, भला तो, जो भी हो, वह उसे ही स्वर्ग समझेगी। इसलिए उसने अपने पति से इच्छा प्रकट की थी कि जैसा भी हो, वह अपने ही घर जायगी। जब सदा दूसरे के घर नहीं रहा जा सकता और एक दिन अपने घर जाना ही है तो क्यों न अभी से वहाँ रहने का स्वभाव डाला जाय।

और जब जीर्ण-शीर्ण ड्योढ़ी से गुज़रकर (पैरों की आहट ही से जिसकी छत और दीवारों की मिट्टी गिरती थी) वह आँगन में गयी तो कुछ क्षण मूक मर्माहत-सी खड़ी रह गयी थी। मायके में उसके पिता का घर भी पुराना ही था, अँधेरा भी था और सील-भरा भी। सुन्दर वह कभी भी न था। लेकिन वह घर तो था। यह—यह तो खंडहर था!

आँगन कूड़े-करकट से अटा पड़ा था। कहीं कोयले बिखरे थे, और कहीं-कहीं कौवों तथा चीलों द्वारा आकाश से फेंकी हुई हड्डियाँ। सामने

के दालान की दीवार में छोटी-छोटी ईंटें साफ़ दिखायी दे रही थीं—मिट्टी शायद वर्षा से धुल गयी थी। रसोई-घर के किवाड़ जर्जर थे और कुंडी लगी रहने पर भी दोनों किवाड़ों के बीच इतनी जगह बन जाती थी कि पूरी की पूरी बाँह अन्दर बड़ी सुगमता से जा सकती थी। चूहे तो क्या, बिल्ली भी चाहे तो तनिक सिकुड़कर घुस सकती थी। इसी दरवाज़े से निकलकर धुएँ ने रसोई-घर के बाहर की दीवार को बिलकुल काला कर दिया था। बायीं ओर का दालान काला पड़ा था और गिरी हुई छत का मलबा और कोयले दरवाज़े से बाहर तक आ गये थे। इसके साथ ही डयोढ़ी की ओर को एक बिना किवाड़ों का खुला रसोई-घर और था। आँगन की मुंडेर निरन्तर वर्षा और लिपायी-पुतायी के अभाव के कारण नंगी हो गयी थी और सामने दालान की मुंडेर पर एक बिलकुल नंग-धड़ंग व्यक्ति एक टाँग इधर और एक टाँग उधर किये बैठा शून्य ही से बातें कर रहा था। हाथों को एक दूसरे के पास लाकर उनसे हवा में आदमी बनाता हुआ दाँत किटकिटाकर 'लोहे का आदमी, लकड़ी का आदमी, जा!' कहता हुआ वह शून्य में बने हुए उन आदमियों को न जाने किधर उड़ा रहा था।

क्षण भर के लिए चेतन की माँ उस मिट्टी-सने, जैसे वर्षों से स्नान-वंचित उस व्यक्ति को देखती रही। उसने पति के यह शब्द, 'चुन्नी है पागल' नहीं सुने। तभी उस पागल ने उनकी ओर देखा और दाँत किटकिटाकर लोहे तथा लकड़ी के दो आदमी बनाकर उनकी ओर छोड़ दिये। चौड़ा मस्तक, चपटी मोटी नाक, ओठ कटे होने के कारण बाहर दिखायी देते दाँत, खड़े-खड़े रूखे बाल, काली नंगी स्वस्थ देह!—डरकर चेतन की माँ दो क़दम पीछे हट गयी थी।

तब उसके पति ने छत पर जाकर उस पागल को भगा दिया और आकर तनिक उल्लास से बताया कि वह उनका पागल चचा है और यह जला दालान और खुला रसोई-घर भी उसी का है, और उसी ने पागलपन

की झोंक में इस दालान को आग लगा दी थी। फिर कुछ गर्व के साथ उसके पति ने कहा था—"बस डरता है तो मुझी से। यह नाक इसकी मैंने ही तोड़ी है। एक दिन यह घर से जाता न था, दादी को तंग करता था। मैंने जाने को कहा तो मुझ पर भी झपटा। पटककर मैंने इसे उस किवाड़ की चौखट पर दे मारा। मेरा बायाँ हाथ इसके हाथ में आ गया। किचकिचाकर दाँतों में इसने पकड़ लिया। मैंने कहा—'छोड़!' इसने और भी दाँत गड़ा दिये। तब पूरे ज़ोर से तानकर दो घूँसे मैंने इसके रसीद किये। नाक की कोठी टूट गयी और ओठ फट गये। दादी को सब से अधिक इसी पागल से प्यार है। वह बहुत रोयी पीटी, किंतु जो भी हो, फिर यह कभी मेरे सामने नहीं हुआ।"

और यह कहकर प्रशंसा पाने की इच्छा से पंडित शादीराम ने अपनी इस नव-परिणीता पत्नी की ओर देखा। लेकिन चेतन की माँ का मुख पीला पड़ गया और वह सहमी हुई-सी अपने इस क्रूर पति को देखती रह गयी थी।

तब कुछ अप्रतिभ से होकर पंडित शादीराम ने कन्धे झाड़े थे और चारों ओर निगाह दौड़ाकर कहा था, "मैंने तुम्हें बताया था न कि घर तो बस खँडहर ही है।"

और वे खिसियानी-सी हँसी हँसे थे।

चेतन की माँ के चेहरे का रंग वापस आ गया था, और अपना निश्चय भी उसे स्मरण हो आया था—'मेरे लिए यही स्वर्ग है।' यह कहकर वह आगे बढ़ी थी।

और फिर कपड़े बदलकर आँगन को झाड़-बुहार, कोयलों, हड्डियों और कूड़े-करकट का अम्बार उसने एक कोने में लगा दिया था, और दालान में भी सफ़ाई करके एक चारपाई के लिए थोड़ी-सी जगह बना ली थी।

यहीं उसकी सुहागरात बीती थी।

इसके बाद अब तक उसके दिन कैसे गुज़रे थे? इस प्रश्न के उत्तर में केवल इतना कहना पर्य्याप्त है कि पहले दिनों से वे कुछ भिन्न न थे। और पहले दिनों का विवरण कुछ यों है:

आठवीं श्रेणी में ही शराब पीना शुरू करके उसके पति ने अपने विवाह तक सब तरह के काम कर देखे थे। और उन लोगों में, जो स्वयं उतने शुद्ध-चरित्र नहीं होते दूसरों के चरित्र के प्रति जो एक तरह का सन्देह-सा होता है, वह पंडित शादीराम के मन में भी था। दसवीं कक्षा तक वे पढ़े थे। वास्तव में उन दिनों बी० ए० तक कोई विरला ही युवक जाता था। साहित्य के नाम पर भी (अपने समय के अधिकांश युवकों की तरह) उन्होंने 'अलिफ़ लैला', 'किस्सा तूती-मैना', 'इसरारे दरबारे हरामपुर' के ढंग के उपन्यास पढ़े थे, जिनमें तिरिया चरित्र के विशद वर्णन और काम को उद्दीप्त करने वाले किस्सों के सिवा कुछ न था। इसलिए नारी के प्रति उनका सन्देह और भी गहरा था। चेतन की परदादी उन दिनों यजमानों के यहाँ दौरे पर गयी हुई थी, और स्वयं उन्हें स्कूल जाना होता था, जहाँ मैट्रिक की परीक्षा पास करते ही वे अध्यापक हो गये थे। इसलिए वे उसे उस खंडहर में बन्द करके बाहर से ताला लगा जाया करते थे।

उस खंडहर-से मकान में उसका दिन कैसे कटता था। इसके सम्बन्ध में जिज्ञासु को इतना बता देना यथेष्ट ही है कि वह किसी भारी बेचैनी अथवा उद्विग्नता से न गुज़रता था। अपने पति के इस क्रूर-व्यवहार के प्रति भी उसके मन में किसी प्रकार का असन्तोष न था। अपने कर्मफल को (क्योंकि वह इस जन्म के दुःखों तथा कष्टों को पूर्व-जन्म के कर्मों का फल ही समझती थी।) उसने सन्तोष के साथ भोगना बहुत पहले सीख लिया था। अपनी ददिया सास (परदादी गंगादेई) के हाथों दालान के

एक कोने में जमायी हुई चक्की को उसने अपने इस एकान्त की संगिनी बना लिया था। सुबह खाना बनाकर अपने पति को खिला-पिलाकर उन्हें काम पर भेजकर, (बाहर से उनके ताला लगा देने पर भी) अन्दर से कुण्डी लगाकर, वह चक्की के पास आ बैठती और दूसरे दिन के लिए आटा पीसती। कभी दायें, कभी बायें और कभी दोनों हाथों से चक्की के दस्ते को घुमाते हुए वह मीठे, तरल, लगभग आर्द्र-स्वर से गाया भी करती थी। मायके में अपने उसी फूफा के लड़के से उसने एक बार ब्रह्मानन्द के बिसुनपदों की पुस्तक मँगायी थी। बार-बार उसे पढ़ने से बहुत से भजन उसे कंठस्थ हो गये थे। उन्हें गाते-गाते वह भक्तिरस में विभोर हो जाती और भूल जाती कि वह एकाकिनी है, उसके पति बाहर से ताला लगा गये हैं, उसका घर खंडहर है, उसका वर्तमान दुःखद है और भविष्य भी उज्ज्वल नहीं। एक अनिर्वचनीय सन्तोष से उसके मन-प्राण प्लावित हो जाते थे। ब्रह्मानन्द के भजनों के अतिरिक्त वह दूसरे भी भजन गाया करती थी। जैसे :

कहो जी कैसे तारोंगे ?
रंका तारी बंका तारी तारयो सदन कसाई।
सुआ पढ़ावत गनिका तारी, तारी मीराबाई !
प्रभु जी कैसे तारोंगे ?

भजन गाते-गाते वह तन्मय हो जाती और प्रायः उसका स्वर भी सानुनासिक हो जाता (जैसे तारोगे को तारोंगे) किंतु यह उस आदर का सूचक होता जिससे वह सर्वशक्तिमान को सम्बोधित करती।

कर्म गति टारे नांहि टरे।

दूसरा गीत था जो वह चक्की पर गाया करती थी।

चक्की के बाद प्रायः वह चर्खा ले बैठती और अपने समस्त एकान्त को, अभाव को, दुःख को कात-कातकर टोकरी में बन्द कर देती। 'हीर

राँझा' या 'माही' अथवा 'ढोल' का कोई गीत गाने के बदले चर्खा कातते समय भी वह ऐसे ही गीत गाती जैसे :

हरी जी जो गुज़रे सहिए।
छोड़ खुदी की राह राजा जी
जो गुज़रे सहिए !

अपनी सहेलियों से पूछ-पूछकर उसने जो थोड़ा बहुत पढ़ना सीख लिया था, इस एकान्त में वह भी उसके कम काम नहीं आया। कभी जब घर में रुई अथवा लोगड़[1] कुछ भी न होता, वह भगवद्गीता ले बैठती। उसके दर्शन को वह ठीक तरह समझ पाती हो, यह बात नहीं, उन श्लोकों को वह ठीक तरह पढ़ पाती हो, यह भी नहीं, वह तो पाठ के तौर पर उसे पढ़ा करती। इस पुस्तक के श्लोक तोते के मुँह से सुनने पर जब गणिका तर गयी तो वह पापिन क्यों न तर जायगी। उसने वास्तव में कोई पाप किया हो, यह बात न थी। किंतु उसने सीखा था कि न जाने दिन में मनुष्य से कितने पाप बन आते हैं, इसलिए जहाँ तक हो डरकर रहना चाहिए।

इसी तरह उसका दिन बीत जाता था और कभी वह खाना पका रही होती और कभी खाना पक चुका होता, जब पंडित शादीराम आते। उनका समय पर आ जाना कुछ निश्चित न था। उसके इस आरम्भिक जीवन में (और बदली हुई पार्श्वभूमि के साथ बाद में भी) ऐसे बहुत से दिन आये जब वह खाना पकाकर अपने पति की प्रतीक्षा में भूखी प्यासी बैठी रही और वे रात-रात भर नहीं आये।

अभी उसे इस क़ैदखाने में बन्दी हुए अधिक दिन नहीं बीते थे कि संकट चौथ का व्रत आ गया। चेतन की माँ के लिए यह बड़ा महत्वपूर्ण व्रत था। जब संध्या को आकर पं० शादीराम ने किवाड़ खोले तो दिन भर

---

[1] रूहड़=लिहाफ की पुरानी रुई।

की भूखी प्यासी लाजवती ने अपने पति से कहा कि वह व्रत से है और वे तिल और गुड़ ला दें ताकि वह भुग्गा (गज़क) बनाकर गणेश की पूजा करके व्रत उपार ले और फिर उसने यह भी प्रार्थना की कि संध्या को कम-से-कम आज वे कहीं न जायँ।

पं० शांदीराम ने उसे विश्वास दिलाया कि वे ऐसा ही करेंगे और जल्दी ही आने का वादा करके प्रकट उसके लिए तिल लेने चले गये। लाजवती ने उनके लिए खाना आदि पका लिया और फिर वह वहीं रसोई-घर के बाहर आँगन में बैठी उनकी प्रतीक्षा करने लगी। धीरे-धीरे संध्या का अँधेरा आँगन में छा गया। सामने के मकान की ऊँची और निरन्तर वर्षा के कारण काली पड़ जाने वाली दीवार संध्या के अँधेरे में और भी काली दिखायी देने लगी और उस दीवार की छत पर लगी हुई कौवों की सभा भी विर्सजित हो गयी। ऊपर निरभ्र आकाश पर एक दो तारे निकल आये। लाजवती ने उठकर सरसों के तेल का दिया जलाया और उसे रसोई-घर में रखकर नमस्कार किया। फिर वह प्रतीक्षा में मोढ़े पर बैठ गयी।

वहीं बैठे-बैठे तब उसने संकटमोचन दुःखहरन श्री गणेश की आराधना आरम्भ कर दी और अगणित बार

जय गणेश जय गणेश जय गणेश देवा

का पाठ भी कर लिया। जब फिर भी पंडित जी न आये तो वह मन-ही-मन उस कहानी[१] को दुहराने लगी जो संकट चौथ के दिन ब्राह्मणी सुनाया करती थी। वहाँ ब्राह्मणी तो क्या आती, मन-ही-मन स्वयं उसने वह कहानी दुहरायी।

---

[१] एक बार भगवती पार्वती नहाने गयीं। भगवान् शंकर कहीं बाहर गये थे। देवी पार्वतो ने अपने पुत्र को स्नानगृह के दरवाज़े पर खड़ा किया

मन-ही-मन में इस कहानी को दुहराते हुए, अन्त पर पहुँचकर चेतन की माँ ने श्रद्धा से गणेश भगवान् का ध्यान कर सिर झुकाया और एक-चित्त होकर प्रार्थना की कि उसके समस्त संकट दूर हो जायँ।

वहीं बैठे-बैठे उसने व्रत के माहात्म्य के सम्बन्ध में भी सब कहानियाँ मन में दुहरा डालीं। किंतु पं० शादीराम न आये। उधर अर्घ्य का समय हो गया। अब घर में स्वच्छ पवित्र जल नहीं था, जिससे चन्द्रमा को अर्घ्य

और कहा कि किसी को आने न देना। तब ऐसा हुआ कि भगवान् शिव बाहर से आये। पुत्र ने पिता को रोक दिया। भगवान् ने समझाया कि बेटा मैं तेरा पिता हूँ, तेरी माता का पति हूँ, मेरे जाने से कुछ हानि नहीं, पति-पत्नी में कोई पर्दा नहीं होता आदि-आदि, पर पुत्र न माना। इस पर भगवान् शिव ने क्रोध में आकर उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। जब देवी पार्वती बाहर आयीं तो अपने प्रिय पुत्र को मृत देखकर विलाप करने लगीं। तब उन्हें इस तरह कातर होते देखकर भगवान् शिव को उन पर दया आयी और उन्होंने वचन दिया कि अच्छा हम इसे जीवित कर देंगे। पार्वती को यों ढाढ़स बँधा। भगवान् ने अनुचरों को आज्ञा दी कि रात के समय जिस पुत्र की माँ उसकी ओर पीठ करके सोयी हुई हो, उसका सिर काट लायें। अनुचर समस्त मर्त्यलोक में घूमे, पर कोई भी ऐसी माता न मिली जो अपने पुत्र की ओर पीठ करके लेटी हो। अन्त में उन्हें एक ऐसी हथिनी मिल गयी, जिसकी पीठ अपने शिशु की ओर थी। अनुचर उसके बच्चे का सिर काट लाये। भगवान् शिव ने अपने मृत पुत्र के धड़ पर वह सिर लगाकर मन्त्र पढ़ा और उसमें जान पड़ गयी।

पार्वती जी ने इस लम्बी सूँड़ वाले गजानन को देखा तो वे और भी दुखी हुईं। तब फिर भगवान् शिव ने उन्हें सान्त्वना दी और वर दिया कि जो इस दिन गणेश पूजा करेगा उसके सब संकट दूर हो जायेंगे।

दिया जाय। डरते-डरते वह ड्योढ़ी में गयी कि दरवाज़े में खड़ी होकर सामने के मकान में रहने वाली ब्राह्मणी मलावी को आवाज़ दे। अन्दर से कुण्डी खोलकर वह दरवाज़े से सिर लगाये कितनी देर तक खड़ी रही, किंतु उसे आवाज़ देने का साहस न हुआ। आखिर उसने सिर हटाया, किवाड़ अन्दर को खुल गया, क्योंकि पंडित जी का ख़याल था कि वे शीघ्र आ जायेंगे, इसलिए वे ताला लगाकर न गये थे।

सामने के मकान का दरवाज़ा बन्द था। मुहल्ले के सिरे पर म्यूनिसिपेलिटी का जो लैम्प जलता था, उसका प्रकाश उनके दरवाज़े तक न पहुँचता था। उस अँधेरे में खड़े-खड़े उसने कई स्त्रियों को आते-जाते देखा, पर जान-पहचान न होने के कारण वह किसी को बुलाने का साहस न कर सकी—सूखे ओठ, सूखा कंठ और थका शरीर लिये हुए वह वहीं खड़ी रही। तभी मलावी अपने घर आयी, किवाड़ खोलकर उसने दिया जलाया और बहू को अपने घर की चौखट से लगी खड़ी देखा। पास आकर उसने कहा—

"शादी की बहू है, क्या बात है बच्ची, तू ऐसे क्यों खड़ी है?"

चेतन की माँ पहले कुछ न कह सकी। पुनः पूछने पर रुँधे गले से उसने कहा कि उसे कुछ जल चाहिए ताकि वह व्रत उपार सके।

मलावी ने उसे सहर्ष पानी ला दिया था और यह भी बता दिया था कि वह (पं० शादीराम) तो देसराज के यहाँ बेहोश पड़ा है। उसके आने की बाट वह कब तक जोहेगी? अपनी ओर से उसने यह प्रस्ताव भी किया था कि यदि भुग्गा न बना हो तो वह बाज़ार से उसे दूध ही ला देती है। पर चेतन की माँ का मन ऐसा खिन्न था कि चन्द्रमा को अर्घ्य देकर पानी के दो घूँट पीकर ही उसने व्रत उपार लिया, मलावी को विदा दी और ड्योढ़ी का दरवाज़ा लगाकर रसोई-घर में आ बैठी। समय काटने के लिए उसने

संकटमोचन दुःखहरन कुम्भोदर भगवान् गजानन का जाप आरम्भ कर दिया था।

जय गणेश जय गणेश जय गणेश देवा

न जाने कब वहीं बैठे-बैठे, जाप करते-करते वह ऊँघ गयी थी। आधी रात के लगभग पं० शादीराम ने नशे में चूर थरथराती आवाज़ में पुकारा था—'दरवाज़ा!'

चौंककर चेतन की माँ ने लपककर दरवाज़ा खोला था, और उनके अन्दर आने पर बन्द कर दिया था। तब वे उसे बग़ल में लिये नशे से लड़खड़ाते, अन्दर अँधेरे दालान में आये थे। सरसों के तेल का एक दिया ताक़ में पड़ा टिमटिमा रहा था। कच्ची मिट्टी और सील की बू आ रही थी। उसी दिये के प्रकाश में जब उसने अपने पति की आँखों में वासना और मद की झलक देखी तो उपवास, भूख और उनींदे से थकी उसकी आत्मा काँप उठी थी।

लेकिन दूसरी सुबह जब उसने शिकायत के स्वर में पंडित जी से कहा कि वे उसे अकेली छोड़कर तिल लेने का बहाना करके चले गये और वह बैठी प्रतीक्षा करती रही और उसे मलावी की सहायता लेनी पड़ी . . .तो वह बात पूरी भी न कर पायी थी कि उसके पति ने सहसा उसके मुँह पर एक थप्पड़ जमा दिया था। ऐसी गालियाँ देते हुए, जो उसने पहली बार ही सुनी थीं, उसे डाँटा कि यदि वह एक दिन भूखी रह लेती तो मर न जाती, उनके आने की प्रतीक्षा उसने क्यों न की? और क्यों उसने मलावी को बुलाया? तब चेतन की माँ ने अपने पति के पाँवों पर झुककर क्षमा माँग ली थी और वचन दिया था कि वह भविष्य में कभी ऐसा अपराध न करेगी।

लेकिन उसके इस अपराध का दंड यहीं समाप्त न हो गया था। परदादी गंगादेई जब आयी और उसे मालूम हुआ कि उसकी अनुपस्थिति

में मलावी उसके घर आयी थी तो बहू को दिन भर डाँटने-डपटने के बाद उसने मलावी और उसके घर वालों की सात पुश्तों का नाम लेकर अत्यन्त 'मीठे वचनों' की वर्षा की थी—और सहमी हुई बहू ने देखा था कि उसकी ददिया सास जब नहाने लगती है तो मलावी और उसके मृत पति का नाम लेकर दुराशीशें देती है—चेतन की परदादी गंगादेई का विश्वास था कि नहाते समय की दुराशीश ऐन निशाने पर बैठती है।

अपनी ददिया सास से लाजवती की यह पहली भेंट थी।

बाद के इन लम्बे तीस वर्षों में पहले परदादी गंगादेई और फिर चेतन के पिता के हाथों चेतन की माँ ने अगणित ऐसी ही यातनाएँ सहीं। इच्छा न होने पर भी वह अपनी ददिया सास के समस्त पूजा-पाठ, व्रत-नियम, पीर-फ़कीर, रस्म-रिवाज मानती रही, उनकी डाँट-फटकार सुनती रही, मानसिक और शारीरिक यातनाएँ सहती रही, और यह सिलसिला तब तक जारी रहा जब तक इस क्रूर ददिया सास की मृत्यु ने चेतन की माँ को इन सब यातनाओं से मुक्त न कर दिया।

रहे उसके पति तो बचपन में अपनी माँ की मृत्यु पर उन्होंने अपनी इसी दादी का दूध पिया था (कम-से-कम परदादी गंगादेई यही कहा करती थी कि उसके स्तनों में तब दूध उतर आया था) फिर यह कब सम्भव था कि स्वभाव की क्रूरता उनमें न होती। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा व्यसन न था जो उन्होंने न लगा रखा हो। शराब वे रोज़ पीते, दीवाली के दिनों में जुआ खेलते (और शराब पीकर खेलने के कारण सदैव हारते), सट्टा वे लगाते, और दूसरे बीसियों तरीकों से रुपया लुटाते। फिर ऐसे अवसरों की कमी न थी जब वे दूसरी स्त्रियों को घर ले आये और उनके सामने (उनके कहने पर अथवा उन्हें प्रसन्न करने के हेतु) उन्होंने चेतन की माँ को निर्दयता से पीटा। आयु भर (स्कूल की मास्टरी छोड़ रेलवे में तार बाबू, असिस्टेंट और फिर स्टेशन मास्टर बनने पर भी) कभी उसे भड़कीला कपड़ा नहीं

पहनने दिया। कभी भूल से वह छत पर चली गयी तो चरित्रहीनता के बीस ताने उसे दिये, कभी घूँघट ऊँचा किया तो बीस गालियाँ दीं और एक बार उसे गली में देख लिया तो वहीं से घसीटते हुए अन्दर ले गये।

लेकिन इतने पर भी चेतन की माँ ने अपने इस निर्दय पति को अपनी समस्त आस्था, समस्त श्रद्धा, समस्त प्यार, समस्त आदर-सत्कार दिया। स्वप्न में भी उनका बुरा न सोचा (यह अत्युक्ति नहीं, धर्म और कर्म की ज़ंजीरों में जकड़ी ऐसी अनेक स्त्रियाँ इस पुण्य-भूमि भारत में मिल जायँगी।) सदैव उनकी समृद्धि और उन्नति के लिए अनुष्ठान कराये, प्रति वर्ष जालन्धर के प्रसिद्ध ज्योतिषी पंडित आत्माराम से वर्षफल बनवाकर जप करवाये, सत्यनारायण की कथाएँ करायीं, पति की दीर्घायु की कामना से सब व्रत रखे, समय-कुसमय आत्माभिमान को तज उनकी सहायता की, उनके कारण चौदह वर्ष अपने पिता का मुँह न देखा (जिसने एक बार उनकी निन्दा की थी) और अन्य लोग तो दूर रहे, कभी अपने बच्चों से भी अपने पति की बुराई नहीं सुनी।

१४

संध्या को मुहल्ले में अभी म्यूनिसिपेलिटी का आदमी लैम्प में तेल डालकर गया ही था (सारे जालन्धर में विजली का प्रकाश हो जाने पर भी कल्लोवानी में १९४० तक मिट्टी के तेल का लैम्प ही धुँधला प्रकाश देता था) कि चेतन ने थककर कलम-दवात और कापी अलमारी में रखकर किवाड़ लगाये। दिन भर वह कविता लिखने का प्रयास करता रहा था और जब असफल रहा था तो उसने एक कहानी भी लिखनी शुरू की थी, पर कभी बस्ती वाली उस चन्दा का और कभी पुरियाँ मुहल्ले वाली उस कुन्ती का ध्यान आ जाने से उसकी विचार-धारा टूट-टूट गयी थी। इसलिए कविता तथा कहानी लिखने में उसे जो सफलता मिली थी, उसकी गवाही कापी के कटे-फटे पृष्ठ देते थे।

ज्योंही कापी, कलम और दवात आलमारी में बन्द करके वह ऊपर पहुँचा और उसने देखा कि सारा दिन प्रतीक्षा करके अब दो कौर खाकर माँ बर्तन मल रही है कि उसी समय बाहर से उसके पिता की कड़कती आवाज़ आयी, "चेतन!"

आँगन के एक ओर जो थोड़ी-सी जगह छती हुई थी वहाँ चिड़ियों ने एक घोंसला बनाया था और बच्चे भी दिये थे। उस कर्कश आवाज़ को सुनकर वे फुर से उड़ गयीं और घोंसले में बच्चे 'चीं-चीं' करने लगे। माँ के हाथ से बर्तन छूट गया और उसने (हाथ राख से सने होने के कारण) अँगुलियों के जोड़ों से धोती घुटनों पर कर ली और चेतन ने समझ लिया कि आज बाज़ार शेख़ाँ के ठेकेदार की जेब खूब गर्म हुई है।

तभी फिर आवाज़ आयी—"चेतन!"

नशे के कारण कुछ काँपती हुई, पर ख़ूब ऊँची, कड़ी, घरघराती आवाज़! चेतन नीचे भागा और माँ जल्दी से उठकर लैम्प जलाने लगी।

ऐसे अवसरों पर सदैव माँ के हाथ-पाँव फूल जाते थे और पास पड़ी हुई चीज़ भी उसे दिखायी न देती थी। उस समय भी माँ को दियासलाई की डिबिया न मिल रही थी। आख़िर जब वहीं ताक में पड़ी वह मिल गयी और उसने लैम्प जलाना आरम्भ किया तो सीढ़ियों पर भारी-भारी क़दम रखते हुए पं० शादीराम ऊपर आ पहुँचे। शलवार जो सुबह ही पहनी थी, बेढंगी और मैली-कुचैली हो गयी थी। कमीज़ के बटन खुले थे। छाती के दो चार श्वेत बाल दिखायी दे रहे थे और पगड़ी बग़ल में दबी थी।

मूछों को तनिक ऊपर चढ़ाते हुए उन्होंने स्निग्ध-कोमल-दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देखा।

"ऐ जी..... !"

पत्नी वहीं लैम्प छोड़कर उठ खड़ी हुई।

"ज़रा चारपाई बिछा दो!"

चेतन की माँ का दिल और भी धक-धक करने लगा। पंडित शादीराम जितने दिन घर आकर व्यतीत करते थे, माँ का दिल धड़कता रहता था। नशे में उनके चित्त की अस्थिरता की हद न रहती—अभी हँस रहे होते कि अभी सिर फोड़ने-फोड़वाने पर तुल जाते। वह डर रही थी और मन-ही-मन

में संकटमोचन, दु:खहरण भगवान् गजानन से प्रार्थना कर रही थी कि रात कुशलपूर्वक बीत जाय। लेकिन जब उन्होंने अपेक्षाकृत कोमल स्वर में चारपाई बिछाने को कहा तब डर तथा आशंका से माँ का दिल धक-धक करने लगा।

कारण यह कि साधारणतया जब वे बाज़ार शेख़ाँ से होकर घर आते तो सीढ़ियों ही से उनकी गालियों की बौछार शुरू हो जाती—यह दिया क्यों नहीं जलाया? ...बीस बार कहा है सीढ़ियों में दिया जलाया करो! ...मेरी टाँग की हड्डी टूट गयी...चारपाई कहाँ है? ...मैं क्या तुम्हारे सिर पर बैठूँ? ...इन वाक्यों में अर्ध विरामों के स्थान पर गालियाँ होती थीं। इस प्रकार धीरज से वे तभी बात करते थे, जब वे खुश होते या उन्हें जुए के लिए, किसी को देने के लिए या किसी और काम के लिए रुपये की ज़रूरत होती।

जब चारपाई बिछा दी गयी और पगड़ी को दीवार के साथ सिर के नीचे रखकर वे लेट गये और माँ ने लैम्प जलाकर खूँटी पर टाँग दी तो उन्होंने चेतन की माँ से कहा कि ज़रा उनकी बात सुने।

जब वह सहमी हुई-सी पायँते के पास आकर धरती पर बैठ गयी तो उन्होंने कहा कि नीचे बस्ती से पंडित वेणी प्रसाद अपने भाई पंडित दीनबन्धु के साथ आये हुए हैं। मुझे सूदा के चौक में मिल गये थे, मैंने तो 'हाँ' कर दी है।

माँ के दिल की धड़कन कुछ कम हुई और उसने कुछ और आगे खिसक-कर कहा, "ज्वाली महरी की लड़की तो कहती थी कि लड़की सुन्दर है, पर चेतन को पसन्द नहीं।"

तब पंडित जी ने पूरे ज़ोर से अपने लड़के को आवाज़ दी।

चेतन पं० दीनबन्धु और पक्षाघात के रोगी उनके भाई को नीचे

बैठक में बैठा कर साहस बटोरता और मन-ही-मन बीसियों तरह के प्रश्नोत्तर दोहराता आ रहा था।

पंडित जी ने कहा, "इधर बैठो।"

सहमा हुआ वह पायँते पर बैठ गया।

"तुमने लड़की देखी है?"

"जी हाँ!"

"उसमें क्या दोष है?"

चेतन अब क्या उत्तर दे—पिता के सामने वह कभी न हुआ था। किसी लड़की के गुण-दोषों की विवेचना करना तो दूर रहा, उसने तो कभी उनके सामने खुलकर बात तक न की थी। उसके मुँह से केवल इतना निकला, "मोटी है।"

"तो क्या सब तुम्हारे जैसे पतले-दुबले हो जायँ?"

चेतन चुप।

"कल अपनी माँ के साथ जाकर लड़की को देख आओ।"

चेतन ने जैसे रोते हुए कहा, "देखकर मैं क्या करूँगा?"

"मैं जो कहता हूँ देख आओ" पंडित शादीराम गरजे।

फिर कुछ क्षण ठहरकर उन्होंने तनिक गम्भीर होकर कहा, "देखो, मैं उन भले आदमियों को वचन दे आया हूँ, यदि लड़की में कोई दोष न हो तो साड़ी देते आना। सगुन का रुपया मैंने ले लिया है।"

फिर अचानक अपने इस इक्कीस बाइस वर्ष के 'बच्चे' को गोद में लेकर और उसका मुँह चूमकर पिता ने सहसा विनीत स्वर में कहा, "देखो बेटा, मैंने सदा तुम्हें आदेश दिया है, आज मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, यदि उस लड़की में कोई दोष न हो तो तुम मान लेना।"

इसके बाद उसे अपनी बाहों में कसकर और फिर एक बार चूमकर

मुक्त करते हुए उन्होंने अपनी पत्नी से कहा "मैं इसे डाँटता हूँ, लेकिन इसकी इज्ज़त भी करता हूँ।"

शराब के बदबूदार साँस को जैसे रूमाल से पोंछने का प्रयास करते हुए चेतन ने 'जिन्दा शहीदों' के-से भाव में कहा, "जब आपने सगुन ले लिया तो ठीक है। मैं देखने क्या जाऊँगा?"

"मैं जो कहता हूँ। मेरी ख़ुशी है!" चेतन के पिता ने फिर कड़ककर कहा "तुम कल देख आओ।"

"अच्छा जी!" भरे हुए गले से केवल इतना कहकर चेतन नीचे उतर आया। ऐसे समय में तनिक-सा इन्कार भी प्रलय मचा सकता था, इस बात से वह भली-भाँति परिचित था।

सीढ़ियाँ उतरते-उतरते एक दीर्घ-निश्वास उसके हृदय से निकल गया। उसका वह निश्चय, बस्ती में विवाह न करने की उसकी प्रतिज्ञा उसके बार-बार दोहराये हुए प्रश्नोत्तर.....कुन्ती.....

१५

इस घटना के तीन दिन बाद जब चेतन का अभिन्न-हृदय मित्र अनन्त सुबह आँखें मलता हुआ उठा (उठने का मतलब यह कि बिस्तर से उठकर चारपाई के नीचे पाँव रखने के बदले वह रज़ाई को अपने इर्द-गिर्द लपेट-कर बिस्तर ही पर पाँव सिकोड़कर बैठ गया, क्योंकि इसी को वह सुबह उठना कहा करता था और इसी प्रकार एक-दो घंटे बैठे रहना सभ्यता का पहला लक्षण मानता था) तो उसकी माँ ने आकर उसके हाथ में एक चिट्ठी रक्खी और कहा, "संध्या को चेतन आकर दे गया था। तुम तो आये रात के ग्यारह बजे, इस बीच में वह तीन बार आया, पहली दो बार केवल पूछ गया, तीसरी बार यह चिट्ठी दे गया।"

बड़ी मुश्किल से रज़ाई से पाँव निकाल उसे कन्धों पर ही लिये हुए अनन्त उठकर दरवाज़े तक आया और पत्र खोलकर सुबह के शीतल निर्मल प्रकाश में पढ़ने लगा।

ऊपर आकाश में 'बालकुटारे' उड़ानें भर रहे थे। एक गौरैया दायीं ओर की मुंडेर पर बैठी 'चीं-चीं' करती फुदक रही थी और ऊषा की लाली

का प्रतिबिम्ब सामने के मकान की छत को हल्की-सी ललाई प्रदान कर रहा था।

अनन्त ने देखा—जल्दी-जल्दी लिखे, टेढ़े-मेढ़े अक्षरों से तीन चार पृष्ठ रँगे हुए हैं—

अनन्त मैं लाहौर जा रहा हूँ। मेरी सगाई आज हो गयी। उन्हीं दीनबन्धु की लड़की चन्दा से। उस पहले दिन, जब बस्ती से वापस आकर मैंने 'ना' कर दी थी, माँ ने एक सपना देखा था। एक सुन्दर लक्ष्मी-सी लड़की वस्त्राभूषणों से आवृत उसके चरण छूने आ रही थी कि रास्ते ही से मुड़ गयी। अब माँ के सपने वैसे नहीं होंगे, पर मेरे सपने......?

रात भर मैं सो नहीं सका। यहाँ मेरी आत्मा घुटी जा रही है। कुन्ती के सम्बन्ध में मैंने जो प्रोग्राम बनाये थे वे, मेरे मन-ही में रह गये। पिता जी जब बाज़ार शेख़ाँ से होते हुए घर आयें तो फिर उनके सामने बैठकर ऐसी बात करना मेरे तो बस में नहीं। उसी शाम जब मैं तुमसे मिलकर घर पहुँचा तो दुर्भाग्य से पिता जी भी आ गये थे। उनके साथ पं० दीनबन्धु और लकवे की बीमारी में ग्रसित उनके बड़े भाई भी थे। उनको पिता जी ने वचन दे दिया और उनसे सगुन का एक रुपया भी ले लिया। फिर पिता जी का वचन, विशेषकर बाहर वालों को दिया हुआ, कभी किसी ने टूटते नहीं देखा। बहरहाल सगाई तो हो गयी। विडम्बना देखो कि उसी एक बार देखी हुई लड़की को फिर देखने गया। वहाँ क्या हुआ, यह सब तुम्हें बाद में मालूम होता रहेगा।....

वहाँ जो कुछ हुआ, उसका विवरण यद्यपि चेतन ने उस पत्र में नहीं दिया पर वह कुछ यों है :

उस रात जब चेतन के पिता ने उसे डाँटकर कहा था कि सुबह वह

माँ को लेकर लड़की देखने जाय, उसने सोचा था कि सुबह जब उसके पिता शांत होंगे और शराब का असर भी उन पर न होगा तो वह उन्हें समझा-बुझाकर सब बात कहेगा और यदि हो सका तो कुन्ती की चर्चा भी चलायेगा।

लेकिन दूसरे दिन उसके पिता रात को अधिक पी जाने के कारण नशे की खुमारी ही में पड़े रहे और उसकी माँ ने इस बीच में सेर-सेर गरी, छुहारे, बादाम, किशमिश, तालमखाने डालकर दन्दासा (रंगली दातुन) मेंहदी और मंगल सूत्र के साथ सवा छः सेर की गुथली तैयार कर ली। बनारसी साड़ी और जम्पर और उसी रंग की जुराबें और रूमाल उसने पहले से मँगवा रखे थे। अपनी दो सुनहली अँगूठियाँ तुड़वाकर बहू के सिर की सूई भी तैयार करा रखी थी। गुथली सी-सिलाकर वह हर तरह से तैयार हो गयी। फल और मिठाई भी उसने मँगा ली। जब चेतन के पिता दोपहर के लगभग उठे तो उनका मुँह-हाथ धुलवाते समय उसने उन्हें अपनी सब कारगुज़ारी सुना दी। तब चेतन के पिता ने आवाज़ देकर चेतन को आदेश दिया कि वह खाना खाकर अपनी माँ के साथ बस्ती जाय, अपने स्कूल के अध्यापक नन्दलाल से मिले और जाकर लड़की देख आये। (वे सगुन वहीं दे देंगे) और इधर से साड़ी और गुथली देकर सगाई पक्की कर आये। विवाह के बारे में पूछें तो कह दे कि दो वर्ष बाद होगा। यह कहकर वे पगड़ी बगल में दबाये हुए सीढ़ियाँ उतर गये थे। चेतन की माँ से उन्होंने इतना कहा कि खाना वे देसराज के यहाँ खायेंगे।

ये अध्यापक नन्दलाल चेतन के स्कूल ही में छठी श्रेणी को पढ़ाते थे। विचारों से आर्य-समाजी थे। उनके घर ही चेतन की भावी पत्नी को देखने का प्रबन्ध किया गया था।

बस्ती पहुँचकर चेतन ने अपनी माँ और अध्यापक नन्दलाल दोनों से फिर एक बार कहा कि मैं लड़की देख चुका हूँ, आप गुथली दे दीजिए, मैं अब फिर देखकर क्या करूँगा? लेकिन एक तो माँ अपनी इस लक्ष्मी

बहू का मुँह देखने को आतुर थीं, दूसरे वे आर्य-समाजी अध्यापक लगे हाथों सुधार का यह शुभ काम करके बस्ती भर में अपने सुधार-कार्य का डंका बजा देना चाहते थे। लड़की को भली-भाँति देखने की खूबियाँ उन्होंने बड़े उत्साह के साथ चेतन को समझायीं। बताया कि समस्त रिश्तेदारों की नाराज़गी के बावजूद उन्होंने लड़की को देखकर विवाह किया था। इसके बाद उन्होंने चेतन से अनुरोध किया कि अब जब वह आ ही गया है तो शर्म छोड़कर एक बार फिर अच्छी तरह लड़की को देख ले।

अब चेतन के लिए कोई चारा न रहा। विवश होकर उसने इस प्रहसन में भाग लेना स्वीकार कर लिया।

उन्हें बस्ती में उन अध्यापक महोदय के मकान के समीप ही एक जगह ठहराया गया। चेतन की माँ अध्यापक साहब की लड़की के साथ उनके घर चली गयी। चेतन इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि कब उसे बुलाया जाता है और कब उसके सिर से यह मुसीबत टलती है। उसका दिल प्रति-क्षण तीव्रतर गति से धड़क रहा था और उसके चेहरे का रंग भी कुछ फीका-सा पड़ता जा रहा था। तभी अध्यापक महोदय उसे लेने आ गये।

एक तंग-सी डचोढ़ी से गुज़रकर आँगन तक जाते-जाते चेतन का गला सूख गया। रंग शायद और भी फीका पड़ गया। आँगन में पहुँचकर उसने देखा कि सामने (उन अध्यापक की उपस्थिति के कारण) डेढ़ बालिश्त का घूँघट निकाले उसकी माँ बैठी है। पास ही तनकर (सुधारक की पत्नी होने के गर्व से या इसलिए कि पर्दे की रस्म उसने छोड़ रखी थी और बस्ती में शायद वही पहली स्त्री थी जिसने इतना साहस किया था) उन अध्यापक महोदय की पत्नी बैठी थी। तब चेतन को कुछ ऐसा आभास हुआ कि दायीं ओर एक चटाई पर वही मोटी-मुटल्ली लड़की बैठी है। अपनी झुकी हुई निगाहें उठाकर उसने अपनी इस भावी मँगेतर को देखने का प्रयास भी

किया पर चेतन उसे आँख भर के न देख सका। उसकी आँखों के आगे जैसे अँधेरा-सा छा गया। उसकी दृष्टि इस बरबस गले मढ़ी जाने वाली मँगेतर पर से फिसलती हुई उसके बराबर ही बैठी हुई एक दूसरी लड़की पर गयी। क्षण भर के लिए जैसे वह अँधेरा मिट गया। उसका हृदय और भी ज़ोर से धड़क उठा। उसे लगा जैसे इस लड़की को उसने पहले भी कभी देखा है। उसे याद आ गया कि जब वह बस्ती के अड्डे पर अपनी इस भावी पत्नी को देखने आया था तो माप-मापकर पग रखने वाली जिस सुन्दर लड़की को देखकर वह चौंका था, वह यही तो थी। उस निमिष-मात्र की झलक में चेतन को उस किशोरी के मुख का एक भाग, उस भाग को ज्योतिमय-सा करता हुआ मोतियों का कर्णफूल और उसकी चंचल आँखों की एक रसीली चितवन ही दिखायी दी। इसके बाद जैसे अँधेरा फिर छा गया और उसकी घबराहट बौखलाहट की हद को पहुँच गयी।

यह सब कुछ पलक झपकते हो गया था। अध्यापक महोदय ने अपनी पत्नी से कहा कि चेतन जी आये हैं और चेतन ने शायद यह कहा था कि उसे प्यास लगी है और फिर शायद पानी पीकर या बिना पानी पिये ही वह वहाँ से चला आया था।

यही वह भेंट थी जिसकी ओर अपने उस पत्र में चेतन ने इशारा किया था। आगे उसने लिखा था—

अभी तो मैं जा रहा हूँ—लाहौर! फिर कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। 'देश सेवक' लाहौर के सम्पादक पंडित दीनानाथ स्थानीय हिन्दू सभा के दफ़्तर में आये थे। मैंने उनसे अपनी साहित्यिक आकांक्षाओं का ज़िक्र किया और बताया कि मैं अपनी वर्तमान नौकरी से ऊब गया हूँ। बस, उन्होंने

वादा किया और कहा कि मेरे साथ लाहौर चलो और कोई प्रबन्ध कर दिया जायगा।

दैनिक पत्र में अनुवाद का काम अधिक होता है, मुझे वह आता नहीं। लेकिन उन्होंने साहस दिलाया है और ज़रा-सा परिश्रम करने से मैं शीघ्र ही अच्छा अनुवादक बन सकता हूँ। जब तक मैं काम न सीख जाऊँ, समाचार-पत्र के साप्ताहिक संस्करण के लिए हर सप्ताह एक कहानी लिख दिया करूँ। उस समय तक मेरे खाने-पहनने का प्रबन्ध वे कर देंगे और यदि मैं अच्छी तरह काम सीख गया तो कुछ वेतन भी मिलने लगेगा। और फिर हुनर साहब तो वहाँ हैं ही....

तुम्हारा
चेतन

और 'पुनश्च' लिखकर नीचे एक पंक्ति उसने लिखी थी कि लाहौर जाकर वह अपनी सरगर्मियों से अनन्त को अवश्य परिचित रक्खेगा।

पत्र को पढ़कर कुछ क्षण के लिए अनन्त चुपचाप खड़ा रह गया। उसकी समझ में कुछ भी न आया। पहले उसके मन में आया कि उसी समय चेतन के घर जाकर उसकी माँ से सब कुछ पूछे। फिर उसने चुपचाप जाकर चारपाई पर उसी तरह रज़ाई ओढ़कर बैठ जाना ही श्रेयस्कर समझा।

तब अनन्त की माँ ने (जो कमर पर दोनों हाथ रखे इस प्रतीक्षा में खड़ी थी कि अनन्त पत्र समाप्त कर ले तो पूछे कि चेतन ने क्या लिखा है) अपना मन्तव्य प्रकट किया।

उत्तर में अपने इर्द-गिर्द अच्छी तरह रज़ाई लपेटते हुए अनन्त ने कहा, "चेतन कल रात लाहौर चला गया है।"

"किस काम के लिए?"

"यह तो मुझे मालूम नहीं, लेकिन वहाँ नौकरी करेगा।"

"लेकिन यहाँ जो नौकर था?"

"था तो!"

"फिर क्या बात हुई?"

"यह तो मुझे मालूम नहीं।"

और उसी प्रकार कमर पर हाथ रखे, मुँह फुलाये, माँ रसोई-घर की ओर चल दी और अनन्त ने रज़ाई को अच्छी तरह अपने इर्द-गिर्द लपेट लिया।

इसके चार महीने बाद एक दिन अनन्त जालन्धर के प्लेटफ़ार्म पर कपूरथला जाने वाली ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहा था कि उसे ऐसा आभास हुआ जैसे उसने चेतन को देखा है।

भागता-भागता और पुल की दो-दो, तीन-तीन सीढ़ियाँ एक ही बार चढ़ता हुआ वह नम्बर एक के प्लेटफ़ार्म पर पहुँचा और इससे पहले कि चेतन गेट पर टिकट देकर बाहर निकल जाता, उसने उसे जा लिया।

"चेतन!" पीछे से उसके कन्धे पर उसने थपकी दी।

चेतन मुड़ा—"ओह अनन्त!" और दोनों मित्र एक दूसरे से लिपट गये! अनन्त उसे गेट में से वापस खींच लाया।

अभी कपूरथला जाने वाली गाड़ी का इंजन भी नहीं लगा था, इसलिए दोनों मित्र उसी प्लेटफ़ार्म पर घूमने लगे।

"तुमने तो यार एक पंक्ति तक नहीं लिखी, ऐसे लाहौर गये तुम!" अनन्त ने बात शुरू करते हुए कहा, "कौन-सी गुफा में समा गये वहाँ?"

चेतन ने बताया कि वे सम्पादक महोदय जिनके साथ वह लाहौर गया था, अजीब शिकारी आदमी थे। सब्ज़ी मंडी के पास एक सस्ते से होटल में उन्होंने उसके भोजन और निवास का प्रबन्ध कर दिया; दूध वाले से कह दिया कि वह डेढ़ पाव दूध उसे रोज़ दे दिया करे; नाई को हजामत के

लिए कह दिया और धोबी को कपड़ों के लिए। चेतन को आश्वासन दिलाया कि वे स्वयं इन सब का बिल दे देंगे और इस प्रकार कुल मिलाकर बाईस रुपये पर उन्होंने उसे अपने समाचार-पत्र में अनुवादक रख लिया।

इस विचित्र व्यवस्था पर अनन्त ज़ोर से हँसा और उसने पूछा, "वे बिल उन्होंने चुकाये भी?"

"अरे, राम का नाम लो!" चेतन ने कहा, "यह सोचकर कि समाचार-पत्र में नौकरी लग गयी है और उन्नति का भी चांस है, मैंने अपनी साइकिल और कुछ सामान लाहौर मँगा लिया। लेकिन दो महीने के बाद जब उन सम्पादक महोदय के चंगुल से मैंने मुक्ति पायी तो बिल न चुका सकने के कारण होटल के मैनेजर ने मेरी साइकिल ही रख ली। बाद में दूसरी जगह नौकरी करके पहले महीने का वेतन उन मैनेजर साहब की भेंट चढ़ाकर बड़ी कठिनाई से मैं उसे लाया।"

अनन्त फिर ज़ोर से हँसा। तब चेतन ने अपने उन अनुभवों का ज़िक्र किया जो उसे पहले-पहल समाचार-पत्र के दफ़्तर में प्राप्त हुए थे।

वे सम्पादक महोदय जो उसे ले गये थे, सारा दिन हुक्के की नली मुँह से लगाये रखते थे। कुछ सुन्दर, कोमल, किशोर नवयुवक उन्होंने अपने समाचार-पत्र में भरती कर रखे थे, जिन्हें ज़रा-सी भी ग़लती हो जाने पर, अपने कमरे में बुलाकर वे "क्यों बे गूँगे" कहते हुए उनके मुँह पर प्यार की चपतें लगाया करते थे।

उन्हीं में से एक का नाम उन्होंने 'महात्मा' रख छोड़ा था। शायद इसलिए कि वह 'गूँगा' न रहा था। वह समाचार-पत्र का सम्पादक था।

"आज-कल" चेतन ने कहा, "जब लाहौर में सख़्त गर्मी पड़ती है, ये महात्मा रात के समय कमीज़ और बनियाइन आदि उतारकर पंखे के नीचे बैठ जाते हैं और सम्पादकी करते हैं और कभी अपने कमरे से वे

सम्पादक महोदय (जो समाचार-पत्र के मालिक भी हैं) उधर आ निकलते हैं और 'क्यों बे महात्मा' कहते हुए उसकी पीठ ही को थपथपा देते हैं।

"गूँगे और महात्मा!" अनन्त फिर हँसा और उसने पूछा "लेकिन उन दोनों में सम्पादक कौन है?"

"नाम उनका जाता है और काम 'महात्मा' करते हैं।" चेतन ने उत्तर दिया।

फिर उसने बताया कि वहीं पहले-पहल उसे इस बात का पता चला कि जिस सम्पादकी के स्वप्न वह देखा करता था, वह वास्तव में कितनी नारकीय है। दिन को बारह से छः बजे तक और रात को नौ बजे से दो बजे तक दैनिक पत्रों के सम्पादक कोल्हू के बैल की तरह जुटे रहते हैं। जब थक जाते हैं तो आपस में बेहद अश्लील और गन्दे मज़ाक करते हैं। चरित्रहीन, विवर्ण मुख, उनींदी ख़ुमार भरी आँखें, या अत्यधिक मोटे या बिलकुल मरियल और हर तरह से भूखे—लाहौर के उर्दू पत्रों में काम करने वालों में से अधिकांश को उसने ऐसा ही पाया।

उस दैनिक में वह अनुवादक के साथ-साथ उस पत्र का 'अपना कहानी लेखक' भी था। बात यह थी कि अनुवाद करना उसे आता न था, इसलिए वह पत्र के साप्ताहिक संस्करण में एक कहानी दिया करता था। इन्हीं कहानियों के बल पर उसे एक दूसरे दैनिक पत्र में जगह मिल गयी। एक की देखा-देखी लाहौर के सब दैनिकों ने साप्ताहिक संस्करण निकालने आरम्भ कर दिये थे। इस दूसरे पत्र में एक अनुवादक का स्थान खाली था। वहाँ वह ले लिया गया, इस शर्त पर कि वह प्रति सप्ताह पत्र में एक कहानी लिखेगा और अनुवाद शीघ्रातिशीघ्र सीख लेगा।

और चेतन ने बताया कि अब वह उस पत्र में सहकारी सम्पादक है, चालीस रुपये पाता है और चंगड़ मुहल्ले में रहता है।

"वे हुनर साहब कभी मिले?" अनन्त ने पूछा।

चेतन ने ज़ोरदार ठहाका मारा। लेकिन इससे पहले कि वह कुछ बताता अनन्त को भागकर पुल पर से जाने की अपेक्षा लाइनें पार करके अपने डिब्बे में सवार होना पड़ा, क्योंकि इस बीच में इंजन भी आ लगा था, लाइन-क्लियर भी मिल चुका था, गार्ड ने सीटी भी दे दी थी और गाड़ी चलने भी लगी थी।

१६

कुछ महीने बाद अनन्त को चेतन का एक पत्र मिला--

"...यह भी कोई जीवन है ? मैं सोचता हूँ, क्या मैं इसीलिए घर से भागा था ? मैंने अनुवाद सीख लिया है और आठ घंटे बिना सिर उठाये अँग्रेज़ी तारों का अनुवाद करता हूँ, प्रूफ़ पढ़ता हूँ और फिर जुल्म यह है कि इतने काम के बावजूद सम्पादक साहब चाहते हैं कि मैं अब भी प्रति सप्ताह एक कहानी पत्र के साप्ताहिक अंक के लिए लिखा करूँ। असहयोग आन्दोलन के दिनों में स्वर्गीय लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज जब टूटा तो कुछ लड़के एफ़० ए० ही में पढ़ते थे। कॉलेज टूटने के बाद पूछने वाला तो कोई था ही नहीं, इसलिए वे भी बी० ए० (नेशनल) बन गये। हमारे सम्पादक भी वैसे ही बी० ए० (नेशनल) हैं। आर्डिनेन्सों का ज़ोर है, सम्पादक बनने के लिए कोई तैयार नहीं होता, वर्तमान सम्पादकों को बदलने में ज़मानत के माँगे जाने का डर है, इसी परिस्थिति की बदौलत ये साहब

१०० रुपया महीना वेतन पा रहे हैं। स्वयं कुछ करते-धरते नहीं, व्यर्थ का रोब गाँठा करते हैं। जानते हैं क़ैद के भय से कोई दूसरा व्यक्ति नाम देने को तैयार न होगा, और हुआ भी तो सरकार ज़मानत माँग लेगी।

"जब से मैंने कहानी लिखने से इन्कार किया है, इनका पारा और भी चढ़ा रहता है। कहानी लिखना न हुआ घास छीलना हुआ। पहले तो मेरे पास कुछ लिखा मसाला पड़ा था अब प्रति सप्ताह नयी कहानी कहाँ से लाऊँ?

'बक-बक, झख-झख होती रहती है। अखबार में जो ग़लती होती है, वह चाहे उनकी अपनी हो या किसी दूसरे की, ये हज़रत मेरे नाम मढ़ देते हैं।

"और मैं सोचता हूँ—क्या जीवन में मेरा यही उद्देश्य था? ......"

फिर कुछ दिन बाद एक और पत्र आया जिसमें किसी लड़की प्रकाशो का ज़िक्र था। चेतन ने लिखा—

"तुम्हें एक दिलचस्प बात सुनाता हूँ। मेरे मकान के सामने एक ताँगे वाला रहता है। जिस मकान में वह रहता है, वह यद्यपि दो मंज़िला है तो भी उसे मकान का नाम देते हुए संकोच होता है। ऊपर की मंज़िल में एक कोठरी है और एक छोटा (ऊपर से खुला) आँगन, और निचली मंज़िल में सिर्फ़ दो कोठरियाँ हैं। ऊपर की मंज़िल में ताँगे वाले का परिवार रहता है और निचली मंज़िल में रहीम चंगड़। इस चंगड़ की बीवी फ़ाताँ सुबह से लेकर शाम तक ऐसी-ऐसी अश्लील गालियाँ बकती है कि सुनकर रूह काँप जाती

है। कमबख़्त ने ग़ज़ब का दिमाग़ पाया है—एक गाली दूसरी से बेजोड़ होती है।

"ताँगे वाले के एक माँ है, बहन है और छोटे-छोटे भाई हैं। उसकी यह बहन, मैं देख रहा हूँ, कुछ दिनों से मुझमें दिलचस्पी लेने लगी है। जब मैं अपने कमरे में बैठा लिखा करता हूँ तो वह खिड़की में आ जाती है। यह खिड़की एक खुला-सा बड़ा झरोखा है। इसमें न किवाड़ हैं न सीखचे। धूप तेज़ होने पर भी वह उसी में बैठी रहती है।

मोटी, कुरूप और फूहड़! इसे प्रेम करने को भी कोई और नहीं मिला, लेकिन अनन्त, दिल ही तो है......

और फिर दफ़्तर से जब प्रधान सम्पादक की घुड़कियाँ सुन-कर आता हूँ और उसी झरोखे में बैठी अपने मोटे-मोटे ओठों पर मीठी-मधुर मुस्कान लाकर, वह मेरा स्वागत करती है तो अनन्त मन हरा-सा हो जाता है और सम्पादक महोदय की तीखी बातों से दिल पर पड़े घाव कुछ भर से जाते हैं।"

इस पत्र के बाद इसी प्रकाशो के सम्बन्ध में चेतन ने कुछ ऐसी बातें लिखीं कि जब अनन्त एक बार अपने बहनोई के पास पिंडी गया तो वापस आता लाहौर उतर गया। ढूँढ़ता-ढूँढ़ता वह बंगाली गली में चेतन के दफ़्तर पहुँचा। इतवार होने के कारण दफ़्तर बन्द था। तब वह 'पीपल वेहड़ा' चंगड़ मुहल्ला का पता पूछता-पूछता चल पड़ा।

सुबह का वक्त था, और चाहे म्यूनिसिपल कमेटी के भंगी और भिश्ती अपना काम पूरा कर गये थे, किंतु गन्दगी की गाड़ियाँ भी अपना कर्तव्य पालन कर रही थीं। वास्तव में घोड़ों के अस्तबलों, गन्दी गाड़ियों के अहातों और गूजरों, चंगड़ों, भंगी तथा चमारों के घरों का सामीप्य होने के कारण

भिश्ती चाहे लाख छिड़काव कर जायँ, और भंगी चाहे लाख सफ़ाई कर जायँ, चंगड़ मुहल्ले की दशा में कभी कोई अंतर नहीं आता। अनारकली के समीप ही इतना बेरौनक़, गन्दा और ग़रीब इलाक़ा हो सकता है, अनन्त ने इसकी कल्पना भी न की थी। इधर चंगड़ मुहल्ले में कुछ नयी दुकानें बन गयी हैं। पर तब तो सारे बाज़ार में दो तीन लाँडरियों, एक मैले-कुचैले बनिये और दो एक हलवाइयों की दुकानों के अतिरिक्त कुछ भी न था। मोहन लाल रोड की ओर से प्रवेश करके किसी-न-किसी तरह नाक पर रूमाल रखे अनन्त 'पीपल वेहड़ा' को जाने वाली गली के सिरे तक पहुँचा। पक्की ईंटों की दो सीढ़ियों के साथ बाज़ार से तनिक ऊँची, पक्की ईंटों ही की गली बनी थी। सामने एक ऊँचा पक्का मकान था, जिसकी खिड़कियों पर गहरे सरदई रंग का वार्निश भी था। अनन्त ने सुख की साँस ली कि आखिर वह साफ़ स्वच्छ जगह पहुँच गया है। किंतु जब लाला भगवानदास का मकान पूछता हुआ, वह चंद क़दम चलकर, उस नये मकान के पास से दायीं ओर की गली में मुड़ा तो सहसा उसे नाक पर रूमाल रखना पड़ा। गोबर की एक तीखी बू उसकी नाक में घुस गयी और इसके साथ ही किसी नारी का कर्कश स्वर उसके कान में पड़ा जिसके एक वाक्य में लगभग सब की सब गालियाँ ही थीं। एक दो पक्के मकानों के अतिरिक्त इस गली में सब कच्चे मकान थे। इनमें चंगड़ रहते थे। इसी गली का नाम वास्तव में 'पीपल वेहड़ा' था। लाला भगवानदास ने अपनी वैश्यवृत्ति के कारण असल और सूद मिलाकर इन्हीं चंगड़ों में से कुछ की झोपड़ियाँ हथिया ली थीं और दो-तीन पक्के मकान खड़े कर लिये थे।

गली के सिरे पर ही अपने कच्चे मकान की देहली पर एक काला भुजंग चंगड़ नंगे बदन तहमद लगाये मज़े से बैठा हुक्क़ा गुड़गुड़ा रहा था। उसी से अनन्त ने लाला भगवानदास का पता पूछा और जब उसने पास ही के पक्के तिमंज़िले मकान की ओर इशारा कर दिया तो मकान के पास

जाकर अनन्त ने चेतन का नाम लेकर आवाज़ दी।

किसी ज़माने में शायद यहाँ खुली जगह होगी और यह स्थान वेहड़ा अर्थात् आँगन कहलाता होगा। हो सकता है पीपल का कोई पेड़ भी यहीं कहीं हो, किंतु उस समय तो दोनों में से एक चीज़ भी वहाँ न थी। मकान के साथ छः-सात फुट खाली जगह थी जिसे पक्की, कन्धों तक ऊँची दीवार गली से अलग कर रही थी। यह जगह पक्की बनी हुई थी। इसके बीचों-बीच एक बड़ी नाली थी जो सारे मकान का गन्दा पानी लाकर गली की नाली में मिला देती थी। नाली की जो दशा थी उसे देखकर अनन्त ने मकान के निवासियों के रहन-सहन का अनुमान लगा लिया।

रहा मकान, सो तीन मंज़िलों में से निचली मंज़िल में एक बड़ी तंग ड्योढ़ी थी, जिसके परे तंग अँधेरे आँगन का कुछ आभास मिलता था। इस ड्योढ़ी के दोनों ओर सीढ़ियाँ चढ़ती थीं, जिनसे मालूम होता था कि मकान दो भागों में विभक्त है। वास्तव में यह तीन में विभक्त था और उन तीन भागों में (इस बात का अनन्त को बाद में पता लगा) नौ या दस किरायेदार रहते थे। निचली मंज़िल में ड्योढ़ी की ओर दो-दो दरवाज़ों वाले दो कमरे थे। उनके ऊपर दो और कमरे थे, जिनकी मैली खिड़कियाँ अपनी दुर्दशा पर मूक आर्तनाद कर रही थीं। तीसरी मंज़िल पर अनन्त को ईंटों के पर्दे ही दिखायी दिये। लाला भगवानदास का मकान उन सहस्रों मकानों में से एक था जो लाहौर में सिर्फ़ किरायेदारों के लिए बनवाये जाते हैं।

अनन्त की आवाज़ सुनकर ड्योढ़ी के दायीं ओर के निचले कमरे से (जिसके दोनों किवाड़ों पर नीली नयी चिकें लटक रही थीं) चेतन निकला। कमर तक बदन नंगा था और कमर के नीचे तहमद लटक रहा था। अनन्त को देखकर ख़ुशी की एक 'ओह'! करके हाथ मिलाता हुआ वह उसे अपने कमरे के अन्दर ले गया।

अँधेरा सील-भरा कमरा, दीवारों पर पलस्तर ऐसा लगता था कि गिरा ही चाहता है। खिड़की अथवा रोशनदान एक भी न था। बस एक दरवाज़ा उस अँधेरे से आँगन में खुलता था। इस दरवाज़े को चेतन प्रायः बन्द ही रखता था और बन्द सील-भरे कमरों से जैसी बू-सी आने लगती है, वैसी ही दम घोटने वाली बू कमरे से आ रही थी। कमरे में आलमारी भी कोई न थी। योंही दीवार में दो जगह ताक़ बनाकर तख़्ते लगा दिये गये थे। छत काली स्याह थी, जिससे मालूम होता था कि पहला किरायेदार वहाँ अवश्य ही रसोई भी बनाता रहा होगा। नीचे सीमेंट का फ़र्श था, जिसमें पैवन्द लगे थे। लेकिन कमरा साफ़ था और चेतन के शरीर की गर्द बता रही थी कि उसने अभी-अभी उसे साफ़ किया है। फ़र्नीचर के नाम एक कोने में स्याह मेज़ पड़ी थी। उसके पास बिना बाज़ुओं की एक काली गद्देदार कुर्सी थी। रोशनी के लिए दीवार में कील गाड़कर एक बिजली का बल्ब लटकाया गया था।

"यह मेज़ कहाँ से लाये हो?" अनन्त ने कहा, "बना तो ख़ूब है और है भी आबनूस की लकड़ी का, लेकिन लगता तो सेकेंड-हैंड है।"

"शायद थर्ड-हैंड!" हँसते हुए चेतन ने कहा, "मैं तो एक कबाड़ी की दुकान से दोनों चीज़ें ख़रीद लाया हूँ।" फिर तनिक गम्भीर होकर वह बोला, "हम सब एक दूसरे पर निर्भर हैं—हमारा उतरन ग़रीब बड़े हर्ष से स्वीकार करते हैं और अमीरों का उतरन हम।" और वह एक खोखली-सी हँसी हँसा।

अनन्त ने तनिक और समीप होकर देखा तो गाढ़े काले रोग़न और पोटीन की सहायता से कई जोड़ ढके हुए दिखायी दिये। न जाने यह मेज़ कितनी बार मरम्मत होने के बाद इस महत्वाकांक्षी लेखक के यहाँ आया था।

"अन्दर ही आ जाओ!"

अनन्त ने ध्यान ही न दिया था कि अन्दर भी कोई कमरा है। अनगढ़ से किवाड़ों को खोलकर चेतन अन्दर गया। उसने बिजली का बटन दबाया। अनन्त ने देखा कि अँधेरी कोठरी है, जिसकी दीवारों में बाहर के कमरे जैसे ही ताक़ हैं। एक सस्ती-सी चारपाई बिछी है। सील की बू यहाँ पहले कमरे से भी तेज़ है। रोशनदान तो दूर, एक झरोखा तक भी कहीं नहीं है और दीवारों पर पलस्तर बहुत जगहों से गिर चुका है। हाँ, ठंडक इस कोठरी में बाहर से ज़्यादा है। अनन्त चुपचाप चारपाई पर लेट गया।

लेकिन वह अधिक देर तक वहाँ लेट न सका। कमरा दोपहर को ठंडा हो जाता होगा, पर सुबह उसमें उमस की मात्रा अधिक थी। वह उठकर बाहर आया। दीवार के साथ लगी एक ईज़ी चेयर चेतन ने बिछा दी। तभी सामने के मकान की खिड़की में एक लड़की आ खड़ी हुई।

चेतन ने धीरे से कहा—"प्रकाशो!"

लेकिन शायद चेतन के पास किसी अन्य व्यक्ति को बैठे देखकर वह चली गयी।

स्नानादि से निवृत्त होकर जब गणपत रोड के एक होटलनुमा तंदूर पर चेतन अपने इस बचपन के मित्र को खाना खिला लाया तो दोनों अन्दर की चारपाई को बाहर निकालकर उस पर लेट गये। वहीं लेटे-लेटे चेतन ने अनन्त को अपने इस निवास-स्थान का परिचय दिया।

पाँच-छः भागों में बने हुए उस तिमंज़िले मकान में दस किरायेदार रहते थे। आँगन में एक हैंड-पम्प था। नल या कोई स्नानघर उस मकान में नहीं था। इसलिए वह हैंड-पम्प ही स्नानघर का काम भी देता था, यद्यपि चेतन वहाँ से बाल्टी भरकर अपने इस रसोई-घर-नुमा ड्राइंग-रूम में ही नहाता था। इस हैंड-पम्प के दायीं ओर दो कोठरियों में रंग-साज़ लड़के रहते थे जो दिन भर काम करते और सोने के लिए वहाँ आ

जाते थे। नल के दूसरी ओर—चेतन के कमरे के सामने—एक हलवाई रहता था जिसकी पत्नी ने अपने इस कमरे को छोटा-मोटा मन्दिर बना रखा था। गरीब चंगड़ों के गाढ़े पसीने की कमायी सूद-दर-सूद के रूप में उनके घर आ रही थी, फिर चंगड़ों की एक-दो झोंपड़ियों के स्थान पर उनका जो मकान बन गया था, उसमें संदिग्ध किस्म के लोग रहते थे। एक स्त्री थी जिसके पास कुछ जवान लड़कियाँ थीं और नये-नये लोग रात के समय वहाँ आया करते थे। इसके अतिरिक्त उस हलवाई के घर इस बढ़ती हुई जायदाद को सम्हालने वाला कोई पैदा न हुआ था। इन्हीं सब कारणों से सुबह-शाम वहाँ भगवान की आराधना में घंटे-घड़ियाल बजा करते थे।

दूसरी मंज़िल में चेतन के ऊपर वाले दो कमरे इन्श्योरेन्स में काम करने वाले एक क्लर्क और उसके साथी ने ले रखे थे। साथी की माँ भी वहीं रहती थी। रसोई-घर कोई था नहीं, इसलिए वे ऊपर के कमरे ही में रोटी पकाते थे। जिस दिन कभी बादल होते और हवा तेज़ चलती तो उनके रसोई-घर-नुमा कमरे का धुआँ चेतन के इस स्नानघर-रूपी ड्राइंग-रूम में आ जाया करता। डचोढ़ी के ऊपर अधछते आँगन और पिछली दो कोठरियों में एक कम्पोज़ीटर और उसकी विधवा भावज तथा उसके दो बच्चे (दस बारह वर्ष की एक लड़की और सात आठ साल का एक काना लड़का) किसी-न-किसी तरह जीवन के दिन व्यतीत कर रहे थे।

हलवाई के ऊपर प्रायमरी स्कूल का एक अध्यापक रहता था।

तीसरी मंज़िल पर तीनों हिस्सों पर तीन बरसातियाँ थीं, जिनमें क्रमश: एक ख़ोंचे वाला, एक डाकिया और एक पनवाड़ी सपरिवार रहते थे। जलती धूप हो अथवा चुभती सर्दी, खाना उन्हें बरसाती के आगे खुली छत पर पर्दा-सा लगाकर पकाना पड़ता था।

इन सब नौ दस किरायेदारों के लिए तीन शौचालय थे और बाकी

बैठक, गुसलखाने, सोने के कमरे और रसोई-घर आदि का काम वे सब अपने उन्हीं दो कमरों से लेते थे।

गर्मियों में सोने का प्रबन्ध यों होता—निचली मंज़िल वाले नीचे मकान के बाहर नाली पर चारपाइयाँ बिछाकर सोते। बीच की मंज़िल में रहने वाले बरसातियों के ऊपर सोते, बरसातियों वाले अपनी बरसातियों के सामने।

इस मकान और उसके किरायेदारों का परिचय देकर चेतन ने कहा, "तुम्हें यह सुनकर हैरानी होगी कि ये दो कमरे भी मुझे बड़ी दिक़्क़त से मिले, लाहौर के गली मुहल्ले में किसी अविवाहित युवक के लिए किसी कमरे का ले लेना आसान बात नहीं। साथ में कोई स्त्री होनी चाहिए, चाहे वह माँ, बहन, चाची, ताई, भावज, बुआ, यहाँ तक कि कहीं से भगायी हुई ही क्यों न हो।

यहाँ चेतन ने ठहाका लगाया और फिर बोला, "लेकिन मैंने भी इन लोगों को खूब बनाया। तुम्हें हुनर साहब की तो याद होगी? अरे वही जो जालन्धर में दुनिया भर के शायरों की चीज़ें अपने नाम से सुनाकर मुझ पर रोब जमा आये थे, जिन्हें मन-ही-मन मैंने अपना गुरु भी मान लिया था और इसी श्रद्धा के फल-स्वरूप मैंने पाँच रुपये भी जिनकी भेंट किये थे। सब्ज़ी मंडी के उस होटल को छोड़ने के बाद मैं उन्हीं के यहाँ मजंग में कुछ दिन रहा। दूसरा कोई परिचित था नहीं, क्या करता? लेकिन अभी महीना खतम भी न हुआ था कि हुनर साहब ने, यह बता कर कि सोलह रुपया मकान का किराया उन्हें देना पड़ता है, आठ मुझसे माँग लिए।'

अनन्त हँसा।

"उन्होंने यह प्रस्ताव भी किया," चेतन ने बात को जारी रखते हुए कहा, "कि मैं रोटी भी वहीं से खाऊँ और वे इस सब के बीस रुपये मुझसे

ले लिया करेंगे। कहने लगे, "अपना आदमी साथ हो तो बिमारी-उभारी में तो मदद मिल जाती है।" और तनिक हँसते हुए चेतन बोला "बस उसी दिन शाम को मैं मकान की तलाश में निकल पड़ा। यह भी इच्छा थी कि दफ़्तर के पास कहीं मिल जाय तो रात को उनींदी आँखें लिये मील-डेढ़-मील चलकर मज़ंग पहुँचने की मुसीबत से छुट्टी मिले, लेकिन पाँच-छः जगह पूछने पर ही पता चल गया कि कुँवारे के लिए किसी सभ्य इलाके में कोई कमरा किराये पर ले लेना कुछ आसान बात नहीं।"

"इस चंगड़ मुहल्ले में भी," चेतन ने हँसकर कहा, "ड्योढ़ी के ऊपर दरम्याने में रहने वाली विधवा ने पूछा कि मैं अकेला ही आऊँगा या सपत्नीक? तब मैंने कह दिया कि पत्नी तो मेरे है, पर अभी उसे परीक्षा देनी है, इसलिए वह साथ न आयेगी।

अनन्त ने हँसकर कहा, "लेकिन परिक्षाएँ तो हो चुकीं।"

चेतन बोला, "पूछती थी, पर मैंने कह दिया कि मेरी पत्नी प्रान्त भर में सर्व-प्रथम रही है, इसलिए वहीं स्कूल में उसे अध्यापिका की जगह मिल गयी है, अब मैं कोशिश करूँगा कि उसकी बदली यहाँ लाहौर हो जाय।"

इस पर दोनों खूब हँसे। तभी अनन्त ने देखा कि वह लड़की—वह प्रकाशो, चुपचाप उस झरोखे में आकर खड़ी हो गयी है। वास्तव में एक किवाड़ की चिक कुछ नीची लगी थी (अचानक ही लग गयी थी, या शायद चेतन ने उसे जान-बूझकर ही इस तरह लगाया था, यह नहीं कहा जा सकता) उसके ऊपर से सामने के झरोखे में बैठा हुआ व्यक्ति भली-भाँति दिखायी दे जाता था।

वहाँ लेटे-लेटे अनन्त ने चेतन का कन्धा हिलाकर उसका ध्यान लड़की की ओर आर्कषित किया।

धीरे से चेतन ने कहा, "तुम चुपचाप यहीं लेटे रहो, वह शायद तुम्हें नहीं देख रही।"

इसके बाद जो कुछ हुआ, उसके फल-स्वरूप अनन्त ने फ़तवा दे दिया कि लड़की को चेतन से अपार प्रेम है और जब चेतन ने उसे बताया कि इधर कुछ दिनों से प्रकाशो दूसरे नलों को छोड़कर उसके पम्प पर ही आने लगी है, और घर वालों को उसने विश्वास दिला दिया है कि म्यूनिसिपेलिटी के नलों की अपेक्षा पम्प का पानी कहीं अधिक ठंडा होता है तो अनन्त ने यह नेक सलाह दी कि आज जब वह पम्प पर पानी लेने आये तो उसे पकड़कर तत्काल अन्दर ले आना चाहिए। अपनी और अपने एक दो मित्रों की मिसालें देकर अनन्त ने कहा, "वह तो तुम्हारे आलिंगन में बद्ध होने के लिए छटपटा रही है। तुम साहस से काम न लोगे तो यह मामला बस इससे आगे न बढ़ेगा।"

लेकिन चेतन का दिल बेतरह धड़क रहा था। तब अनन्त ने पूरे डेढ़ घंटे तक प्रेम के सम्बन्ध में अपने साहस और दिलेरी की जो कहानियाँ सुनायीं, उनका परिणाम यह हुआ कि धड़कते हुए दिल के साथ चेतन दुस्साहस का यह काम करने को तैयार हो गया।

साधारणतय: प्रकाशो संध्या से बहुत पहले ही आती, जब आम तौर पर ऊपर रहने वाली विधवा अपने बच्चों के साथ सो रही होती और आँगन में सन्नाटा होता। उसके आने से पहले अनन्त ने चेतन को इस तरह तैयार कर दिया कि वह आँगन में खुलने वाले दरवाज़े में खड़ा रहे, अनन्त दरवाज़े की ओट में बैठा रहेगा और अगर कोई ऐसी वैसी बात हो गयी तो वह उसे सम्हाल लेगा।

जब प्रकाशो समय पर पानी लेने आयी और बाल्टी भर चुकी तो अनन्त ने कुहनी के ठेके से चेतन को जाने के लिए कहा। किंतु अनन्त ने यद्यपि तीन-चार बार उसके कुहनी गड़ायी तो भी वह टस-से-मस न हुआ और प्रकाशो बाल्टी उठाकर अपने मोटे-मोटे ओठों से मुस्कराती और अपने भारी कूल्हे मटकाती हुई चली गयी।

तब अनन्त ने दोआबा की विशुद्ध भाषा में चेतन पर 'मधुर वचनों' की झड़ी लगा दी और फ़तवा दिया कि वह एकदम नपुंसक है।

कदाचित यह उपाधि पाना चेतन के पुंसत्व को गवारा न था, इसलिए जब प्रकाशो दूसरी बार बाल्टी लेने आयी और बाल्टी पम्प के नीचे रखते और अपने मोटे ओठों से मुस्कराते हुए उसने दो-एक बार हैंडल घुमाया तो चेतन ने एक कुलाँच भरी।

"हाय मैं मर गयी," कहती हुई प्रकाशो वहीं धम से बैठ गयी। चेतन के चेहरे पर स्याही पुत गयी और उसकी बाहें खुली की खुली रह गयीं।

कमरे में वापस आकर बीस गालियाँ तो चेतन ने अनन्त को सुनायीं और कहा कि अगर किसी ने देख सुन लिया हो या प्रकाशो ने जाकर घर कह दिया तो क्या होगा?

उसका चेहरा कपास के फूल की तरह सफ़ेद हो गया था। वह सोच रहा था कि यदि प्रकाशो ने घर जाकर कह दिया तो सम्हालकर रखी हुई इज्जत पर पानी फिर जायगा, अपमानित होकर मुहल्ले से निकलना पड़ेगा और दफ़्तर के इतने समीप मकान भी फिर मुश्किल ही से मिल सकेगा।

पर अनन्त ने कहीं से केले का छिलका लाकर आँगन में रख दिया और उसे इस तरह पाँव से मसल दिया जैसे उस पर कोई फिसल गया हो। फिर उसने चेतन को सान्त्वना दी कि अव्वल तो प्रकाशो घर जाकर कहेगी नहीं और यदि उसने यह हिमाक़त की भी और तुमसे किसी ने पूछा तो कह देना कि मैं बाहर जाने लगा था, केले के छिलके पर फिसल गया। बाहें मैंने जरूर फैलायी थीं और पकड़ना भी चाहा था, लेकिन वह तो गिरते हुए की बेबसी थी।

चेतन को अनन्त की इस बात से कुछ अधिक सान्त्वना न मिली, किंतु प्रकाशो ने, जैसा कि अनन्त का खयाल था, घर जाकर नहीं कहा।

१७

शाम को जब अनन्त को गाड़ी पर चढ़ाकर चेतन प्लेटफ़ार्म से बाहर निकला तो आज की इस घटना पर उसे जो ग्लानि हुई थी और जो अनन्त की लच्छेदार बातों से अब तक दबी रही थी वह फिर उभर आयी। अपना यह कृत्य भयावह रूप धारण कर उसके सामने, आने लगा। उन सम्भावनाओं ने, जो घटित हो सकती थीं पर न हुईं, उसके मन को उद्विग्न कर दिया—यदि ऊपर से कोई उसका यह कृत्य देख लेता, यदि कोई उस समय पानी भरने आ जाता, यदि प्रकाशो अपने उस बर्बर ताँगे वाले भाई से कह देती...तो! और परिणाम की कल्पना-मात्र ही से उसके रोंगटे खड़े हो जाते।

उसे पता भी न चला कि वह कब ताँगे पर सवार हुआ और कब घासमंडी के पास आकर उतर गया। उसके मस्तिष्क में तो इस बीच में निरन्तर हलचल मची रही थी। उसकी सगाई हो चुकी है, लड़की वाले शादी के लिए ज़ोर भी दे चुके हैं तो क्यों न वह शादी कर ले? जब वासना उसके मन में कहीं दबी पड़ी है, जब उसमें संयम का अभाव है तो क्यों न समाज

के बने विधान के अनुसार वह खूँटे से बँध जाय? अनन्त! ......
उसका तो मस्तिष्क विकृत है।

पश्चात्ताप से भरे हुए स्वर में चेतन ने कहा था, "मैं शादी कर लूँगा।"

बिना किसी प्रकार की लज्जा के अनन्त ने ठहाका लगाया था।

भारी गम्भीरता के साथ चेतन बोला था, "इधर-उधर खेतों में मुँह मारना, उगती बढ़ती पौध को दूषित करना, पकड़े जाने पर दंड पाना, अपमानित होना—क्या सभ्य, सुशिक्षित, सुसंस्कृत मानव के लिए यही उचित है?

अनन्त बेपरवाही से हँसा था। "इसके लिए दिल और जिगर की ज़रूरत है," उसने कहा था, "तुम जैसे डरपोक के लिए घोंसला बनाना, बच्चे पैदा करना और उनके पालने में जीवन बिता देना ही बेहतर है। आकाशगामी उकाब की तरह स्वच्छन्द विहार करना, घर बनाने का रोग न पालना और अपने शिकार को बरबस झपट लेना क्या हरएक पक्षी के वश की बात है? संसार में कौवे और गिद्ध तो अनेक हैं, उकाब नहीं।"

"लेकिन सभ्यता......?"

"कायरों के दिमाग़ की उपज है।"

"पर शादी......?"

"निर्बलों ने अपनी रक्षा के लिए इसका विधान बनाया है।"

"किंतु नारी......?"

"वह तो उसी तरह पीड़ित है, विवाह के बन्धन से मुक्त होकर वह कम प्रसन्न न होगी। सभ्यता के विधान ने उसका कम गला नहीं घोंटा।"

चेतन के समस्त शरीर में एक झुरझुरी-सी उठी। स्टेशन जाते समय मार्ग में अनन्त के साथ उसकी जो बहस हुई थी उसका एक-एक शब्द उसके कानों में गूँज रहा था। तर्क पर अनन्त की बातें चाहे कितनी भी पूरी क्यों न उतरती हों, पर मन में वह उनसे कभी सहमत न हो पाता था।

यह ठीक है कि उसका वेतन अधिक नहीं। वह पत्नी को साथ रखकर लाहौर का ख़र्च सहन न कर सकेगा, लेकिन उससे उक़ाब भी तो न बना जायेगा। यह उक़ाब-वृत्ति अनन्त ही को मुबारक रहे। उसके लिए तो ग़रीब पर संयत और सुव्यवस्थित जीवन निन्दा, तिरस्कार, जुगुप्सा, भर्त्सना के उस असंयत, अव्यवस्थित जीवन से कहीं अच्छा है।

चेतन उस सरल निरीह युवकों में से था, जिन्हें लाहौर की मिट्टी ने पकाकर चालाक और चतुर न बनाया था। प्रत्येक बुरी-से-बुरी घटना को हँसी में उड़ा देने, उस पर दार्शनिक ढंग से तर्क-वितर्क कर सकने, प्रतिदिन कुकर्म करते हुए उसे बीसियों भले लोगों के सत्-कर्मों से अच्छा साबित करने की क्षमता उसने अभी प्राप्त न की थी। उसकी आत्मा सरल, भोली, पवित्र और नेक थी। नगर के नये सिद्धान्तों का पानी उस पर न चढ़ा था। अनन्त के लिए जो घटना प्रतिदिन होने वाली साधारण घटनाओं में से एक थी, जिनका ज़िक्र वह बड़ी बेपरवाही से कर दिया करता था, वही चेतन के लिए असाधारण और चरित्र के पौधे को जड़ों तक झुलसा देने वाली थी।

घास मंडी से घर तक वह इन्ही उलझनों को सुलझाता चला आ रहा था कि घर के समीप उसे चिर-परिचित कंठ की आवाज़ सुनायी दी। उसने आँखें उठायीं तो देखा कि उसके बड़े भाई उसके पड़ोसी चंगड़ से उसका पता पूछ रहे हैं। वे सूट पहने हुए थे और उनके हाथ में एक गठरी थी। चेतन ने उनको प्रणाम किया और दरवाज़ा खोलकर उन्हें अन्दर ले आया।

बाहर यद्यपि काफ़ी प्रकाश था पर चेतन के कमरे में अँधेरा छा रहा था। बिजली का बटन दबाकर चेतन ने भाई से आराम-कुर्सी पर बैठने का संकेत किया। तब उस पन्द्रह कैंडल पावर के बल्ब की रोशनी में चेतन ने अपने भाई को आज की समस्त घटना सुना दी।

१८

पंडित बनारसी दास की दुकान पर सारा दिन ताश खेलने वाले, माँ के द्वारा 'बुढ़ऊ' पुकारे जाने वाले, सदैव मैले तहमद और कुर्ते में मस्त चेतन के बड़े भाई रामानन्द और इन साफ़ (यद्यपि पुराने) सूट में आवृत्त, सिर पर मोतिया रंग की पगड़ी सजाये, सस्ती लेकिन सुन्दर टाई बाँधे अपने इस छोटे भाई के घर अचानक आ धमकने वाले इन डाक्टर रामानन्द में आकाश पाताल का अंतर था।

इस डेढ़ वर्ष के अर्से में वह आवारा, निकम्मा और नालायक युवक किस प्रकार डाक्टर कहलाने योग्य हो गया, यह एक लम्बी कहानी है। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि कराची से एल० डी० एस-सी० की डिग्री लेकर आने वाले एक दाँतों के डाक्टर से चेतन की मित्रता थी। जब चेतन ने इन भाई साहब की बेकारी और उस पर उनकी पत्नी की कर्कशता ने माँ का जीवन दूभर कर दिया और लगे हाथों बड़े पैमाने पर एक लाँडरी खोलकर इन भाई साहब ने लगभग एक हज़ार रुपये पर पानी फेर दिया और तीन चार सौ का कर्ज़ चेतन की माँ के सिर चढ़ गया तो

चेतन की माँ ने, जब चेतन एक बार जालन्धर गया था, उस पर ज़ोर दिया कि वह अपने भाई को भी किसी-न-किसी तरह कहीं काम से लगाये। उसी दिन हँसी-हँसी में चेतन ने अपने उस डाक्टर मित्र से पूछा कि वह उसके भाई को अपना शिष्य क्यों नहीं बना लेता। उसने हाँ कर दी। चेतन ने भाई के सामने प्रस्ताव रक्खा और डाक्टर बनने के लाभ पर एक छोटा-मोटा लेक्चर भी दिया। चेतन के बड़े भाई स्वयं घर में प्रतिक्षण होने वाली इस कलह से ऊब चुके थे, उससे पिंड छुड़ाना चाहते थे और घर के बाहर नरक तक में भी जाने को तैयार थे, इसलिए उन्होंने झट चेतन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फिर उस काम में उनका मन इतना लगा कि उन्होंने परिश्रम करके उसे सीख लिया और उन्हीं डाक्टर साहब की सहायता से कराची के डेंटल कालेज से एल० डी० एस-सी० का डिप्लोमा भी ले लिया।

माँ हैरान थी कि उसका यह पुत्र जो कभी किसी काम में जी न लगाता था, जिसे ताश और शतरंज से दिन भर काम रहता था, किस प्रकार इतना परिश्रमी हो गया। चेतन के भाई उन डाक्टर साहब के यहाँ सुबह जाते और संध्या को सूरज छिपे वापस आते। उनकी वे आवारों की आदतें भी जाती रहीं। तहमद छोड़ सूट पहनना और चीख़ने के स्थान पर धीरे बोलना भी उन्होंने सीख लिया था। यद्यपि नये सूट के पैसों को लेकर घर में काफ़ी चख़-चख़ हुई थी और आख़िर चेतन के भाई ने अपने पिता की मोटी ज़ीन की पुरानी वर्दी को ठीक कराके सूट की शकल दे दी थी और इस तरह वे रेलवे-गार्ड से लगने लगे थे, लेकिन डाक्टर बनने के ख़याल ही से उनके रहन-सहन में एक अभूतपूर्व परिवर्तन आ गया था।

वास्तव में पंडित शादीराम ने अपने बच्चों की प्रवृत्तियों की ओर कभी ध्यान न दिया था। यों तो वे चाहते थे कि उनके लड़के ई० ए० सी० और आई० सी० एस० से कम न बनें, पर इन शब्दों के अर्थ तक अपने बच्चों

को समझाने की चेष्टा उन्होंने कभी न की थी। कभी-कभी 'रिलीविंग' के अपने दौरों से अथवा किसी दूरस्थ स्टेशन से आना और मार-पीट, झिड़क-कोस जाना—बस इस पर ही उनका वह जोश समाप्त हो जाता था।

चेतन के इस बड़े भाई की रुचि बचपन ही से ऐसे कामों की ओर थी जिनमें दिमाग़ से अधिक हाथों का दख़ल हो। बचपन में वे खिलौने बनाया करते थे। स्कूल में शेष सब विषयों में चाहे फ़ेल हो जायँ पर ड्राइंग में बड़े अच्छे नम्बर पाते थे। स्वयं ही कई चित्र भी उन्होंने बनाये थे। फिर जब कॉलेज के दिनों में चेतन के सिर पर बिस्तर उठवाकर घर से भागे थे तो दिल्ली जाकर एक आर्टिस्ट के शागिर्द हो गये थे।

वहाँ से सौभाग्यवश पं० शादीराम के एक मित्र उन्हें ले आये। तब पंडित जी ने वापसी पर अपने इस सुपुत्र की ख़ूब गत बनायी थी। जो भी मित्र आता उसके सामने वे उन्हें कान पकड़कर ले आते और—"यही मेरा सुपुत्र है जो दिल्ली भाग गया था"—इन शब्दों में उनका परिचय कराते और दो-चार 'मधुर वचनों' के चाँटे लगाकर वापस भेज देते।

इस पर तुर्रा यह कि उन्हें फिर कॉलेज में दाख़िल कर दिया गया। वे माँ के सामने कितना ही रोये, किंतु न माँ को अपने पति और न पुत्र को अपने पिता के सामने इन्कार करने का साहस हुआ। लेकिन जब परीक्षा के लिए फ़ार्म भेजे जाने लगे तो प्रिन्सिपल ने उनका फ़ार्म रोक लिया, क्योंकि उनके लेक्चर बहुत कम थे। तब मन-ही-मन चेतन के भाई ने सन्तोष की साँस ली थी।

पिता तो चाहते थे कि उनका पुत्र फिर से कॉलेज में दाख़िल हो, पर पुत्र ने इस बीच में कुछ साहस बटोर लिया था। इसलिए बात जब चली तो उसने आगे पढ़ने से साफ़ इन्कार कर दिया।

पिता ने समझा लड़का जवान हो गया है, कहीं बिगड़ न जाय इसलिए

उसकी शादी कर दी। लड़का तो क्या सुधरता, हाँ एक लड़ाकी बहू और दो बच्चों का बोझ उनके सिर पर और लद गया।

अपनी इसी दशा की आलोचना करते हुए चेतन के भाई ने एक दिन उससे कहा था:

"अब तुम ही बताओ यदि मैं नालायक रहा तो इसमें मेरा क्या दोष है? गूदड़ की तरह पीटने से लड़का गूदड़ ही तो बन सकता है। जितना उन्होंने मुझे पीटा है उतना कभी किसी पिता ने अपने पुत्र को न पीटा होगा?" और उनका गला भर आया था।

संयत होकर उन्होंने फिर कहा था:

"और फिर व्यक्तिगत रुचि-अरुचि का भी तो कुछ प्रश्न है। मुझे पुस्तकें कभी अपनी ओर नहीं खींच सकीं। यदि मैं किसी कला-कौशल की ओर ध्यान देता तो अब तक कुछ का कुछ बन जाता।

"फिर पिता जी कहते हैं कि मैं कॉलेज से इसलिए भागा था कि मैं शादी करना चाहता था, (यहाँ वे तनिक हँसे थे।) पर वास्तव में बात यह थी कि संस्कृत के प्रोफ़ेसर ने पाँच रुपये जुर्माना कर दिया था और मैं किसी तरह भी फ़ीस से अधिक रुपये न पा सका था।"

और फिर चेतन के भाई ने कुछ ज़ोर देकर कहा था, "मुझे यदि मेरे हाल पर छोड़ दिया जाता तो मैं बेकार न फिरता। दिल्ली में अब तक मैं बहुत बड़ा आर्टिस्ट बन चुका होता।"

चेतन के बड़े भाई आर्टिस्ट अथवा पेंटर तो न बन सके थे, हाँ डेंटिस्ट ज़रूर बन गये थे।

चेतन उन दिनों मोहन लाल रोड के एक तंदूर से रोटी खाता था। पर भविष्य में डाक्टर कहलाने वाले उसके ये बड़े भाई वहाँ कैसे खाना

खाते और चेतन ही उन्हें तंदूर पर कैसे ले जाता ? इसलिए जब वह उन्हें गणपत रोड के उसी होटल-नुमा तंदूर से खाना खिला लाया और चारपाइयों को बाहर नाली के ऊपर बिछाकर दोनों भाई बैठ गये तो डाक्टर रामानन्द ने अपने आने का मन्तव्य प्रकट किया।

"निरी इस डिग्री को लेकर मैं क्या करूँ" उन्होंने कहा, "डिग्री पा लेना ही तो सफल हो जाना नहीं। सफलता की होड़ तो डिग्री लेने के बाद शुरू होती है। अच्छी जगह दुकान चाहिए, दुकान में अपटूडेट सामान चाहिए और फिर नये ढंग से विज्ञापन हो तब कहीं अपना कौशल दिखाने का अवसर डेंटिस्ट को मिलता है। इस सब के बाद यदि उसके हाथों में सिद्धि है तो वह चल निकलेगा, नहीं तो..."

यहाँ डाक्टर साहब ने अँग्रेज़ी की एक लोकोक्ति का ज़िक्र किया, जिसका तात्पर्य यह था कि डाक्टर की ग़लती धरती में गाड़ दी जाती है, डेंटिस्ट की मुँह बाये उसके सामने आ खड़ी होती है।

उस आर्थिक समस्या की गम्भीरता के बावजूद जिसे लेकर वे उसके पास आये थे, चेतन यह सुनकर हँस पड़ा।

"जहाँ तक ग़लती करने का सम्बन्ध है," डाक्टर साहब ने कहा था, "इस ओर से मुझे कोई डर नहीं। जालन्धर में डाक्टर चोपड़ा का सब काम मैं ही कर रहा हूँ। लेकिन सवाल तो यह है कि यह सब निपुणता दिखाने का अवसर मुझे कैसे मिलेगा ?"

और उन्होंने बताया था कि माँ ने किसी प्रकार की भी सहायता देने से साफ़ इन्कार कर दिया है। "जब मैंने कहीं दुकान खोलने का प्रस्ताव किया और दबी ज़बान से उसके लिए कुछ रुपये की माँग की तो माँ ने लाँडरी के दिनों के वे गड़े मुर्दे उखाड़े कि मुझे वहाँ से भागते ही बना।"

तब, आश्चर्य है कि उनकी उसी लड़ाकी कर्कशा पत्नी ने (जिसने एक बार घर में आटा खतम होने पर दो रुपये देने से इन्कार कर दिया था।)

अपने दो गहने लाकर उन्हें बेचने को दे दिये थे और न जाने किस तरह पैसा-पैसा जोड़कर इकट्ठे किये हुए नव्वे रुपये भी उनके सामने ला रखे थे।

चेतन के भाई ने बताया कि इनसे वे किसी-न-किसी तरह सस्ता सामान ख़रीदकर फ़िरोज़पुर में दुकान खोल लेंगे। वहाँ कम्पीटीशन कम है। इसलिए चेतन से वे इतना कहने आये थे कि कम-से-कम एक वर्ष के लिए वह कुछ रुपये मासिक से उनकी सहायता करे, क्योंकि खोलते ही तो दुकान चल न निकलेगी।

इस पर चेतन ने वहीं लेटे-लेटे प्रकाशो के सम्बन्ध में कुछ ही घंटे पहले घटित होने वाली सब घटना अपने भाई से कह सुनायी और अपने मनोभावों को भी बिना छिपाये उनके सामने रख दिया।

"इस तरह भटकने से मैंने सोचा है," उसने कहा, "मुझे विवाह कर लेना चाहिए। सगाई अब छोड़ी नहीं जा सकती और लड़की जैसी भी हैं, काफ़ी बड़ी है और आज-कल बड़ी लड़कियों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। बस्ती के लड़के भी (उसने हँसते हुए कहा) आखिर हम जैसे ही हैं। मैं सब को जानता हूँ और मैंने निश्चय कर लिया है कि यदि शादी वहीं करनी है तो दो साल तक रुकने की ज़रूरत नहीं।"

और फिर उसने उन्हीं से पूछा था कि पत्नी के साथ लाहौर में रहता हुआ वह किस तरह चालीस रुपयों में से उनको कुछ भेज सकेगा?

चेतन के भाई कुछ क्षण के लिए निराश हो गये। वे कहना चाहते थे कि विवाह के सम्बन्ध में उसे कम-से-कम एक वर्ष के लिए रुक जाना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी भावनाओं को संयत नहीं रख सकता, वह संसार में कर ही क्या सकता है? उसका वेतन कुछ बढ़ जाय, तब शादी करे। विवाह काफ़ी ज़िम्मेदारी का काम है और इस ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए सब से ज़रूरी वस्तु रुपया है जो अभी उसके पास नहीं...।

लेकिन उन्होंने यह सब कुछ नहीं कहा। वे स्वयं कुछ रुपयों की माँग कर चुके थे और इस सब लेक्चर में उनकी स्वार्थपरता साफ़ दिखायी देती, यह बात वे अच्छी तरह जानते थे।

तब चेतन ने धीरे से, स्वयं ही जैसे उन्हें सान्त्वना देते हुए, कहा था कि यदि वे लाहौर में प्रेक्टिस करें तो जो भी उससे हो सकेगा वह अवश्य देगा।

"आपने स्वयं कहा है कि आज-कल प्रेक्टिस प्रोपेगेंडे के बिना नहीं चलती," वह बोला था, "फ़िरोज़पुर में आप प्रोपेगेंडा करेंगे या प्रेक्टिस? लाहौर में यदि आप रहेंगे तो पास रहने के कारण मैं ज़रूर ही कुछ-न-कुछ आपकी सहायता कर सकूँगा। और नहीं तो रोटी की फ़िक्र आपको न रहेगी। फिर जब भी बन पड़ा धन से भी सहायता करने का प्रयास करूँगा। इन सब बातों के अतिरिक्त मैं कई तरह से प्रचार कर सकता हूँ और प्रचार की सहायता धन की सहायता से कम नहीं।"

वहीं लेटे-लेटे उसने प्रचार के कई तरीके गिना दिये।

—वह समाचार-पत्रों में उनके प्रेक्टिस आरम्भ करने की सूचना छपवा देगा।

—स्वयं कॉलेजों, होस्टलों, दफ़्तरों और सिनेमा-घरों में उनके कार्ड विज्ञापन के रूप में बाँट आयगा।

—अपने मित्रों में प्रचार करेगा और यद्यपि उसके मित्र इतने धनी-मानी नहीं, लेकिन उनका सम्पर्क और मेल-जोल धनी-मानी व्यक्तियों से है।

चेतन ने ये सब बातें कुछ इस ढंग से सुनायीं कि मन-ही-मन भाई साहब ने फ़िरोज़पुर में प्रेक्टिस करने का विचार तत्काल छोड़ दिया, पर प्रकट उन्होंने इतना ही कहा, "तुम्हें मदद करना हो तो वहाँ भी कर सकते हो। वहाँ दाँतों के डाक्टर कम हैं, प्रेक्टिस का क्षेत्र बहुत है। यहाँ ईंट उठाओ तो डेंटिस्ट निकल आता है और मुकाबिला बेहद ज़्यादा है।"

चेतन ने तनिक जोश से कहा, "मुकाबिले से डरना, भाई साहब, कायरों का काम है। प्रतिद्वन्द्विता ही मनुष्य की प्रतिभा की कसौटी है। अव्वल तो फ़िरोज़पुर में आप चार दिन में तंग आ जायेंगे, (मन-ही-मन उसने कहा—मैं आपके स्वभाव को जानता हूँ, माफ़ कीजिएगा, लाँडरी की बात अभी पुरानी नहीं हुई—किंतु प्रकट बोला) फिर यदि वहाँ आपकी प्रेक्टिस चल भी निकली तो आप अधिक-से-अधिक सौ डेढ़ सौ रुपया महीना कमा सकेंगे। लाहौर में यदि प्रेक्टिस चल जाय तो हज़ार रुपया मासिक भी आ जाना बड़ी बात नहीं।"

"हज़ार!" और उस तंग सील-भरी, दुर्गन्ध-युक्त, गर्म जगह में भैंसों और बैलों के समीप ही लेटे हुए डा० रामानन्द के सामने माल रोड की विशालता और उस विशालता का दिग्दर्शन कराती हुई एक सर्जरी घूम गयी जैसे चेतन पर एहसान का बोझ लादते हुए वे मान गये।

लाहौर जैसे बड़े नगर में थोड़ी-सी पूँजी के साथ कैसे काम चलेगा, चेतन के भाई साहब ने इस बात की चिन्ता नहीं की। ये सब बातें उन्होंने अपने छोटे भाई की कार्यपटुता पर छोड़ दीं। हाँ, उसका विवाह जल्दी-से-जल्दी करा देने का बोझ उन्होंने अपने कन्धों पर ले लिया और यद्यपि विवाह की बात चलने पर चेतन की दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी और वह बड़े ज़ोरों से अपने सिद्धान्तों की व्याख्या कर रहा था, पर उसके इस उत्साह की तनिक भी परवाह न करके चेतन के भाई वहीं चारपाई पर पड़े-पड़े मज़े से खुर्राटे लेने लगे।

१९

दूसरे ही दिन से चेतन ने अपने भाई साहब को लाहौर में जमाने का प्रयत्न शुरू कर दिया।

"इससे पहले कि आपके लिए कहीं दुकान ढूँढ़ी जाय," चेतन ने दूसरे दिन ही उनसे कहा, "आपको व्यवहार-कुशल होना चाहिए।"

भाई साहब कुछ कहना चाहते थे, पर अपनी धुन में उन्हें कुछ कहने का अवसर दिये बिना चेतन ने अपनी बात जारी रखी। "आपकी दुकान चेम्बरलेन रोड, निस्बत रोड, बीडन रोड, माल रोड या अनारकली में होनी चाहिए। माल या अनारकली में दुकान जमाना हमारे बूते से बाहर है। इतना किराया हम नहीं दे सकते। और फिर वहाँ दुकान जमायें तो उतनी ही तड़क-भड़क और उतने ही बड़े खर्च का भी प्रबन्ध करें। यह सब इस समय दुष्कर ही नहीं असम्भव है। रहीं शेष जगहें तो वहाँ उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने में कुछ समय लग जायगा। इस बीच में आप मरीज़ों से पेश आने का, उनसे बात-चीत करने का कुछ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लें।"

भाई साहब नहीं समझे। "क्या मतलब है तुम्हारा?" उन्होंने कहा "क्या मैं रोगियों से बात-चीत करना भी नहीं जानता। जालन्धर में..."

"जालन्धर और लाहौर के रोगियों में अंतर है," चेतन ने उनकी बात काटकर कहा, "और फिर जालन्धर में आपको स्वतंत्र रूप से प्रेक्टिस करने का अवसर ही कब मिला? मैं जानता हूँ कि जहाँ तक काम का सम्बन्ध है आपका हाथ खुल गया है। लेकिन शुरू-शुरू में हाथ का खुलना उतना लाभदायक सिद्ध नहीं होता जितना ज़बान का खुलना। रोगी आपके पास फँसेगा तो आपको अपना कौशल दिखाने का अवसर मिलेगा, पर यदि रोगी पर आपका प्रभाव ही न पड़ा तो......"

चेतन के भाई समझ गये और उसी दिन चेतन ने कोशिश करके उन्हें रेलवे रोड के एक सफल और पुराने डेंटिस्ट के यहाँ कुछ दिन अवैतनिक सहायक के रूप में काम करने का अवसर जुटा दिया।

लेकिन भाई साहब वहाँ अधिक दिन नहीं रह सके और शीघ्र ही उन्हें अपनी व्यवहार-कुशल बनाने की ट्रेनिंग समाप्त कर देनी पड़ी, क्योंकि चेतन एक और तूफ़ान में घिर गया।

आँगन की पिछली दो कोठरियों में जो पहाड़ी युवक रहते थे उन्हीं दिनों उनके यहाँ एक लड़की कहीं से आ गयी। कहने को तो उन युवकों में से एक उसका चचा कहलाता था और दूसरा भाई, पर पूछने पर चेतन को मालूम हुआ कि वास्तव में वह उनके गाँव ही की है। उसकी माँ सौतेली है, पिता ग़रीब है और वे दोनों स्वयं आकर इस इच्छा से लड़की को उसके चचा और भाई के पास छोड़ गये हैं कि कहीं किसी ग़रज़मंद के हाथ पाँच-सात सौ लेकर उसे बेच दिया जाय। चेतन जब रात को दफ़्तर से आता तो उस अँधेरी कोठरी में रोशनी होती और वह आँगन के

दरवाज़े में खड़ा उनकी बात-चीत सुना करता। खड़े-खड़े जब वह थक जाता और इतनी देर खड़े रहने के बावजूद कुछ समझ न पाता तो जाकर लेट जाता।

वह लेट तो जाता पर सो न पाता।

जब से वह लड़की आयी थी, वह उन पहाड़ी युवकों के जीवन में कुछ अधिक दिलचस्पी लेने लगा था। उनके खाने की चीज़ें अब अधिक गर्म होतीं। कई बार कोने के चूल्हे में उसने उन्हें तेल में छोटी-छोटी मछलियाँ तलते देखा था। न जाने वे उन्हें रावी से पकड़ लाते अथवा मछली मंडी से सस्ते दामों खरीद लाते। उनकी तीखी बास उसके मस्तिष्क पर छा जाया करती। किंतु मछलियों के बावजूद उसने उन्हें पहले से अधिक दुर्बल और पीला होते देखा था।

किंतु केसर (यही उस लड़की का नाम था) दिन-दिन निखरती जा रही थी। वह जब भी पानी आदि भरने आँगन में जाता तो उस लड़की की आँखें जैसे उसके शरीर में गड़ जातीं—बेधड़क, बेबाक आँखें—वह जैसे उसे आँखों ही आँखों पी लेना चाहती। चेतन उसकी ओर एक बार देखता, फिर आँखें झुका लेता।

केसर सुन्दर न थी, पर तरुणाई ने उसके अंगों में सुन्दरता भर दी थी। फिर किसी ने कहा है न कि जवानी में तो कुतिया भी सुन्दर दिखायी देती है। और यों कुँवारों के लिए तो प्रायः सभी युवतियाँ सुन्दर होती हैं। जब भी वह उसकी ओर दृष्टि उठाता, उसके भरे गाल, उभरी अल्हड़ जवानी उसकी आँखों के सामने आ जाती। केसर के शरीर में शायद कोई विशेष आकर्षण था भी नहीं। रंग साँवला (जो अब कुछ निखर रहा था) उभरे गालों में धँसी हुई छोटी-छोटी आँखें तथा बेढंगी-सी चाल। चेतन जब रात को सोने जाता तो उसके सामने प्रायः केसर का, शरीर के अवगुणों पर छा जाने वाला अल्हड़ यौवन आ जाता। भाई साहब रेलवे रोड के

उस डाक्टर की दुकान पर दिन भर काम करने के बाद थके-हारे आते और खाना खाकर पड़ते ही सो जाते, पर चेतन को दफ़्तर की माथापच्ची और रतजगे के बावजूद नींद न आती। कभी आँख लगती भी तो उसे अजीब-अजीब सपने दिखायी देते। उसका शरीर तन जाता ––इतना कि वह जागने को विवश हो जाता। कड़ुवी, निंदासी आँखें लिये जब वह उठता तो खिन्नता और ग्लानि से उसका मन जल उठता। वह कई बार सोचता 'मुझे क्या हो गया है? अभी प्रकाशो का क़िस्सा पुराना नहीं हुआ कि मैं दूसरा राग छेड़ रहा हूँ। कुछ ही महीनों में मेरा विवाह होने वाला है। मेरे लिए तो किसी दूसरी नारी के बारे में सोचना भी पाप है।' परन्तु जब भी केसर उसके सामने से गुज़र जाती उसके सब विचार धरे-के-धरे रह जाते और वह अनजाने ही में उसके शरीर के आकर्षण की विवेचना करने लगता।

सोमवार के दिन दफ़्तर में उसकी छुट्टी होने के कारण प्रायः वह अपने दोनों कमरे साफ़ करता, फ़र्श धोता और शरीर पर तेल की मालिश करके नहाता। उस समय केसर प्रायः आँगन में रहती। चेतन लाख चाहता कि उसका खयाल न करे, पर वह जहाँ भी जाता, वह किसी-न-किसी तरह उसके सामने चली आती। वह आँगन में होता तो वह अपनी कोठरी की चौखट पर आ बैठती, कमरे में होता तो बाहर उसके चिकों वाले दरवाज़े के सामने किसी-न-किसी चंगड़ानी से बातें करने लगती, दोपहर को जब वह आराम करके ऊपर छत पर जाता कि वहाँ जाकर कुछ पढ़े तो वह ऊपर बरसाती में रहने वाली डाकिए की पत्नी से मिलने के बहाने वहाँ चली जाती।

एक सोमवार को तीन बजे उसके दरवाज़े के सामने चूरन बेचने वाले ने खोंचा रख दिया और वह अपनी तीखी-रसीली आवाज़ में चूरन पर रची हुई अपनी कविता गाकर सुनाने लगा––

चूरन मेरा है मजे दर
इसको खाते नारी नर
इसमें पड़ा है नीलो फ़र

उस चूरन वाले की आवाज़ चेतन को बड़ी भली लगी। वह कमरों की सफ़ाई आदि से निबट, नहा-धो, खाना खाकर आराम-कुर्सी पर बैठा ही था कि यही आवाज़ और इसके साथ ही मुहल्ले भर के लड़कों का एकत्र होता हुआ शोर सुनकर उठा और अपने कमरे के दरवाज़े में चिक के पीछे इस तरह खड़ा हो गया कि उसका शरीर चिक के अन्दर था और हाथ चिलमन से बाहर दीवार पर। उसके देखते-देखते वहाँ केसर आ गयी। बच्चे चूरन ले रहे थे। चूरन वाला उन्हें चूरन बनाकर देता, चूरन में आग की लपट उठाकर तमाशा दिखाता और निरन्तर अपने चूरन का क़सीदा पढ़ता जा रहा था। सहसा चेतन के सारे शरीर में सनसनी-सी दौड़ गयी। केसर दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गयी थी और चेतन के उल्टे हाथ पर उसने अपना गाल रख दिया था। चेतन ने चाहा हाथ खींच ले, पर उसके गाल को चोट न लग जाय, इस विचार से उसने अपना हाथ वहीं रहने दिया। दूसरे क्षण उसने बाहर दृष्टि डाली। बच्चे चूरन की पुड़ियाँ लिये हुए लौट रहे थे और चूरन वाला खोंचा उठाये जाने की तैयारी कर रहा था। चूरन को देखकर चेतन के मुँह में पानी भर आया था और वह उससे पैसे दो पैसे का चूरन माँगने ही वाला था कि चुप हो रहा। उसका दिल धक-धक कर रहा था, शरीर गर्म हो रहा था। चूरन वाला चला गया तो केसर ने चिक में से देखा। "तुमने नहीं लिया चूरन बाबू जी?" और वह हँसी।

चेतन ने उसका हाथ पकड़कर उसे अन्दर खींच लिया। वह अनजान-सी ताक में रखे हुए चेतन के चित्र को देखने लगी जो उसने अस्पताल रोड के एक सफ़री फ़ोटोग्राफ़र से छः आने में खिंचवाया था। चित्र में

वह मानो पुकारकर कह रहा था 'हट जाओ हम फ़ोटो खिचवा रहे हैं।'

चेतन ने जल्दी से किवाड़ लगा लिये और केसर के पीछे जा खड़ा हुआ।

"यह आप का फ़ोटू है," केसर ने बड़ी भोली-सी निगाहों से मुड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा।

पर चेतन की नसों में रक्त उबल रहा था, उसका कंठ सूखा जा रहा था और एक मीठा-सा कम्पन रह-रहकर उसके शरीर में दौड़ रहा था। केसर के शरीर का अल्हड़पन उसके मन पर पूरा असर कर रहा था और उसके प्रश्न का उत्तर उससे न बन रहा था। निमिष मात्र के लिए उनकी आँखें मिलीं......चेतन ने एक बार एक बिल्ली पाली थी। जब वह उसकी गोद में आना चाहती तो ऐसी ही आँखों से उसकी ओर देखती थी और वह उसे उठाकर अपनी गोद में धर लेता। केसर की उन आँखों को देखकर न जाने क्यों चेतन को उस बिल्ली की याद हो आयी और उसी की तरह उसने केसर को बाँहों में भर लिया। बिल्ली की ही भाँति दुबक-कर वह उसके सीने से आ लगी। उसने केसर के उभरे हुए गालों को चूम लिया। एक लिजलिजी-सी ठंडक उसके शरीर में दौड़ गयी जैसे उसने मेंढक के शरीर को चूम लिया हो। पर उसके शरीर का तनाव कम न हुआ और वह तनाव प्रतिक्षण बढ़ता गया। वह उसे अन्दर कोठरी में ले गया। उसे चारपाई पर डालकर उसने कोठरी का दरवाज़ा बन्द कर दिया और बत्ती जलायी और उसके पास जा बैठा। केसर चौंकी, पर उठी नहीं।

किंतु उसे तो नारी के अंगों का भी ज्ञान न था। और उसके शरीर की आग जैसे धधक उठने को आतुर थी......

कुछ क्षण बाद केसर चली गयी। वह खिन्न मलीन वहीं खड़ा रहा।

उसने चारपाई की ओर देखा। साफ़ बिछी हुई चादर पर कुछ सिलवटें पड़ गयी थीं और केसर के मिट्टी सने पैरों के दो निशान बने हुए थे—

चेतन को लगा जैसे वे दो हथौड़े थे जो उसके सिर को निरन्तर चोटें लगा रहे थे—काश अनन्त वहाँ होता !

अनन्त का ध्यान आते ही उसका अट्टहास उसके कानों में गूँज गया— "तुम तो नपुंसक हो !" तो कहीं सचमुच वह नपुंसक ही तो नहीं ! और उसकी आँखों के सामने पत्र-पत्रिकाओं में नित्य छपने वाले विज्ञापन फिर गये। ज़रूर ही उसे कोई गुप्त रोग है। और उसने विवशता से कमरे में चारों ओर देखा। वह अवश्य किसी औषधि का सेवन करेगा। औषधि का ध्यान आते ही उसे मुन्शी गिरिजाशंकर का स्मरण हो आया। कुछ देर ठहर, उसने फिर एक बार नहा-धोकर कपड़े बदले और मुन्शी गिरिजा-शंकर के पास जा पहुँचा।

यह मुन्शी गिरिजाशंकर भी विचित्र आदमी थे। पीपल वेहड़ा ही में रहते थे, लेकिन उनकी दुकान (फ़ारमेसी) पीपल वेहड़ा के बाहर बाज़ार में डाकखाने के बराबर थी। पोपला मुँह, बड़ी-बड़ी मूँछें, मूँछों में से झाँकते हुए पान और तमाखू की कालिमा से स्याह पड़ जाने वाले दाँत और थलथल-पिलपिल शरीर ! धोती और मलमल का कुर्ता पहना करते, माप-मापकर चलते, जाँच-तोलकर बात करते। उनके चलने और बातें करने से ऐसा लगता कि जीवन में यह व्यक्ति बड़ा सतर्क है। कई बार तो ऐसा भी आभास मिलता कि उनकी यह सतर्कता नीचता की ओर झुकी हुई है।

अपनी फ़ारमेसी से मुन्शी जी अपने ही नाम की एक मासिक पत्रिका

भी निकालते थे। देखने में उनकी मासिक पत्रिका यद्यपि साहित्यिक थी, किंतु उसमें किसी बड़े लेखक के लेख अथवा किसी बड़े कवि की रचनाएँ न होतीं। 'गिरिजा' के ग्राहक ही प्रायः उसके लेखक थे। इन लेखों के सुधार में मुन्शी साहब को जो परिश्रम करना पड़ता उसकी दाद वे प्रायः अपने मित्रों से माँगा करते थे। इसके अलावा (साहित्य के नाम पर) 'गिरिजा' के वार्षिक चंदे के लिए वे अपने ग्राहकों को बेहद गिड़गिड़ाकर चिट्ठियाँ लिखा करते थे। ऐसी कुछ चिट्ठियों का अनुभव स्वयं चेतन को भी प्राप्त था।

एक बार हुनर साहब के अनुरोध पर उसने तीन रुपये 'गिरिजा' के वार्षिक चंदे के रूप में भेज दिये थे और इसके बदले में हुनर साहब ने उसकी एक कहानी 'गिरिजा' में छपवा दी थी। जब वर्ष समाप्त होने पर चेतन ने पुनः चंदा न भेजा तो उसके दो-तीन महीने बाद तक मुन्शी गिरिजाशंकर की चिट्ठियाँ उसे मिलती रही थीं। चेतन को महसूस होने लगा था कि यदि सचमुच उसने चंदा न भेजा तो साहित्य में नये लेखकों के रूप में नवजीवन का संचार करने वाली (इसीलिए साहित्य को नया मार्ग दिखाने वाली) पत्रिका का सदैव के लिए अन्त हो जायगा और इस पथप्रदर्शन के बिना साहित्य बेचारा ऊबड़-खावड़ मार्गों में भटकता, गहन अँधेरी गुफाओं में जा गिरेगा। वह पत्रिका का चंदा भेज देता, पर वह किसी तरह भी उतने पैसे न जुटा सका था।

साहित्यिक वेष-भूषा के पीछे 'गिरिजा' एक विज्ञापन से अधिक महत्व न रखती थी। यह विज्ञापन था 'गिरिजा फ़ारमेसी' की दवाइयों का। मुन्शी गिरिजाशंकर साहित्यिक होने के साथ-साथ वैद्य भी थे और 'गिरिजा' को उन्होंने अपनी औषधियों के प्रचार का साधन बना रखा था। इन औषधियों से वे देश के पीत-वर्ण युवकों को गिरिजा-पति-सा सशक्त और तेज़वान बना देंगे—इस बात का प्रचार वे निरन्तर किया

करते थे। उनके इन्हीं विज्ञापनों के कारण इस विपत्ति में चेतन उनके यहाँ पहुँचा था।

जब वह मुन्शी जी के दफ़्तर (फ़ारमेसी या दुकान जो कुछ भी कहिए वही एक कमरा था) पहुँचा, तो पहिले-पहल शर्म के मारे उसके मुँह से बात न निकली। फिर कुछ देर बैठकर इधर-उधर की बातें करके, साहस बटोर, उसने कहा, "मेरा दिमाग़ कुछ कमज़ोर है, मुझे कोई शक्ति-वर्धक दवाई दीजिए।"

मुन्शी गिरिजाशंकर अपनी घनी मूँछों में इस तरह मुस्कराये जैसे सब कुछ समझते हों, उन्होंने उसे लाल रंग की रत्ती भर दवा दी— "उबला अंडा अथवा मक्खन की टिकिया लेकर उसमें एक तिनका भर यह दवा डाल देना।" उन्होंने मूँछों में मुस्कराते हुए कहा "सात दिन के सेवन से तुममें वह शक्ति भर जायगी कि बस...!"

और दो दिन ही वह दवा खाने से चेतन की नींद हराम हो गयी। उसे ऐसे स्वप्न आते उसका शरीर ऐसा तन जाता कि उसे रात को एक न एक बार उठना पड़ता। सात दिन लगातार ऐसा ही होता रहा। आखिर उसने भाई साहब को बता दिया। "मुझे कोई कमज़ोरी महसूस होती हो," उनसे कहा, "यह बात नहीं, पर मेरे मन-मस्तिष्क पर बोझ-सा पड़ता जाता है।" और उसने भाई साहब को यह भी बता दिया था कि उसने एक दवाई की दो-तीन ख़ुराकें खायी हैं।

तब भाई साहब ने दवाई की पुड़िया और एक दो उबले अंडे (जो चेतन अपने होटल-नुमा तंदूर से ले आया था) उठाकर बाहर फेंक दिये और फिर उसे डाँटा कि तुम स्वस्थ हो, अविवाहित हो तुम्हें दवाइयाँ न खानी चाहिएँ।

चेतन ने संशय प्रकट करते हुए कहा था, "शायद मैं कमज़ोर हूँ।"

हँसकर भाई साहब ने कहा था, तुम्हें कहाँ से कमज़ोरी आ गयी!" और फिर उन्होंने उसे समझाया था, "आज-कल जो इतनी वासना से लपलपाती रद्दी कोकशास्त्र रूपी पुस्तकें छपती हैं उन्हें पढ़कर ९५ प्रतिशत युवकों को इस बात का संशय हो जाता है कि वे किसी गुप्त रोग से ग्रसित हैं और फिर आये दिन क्या दैनिक, क्या साप्ताहिक और क्या मासिक, समस्त पत्र-पत्रिकाओं में 'इसके पढ़ने से बहुतों का भला होगा,' 'संन्यासी जी की करामात'; 'नामर्द मर्द, मर्द जवांमर्द हो गया'—की क़िस्म के जो विज्ञापन छपते हैं, यह उस संशय को पक्का कर देते हैं। और बेचारे युवक उन हकीमों, वैद्यों और संन्यासियों के चक्कर में पड़कर सचमुच ये बीमारियाँ मोल ले लेते हैं। दोष तुम्हारा नहीं," उन्होंने कुछ रुककर कहा, "हम लोगों में यह खराबी है कि जिन विषयों के सम्बन्ध में युवक लड़के-लड़कियों को वय-सन्धि के अवसर पर ही पूरा ज्ञान देना चाहिए, उनकी ओर संकेत करना भी पाप समझा जाता है।"

अपनी धुन में भाई साहब ने चेतन को यौन सम्बन्ध के बारे में कुछ आवश्यक बातें (जितनी कुछ उन्हें मालूम थीं और उन्हें विवाहित होने के बावजूद कुछ अधिक मालूम न था) चेतन को बतायीं। उसे समझाया कि वह बिना उनसे पूछे किसी वैद्य हकीम या डाक्टर से कोई दवा मत खाये। फिर वे उसे डाक्टर के यहाँ ले गये जिसकी दवा से चेतन की बेचैनी कुछ कम हुई।

यह तूफ़ान तो गुज़र गया, पर इसका परिणाम यह हुआ कि भाई साहब को व्यवहार-कुशलता की अपनी ट्रेनिंग बीच ही में छोड़ देनी पड़ी और दूसरे ही दिन चेतन की शादी के सिलसिले में अपना प्रण शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने के लिए जालन्धर जाना पड़ा। चेतन ने उनको विश्वास दिला दिया कि इस बीच में वह उनके काम की ओर से ग़ाफ़िल न होगा।

२०

चेतन के भाई ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दी, विवाह की तिथि वे अत्यन्त निकट ले आये।

इस सम्बन्ध में माँ को मनाने की तो कोई आवश्यकता ही न थी। वे तो इस शुभ घड़ी की प्रतीक्षा कर ही रही थीं और कई बार इस कर्कशा बड़ी बहू से अपनी भावी छोटी बहू के शील स्वभाव की तुलना करके कल्पना-ही-कल्पना में सुख का अनुभव कर चुकी थीं।......आशाओं के सहारे मनुष्य जीता चला जाता है। एक टूटती है दूसरी का सहारा लेता हैं, दूसरी टूटती है तीसरी को पकड़ता है, फिर चौथी और पाँचवीं को......किंतु पिता अपने इस पुत्र को विवाहित देखने के लिए कुछ इतने उत्सुक न थे। वे तो उसे पूरा ब्रह्मचारी बना देखना चाहते थे। "पुराने आदर्शों और पुराने सिद्धान्तों को छोड़ने ही से देश और जाति की यह दुर्गति हो रही है," वे मूँछों पर ताव देते हुए कहते, "चारों ओर साहस-हीन, बलहीन, पीत-वर्ण युवक युवतियाँ दिखायी देते हैं, जो न ठीक तरह हँस सकते हैं, न खेल सकते हैं और न जीवन के दूसरे आनन्द लूट सकते हैं।"

और फिर वे ठहाका मारकर हँसते और ऊँचे स्वर से कुश्ती लड़ने और कबड्डी तथा गदका खेलने और राष्ट्र के निर्माण में इन खेलों के महत्व पर उपदेश देने लगते।

लेकिन इस सब आदर्शवाद की तह में जो बात थी उसे चेतन के बड़े भाई भली-भाँति समझते थे। जी भर पीने और जी भर उड़ाने और उस पीने और उड़ाने के लिए जी भर क़र्ज़ लेने के कारण पंडित शादीराम ने कभी इतना धन-संचय न किया था कि वे विवाह ऐसी 'व्यर्थ की रस्मों,' पर ख़र्च कर सकते—विशेषतया उस समय जब लड़का ब्रह्मचर्य-आश्रम को भी न पार कर पाया हो। इसलिए आदर्शों की बात छोड़कर चेतन के भाई ने इसी आर्थिक कठिनाई का हल उन्हें सुझाया था—

"विवाह तो बस्ती ही में होने वाला है," उन्होंने कहा था, "ख़र्च अधिक न होगा। फिर इतनी रस्मों की भी क्या आवश्यकता है ? बस आर्य-समाजी रीति से विवाह हो जाय। गहने कपड़े कुछ माँ ने बनवा ही रखे हैं, अपने लिए कपड़ों की कोई ऐसी ज़रूरत नहीं, यही पहनकर चले जायँगे। फिर छुट्टी भी आपको ज़्यादा न लेनी पड़ेगी। और उन्होंने क्षण भर रुककर कहा था—"आख़िर जब शादी करनी ही है तो समय पर क्यों न कर दी जाय।"

यह कहकर चेतन के भाई ने उसके ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में भी सांकेतिक रूप से एक दो बातें कह दी थीं।

"चेतन अब लाहौर में है," उन्होंने कहा था, "वहाँ प्रलोभन के साधनों की कमी नहीं। कौन जाने किस समय ब्रह्मचर्य को सम्हालता-सम्हालता युवक उसे लुटा बैठे। फिर गुनाह में भी एक तरह की लज्ज़त होती है और युवक यह जानता हुआ भी कि वह गुनाह कर रहा है उसे बार-बार करता है...।"

चेतन के पिता मान गये थे। तय यह हुआ कि प्रावीडेंट फंड से साढ़े

पाँच सौ रुपया निकाल लिया जाय (पिछला क़र्ज़ उसी महीने पूरा जो हो रहा था) गहने कुछ-न-कुछ बने हुए हैं और सुधार की शादियों में दिखावे की भी कोई वैसी आवश्यकता नहीं।

पंडित शादीराम ने अपनी ओर से स्वीकृति देते हुए इतना और कहा था कि देसराज के होते हुए किस बात की चिन्ता है? वह सब प्रबन्ध बड़ी आसानी से कर देगा।

देसराज जिस तरह का प्रवन्ध कर सकता था, इसका पता बारात जाने के दो दिन पहले बखूबी चल गया।

थका-हारा चेतन लाहौर से आया था। आँगन में कड़ाही रख दी गयी थी और शीरनी और शकरपाले तैयार हो रहे थे। माँ ऊपर व्यस्त थी। बड़े भाई दर्ज़ी से अपना सूट सिलवाने बाज़ार गये हुए थे। छोटे भाई परसराम को नया-नया अखाड़े जाने का शौक़ लगा था। आख़िर पंडित शादीराम के उपदेश व्यर्थ न गये थे और वह देश के पुनर्निर्माण में पूरी तरह संलग्न था। विवाह हो अथवा मृत्यु—उसके लिए अखाड़े जाने के नियम को तोड़ना कठिन था। छुट्टियों के दिन थे। चौदह-पन्द्रह वर्ष की उम्र, विवाह का अर्थ वह अधिक न समझता था, और प्रातः का गया हुआ दस बजे से पहले अखाड़े से कभी न लौटता था। चेतन ने नीचे ही से माँ को प्रणाम किया और पूछा पिता जी किधर हैं?

मालूम हुआ कि देसराज के यहाँ गये हुए हैं।

पूछा, "वहाँ क्यों गये हैं?"

पता लगा, "साड़ी पर कुछ सलमे का काम कराना था इसलिए वहाँ गये हैं।"

देसराज का घर क़िले मुहल्ले में था और क़िले मुहल्ले से तनिक दूर पुरियाँ मुहल्ला है. . .और वहीं कुन्ती का घर है. . .और अपने इस

विवाह से पहले वय-सन्धि के अपने शर्मीले प्यार की उस मूर्ति को देखने की आकांक्षा चेतन के मन में उत्पन्न हो उठी।

यह ठीक है कि इस बीच में कुन्ती का विवाह हो गया था, वह एक बच्चे की माँ भी बन चुकी थी (और शायद दूसरे की माँ बनने की तैयारी कर रही थी) किंतु चेतन जब भी लाहौर से आता पुरियाँ मुहल्ले की ओर एक बार ज़रूर जाता।

शायद वर्तमान की कुन्ती का नहीं, अतीत की कुन्ती का आकर्षण उसे सदैव उधर ले जाया करता था। वह न होती तो उसके घर की ओर एक नज़र देखकर ही उसे सन्तोष हो जाता।

नीचे आँगन ही से उसने आवाज़ दी, "मैं पिता जी को देसराज के यहाँ देखने जा रहा हूँ।"

माँ ने बहुतेरा कहा कि अभी तू आया है, कुछ पानी-वानी पी, ऊपर आ...पर चेतन नहीं रुका।

कुन्ती! अपने विवाह के बाद वह उससे मीलों दूर चली गयी थी; किंतु चेतन की अपनी शादी के बाद तो शायद वह स्मृति से भी परे चली जायगी। जब उसके सम्बन्ध में सोचना भी दूसरे से बेवफ़ाई करने के बराबर होगा, तो क्यों न सदैव के लिए बिछुड़ने से पहले उसे एक नज़र देख लिया जाय......। यही सोचकर, माँ के अनुरोध की उपेक्षा करके चेतन अपने पिता को देखने के बहाने उधर चल पड़ा था।

सुन्दर तीखा चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखें, अरुणिमा का जैसे उपहास-सा करते हुए मुस्कराते ओठ, लाल साड़ी, यौवनभार को सम्हाल सकने में जैसे असमर्थ शरीर, लाल चूड़ा जिसकी चूड़ियों की सुनायी न देने वाली झंकार ने उसके मन-प्राण को झंकृत कर दिया था—विवाह के बाद यह था कुन्ती का चित्र। उसके मस्तक के घाव का निशान

जो द्वितीया के चन्द्र की भाँति माथे पर सुशोभित था और भी साफ़ हो आया था और यह सब चेतन के हृदय पट पर अमिट रूप से अंकित था।

उन दिनों वह लाहौर से एक दिन के लिए जालन्धर आया था और किसी अज्ञात प्रेरणा से अनन्त को साथ लिये उधर जा निकला था। अनन्त ही ने उसे बताया था कि 'उसकी' कुन्ती का विवाह हो गया है—'भोगपुर सीरवाल' के एक मोटे से पंडित के साथ, जिसने वहीं पुरियाँ मुहल्ले के पास ही, होश्यारपुर के अड्डे पर एक प्रेस खोल लिया है।

लेकिन कुन्ती अपनी इस होश्यारपुर के अड्डे वाली ससुराल में न थी। अपने मायके ही में कुएँ पर वह अपनी एक सहेली के साथ चर्खी पर पानी भर रही थी। दूर ही से अनन्त और चेतन ने उसे देखा और फिर, जैसा वे पहले कई बार किया करते थे, अनन्त आगे-आगे भागा और चेतन पीछे-पीछे—जैसे अनन्त ने उसकी कोई वस्तु छीन ली हो और चेतन उसे पकड़ना चाहता हो। ऐन कुएँ के पास जाकर चेतन जैसे थककर रुक गया और उसने अनन्त को पुकारकर कहा, "तुममें नयी शादी का जोश है भाई, अब मैं तुम्हें काहे को पकड़ सकूँगा?"

तब जिसकी नयी शादी हुई थी उससे उसकी आँखें चार हुईं। कुन्ती के ओठों की मुस्कान और फैल गयी। चर्खी उसके हाथ से छूट गयी और घर्र-घर्र करती हुई बाल्टी धम से नीचे पानी में जा गिरी। वह स्वयं एक ओर कूद गयी और हँसते-हँसते उसके पेट में बल पड़ गये। तब कुएँ की जगत पर खड़ी सहेली ने दूसरी भरी बाल्टी से चन्द छींटे उस पर उड़ा दिये और चेतन की ओर देखती हुई कुन्ती भागी। कुएँ की जगत से कूदकर उसके पीछे भागते हुए सहेली और वह दोनों चेतन के पास से गुज़र गयीं। पर सहेली न पा सकी उसे। हारकर उसने कहा, "मैं कहाँ पकड़ सकूँगी, तुम्हें वही पकड़ेंगे।"

एक बार फिर कुन्ती की आँखें चेतन की आँखों से चार हुई थीं।

वहाँ पहले से अधिक उल्लास, पहले से अधिक चमक और शायद पहले से अधिक निमन्त्रण था।

चेतन अनन्त से जा मिला। वह जानता था कि पानी भरते-भरते एकदम जो कुन्ती में इतनी स्फूर्ति आ गयी, यह सब उसी के कारण थी। लेकिन वह सहसा गम्भीर हो गया था। सहेली की बात ने जैसे दहकता हुआ हथौड़ा उसके हृदय पर दे मारा था। वह अब उसे कहाँ पकड़ पायेगा। वह ज्यों-ज्यों उसके पीछे भागेगा मरीचिका-सी वह दूर होती जायगी। उसे पकड़ पाने वाला कहीं प्रेस के कम्पोज़िटरों के साथ माथापच्ची कर रहा होगा और रह-रहकर अपनी लम्बी चोटी और घुटे हुए सिर पर हाथ फेर रहा होगा।

इस सुख भरे दिन की मधुर स्मृति में खोया चेतन क़िले मुहल्ले के पास पहुँच गया। उसने देसराज के घर में अपने पिता के विषय में पूछा। मालूम हुआ कि आये तो थे पर कर्तार सिंह थानेदार के साथ चले गये हैं और जाते-जाते देसराज को भी ले गये हैं।

यह कर्तार सिंह पं० शादीराम के लँगोटिया यारों में से थे और उनके आने का एक ही अभिप्राय हुआ करता था। बाज़ार शेख़ाँ और उसमें उस 'तरल आग' का व्यवसाय करने वाले अथवा करने वाली के यहाँ बैठक! तब चेतन ने निर्णय किया कि वह अपने पिता से अवश्य पूछेगा कि उन्होंने उसे क्या वचन दिया था। उसने तीन पत्रों में लिखा था कि कम-से-कम विवाह के चार दिन वे कृपा कर मदिरा से परहेज़ रखें; फिर चाहे प्रलय पर्यन्त बाज़ार शेख़ाँ में पड़े रहें और उसके पिता ने विश्वास दिलाया था कि उन्हें स्वयं इस बात का ध्यान है, बस्ती में शादी है और उन्हें अपनी इज्ज़त कम प्यारी नहीं है। वे शराब को हाथ तक न लगायेंगे।

लेकिन वह पुरियाँ मुहल्ले की ओर बढ़ चला। इस दुखद प्रसंग को उसने अपने मन से हटा दिया और अनायास ही एक दूसरा चित्र वहाँ बनने लगा––वह एक बार फिर जालन्धर आया था। कुन्ती इस बीच में एक बच्चे की माँ बन चुकी थी। उसे ख़याल तो न था कि वह उससे मिल सकेगा, किंतु संयोग-वश उस दिन वह अपने पुरियाँ मुहल्ले वाले मकान की खिड़की ही में बैठी थी। सुबह का समय था। शायद स्नान करके सफ़ेद धोती उसने पहन रखी थी, जिसमें से उसके काले खुले, लम्बे सुकोमल केश साफ़ दिखायी दे रहे थे। उसकी गोद में उसका बच्चा था। चेतन को देखकर वह मुस्करा दी थी। धोती का छोर उसके सिर से खिसक गया था और चेतन का हृदय धक से रह गया था। ओह! वह पहले से कहीं अधिक सुन्दर दिखायी देती थी। उसकी आँखों में वही चमक थी वही दमक और वही आमंत्रण......

और बच्चे से कुन्ती ने धीरे से कहा था––ऐसे कि गली से गुज़रता हुआ चेतन सुन ले––"गुड्डू जाओ अपने मामा के पास।" और वह हँस दी थी......

चेतन पुरियाँ मुहल्ले के पास पहुँच गया। गली के मोड़ से उसने खिड़कियों की ओर देखा। बन्द थीं। वह आगे बढ़ा। कुछ उदासी-सी उसे हर तरफ़ छायी हुई दिखायी दी।

दो स्त्रियाँ जल्दी-जल्दी बातें करती हुई उसके पास से गुज़र गयीं।

"रामो बेचारी......"

"यह धन ही ऐसा है, यह सम्पत्ति किसी को न फलेगी।"

और आह भरकर पहली ने कहा, "लेकिन जवानी का रँडापा, इससे तो मौत अच्छी है।"

होश्यारपुर के अड्डे की ओर जाने वाली ढालुवीं गली में वह उतर रहा

था कि उसे दो और वृद्धाएँ मिलीं।

"अभी उमर ही क्या है?" एक कह रही थी, "न कुछ खाया न पहना!" और दूसरी ने दीर्घ-निश्वास छोड़ा।

चेतन अपने विचारों में मग्न जा रहा था कि गली की नुक्कड़ के पास उसे उसका पुराना मित्र गच्चो लकड़ी के टाल पर बैठा हुआ मिल गया।

"बड़ा बुरा हुआ" जैसे उसने चेतन से शोक प्रकट करते हुए कहा।

चेतन ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा।

"कुन्ती का पति मर गया।

"कुन्ती का पति!" चेतन अवाक खड़ा रह गया, "पर वह बीमार तो न था।"

"नहीं कोई ज़्यादा बीमार नहीं हुआ," गुरबचन ने कहा, "टायफ़ाइड था। बस आठ दिन में खतम हो गया।"

चेतन वहीं उसके साथ तख़्त पर बैठ गया।

"साथ तो चलोगे।"

"हाँ चलूँगा!"

और पहली बार चेतन को ऐसा लगा जैसे उसके किसी आत्मीय की मृत्यु हो गयी हो। उस मोटे थलथल-पिलपिल पंडित के प्रति उसके हृदय में कुछ ऐसा स्नेह उमड़ आया जैसे वह उसका ही कोई भाई था। मन-ही-मन उसने अपने-आपको समझा लिया। कुन्ती पंडित पोल्होराम की नातिन थी और पंडित पोल्होराम उसके पिता के अभिन्न मित्र थे। तो फिर अर्थी के साथ उसे जाना ही चाहिए। किंतु अपने पिता की ओर से मित्रता निभाने के विचार की तह में कहीं अज्ञात-रूप से अपने पिता के मित्र की इस नातिन को एक नज़र देखने की इच्छा भी उसके मन में दबी पड़ी थी।

चेतन एक डेढ़ घंटा वहीं तख़्त पर बैठा रहा। दोपहर होने को आ

गयी थी। धूप तेज हो चली थी, लेकिन अर्थी का कहीं निशान तक न था। चेतन ने एक-दो बार सोचा भी कि चला जाय, पर इतना समय गँवाकर निराश लौट जाना उसे स्वीकार न हुआ। आखिर जब दो बजे के लगभग कहीं अर्थी निकली तो वह भी उसके साथ हो लिया।

श्मशान भूमि में उसने पहली बार कुन्ती को देखा। पुरुष वहाँ किसी दानी द्वारा बनवाये गये पक्के बरामदे में खड़े थे और स्त्रियाँ सामने श्मशान के ऊँचे दरवाज़े की छाया में खड़ी रो-पीट रही थीं कि आग देने से पहले शव को लकड़ियों पर रखकर एक वृद्ध ने कहा "बेटी को ले आओ मुँह देख जाय।"

तब उसने देखा कि तपती धूप में नंगे पाँव, सफ़ेद धोती पहने, मूक मर्माहत-सी कुन्ती धीरे-धीरे आगे बढ़ी। इन सात आठ दिनों ही में वह अत्यन्त दुबली हो गयी थी। हिम ऐसे श्वेत चेहरे पर सिर्फ़ लम्बी नाक ही दिखायी देती थी और आँखें जैसे शून्य में खोयी-खोयी भटक रही थीं। वह न रो रही थी, न अपनी बड़ी बहन रामो की तरह छाती पीट रही थी। वह चुप थी जैसे उसकी चेतना को भी मृत्यु सूँघ गयी हो।

धीरे-धीरे वह चिता के पास आयी। वृद्ध सज्जन ने शव के मुँह से कपड़ा हटाया और उसके एक नज़र देख लेने के बाद फिर ढक दिया। कुन्ती ने पीछे हटकर शव के चरणों को छुआ और जैसे आयी थी वैसे ही निस्पन्द और निष्प्राण-सी चली गयी।

चेतन ने चाहा वह उन सुकोमल तलवों के नीचे उस जलती तपती धरती पर लेट जाय! . . . . . वह सशरीर चाहे न लेट सका हो पर उसकी निगाहें उस समय तक धरती पर लोटती रहीं जब तक कि जाकर वह श्मशान के दरवाज़े पर खड़ी स्त्रियों में शामिल न हो गयी।

वापसी पर चेतन का मन भारी रहा। कुन्ती की वही म्लान, विवर्ण

मूर्ति उसके सामने रही। ब्रह्मकुण्ड के रँहट पर उसने जल्दी-जल्दी स्नान किया और फिर वह उसके गेट पर आकर इस प्रतीक्षा में खड़ा हो गया कि स्त्रियाँ गुफा से स्नान करके आयें तो वह उनमें उस म्लान मुख को एक नज़र और देख ले। कौन जाने फिर वह मुख उसे कभी देखना नसीब होगा या नहीं। कुन्ती की इस आकृति में कुछ ऐसी बात थी, कुछ ऐसी दबी-घुटी, सहमी-डरी वेदना, कुछ ऐसी करुणा और अवसाद था कि वह प्रयास करने पर भी उसे भूल न पा रहा था।

कुछ देर बाद गुफा की बावली से नहाकर आने वाली स्त्रियाँ ब्रह्मकुण्ड के सामने से गुज़रने लगीं। कुछ अपने जीवन में कई शादियाँ और मौतें देखकर अब स्वयं धीरे-धीरे मृत्यु की ओर सकरने वाली वृद्धाएँ थीं—झुकी कमरें, हिलता-डोलता लहँगा पहने, गीली धोतियाँ हाथों में लिए, गीला दुपट्टा नंगे बदन पर लपेटे अपनी ढीली, रक्त-मांस-हीन लटकती छातियाँ लिये, अपने बे-दाँत के पोपले मसूढ़ों को चबाती, मृत्यु के सम्बन्ध में अपनी अनुभूतियों का विनिमय करती चली आ रही थीं। कुछ अधेड़ स्त्रियाँ भी घाघरे अथवा धोतियाँ पहने गले में गीली क़मीज़ें और सिर पर गीले दुपट्टे ओढ़े इन सब मौतों के मध्य भविष्य की आशाओं के सहारे सीधी चलती, बातें करती, न जाने कौन-सी बात पर नाक भौं चढ़ाती चली आ रही थीं। बीच में दो स्त्रियों के सहारे जैसे हर क़दम पर बेहोश होने को होती हुई पीटने के कारण लाल नंगी छाती को धोती के छोर से ढके रामो थी। उसके पीछे चेतन ने देखा कुन्ती चुपचाप, नंगे पाँव वैसे ही खोयी-खोयी-सी चली आ रही है। गीली धोती उसके शरीर से चिपटी हुई थी और उसके मुख पर वही वेदना थी, आँखों में वही अवसाद . . . . . !

एक बार दरवाज़े पर खड़े चेतन की ओर उसने देखा। उसके मुख पर वही शून्यता, वही ठंडक, वही मृत्यु की-सी सफ़ेदी थी, और फिर निमिष-मात्र में उसने वह अनुरागहीन, भावनाहीन, चेतनाहीन दृष्टि भी फेर ली।

किंतु चेतन के हृदय में दूर तक वह दृष्टि धँसती चली गयी और उसने जैसे सुना वह दृष्टि कह रही थी—बस अब विदा! अब मैं तुम्हारी ओर देख भी न सकूँगी। पति की छत्र-छाया में रहने वाली स्त्री हँस-बोल सकती है, चाहे तो प्रेम कर सकती है, और यदि चाहे (पति दुर्बल हो, नारी चलती हुई हो) तो सन्तान तक पैदा कर सकती है। समाज उसे कुछ न कहेगा, लेकिन विधवा! ......और उसने सोचा कहीं वह स्वतन्त्र होता और कहीं वह भी स्वतन्त्र होती—और जैसे स्वतन्त्र देशों के पुरुष-स्त्रियाँ......लेकिन फिर उसे ख़याल आया कि वह तो शादी करने आया है और उसने चाहा कि सब कुछ छोड़कर कहीं भाग जाय—कहीं ऐसी दुनिया में जहाँ कोई न हो—न इंसान, न समाज और वह पंछी बन जाय—स्वतन्त्र, स्वच्छन्द और आकाश की गहराइयों में उड़ानें भरता फिरे! ......

लेकिन न वह भागा, न पंछी बना। शाम होते-होते घर वापस आ गया। थका ऊबा और चिढ़ा हुआ। उसकी रूह पर जैसे अगणित शताब्दियों से होने वाली मौतों का भार था, अगणित युवतियों के मूक क्रन्दन जैसे उसके कानों में गूँज रहे थे और बेड़ियों में जकड़े हुए युवा हृदय जैसे उसकी आँखों के सामने सिसककर, घुटकर दम तोड़ रहे थे।

२१

माँ ने कहा, "बेटा बड़ी देर लगा दी, मिले नहीं ?"

"मिलते कहाँ ? चेतन ने चिढ़कर कहा, "देसराज और थानेदार कर्तार सिंह के साथ कहीं बाज़ार शेखाँ में बैठे होंगे"—और वह चुपचाप नीचे बैठक के पास वाले कमरे में जा बैठा।

इस अपने चिर-परिचित कमरे में बैठे-बैठे कई घटनाएँ मूर्तिमान होकर उसके सामने आयीं। वह कुन्ती से पहली भेंट, वय-सन्धि का वह लजाया-शर्माया प्यार, मुहल्ले वालों से डरी-सहमी दृष्टियों का वह विनिमय, प्रेम ......लेकिन फिर वह हँसा.....रस्म-रिवाज की बेड़ियों, जाति-पाँति के झमेलों, चरित्र-निर्माण के कठोर नियमों, बिरादरी और समाज के प्रतिबन्धों में ग्रसा और मानव के रूप में एक दूसरे को निगल जाने के लिए तत्पर दानवों में घिरा हुआ कोई व्यक्ति किस तरह प्रेम का नाम ले सकता है ? अपने निरीह भोले अरमान को भी कोई इससे अधिक क्या पूरा कर सकता है कि घुट-घुटकर मर जाय।

और उसके सामने एक घटना घूम गयी—कन्या महाविद्यालय का

वार्षिकोत्सव था। धूप तेज़ थी और वह घूम-फिरकर एक दुकान पर सोडा-वाटर की बोतल पीने जा खड़ा हुआ था। जब गिलास उसने मुँह से लगाया तो पास ही किसी कल-कंठ से निकला मादक स्वर उसने सुना था। मुड़कर देखा तो उसका दिल धक से रह गया था। ओठों पर एक चंचल चतुर मुस्कान और गोद में किसी सहेली के बच्चे को लिये कुन्ती खड़ी थी।

उसने न पानी पिया था, न शर्बत, न सोडा। वह खड़ी थी और आकांक्षा भरी निगाहों से चेतन को देख रही थी। ज्योंही चेतन ने उसे देखा, वह चल पड़ी। बच्चे को उछालते-उछालते, कभी-कभी मुड़-मुड़कर उसकी ओर देखते-देखते, वह सामने फाटक के पास अपनी सहेलियों में जा मिली थी।

तब सोडे का तीखा पानी एक ही घूँट में गले से उतारकर (यद्यपि उसकी आँखों में पानी आ गया) वह साइकिल उठा, उनके पीछे चल पड़ा। वे शायद जा रही थीं। शायद उनमें से किसी ने ताँगे वाले को आवाज़ भी दे दी थी, क्योंकि ज्योंही वह फाटक के पास पहुँचा, वे ताँगे में बैठ गयीं। कुन्ती पिछली सीट पर बैठी और बैठते-बैठते उसने फिर एक बार चेतन की ओर देखा।

जब ताँगा कुछ दूर चला गया तो उसने पैडल पर पाँव रखा और स्वयं भी तेज़ी से उसके पीछे चला। लेकिन जब दोआबा हाई स्कूल के समीप उसकी साइकिल ताँगे के पास पहुँचने लगी और कुन्ती ने और उसकी एक सहेली ने उचककर उसकी ओर देखा तो उसने साइकिल स्कूल की ओर फेर ली। उसकी सहेलियों पर प्रकट होने देना कि वह उसी के पीछे आया है, उसे स्वीकार न हुआ। अपने से अधिक उसे कुन्ती का ध्यान हो आया। उसने सोचा कि देवी तालाब के ऊपर से होकर वह सड़क पर उन्हें फिर जा मिलेगा और किसी को सन्देह भी न होगा कि वह उनके पीछे आ रहा है। इसे दुर्भाग्य कहिए कि सड़क से स्कूल के मैदान को जाने वाला मार्ग इतना ढलुवाँ था कि एक धचके से उसकी साइकिल की काठी टूट

गयी। ऊपर सड़क पर जाते हुए ताँगे की ओर उसने एक विषाद-भरी दृष्टि डाली और खिन्न मन से पैदल चल पड़ा। होश्यारपुर के अड्डे पर पहुँचा तो वहाँ न ताँगे का निशान था, न कुन्ती का और न उसकी किसी सहेली का! वह एक घंटे तक पुरियाँ मुहल्ले की गलियों में चक्कर काटता रहा। अपने-आप पर क्रुद्ध होता रहा और फल-स्वरूप और भी खिन्न होता रहा, किंतु कुन्ती की शक्ल उसे फिर नहीं दिखायी दी। उसी शाम वह अपनी ससुराल चली गयी थी।

वहीं बैठे-बैठे चेतन को उस घटना पर हँसी आ गयी।

धीरे-धीरे बाहर संध्या बढ़ आयी और अन्दर कमरे में अँधेरा छाने लगा। मुहल्ले में चिल्ल-पों शुरू हो गयी। कुएँ के गहरे पानी में गागरों, घड़ों और बाल्टियों के डूबने की आवाज़ें आने लगीं। चेतन मन-ही-मन पहचानता रहा—यह घड़ा डूबा है, गहरे-गम्भीर स्वर से, यह गागर, यह बाल्टी। फिर उन आवाज़ों के साथ-साथ लोहे की चर्खियों की चीं-चीं, पानी भरने वालों की 'तू-तू' 'मैं-मैं' और फिर साँझ के साथ ही मुहल्ले में जागने वाले उलाहने, कोसने और गाली-गलौज उसके कानों में गूँजने लगा—

"हाय-हाय मेरा घुटना टूट गया, कहाँ गाड़ा है खूँटा रास्ते में। ईश्वर करे सब कुछ ग़र्क हो जाय उनका जो हमें यों तंग करते हैं!"

"क्यों तेरे ग़र्क होने वाला कोई नहीं?—बहू, पोते, पोतियाँ!"

"यह क्यों बाँधी भैंस मेरे दरवाज़े के आगे? खोल दो लाली इसे!"

"अच्छा बड़ी आयी खोलने वाली, खोल तो...!"

"दीसो की माँ देख तेरे दीसो ने मेरे गुल्लू का कैसा बुरा हाल किया है?"

"दीसो बेचारा तो आप सिर दर्द से पड़ा है, वह तो घर से निकला ही नहीं।"

"हाय रे लोगों दौड़ियो, मार डाला मुझे इस बहू डायन ने। नीचे कोठरी में रहती हूँ वहाँ भी यह साँस नहीं लेने देती। मार डाला, मार डाला रे।"

लेकिन इस समस्त कोलाहल में चेतन मौन, स्थिर, निस्पन्द दीवार के साथ पीठ लगाये बैठा रहा और फिर मुहल्ले वालों के चित्रों के ऊपर उसके सामने कई श्रान्त-क्रान्त युवतियाँ तपती रेत पर नंगे पाँव चलती रहीं और वह उनके पाँवों में बिछ जाने को तड़पता रहा और एक मोटी-मुटल्ली फूहड़-सी लड़की उसका दामन खींचती रही।

छोटा भाई कमरे में लैम्प रख गया। बड़ा भाई भी आ गया। छोटा भाई ताश ले आया। दो चार बाज़ियाँ भी खेली गयीं और बे-मन-सा वह खेल में योग भी देता रहा, उनसे बातें भी करता रहा और हँसता भी रहा।

तभी उसने सुना—हरलाल पंसारी की दूकान पर नशे में चूर उसके पिता ऊँचे स्वर के किसी की 'श्रेष्ठता' पर मुग्ध होकर उसे अपने कोष की श्रेष्ठतम गालियाँ प्रदान कर रहे हैं।

ताश का खेल बन्द हो गया।

छोटे भाई ने माँ से जाकर कहा कि पिता जी आ गये हैं। चेतन जैसे रूठकर दीवार के साथ पीठ लगाकर बैठ गया और बड़े भाई लेट गये।

कोने में मकड़ी के एक नये-नये जाले में एक मक्खी कहीं से आ फँसी और उस भिनभिनाती मक्खी पर मकड़ी तेज़ी से अपना फंदा कसने लगी।

दूसरे क्षण पंडित शादीराम मुहल्ले में खड़े अपने अभिन्न-हृदय मित्र लाला रामध्यान की माँ-बहन का नाम लेकर उन पर 'मधुर वचनों' की वर्षा कर रहे थे। उधर से हटकर उन्होंने चेतन के भाई को आवाज़ दी—'रामानन्द!' और साथ ही पूछा कि चेतन आया है या नहीं।

जब चेतन के बड़े भाई ने बढ़कर बैठक का दरवाज़ा खोला और कहा

कि चेतन सुबह का आया हुआ है तो पगड़ी बगल में दबाये लड़खड़ाते हुए पंडित शादीराम अन्दर आये।

पुत्र ने पिता को प्रणाम जैसा कुछ किया और फिर ज़रा तेज़ी से कहा कि वह सुबह से उनकी तलाश कर रहा है और उसने लिखा था कि तीन दिन......

पिता ने कड़ककर कहा, "तुम सुनो तो सही! कर्तार सिंह थानेदार आ गया था, उसके साथ आवश्यक काम से...."

पुत्र ने कहा, "मैं सब जानता हूँ, मैं नहीं सुनता।" और उसने मुँह फेर लिया।

पिता की आँखों में अंगारे जल उठे। शराब के नशे में उन्हें लगा कि उस ज़रा से चिबिल्ले ने उनका अपमान कर दिया है—उनका, जिन्होंने अपने अँग्रेज़ ट्रैफ़िक इन्सपेक्टर तक के मुँह पर थप्पड़ जमा दिया था। और भी कड़ककर उन्होंने कहा, "नहीं सुनता, न सुन, साला, हरामी, ऐडीटर बना फिरता है।"

"गालियाँ न दीजिए!" पुत्र चारपाई पर खड़ा हो गया।

पिता पगड़ी फेंककर और भी मन-मन भर की गालियाँ देते हुए उसकी ओर लपके कि छोटे भाई ने उन्हें रोक दिया।

चेतन उछला—उसने सिर्फ़ इतना देखा कि—"आ पहले तेरी ही पहलवानी देखूँ—" कहते हुए एक बार चेतन के पिता ने छोटे भाई को चारपाई पर गिरा दिया और एक बार छोटे भाई ने पिता को।

सिर का पसीना गले से बहता हुआ पाँवों की ओर चला जा रहा था। स्टेशन पर खड़ी किसी गाड़ी के इंजन का धुआँ वातावरण को और भी गर्म, और भी 'गल-घोंटू' बना रहा था। उनींदी आँखें लिये, पसीने से तर, सफ़ेद ज़ीन के सूट पहने कुछ बाबू थकी हुई चाल से इधर-उधर घूमते दिखायी

देते थे। बाहर अंधकार किसी भयानक प्रेतात्मा की तरह नन्हीं-नन्हीं रोशनियों का गला दबा रहा था और दरमियाने दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने में अगनित परवाने, न जाने कब से, गैस के हंडे से टक्करें मार रहे थे और नीचे फ़र्श पर बेगिनती पंख टूटे पड़े थे।

चेतन लकड़ी के खम्भे से पीठ लगाये, सूटकेस को पास रखे, छोटे-से बिस्तर पर बैठा था।

किसी डरावने सपने की तरह अभी कुछ देर पहले की घटनाएँ उसके सामने घूम रही थीं। उसके भाइयों और उसके पिता में मल्लयुद्ध हुआ था। उसके छोटे भाई ने पिता पर आक्रमण किया हो, यह बात न थी। उसने तो उन्हें सिर्फ़ चेतन को पीटने से रोका था और फिर वह किसी प्रकार का प्रहार किये बिना अपने-आपको बचाता ही रहा था। लेकिन इतने में ऊपर से कहीं आ गयी माँ। बड़े भाई ने उसे दरवाज़े ही में रोका था। लेकिन पति और पुत्र में मल्लयुद्ध हो और वह खड़ी देखती रहे! डरती, काँपती वह आगे बढ़ी थी। तब–"तेरी ही कोख से ऐसे हरामज़ादे पैदा हुए हैं"—यह कहते हुए और गालियाँ देते हुए एक लात पंडित जी ने अपनी पत्नी के जमा दी। दुर्बल, क्षीण काया, हड्डियों का ढाँचा-सा शरीर, वह सीधी मेज़ के कोने में जा लगी।

उस समय भाई साहब ने नशे में मस्त, झूमते और अपनी छोटी-छोटी आँखों से इस दृश्य का रसास्वादन करते देसराज, तथा इकट्ठे होते मुहल्ले वालों को आग्नेय नेत्रों से देखा, फिर अचेत होती माँ को सम्हाल, उसे ऊपर लिटाकर वे लाठी उठा लाये और सब से पहले देसराज की ओर लपके और फिर तमाशाइयों की ओर। उधर से पलटकर उन्होंने छोटे भाई को पिता के निर्दयी पंजों से बचाया।

"तेरी यह हिम्मत!" पंडित शादीराम ने लाठी उठा ली।

तब चेतन फ़र्श पर अपने पिता के सामने बैठ गया कि जो कुछ कहना

है उसे कह लिया जाय। किंतु पाँव की ठोकर से उसे ठेलकर पंडित जी अपने उस बड़े पुत्र की ओर बढ़े। उनका वार बचाकर बड़े भाई ने उन्हें एक ही दाँव में नीचे धर लिया और छोटे बड़े दोनों भाइयों ने उन्हें उनकी ही पगड़ी के साथ कसकर चरपाई से बाँध दिया।

कुछ क्षण के लिए स्तब्ध-सा बैठा चेतन यह सब दृश्य देखता रहा। फिर उसने अपना छोटा-सा बिस्तर—जो अभी तक बैठक के कोने में पड़ा था—उठाया, सूटकेस हाथ में लिया और स्टेशन की ओर चल दिया। किधर जायगा, कौन-सी गाड़ी पर जायगा, उसने कुछ भी तय न किया। वह चाहता था कि बर्बरता के इस तांडव को और न देखे, उन कँपा देने वाली गालियों को और न सुने और मुहल्ले में घर-घर होने वाली चर्चा से दूर भाग जाय।

पास ही फ़र्श पर सोये हुए किसी व्यक्ति ने शायद किसी मच्छर के काट खाने से अपनी जाँघ पर एक थप्पड़ जमाया और करवट बदल ली।

फिर किसी गाड़ी के आने की घंटी बजी और अपनी उनींदी अलसायी आँखों के साथ एक बाबू गेट पर आ खड़ा हुआ। प्लेटफ़ार्म के अन्दर से एक मुसाफ़िर हाथ में गिलास लिये हुए घबराया हुआ-सा बाहर निकला और कुएँ की ओर चला गया।

चेतन ने बटन खोलकर अपनी छाती का पसीना पोंछा। परसों उसका विवाह है। वह मन-ही-मन हँसा। किंतु इस हँसी के बावजूद उसकी आँखें आर्द्र हो गयीं।

तभी उसकी कल्पना के सम्मुख दो और गीली आँखें घूम गयीं। जिन्हें उसने आज ही सुबह देखा था। क्या दोनों की गीली आँखें मिलकर सुख का एक संसार न बना सकती थीं!

और उस सुख के संसार का एक दृश्य उसकी आँखों में बस गया—दो

भूखी आत्माओं का मिलन, अभावों की पूर्ति, समाज से दूर, जाति-उपजाति के भेदों से दूर......लेकिन गड़बड़ करती हुई गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ गयी और ख़ोंचे वालों की तन्द्रिल भारी आवाज़ों, यात्रियों की निद्रालस चिल्ल-पों और ताँगे वालों के कर्कश स्वरों ने उसके उस संसार को छिन्न-भिन्न कर दिया। वह उठा, चुपचाप जंगले के पास जा खड़ा हुआ और टकटकी बाँध सामने के डिब्बे में बैठे यात्रियों को देखने लगा। निमिष मात्र के लिए उसने सोचा—क्यों न वह इसी गाड़ी में चढ़ बैठे। लाहौर को जाने वाली गाड़ी—वह तो साढ़े पाँच बजे आयगी और अभी सिर्फ़ एक बजा है।

"हलो, चेतन!"

हड़बड़ाकर वह मुड़ा और उसने हाथ भी बढ़ा दिया।

"लेकिन यह तुम किस तकल्लुफ़ में पड़ गये, गाड़ी पर मुझे लेने आ गये और फिर इस समय! इस कष्ट की क्या ज़रूरत थी।"

मन से खिन्न होने पर भी चेतन ने अनन्त को देखकर एक ज़ोर का ठहाका उसकी इस बात पर लगाया।

"कौन कम्बख़्त तुम्हें लेने आया है? मैं तो स्वयं लाहौर जाने वाली गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

"लाहौर को जाने वाली गाड़ी की? पागल हो गये हो, उसमें तो अभी साढ़े पाँच घंटे हैं और फिर विवाह....?"

अनन्त को उस दम घोटने वाले वातावरण से निकालकर चेतन सीढ़ियों पर ले आया और वहीं खड़े-खड़े शाम की सारी घटना उसने अपने इस मित्र को सुना दी। अन्त में उसने कहा, "मैं पक्का निश्चय कर चुका हूँ कि अब मैं विवाह नहीं करूँगा, चाहे पिता जी आकर मेरे पाँव भी क्यों न पड़ें।"

"जैसे वे तुम्हारे पाँव पड़ने ही के लिए तो छटपटा रहे हैं!"

अब ठहाका लगाने की उसकी बारी थी।

कुछ खिन्न होकर चेतन ने कहा, "मैंने निश्चय कर लिया है कि...

बात काटकर अनन्त ने कहा, "तुम तो पागल हो!" और उसने ताँगे वाले को आवाज़ दी। ताँगा आ जाने पर चेतन के मना करने पर भी उसने उसका सूटकेस उठाकर उसमें रख दिया।

"बाबू जी किधर जाना है आपको?" ताँगे वाले ने पूछा।

"चौरस्ती अटारी।" चेतन को बरबस बैठाते हुए अनन्त ने कहा और ताँगा चल पड़ा।

"लेकिन मैं घर नहीं जाऊँगा!" चेतन ने बैठे-बैठे रुँधे कंठ से कहा।

"कौन साला तुम्हें वहाँ जाने के लिए कह रहा है।" अनन्त हँसते हुए बोला।

"लेकिन......

"एक शराबी की बात पर ग़ुस्सा होकर तुम इतना बड़ा अन्याय करने जा रहे हो। तुम्हें शर्म आनी चाहिए।"

"मैं यह विवाह बिलकुल नहीं चाहता, कभी नहीं चाहता।" चेतन ने बच्चों की तरह कहा।

"तुम्हारे भाई से भी मैंने बात की थी," अनन्त ने कहा, "और स्वयं तुमने मुझे क्या लिखा था? कायर!"

परास्त होकर भी चेतन ने कहा, "वह तो क्षणिक आवेश था। चन्दा को पसन्द तो मैंने कभी नहीं किया।"

"लेकिन अब इस बकवाद से लाभ?" अनन्त कुछ क्रोध से बोला, "लड़की के मनोभावों का भी ख़याल किया तुमने? वह आत्महत्या कर सकती है। उसके माता-पिता हैं, नाते-रिश्तेदार हैं। तुम उन सब का इतना बड़ा अपमान कैसे कर सकते हो?"

एक हाथ में बिस्तर और दूसरे में सूटकेस लिये जब दोनों हरलाल पंसारी की दुकान के सामने से होकर अनन्त के घर की ओर को मुड़े तो पंडित शादीराम अपने घर में अब भी ऊँचे स्वर से गालियाँ दे रहे थे। उनका गला बैठ गया था, आवाज़ भारी हो गयी थी, किंतु गालियों में वही तीखापन था और शायद वे अब भी चारपाई से बँधे थे।

———

२२

यद्यपि चेतन के पिता ने पहाड़ जैसी कसमें खाकर इस बात की घोषणा की थी कि वे उस कपूत की बारात में शामिल न होंगे और यद्यपि सारी रात अनन्त के समझाते रहने पर भी चेतन यही कहता रहा था कि वह शादी न करेगा, किंतु इस बात का श्रेय अनन्त की कार्यपटुता और पंडित वेणी प्रसाद की विनयशीलता को है कि नियत समय पर चेतन की बारात कल्लोवानी से चल पड़ी। चेतन दूल्हा बना और पंडित शादीराम ने पिता के सारे कर्तव्य पूरे किये।

रात भर पंडित जी चारपाई से बँधे पड़े रहे थे। गालियों की अविरल धारा उनकी वाणी में बहती रही, यहाँ तक कि बोलते-बोलते उनका गला सूख गया और बँधे-बँधे उनके बाजू ऐंठ गये और उनका नशा भी लगभग सारे का सारा उतर गया था।

तब उन्होंने थक-हारकर, पर और भी भद्दी गालियाँ देते हुए कहा कि उन्हें खोल दिया जाय और वे कुछ न कहेंगे।

उन्हें खोल दिया गया था। वे सीधे देसराज के यहाँ गये। वहाँ से कुछ और पी आये। देसराज को भी उन्होंने साथ लाना चाहा, किंतु उसने न आने ही में अपनी कुशल समझी।

घर आकर पंडित जी ने थर्राती हुई आवाज़ में पूछा, "कहाँ है वह हरामज़ादा ?"

मतलब चेतन से था। बड़े भाई ने दरवाज़े पर बैठे-बैठे कहा "वह चला गया है।"

पंडित जी तनिक चौंके, किंतु पूर्ववत गालियाँ देते हुए उन्होंने कहा कि उन्हें इसकी ज़रा भी परवाह नहीं, उनकी तरफ़ से चाहे शादी हो या न हो और चाहे सब मर जायँ—खतम हो जायँ।

और फिर उलाहने के स्वर में लेकिन उसी कड़कड़ाती आवाज़ से उन्होंन कहा कि जिस पुत्र को अपने पिता का इतना भी खयाल नहीं और जो नशे में कही गयी उसकी बात पर इतना ग़ुस्सा हो सकता है वे उसकी ज़रा भी परवाह नहीं करते। और उस अपने नालायक लड़के को गालियाँ देते हुए उन्होंने घोषित किया कि वे स्वयं सुबह चले जायँगे।

लेकिन जितनी अधिक वे गालियाँ देते थे, जितने अधिक वे कड़कते थे, उतना ही अधिक उनके हृदय की दुर्बलता का पता चलता था।

चेतन पर गालियों के द्वारा अपना क्रोध उतारकर वे अपने दूसरे पुत्रों की ओर फिरे।

किंतु भाई साहब शायद उनके हृदय की इस दुर्बलता को भाँप गये थे। घर वालों की परवाह पंडित जी ने कभी न की थी। दुनिया की भी उन्हें कुछ परवाह न थी। लेकिन उन्हें अपनी बात का सदैव ध्यान रहता था। और चेतन के चले जाने पर पंडित वेणी प्रसाद के सामने उन्हें शरमिन्दा होना पड़ेगा, यही डर उनके मन में किसी अज्ञात स्तर के नीचे दबा बैठा था, यद्यपि गालियों के आधिक्य और आवाज़ की कड़क में वे उसे दबा देना

चाहते थे। इसलिए ज्योंही उन्होंने कहा, "आओ अब जिस-जिस में बल हो मुझसे कुश्ती लड़ देखे।" तो भाई साहब अवसर उपयुक्त जानकर उनके पाँव पड़ गये, माफ़ी माँग ली और कहा कि उन्होंने तो सिर्फ़ उन्हें चेतन को मारने से रोका था। और भावावेश में वे रोने लगे।

अपने बड़े भाई का अनुसरण करते हुए छोटे भाई ने भी पहले पाँव पड़कर माफ़ी माँग ली और फिर वह भी रोने लगा।

पंडित शादीराम स्वभाव से क्रूर थे, कठोर थे और अत्याचारी भी उन्हें कहा जा सकता है। पर इसके साथ ही उनके हृदय में कहीं-न-कहीं उदारता और कोमलता भी यथेष्ट मात्रा में दबी पड़ी थी। इसी कोमलता के कारण वे अपने शत्रु को माफ़ कर देते थे और इसी कोमलता के कारण जब किसी मित्र अथवा निकट सम्बन्धी की बेवफ़ाई उनके मर्मस्थल पर चोट पहुँचाती थी तो वे बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो पड़ते थे।

पुत्रों के इस व्यवहार ने शायद उनके मर्मस्थल पर चोट की थी। उनका गला भर आया और वे भी रोने लगे। माँ तो पहले ही से रो रही थीं।

मिट्टी के तेल का लैम्प, जिसने संध्या के बाद बहुत कुछ देखा था अब भी धीमे प्रकाश से जल रहा था। चिमनी कुछ काली हो गयी थी और उसके धीमे प्रकाश में ये चारों व्यक्ति चार पीड़ित आत्माओं की तरह दिखायी देते थे।

पिता ने पुत्रों को गले से लगाया। रोते-रोते चेतन को गालियाँ दीं और फिर भारी गले से पत्नी से कहा कि चारपाई बिछा दे।

एक घंटे के बाद सभी थके-हारे सो रहे थे। पंडित जी के खुर्राटों की आवाज़ भी आने लगी थी। केवल माँ जागती थी और भगवान गजानन से प्रार्थना कर रही थी कि चेतन आ जाय और विवाह का काम कुशलतापूर्वक समाप्त हो जाय।

सुबह जब अनन्त चेतन के घर गया तो उसने माँ को चुपचाप आँगन में सिर झुकाये माला फेरते पाया।

माँ पूजा कर चुकी तो उसकी सलाह से अनन्त बस्ती से पंडित वेणी प्रसाद को बुला लाया। दोपहर के लगभग पंडित शादीराम जागे और भारी थके गले से उन्होंने पानी माँगा। माँ ने पानी का गिलास उन्हें देते हुए बताया कि बस्ती से पंडित वेणी प्रसाद आये हैं। तब करवट लेकर भरे गले से पंडित जी ने कह दिया कि रामानन्द उनसे बात कर ले, मैं किसी काम में दख़ल न दूँगा और मुझे कोई न बुलाये।

चेतन की माँ से उनका यह निश्चय सुनकर अनन्त ऊपर आया। हैट उतारकर उसने पंडित जी को साष्टाँग प्रणाम किया और फिर पास बैठकर उसने चेतन की मूर्खता पर खेद प्रकट किया :

"वह एकदम मूर्ख है। दुनिया का उसने अभी कुछ नहीं देखा, दुनियादारी उसे आती नहीं......" अनन्त ने कहना शुरू किया।

"वह हरामज़ादा समझता है कि वह अब स्वतन्त्र है, कमाता है और उसे किसी की परवाह नहीं," पंडित जी ने रात के थके हुए भारी गले से कहा, "लेकिन मैं ही उसकी क्या परवाह करता हूँ। मेरे नाम कौन-सी वह जायदाद लिखा देगा?"

"नहीं, नहीं, नहीं," अनन्त ने कहा, "उसे वैसा कोई भरम नहीं। वह केवल भावुक, स्वाभिमानी, कवि-हृदय युवक है और बस! और कवि— उसने तनिक हँसकर कहा—आधे पागल होते हैं। आप भला किस तरह बच्चे के साथ बच्चा बन सकते हैं। उसका क्या है, वह तो मूर्ख है लेकिन आप...लोग तो आपको ही....."

"मैं किसी साले की परवाह नहीं करता।" उसी स्वर में पंडित जी ने कहा।

"वह तो ठीक है, हिं हिं, हिं हिं......" और खिसियानी-सी हँसी

हँसते हुए अनन्त ने जेब से कसूर की ख़ालिस देसी शराब की बोतल निकाली और जेब ही से एक नन्हा-सा शीशे का गिलास निकालते हुए उसने कहा :

"आता हुआ मैं 'कसूर' उतरा था और वहाँ से मैं सिर्फ़ आपके लिए देसी शराब लेता आया हूँ। मुझे क्या मालूम था"—यहाँ अनन्त तनिक हँसा—"कि यहाँ . . ."

"मेरा जी नहीं चाहता," और पंडित जी ने करवट बदल ली। लेकिन करवट उन्होंने इसलिए बदली थी कि बोतल को देखकर उनके मन में सहसा प्रबल लालसा जाग उठी थी।

"वाह!" अनन्त ने उस ख़ालिस देसी शराब से (जो अपने कथनानुसार वह ख़ास तौर पर पंडित जी के लिए लाया था, लेकिन जो वास्तव में गत वर्ष उसके कानूनगो पिता को किसी देहाती ने भेंट की थी और उनकी अकाल मृत्यु के कारण वहीं ताक में रखी पड़ी थी) कुछ गिलास में उँडेलते हुए कहा, "आप थके हुए हैं, एक पैग ले लीजिए तबीयत ताज़ी हो जायगी।"

"लेकिन मैंने तो अभी कुल्ला भी नहीं किया," पंडित जी ने वैसे ही लेटे-लेटे कहा, पर उनके मुँह में राल टपक चली थी।

अनन्त दौड़कर पानी ले आया और कुल्ला कराते हुए उसने कहा, "यों ऐसे पीने से क्या आनन्द आयगा? ख़ालिस देहाती भट्टी की बेहद पुरानी शराब है, मैं लाला देसराज को बुला लाऊँगा और पंडित बनारसी दास भी आ जायँगे, इकट्ठे बैठेंगे और पियें-पिलायँगे।"

इसके बाद अनन्त ने चेतन और उसके दोनों भाइयों की वज्र-मूर्खता का ज़िक्र करते हुए कहा, "मैंने सुना है चेतन ने आपको लिखा था कि तीन दिनों के लिए. . . ." और उसने एक ठहाका मारा—"भला आदमी अगर शादी-ब्याह के अवसर पर नहीं तो क्या मौत और ग़मी के मौके पर पियें-पिलायेगा।"

उसने एक पैग और पंडित जी को दिया और कहा कि शाम को महफ़िल जमेगी।

शराब देसी थी, पुरानी थी और तेज़ थी। पंडित जी एक पैग ही से सरूर में आ गये। अनन्त उठने लगा था कि आस्तीन पकड़कर उन्होंने उसे बैठा लिया। रात की दुखद घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने चेतन की उद्दंडता का ज़िक्र किया। उसे गालियाँ दीं। फिर वे रोने लगे। भरे हुए गले से उन्होंने कहा, "देखो बेटा, जिसने आज तक कभी अपने अफ़सर की भी बात न सुनी, उसके पुत्रों ने उसे चारपाई से बाँध दिया!" फिर अचानक रक्त-वर्ण आँखें करके उन्होंने कहा कि वे अब भी अपने इन तीनों पुत्रों का मुकाबिला कर सकते हैं और उन तीनों हरामज़ादों को सबक सिखा सकते हैं। फिर अचानक आँसू बहाते हुए वे उस प्रेम का ज़िक्र करने लगे जो उन्हें अपने पुत्रों से था। "पूत कपूत होते हैं, पर पिता कुपिता नहीं होते!" उन्होंने आर्द्र कंठ से कहा और आँखें पोंछने लगे। अन्त में जब अनन्त ने बताया कि चेतन स्वयं लज्जित है तो उन्होंने उसे दिल से माफ़ कर दिया और चादर ओढ़कर लेट गये।

दो मिनट बाद वे खुर्राटे ले रहे थे।

उधर पंडित वेणी प्रसाद ने चेतन को समझाया और वही चेतन जो अनन्त के सारी रात समझाते रहने पर भी तुला हुआ था कि विवाह न करेगा, इस बीमार और लगभग अपाहिज बुज़ुर्ग के सम्मुख एक शब्द भी न कह सका।

पंडित वेणी प्रसाद ने अपने हिलते हुए अंगों को कठिनाई से सम्हालते हुए कहा था, "बेटा, लड़कपन न करो! इस बूढ़ी देह का ख़याल करो, इस, बूढ़े की इज़्ज़त का ख़याल करो और उस निरीह बालिका का ख़याल करो। पिता की बातों पर कैसा ग़ुस्सा? उनकी तो

वैसी आदत हो है। इस क्रोध से उनकी आदत तो हटेगी नहीं, दो चार आदमियों की जान भले ही चली जाय।"

और चेतन ने कहा था कि वह स्वयं यही सब सोच रहा था और जैसा वे उससे कहेंगे, वह करेगा। उसकी केवल एक प्रार्थना है कि विवाह की रस्म जितनी जल्दी हो पूरी कर दी जाय और शेष सब व्यर्थ के रिवाज, जहाँ तक हो सके, हटा दिये जायें और दावतें भी दो-तीन ही दी जायें।

पंडित वेणी प्रसाद ने कहा था, "बेटा जैसा तू कहता है वैसा ही होगा। मैं तो स्वयं आर्य-समाजी प्रणाली का समर्थक हूँ। इन व्यर्थ की रस्मों में क्या रखा है?"

इस तरह अपनी क़समों के बावजूद पुत्र और पिता दोनों बारात में शामिल हुए। हँसे भी, बधाइयाँ भी उन्होंने स्वीकार की और रस्में भी सब अदा की। फिर बाजे भी बजे, गाने भी गाये गये और शोर भी ख़ूब हुआ। यह और बात है कि इस समस्त हर्षोल्लास, गाने-बजाने और शोर-शराबे के अन्तर में व्यथा भी कहीं दबी बैठी रही।

माफ़ कर देने के बावजूद भी पिता ने पुत्र को नहीं बुलाया और पुत्र ने एक रस्मी, ठंडे प्रणाम के अतिरिक्त और कोई बात नहीं की। पंडित जी ने पिता के अपने अधिकारों का प्रदर्शन करने के लिए और भी पी——देसराज और पंडित बनारसी दास को बैठाकर पी——और चलते समय अपनी पत्नी को एक-दो थप्पड़ भी रसीद किये। माँ की आँखें अन्त तक आँसुओं से भरी रहीं। चेतन का रक्त खौल उठा और उसके जी में कई बार आया कि अनन्त के दबाव से छूटकर एकदम भाग जाय। जहाँ उसके पिता उसे चिढ़ाकर, उन्हीं कमीनों के साथ शराब पीकर अपने अधिकारों का डंका पीट रहे हैं, वहाँ दो बिरादरियों के बीच उनकी नाक काटकर वह पुत्र के अधिकारों ली-भाँति जता दे।

लेकिन जब बारात बस्ती पहुँची और धर्मशाला में उतरने, सेहरा बाँधने और दूसरी रस्मों के बीच चेतन बराबर इन बातों पर विचार करता हुआ अन्त में साढ़े आठ बजे के लगभग विवाह-मंडप में आसन पर जा बैठा तो सहसा उसके मन से समस्त बातें, सारी चिन्ताएँ, सब क्लेश अनायास दूर हो गये। उसका मन हल्का हो गया। मंडप के तनिक परे, सामने बरामदे में बैठी हुई लड़कियों में उसकी निगाहें एक किशोरी से चार हुईं जिसे वह पहचानता था।

यह किशोरी वही थी जिसे बस्ती के अड्डे पर देखकर वह चौंका था और फिर एक बार अपनी पत्नी के पास जिसे बैठी हुई देखकर वह कुछ बौखला-सा गया था।

गैस के प्रकाश में चेतन ने देखा—इस एक डेढ़ वर्ष में ही उसका यौवन जैसे चौकड़ियाँ भरता हुआ बढ़ आया है। चेतन को लगा जैसे वह एक महान् सागर में हल्की-सी तरंग बनकर बहा जा रहा है। अभी कुछ देर पहले जब आँगन के दरवाज़े में प्रवेश करने के समय उसकी पत्नी ने उसके गले में हार डाला था तो उसके मोटे से शरीर और सीधी-साधी-सी आकृति को देखकर वह बेहद निराश हुआ था। फिर आँगन में आने पर जब उसे पता चला कि कन्या महाविद्यालय से जो लड़कियाँ इस 'समाजी रीति' से होने वाले विवाह की शोभा को अपने कल-कंठों से बढ़ाने के लिए आने वाली थीं, वे नहीं आयीं तो उसकी निराशा पर विषाद की एक गहरी परत चढ़ गयी थी। लेकिन उस सुन्दर मनोमुग्धकारी छवि को देखकर उसकी वह निराशा, वह अवसाद क्षण भर में उड़ गया। तभी पुरोहित ने मन्त्र पढ़ने शुरू किये और स्त्रियाँ गा उठीं—

घर साजन आयो रे
सलोयाँ दे नैन भरे

चेतन ने अनुभव किया जैसे उस लड़की का स्वर सब स्वरों के ऊपर

से होता हुआ उसके कानों में अनवरत अमृत ढाल रहा है। वह पुरोहित के मन्त्र न सुन रहा था। वह सुन रहा था नव-वय की उस युवती का मीठा मादक स्वर और जैसे उसके शरीर का अणु-अणु पिघलकर उस तरल संगीत में घुला जा रहा था।

'हाय! इन लग्नों से पहले कितनी रस्में होती थीं' उसने वहीं बैठे-बैठे सोचा, 'उनमें उससे बातें करने के लिए कितने अवसर मिलते?' और वह अपनी मूर्खता पर पछताने लगा कि उसने क्यों पंडित वेणी प्रसाद से ख़ामख़ाह सब रस्में हटा देने के लिए कह दिया। ....लेकिन उस समय हवन कुण्ड का धुआँ उसकी आँखों में कड़ुवाहट भर रहा था और लड़कियाँ गा रही थीं—

घर साजन आयो रे
सलोयाँ दे नैन भरे

२३

दूसरे दिन जब बारात खाना खाने में व्यस्त थी, चेतन की चंचल, उद्विग्न दृष्टि रह-रहकर छत पर जाती थी और कल्पना-ही-कल्पना में वह विवाह के गाने सुनता था—मीठे मद भरे गाने—जिनकी तानों में किसी परिचित कल-कंठ से निकली हुई तन और मन को गर्मा देने वाली मादक ध्वनि भी थी। पर छत की सूनी मुँडेरों पर गाने वालियाँ तो दूर एक कौवा तक भी न था। हाँ, किसी पास के वृक्ष पर बैठी हुई एक चील अपनी कर्कश ध्वनि से बार-बार चिल्ला उठती थी। वहाँ से हटकर चेतन की दृष्टि सामने बरामदे में जाती, जहाँ रात को भाँवरों के समय स्त्रियों के गाने गूँजे थे। पर वहाँ भी उनकी रसीली तानों के स्थान पर बस्ती के एक-मात्र सुधारक मास्टर नन्दलाल का ग्रामोफ़ोन अपनी भोंडी आवाज़ में चिल्ला रहा था :

हे प्रभो अब हम सबों को शुद्धताई दीजिए
दूर करके हर बुराई को भलाई दीजिए

दूसरी कुप्रथाओं के साथ-साथ विवाह-शादी के अवसर पर स्त्रियों

का छतों पर चढ़कर सिट्ठिनियाँ देना और गन्दे गीत गाना भी सुधारक मास्टर नन्दलाल को नापसन्द था। उनके विचार में ऐसे अवसर सुधार कार्य ही के लिए उपयुक्त थे।

"रबिश !" (वाहियात) चेतन ने रिकार्ड के समाप्त होने पर कहा।

पर इसमें दोष किसका था ? उसी ने तो पंडित वेणी प्रसाद से कहा था कि कोई रस्म अदा न की जाय। सुधार सम्बन्धी अपनी स्कीम को इस घर में पूर्ण-रूप से फलीभूत होते देख, इधर-उधर बड़े चाव और व्यस्तता से फिरते हुए मास्टर नन्दलाल की ओर देखकर चेतन मन-ही-मन हँसा। फिर एक ठंडी साँस उसके हृदय की गहराइयों को चीरकर निकल गयी। बुभुक्षित, विपन्न और साधनहीन हिन्दोस्तान के लिए शादी-विवाह तथा तीज-त्यौहार की चन्द घड़ियाँ ही तो थीं जिनमें लोग कुछ हँस-हँसा लेते थे। दूल्हा-दुलहन की अपेक्षा विवाह के उल्लास का अधिक भाग तो दूल्हा के मित्रों तथा दुलहन की सखियों के हिस्से में आता था। महीना-महीना पहले नये वस्त्र सिलवाये जाते, नये जूते बनवाये जाते और विवाह वाले घरों में ढोलक रख दी जाती। बारातियों का स्वागत मीठे गानों से होता, वर-वधू को कँगना मीठे गानों में खेलाया जाता, मादक मीठे गानों में भाँवरों की रस्म सम्पन्न होती और मीठे गानों का मधुर रस पीती हुई बारात खाना खाती। वधू की सहेलियाँ और बहिनें सिट्ठिनियों में बड़ी भेद भरी बातें कह जातीं। चेतन का हृदय उन मीठी सिट्ठिनियों को सुनने के लिए आतुर हो उठा, किंतु उधर बरामदे में ग्रामोफ़ोन पूर्ववत् गा रहा था।

हे प्रभो, अब हम सबों को शुद्धताई दीजिए !

सुधार सम्बन्धी कोई दूसरा रिकार्ड न होने से मास्टर नन्दलाल ने पुनः उसी को लगा दिया था।

चेतन के सामने विवाह की देवी का वह चित्र घूम गया, जिसे आततायी सुधारक ने अलंकार-विहीन कर दिया था चेतन ने देखा—उसकी

निरीह चमक-दमक इस कट्टर अत्याचारी ने छीन ली है, उसके कल-कंठ से निकलने वाली मादक तानों का इसने गला घोंट दिया है और उसके समस्त अलंकारों से उसे वंचित कर दिया है। चेतन की आँखें फिर उसी पुराने ज़माने की भरी-पूरी रमणी को देखने के लिए आतुर हो उठीं।

कम्पनी बाग में एक अत्यन्त पुराना कुंज था जिस पर इश्कपेचा की बेलें चढ़ी हुई थीं। कुंज के बाहर एक बड़ा सीधा-सादा विश्राम-स्थल बना हुआ था। वास्तव में यह स्थल एक अत्यन्त पुरानी, सदैव हरी रहने वाली बेल के कारण बन गया था। यह बेल धीरे-धीरे बढ़कर इर्द-गिर्द के कई पेड़ों पर छा गयी थी। कहीं-कहीं यह इतनी मोटी थी कि बचपन में चेतन अपने संगियों के साथ उस पर बैठकर झूला झूला करता था। इस स्थल के पास से गुज़रने पर ही मन की समस्त थकान दूर हो जाती थी। किंतु सुधार......! उस बेल के नीचे इकट्ठी होने वाली गंदगी को, सूखे-सड़े पत्तों के ढेरों को, कूड़े-करकट को साफ़ करके उस स्थान को और भी सुरम्य, शीतल और मन का ताप हरने वाला बनाने की अपेक्षा उस बेल ही को काट दिया गया। अब वहाँ घास के एक दो प्लाट हैं जिनमें छोटे-छोटे पौधे लगे रहते हैं जो तीन-चार महीनों से अधिक जीवित नहीं रहते और ऐसे फूल लाते हैं जिनमें न रंग होता है, न रस, न गन्ध!

वह सारे का सारा दृश्य चेतन के सामने घूम गया।

"जीजा जी खाना खाइए!" एक पतले-दुबले से लम्बी नाक वाले लड़के ने उससे कहा। चेतन ने सहसा चौंककर थाली की ओर हाथ बढ़ाया।

बारात तब तक खाना खा चुकी थी। पुराने ढंग की शादी होती तो कोई चंचल-चपल बालक अथवा बालिका उसका कोट दरी से सी देती अथवा उसका जूता छिपा देती और इस सरल से मज़ाक और दूल्हे की कृत्रिम परेशानी पर खूब ठहाके लगते, खूब फबतियाँ उड़तीं। चेतन की बड़ी इच्छा थी कि कोई बालक अथवा बालिका उसका भी कोट सी दे,

उसका भी जूता छिपा दे, लेकिन उसने खाना खा लिया, हाथ पोंछ लिये। बारात के आधे लोग आँगन के बाहर चले गये, लेकिन उसके साथ किसी ने मज़ाक नहीं किया। वह अन्यमनस्कता से उठा और जीवन में पहली बार खरीदा हुआ पेटेंट लेदर का शू पहनने लगा। उसी समय अपनी लठिया लिये हुए काँपते-झूलते पंडित वेणी प्रसाद आये और हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—"आप महाराज अभी कुछ देर बैठिए।"

चेतन चुपचाप दरी पर बैठ गया। तभी बरामदे की एक चिक उठाकर वही लड़की जैसे हर्ष और उल्लास से नाचती-सी निकली। उसके पीछे उसकी सहेलियाँ थीं—"जीजा जी छन्द[1] सुनाओ"! "जीजा जी छन्द सुनाओ!" कहती हुई वह धम से उसके पास बैठ गयी। शेष सहेलियों ने झुरमुट बना लिया।

चेतन का मुख कानों तक लाल हो गया। इस बीच में दो चार बड़ी बूढ़ियाँ भी आ गयीं और एक ने एक दूसरी स्त्री की ओर संकेत करते हुए चेतन से कहा, "यह तुम्हारी सास है।"

चेतन को अपना उमड़ता हुआ उल्लास सिकुड़ता-सा महसूस हुआ—काला झुर्रियों वाला चेहरा, अन्दर को धँसे हुए कल्ले, बेढंगे दाँत और एक ओर को दबी हुई आँख। 'इस माँ की लड़की कैसे 'रूपवती' न होती?' वह व्यंग्य से मुस्कराया, 'और फिर आप घूँघट निकाले हुए हैं' उसने मन-ही-मन हँसकर कहा, लेकिन तभी उसे खयाल आया कि वह तो उसकी सास

---

[1] छन्द एक प्रकार का पंजाबी दोहा होता है जिसकी पहली पंक्ति का कोई अर्थ नहीं होता, वह केवल तुक मिलाने के लिए होती है। दूसरी पंक्ति में सास-ससुर और ससुराल के अन्य रिश्तेदारों की प्रशंसा होती है। यह छन्द विवाह में लड़कियाँ वर के मुँह से सुनती हैं, ऐसा रिवाज है। पुराने समय में शायद इसका उद्देश्य यह मालूम करना रहा होगा कि वर गूंगा तो नहीं है।

है और और माँ के बराबर है और उसने उसे एक खिसियाना-सा प्रणाम किया। इसके बाद कुटुम्ब की अन्य स्त्रियों और वधू की सहेलियों से उसका परिचय कराया गया और उसे पता चला कि वह सुन्दर लड़की उसकी साली है—नाम है नीला——पंडित वेणी प्रसाद की तीन लड़कियों में से मँझली, और चेतन ने एक बार दबी आँखों से उसकी ओर देखकर मन-ही-मन एक लम्बी साँस भर ली। उसे यह बात पहले क्यों न मालूम हुई ?

"छन्द सुनाइए जीजा जी छन्द!" और लड़कियों ने उसका कोट खींचा। एक निमिष के लिए चेतन की आँखें नीला से चार हुईं। उसकी आँखों में एक चतुर स्निग्ध मुस्कान थी, जिसका प्रतिबिम्ब उसके ओठों पर हल्की-सी मुस्कान के रूप में फैलने को आतुर था।

चेतन बैठ गया।

लेकिन उसी समय पंडित वेणी प्रसाद अपने हिलते हुए शरीर के साथ आये और हाथ जोड़कर उन्होंने कहा, "अब महाराज उठिए।"

चेतन अनिच्छापूर्वक उठने लगा था कि नीला ने उसके कोट का दामन पकड़ लिया। वह फिर बैठ गया।

पंडित जी ने फिर हाथ जोड़े। वह फिर उठने लगा। नीला ने फिर दामन खींचा, वह फिर बैठ गया।

और हँसते हुए उसने कहा, "यदि आप कह दें तो योंही दस-पन्द्रह बैठक लगा डालूँ ?"

तब नीला ने तनिक रोष भरे स्वर में कहा, "पिता जी आप बैठने भी दीजिए जीजा जी को, अभी एक भी छन्द नहीं सुना हमने।"

"अच्छा, अच्छा बेटी! ......आप बैठिए अभी महाराज!" और वृद्ध सरल-सी हँसी ओठों पर लिये हुए जैसे आये थे वैसे ही चले गये।

चेतन का हृदय धक-धक करने लगा। तभी उसकी दृष्टि सामने बरामदे के एक कोने में गयी। चिक उठा दी गयी थी। विवाह के लाल जोड़े में आवृत उसकी दुलहन ज़रा-सा घूँघट निकाले बैठी थी और विवाह के उल्लास में उसका गेहुँआ रंग दमक रहा था। चेतन के सामने उसकी सास की सूरत आ गयी और उसने निगाहें हटा लीं।

नीला ने हँसकर कहा, "छन्द सुनाइए जीजा जी! आप ही के घर तो जायगी, जी भर वहाँ देख लेना।"

और अप्रतिभ-सा होकर चेतन ने एक छन्द सुनाया।

छन्द परागे आइए, जाइए छन्द परागे तीला
छन्द गया मैं भुल्ल सभे, जद सामने आयी नीला[1]

नीला का मुख कानों तक सुर्ख़ हो गया। फिर वह एक बार ही सखियों के साथ ठहाका मारकर हँस दी।

चेतन इस ठहाके में बह गया और इसके साथ ही बह गया वह थोड़ा बहुत गाम्भीर्य जो गत दो-तीन दिनों से उसके अन्दर इकट्ठा हो गया था और जिसका प्रतिबिम्ब उसकी आकृति पर विषाद के हल्के-से बादल ले आया था।

एक युवती जैसे उल्लास की ताल पर नाचती-सी आयी। उसकी कलाइयों का लाल चूड़ा साक्षी था कि उसका विवाह हाल ही में हुआ है। टेसू के रंग की लाल साड़ी उसने पहन रखी थी और वह रंग उसके

---

[1] पहली पंक्ति का कोई अर्थ नहीं। दूसरी का अर्थ यह है कि मैं उस समय सभी छन्द भूल गया जब मेरे सामने नीला आ गयी।

सुन्दर कपोलों को भी लाल बना रहा था। चेतन की चंचलता को निशाना बनाकर उसने तीर छोड़ा :

पुत आया नी नटनी दा[1]

चेतन खिसियाना-सा हो गया। किंतु उसी क्षण इस सिट्ठिनी की दूसरी पंक्ति कहने का अवसर उस युवती को दिये बिना उसकी नकल उतारते हुए उसने कुछ इस तरह मटककर यही शब्द दुहराये कि वह युवती शर्माकर उल्टे पाँव वापस भाग गयी।

उसी समय पंडित वेणी प्रसाद एक बार फिर हाथ जोड़े हुए चेतन को उठाने के लिए कहने के अभिप्राय से आये, किंतु अपने इस असहाय पिता पर नीला को कुछ ऐसा अधिकार प्राप्त था कि उसने चेतन को वहीं बैठाये रखा। वास्तव में मास्टर नन्दलाल तथा उनके आर्य-समाजी मित्र विवाह शादी की इस हँसी-खुशी के भी विरुद्ध थे। वे न चाहते थे कि दुलहन की सब-की-सब सहेलियाँ एकदम दूल्हा से सालियों का नाता स्थापित करके हर तरह के हँसी-मज़ाक की छुट्टी पा लें। इसीलिए वे पंडित वेणी प्रसाद को अन्दर भेजते थे, लेकिन अपनी लड़की नीला से उस वृद्ध को कुछ ऐसा प्रेम था कि वे उसका कहा न टालते।

इस बीच में चेतन को अपनी पत्नी की सब सुन्दर और असुन्दर सहेलियों के नाम याद हो गये। सोहनी तो सचमुच सोहनी[2] थी, जिसके सम्बन्ध में उसे मालूम हुआ कि वही उसकी मँगेतर होने वाली थी, किंतु पंडित वेणी प्रसाद पहले पहुँच गये थे। केसरी, जिसकी आँखों में एक

---

[1] नटनी का पुत्र आया है। इसकी दूसरी पंक्ति है—'नटनी कोठे टप्पनी दा'—अर्थात् उस नटनी (चंचल नारी) का जो छतें कूदती है अर्थात् छतें कूदकर अपने प्रेमियों से मिलने जाती है।

[2] सुन्दर।

अज्ञात-सी आकाँक्षा दबी रहती थी, जो चेतन को कुछ ऐसी भूखी निगाहों से देखती थी जैसे उसे आँखों ही आँखों में निगल लेगी और जिसने चेतन की दिलचस्प बातों, उसकी खुली हँसी और चंचलता को देखकर एक लम्बी साँस को बरबस दबाकर केवल इतना कहा था—"जीजा जी, तुसी ताँ तिन्ना लोकाँ तों न्यारे ओ" और लक्ष्मी जो अपने छोटे भाई को गोद में लिये हुए थी, जिसे लक्ष्मी की आयु को देखते हुए उसने उसका बच्चा समझा था और जो अपनी इस बड़ी आयु के बावजूद अविवाहित थी। उसके माता-पिता जब बच्चे पैदा कर रहे हैं तो उनकी यह अशिक्षित, युवा बेटी क्या सोचती होगी? दिन कैसे काटती होगी? पर पैसे.... खर्च....दहेज और बस्ती के 'जेरथों' में लड़की को बेचना गुनाह नहीं ख़याल किया जाता। फिर पारो, सरला, रानी, शीला कर्तारी......

चेतन का समय खूब बीता और जब वहाँ से छुट्टी पाकर वह डेरे वापस जा रहा था तो उसकी कल्पना के सम्मुख इन सब की आकृतियों के ऊपर से नीला की सुन्दर मूर्ति जैसे उभर-उभरकर झाँकती रही। उसकी वह सुनहरी स्मिति, मादक दृष्टि और मदिर स्वर-लहरी।....नीला.... नीला!

२४

लेकिन गौने से भी पहले अपने विवाह के प्रथम दिवस ही चेतन को मालूम हो गया कि चन्दा—वह उसकी मोटी-मुटल्ली पत्नी—अपनी उस साधारण दिखायी देने वाली सूरत-शक्ल के अन्दर एक अत्यन्त कोमल और भावुक हृदय रखती है।

दूसरे दिन नव-परिणीता वधू के साथ जब वह ताँगे में बैठकर बाजे के पीछे-पीछे बस्ती ग़ज़ाँ से चला था तो उसके मन-मस्तिष्क पर नीला का चित्र अंकित हो चुका था और उसके हृदय में कहीं ज्वाला-सी धधक रही थी। वह सोच रहा था, क्यों नीला से उसका विवाह न हुआ? उसे पहले ही क्यों न पता चल गया कि वही लड़की, जिसे बस्ती के अड्डे पर जाते देखकर उसके हृदय में अँधेरी रात के दूरस्थ प्रदीप की भाँति एक ज्योति-किरण जगमगा उठी थी, उसकी भावी पत्नी के ताऊ की मँझली लड़की है। यदि वह मुल्कराज से उसके सम्बन्ध में पूछ लेता? यदि उसे बाद में भी किसी तरह मालूम हो जाता? यदि. . . .तो जीवन के दुख-भरे सागर में सुख की उद्दाम तरंगे उठ आतीं। उनके सहारे वह कहाँ-कहाँ न पहुँच जाता।

नारी ही गति है और नारी ही अगति। जीवन भी यही है और मृत्यु भी यही—केवल संगिनी के उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त होने का प्रश्न है। इन्हीं दो सीमाओं में पुरुष के जीवन का क्रम चलता रहता है। उपयुक्त संगिनी मिल गयी तो उसके जीवन का सागर आनन्द से हिलोरें ले उठता है और यदि अनुपयुक्त तो....चेतन की कल्पना के सम्मुख क्षण भर के लिए हिलोरें लेता हुआ सागर आया और फिर उसके स्थान पर प्रतिक्षण सूखता-सा एक पोखर—गदला, गतिहीन, तरंग-रहित—और उसने अपने साथ ताँगे में बैठी हुई अपनी नव-परिणीता पत्नी की ओर देखा और अपने जीवन का सागर उसे जैसे उत्साह-हीन-सा होकर उतरता हुआ दिखायी दिया।

सहसा उसे इला-ह्वीलर विलकाक्स की एक कविता स्मरण हो आयी, जिसका भावानुवाद उसने कभी किया था—

मैं अगर सागर, सुमुखि, तू चाँद है मेरे लिए !
देखते जब नयन तेरे मुदित मेरी ओर,
तब उमड़ता ज्वार आशा का, न दिखते छोर,
और ये काली चटानें—
पंक्तियाँ मेरी निराशाओं, बलाओं की भयावह—
ज्वार में चुपचाप जातीं डूब !

और आशा की लहरियाँ मन्द उठतीं खेल
लहलहा उठती मरी-सी कामना की बेल

किंतु जब फिर रूठकर, होकर विमुख—तू
छीन लेती ज्योत्स्ना-सा तरल मेरा सुख !
अँधेरा—
घोंट देता है गला

उन वीचियों के लहलहाते खेल का;
उस महमहाती कामना की बेल का;
औ' उभर आती चटानें--
पंक्तियाँ मेरी निराशाओं, बलाओं की भयावह--
और लगता है, अँधेरा
चीर उर मेरा, निकल बाहर
बना घेरा
मुझे ही लीलने को
सरकता है प्राण, मेरी ओर !

मैं अगर सागर, सुमुखि, तू चाँद है मेरे लिए!

कहीं यदि नीला से उसका विवाह हो जाता तो उसके चाँद से मुख को—उन घने काले बालों में छिपे, चाँद से मुख को—तनिक-सा ऊपर उठाकर वह कहता :—

'मैं अगर सागर हूँ, तू सखि चाँद है मेरे लिए।'

लेकिन अब. . .और निराशातिरेक से उसका गला भरा-सा आया और सचमुच अपने घर की देहरी पार करके चन्द रस्मों को जल्द-जल्द पूरा करने के बाद वह अन्दर कोठरी में जाकर रोने लगा।

उसकी माँ—दुःखों और ग़मों की मारी उसकी माँ—इस नयी विपत्ति को देखकर पहले तो घबरा गयी, किंतु विपत्तियों का पहला आक्रमण जहाँ मानव के पाँव ज्वार के पहले रेले की तरह डगमगा देता है, वहाँ उनका आधिक्य उसे स्थिर भी कर देता है और माँ विपत्तियों के निरन्तर प्रहारों के कारण तूफ़ान के मध्य भी स्थिर खड़े होकर सोचने की शक्ति पा गयी थी।

सोच-सोचकर वह पहले बहू के पास स्वयं गयी और बहू का घूँघट

हटाकर उसने क्षण भर के लिए निर्निमेष उसकी आँखों में देखा। अनुभव किया कि उनमें अपार कोमलता और अपार सहृदयता है। तब क्षणिक आवेश के वश उसने उसे अपने आलिंगन में भींच लिया और आर्द्र कंठ से बोली :

"वह कुछ बेचैन-सा है मेरी बेटी। फूल-फूल पर बैठने वाला, आकाश के विस्तार में स्वच्छन्द उड़ने वाला पक्षी। उसे बाँधना है। वह भाग जाना चाहता है। सब बन्धन तोड़कर! लेकिन बेटी तू ज़रा सतर्क रहेगी तो वह भाग न पायेगा। मैं उसे अभी भेजूँगी। बहुत संकोच से काम न लेना, समझी...तू छोटी नहीं, सयानी है, व्यर्थ की लज्जा न करना।"

और वह चली आयी थी। फिर बहाने से महरी को बस्ती भेजकर उसने चेतन को अन्दर भेजा था।

चेतन का मन खिन्न था। वह अपनी इस दुलहन से बिलकुल साक्षात न करना चाहता था, किंतु एक तरह का कुतूहल अवश्य उसके मन में था। जिन युवकों को लड़कियों का साहचर्य प्राप्त नहीं होता अथवा जो लड़कियों की उपस्थिति में संकोच से अभिभूत हो जाते हैं, नारी के शरीर को सर्वथा अपने अधिकार में पाकर जैसा कुछ कुतूहल उनके मन में पैदा हो जाता है, वही चेतन के मन में भी था।

कमरे में जाकर उसने अत्यन्त हास्यास्पद हरकतें की थीं। पहले तो उसने माँ से लगभग आदेशपूर्ण स्वर में कहा था कि उसके लिए खाना वहीं भेज दिया जाय और फिर जब बहू भी माँ के साथ बाहर उठकर जाने लगी थी तो उसने तनिक कड़े स्वर में कहा था, "बैठो!" और उसके बैठने पर उसने उठकर कुंडी लगा ली थी (और भूल गया था कि उसने खाना वहाँ लाने का आदेश दिया है।) फिर उसने पत्नी को हुक्म दिया था कि घूंघट उठा दे।

चन्दा ने धीरे-से घूँघट उठा दिया था और एक बार लज्जा-भार से दबी बड़ी-बड़ी अलसायी-सी पलकों को उठाकर उसकी ओर देखा था।

इस एक दृष्टि से ही चेतन के स्वर की कर्कशता कोमलता में बदल गयी थी। वह गम्भीर, गहरी, सहृदय, तरल-दृष्टि! . . .चेतन जैसे शांति के सागर में डूबा जा रहा था। उसने कुछ नर्मी से पूछा, "तुम हिन्दी पढ़ सकती हो या नहीं?" चन्दा ने धीरे से, 'जी हाँ!' कहा और इस शब्द की मिठास चेतन की श्रवण-शक्ति पर छाकर रह गयी। तभी अचानक उसे लगा कि बस्ती के अड्डे पर पहले-पहल उसने जिस चन्दा को देखा था, उसमें और आज की नव-विवाहिता चन्दा में महान् अन्तर है। उसका रंग निखर आया है, अंग अधिक सुगठित हो गये हैं और आँखें पहले से कहीं अधिक फैल गयी है। माँ ने उबटन मलकर शायद उसका रंग चमका दिया था या जवानी ने अपनी भट्टी में तपाकर उस गेहुएँ रंग को कुन्दन बना दिया था! और फिर यौवन की गरिमा उस रंग में अकथनीय मादकता ले आयी थी।

"तुम तो पहले से सुन्दर हो गयी हो चन्दी!"

वह मुस्करायी और फिर तनिक हँसी—मीठी मुस्कान और मादक हँसी! और चेतन ने देखा उन लाल-लाल ओठों के नीचे दूध से सफ़ेद, साथ-साथ जुड़े हुए मोतियों की बत्तीसी है जो उस हँसी को एक अनोखी चमक प्रदान कर रही है।

और वह मुग्ध-सा, साधारण होते हुए भी असाधारण-सी अपनी इस पत्नी की ओर देखने लगा। फिर वह उठकर एक पुस्तक ले आया।

चन्दा ने उसे फ़र-फ़र पढ़ डाला।

तब किताब को परे फेंककर चेतन ने उसे अपने आलिंगन में ले लिया।

चन्दा ने एक बार अपनी अर्द्ध-निमीलित, अलस, लजीली आँखों से उसकी ओर देखा और उस आलिंगन में चेतन ने ऐसा महसूस किया जैसे

मीलों चलकर वह किसी भरे-पूरे सरोवर के किनारे घने वृक्षों की छाया में आ बैठा है।

और तब धीरे-धीरे उसके मांसल गदराये शरीर से प्यार करते-करते उसने मीठे स्वर में कई तरह की बातें उससे पूछीं—बस्ती के लड़कों की, बस्ती की लड़कियों की, चन्दा की बहनों की, उसकी सहेलियों की। फिर स्नेहातिरेक में उसने कहा "तुम आज एक वचन मुझसे ले सकती हो, जो भी चाहो!" और अत्यन्त सरल और भोले भाले अन्दाज़ में चन्दा ने कहा था, "यदि आप माँस खाते हों तो छोड़ दें।"

लेकिन चेतन ने उन्हीं दिनों माँस खाना आरम्भ किया था। एक अत्यन्त ऊँचे ठहाके में उसकी इस बात को उड़ाते हुए वह बोला, "तुम भी कितनी भोली हो चन्दी!" और यह कहकर उसे अपने आलिंगन में भींच-कर वह उसके गोल-गोल गुलगोथने कपोलों पर अपने प्यार की मोहर लगाना ही चाहता था कि बाहर से अनन्त ने ज़ोर से किवाड़ खटखटाये।

चन्दा उसके बाहुपाश से मुक्त होने लगी थी कि उसे बरबस भुजाओं में भींचकर अनन्त के निरन्तर किवाड़ खटखटाने के बावजूद उसने वह मोहर लगा दी। साथ ही उसने अनन्त से हँसकर कहा, "क्या गधे हो, कोई वैसी बात नहीं, सिर्फ़ 'बिज़नेस टॉक' हो रही है।"

और बाहर अनन्त और अन्दर वह इस बेतुकी बात पर ठहाका मार कर हँस पड़े।

२५

किंतु नीला आग थी। स्नेह जल का परस पाकर जम जाता है, पर आग का सामीप्य उसे पिघला देता है। फिर वासना....जिसे 'लव ऐट फ़र्स्ट साइट' (Love at first sight) कहा जाता है, वह वासना-जनित नहीं होता क्या? हम नहीं जानते कि जिसे हमनें देखा है वह स्वभाव की कैसी है? उसकी आदतें कैसी हैं? उसके गुण-अवगुण क्या हैं? बस उसे पाने के लिए आतुर हो जाते हैं। वह नहीं मिलती तो उदास हो जाते हैं। जीवन को जीना छोड़ देते हैं और उस अतृप्ति को हम प्रेम समझते हैं—उस अतृप्ति को जो तृप्त होने पर प्रायः उस प्रेम का गला घोंट देती है!.....और यह वासना आग का सामीप्य पाकर स्नेह की भाँति केवल पिघलती नहीं—भड़क उठती है!

दूसरे दिन वह गौने के लिए बस्ती गया। अगस्त का आरम्भ था। आकाश पर गहरी काली घटा छायी हुई थी। ठंडी हवा हिलोरें ले रही थी। बाहर पड़ोस के एक घर में चौखट से झूला डालकर पेंग बढ़ाती हुई

लड़कियाँ उस चौखट ही को मानो नीम समझकर गा रही थीं।

इक झूला डाला मैंने नीम की डाल में,
नीम की डाल में,
नन्हीं-नन्हीं बूँदियाँ रे सावन का मोरा झूलना।
सावन का मोरा झूलना।

अपनी ससुराल में, अथवा यों कहिए कि अपने ससुर के बड़े भाई के यहाँ (क्योंकि उसके ससुर का अपना कोई घर नहीं था) चेतन ऊपर चौबारे में निवाड़ के पलंग पर लेटा हुआ था। वह दरवाज़े से चुपचाप आकाश में उमड़ती हुई घटाओं को देख रहा था और गली की लड़कियों का गाना अनवरत उसके कानों में मधु-रस उँडेल रहा था।

पास ही उसकी पत्नी की सहेली केसरी अपनी आकांक्षा भरी आँखें लिये हुए बैठी कुछ बातें कर रही थी। चेतन अन्यमनस्क-सा उसकी बातों का उत्तर देता ज़ा रहा था और उसके उत्तर को सुनकर हँसती हुई वह हर दस मिनट बाद कहती थी "जीजा जी, तुसीं तां तिन्नां लोकां तो न्यारे ओ।"

चेतन के कानों को, लड़कियों के गाने की भाँति, केसरी की बातों का स्वर भी किसी स्वप्न संसार के स्वर ही सा लग रहा था। उसकी आँखों में कुछ हल्का-सा ख़ुमार छाया जा रहा था। विवाह के दिनों की समस्त थकन, सब रतजगे जैसे अपने सारे भार से उसकी आँखों को बन्द किये देते थे। वहीं लेटा वह अपनी अर्ध-निमीलित, तन्द्रालस आँखों से छत पर नीला का चित्र बना रहा था और वह चाहता था कि केसरी चली जाय। किंतु वह अपने इन जीजा जी को देखने में और उनकी बातें सुनने में कुछ ऐसा आनन्द पा रही थी कि उठने का नाम ही न लेती थी।

हारकर चेतन ने अपनी पत्नी का नाम लेकर आवाज़ दी।

नीचे आँगन में एक अट्टहास गूँज उठा जिसमें से नीला का गूँजता,

झनझनाता स्वर उसने दूसरों से अलग कर लिया। उसकी पत्नी ने उत्तर नहीं दिया, किंतु छत से परे सीढ़ियों पर उसे नीला चढ़ती दिखायी दी। चेतन को लगा जैसे वह चढ़ती नहीं, हवा में अदृश्य हल्के परों के सहारे फुदक रही है। लेकिन वह जल्दी से उठकर उसे छत पर ही मिला।

"आपको लाज नहीं आती ?" नीला की मुस्कराती हुई आँखें नाच रही थीं और वह निर्निमेष उनकी ओर देख रहा था। "बहन का नाम लेकर आप पुकार रहे हैं। वह तो लाज से मरी जा रही है।"

चेतन ने ज़ोर से ठहाका लगाया।

दो स्त्रियाँ दूर एक मकान की छत पर धूप में सूखने के लिए डाले हुए कपड़े वर्षा के भय से समेट रही थीं। वे पलटकर उधर देखने लगीं।

चेतन फिर हँसा और उसने बहुत धीरे से कहा, "तुम किसी बहाने अपनी बहन की इस तीन लोक से न्यारी सहेली को ले जाओ।"

"तीन लोक......

"यह केसरी मुझे कहती है कि मैं तीन लोक से न्यारा हूँ। असल में वह स्वयं तीन लोक से न्यारी है। उसकी बातें जीब हैं, मुझे नींद-सी लाये देती हैं और तुम तो इतनी व्यस्त हो कि......

और अपनी खुमार भरी मस्त आँखों को उसकी चंचल, चतुर मुस्कराती हुई आँखों में डालता हुआ वह हँस दिया।

नीला एक बल खाती उसके पास से गुज़र गयी। वह जाने क्या कहकर केसरी को ले गयी और चेतन वहीं खड़ा उन सीढ़ियों को देखता रहा जहाँ वह अभी-अभी गायब हुई थी और फिर वह चुपचाप चारपाई पर जा लेटा।

वहीं लेटे-लेटे उसके सामने कल दिन की समस्त घटनाएँ घूम गयीं और उसके मन की आग जो नीला को देखते ही भड़क उठी थी चन्दा का ध्यान आने से ठंडी पड़ती हुई महसूस हुई।

उसने अपने-आपको कोसा। वह अब विवाहित है। किसी के प्रति वफ़ा का बोझ उसके कन्धों पर आ रहा है और यही सोचते-सोचते उसे ऊँघ आ गयी। उसने देखा कि वह एक सीमाहीन मरुस्थल में खड़ा है। दूर-दूर तक झाड़ियाँ हैं और पलाश तथा बबूल के सूखे टेढ़े-मेढ़े वृक्ष। तनिक और ध्यानपूर्वक अपने इर्द-गिर्द देखने से उसे समझ आ जाती है कि वह तो बहावल नगर के उसी मरुस्थल में खड़ा है जो उसने गाड़ी से देखा था। तब उसे आभास होता है कि वह किसी की खोज में, किसी के पीछे भागता हुआ यहाँ आया है। एक झाड़ी से एक खरगोश निकलता है। वह उसके पीछे भागता है। तभी वह देखता है कि एक लोमड़ी उसके पीछे-पीछे चली आ रही है।

चेतन ने करवट बदली।

स्वप्न फिर चलने लगा। इस बार उसने देखा कि वह एक बड़ा-सा पतंगा बन गया है और एक बड़े से हंडे के इर्द-गिर्द घूम रहा है। घूम रहा है, पर शीशा उसे लौ तक नहीं पहुँचने देता। वह उससे टक्करें मारता है और लौ उसकी इस मूर्खता पर अट्टहास कर उठती है।

वह उठ बैठा। उसने आँखें मलीं। देखा कि नीला उसके सिरहाने खड़ी हँस रही है।

वाह! आप क्या देख रहे थे?....और अपना वाक्य समाप्त किये बिना वह उसके सामने बैठ गयी और उसकी गोद में उसने एक पत्रिका रख दी।

"यह पढ़िए, यह।"

उसने अँगुली एक पंक्ति पर रख दी।

चेतन ने अपनी अधखुली उनींदी आँखों से देखा—किसी कहानी के सम्भाषण का एक वाक्य था।

"मैं कैसे कहूँ कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करती।"

मन-ही-मन उसने यह वाक्य पढ़ा। नीला ने उसकी ओर कुछ विचित्र हृदय की गहराइयों में डूब जाने वाली, मुस्कराती हुई दृष्टि से देखा और इससे पहले कि चेतन कुछ समझ पाता वह पत्रिका बन्द करके उठ खड़ी हुई।

वह कहता ही रह गया, "लाओ दिखाओ तो सही, देखें कौन-सी पत्रिका है? लाओ! ......"

लेकिन वह पत्रिका को वक्ष से लगाये, एक बार मुड़कर उसकी ओर देखती हुई, भाग गयी।

चेतन को ऐसा लगा जैसे उसने स्वप्न देखा हो। लेकिन नहीं, वह बिस्तर पर बैठा था और नीला की खुली केशराशि की मादक सुगन्ध कमरे में बसी हुई थी। नीला......नीला......!

२६

विवाह के तत्काल बाद चेतन अपनी पत्नी को लाहौर नहीं ले गया। कारण कई थें।

—उसकी माँ चाहती थी कि अपनी इस नयी बहू को कुछ दिन अपने पास रखे और समस्त गृह-कार्यों में उसे निपुण कर दे।

—भाई साहब चाहते थे कि अब जब उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर दी है तो चेतन भी अपना वचन पूरा करे और लाहौर में दुकान खोलने में उन्हें सहायता दे।

—भाई साहब की श्रीमती जी इस बात पर तुली हुई थीं कि वे जालन्धर रहते-रहते ऊब गयी हैं, इसलिए लाहौर जायेंगी। गर्मियों का मौसम था, बादल हो तो कुछ ठंड हो जाती, नहीं तो ग़ज़ब की गर्मी पड़ती और चंगड़ मुहल्ले के उन दो कमरों में चार-छै व्यक्तियों के एक साथ रहने की बात स्वयं एक समस्या थी।

—फिर चेतन (मन की किन्हीं अज्ञात गहराइयों में) न चाहता था कि वह नीला से एकदम इतनी दूर चला जाय। उसके अर्ध-चेतन

में कहीं यह बात भी छिपी थी कि चन्दा जालन्धर अथवा बस्ती रहेगी तो वह नीला से मिलने के अधिक अवसर पा सकेगा।

इन सब कारणों से अपनी नव-पत्नी को अपनी माँ की देख-रेख में छोड़, अपने भाई साहब को, कुछ थोड़ा-बहुत प्रबन्ध करके, अपने पीछे आने के लिए कह और अपनी भावज को सान्त्वना देकर कि उसे शीघ्र ही बुला लिया जायगा, चेतन अतीव दुख और अतीव सुख के इन कुछ दिनों के बाद अपने उसी समाचार-पत्र की चक्की में जुटने के लिए लाहौर वापस चला गया।

सुख की अपेक्षा जीवन में दुख की मात्रा कहीं अधिक है। पर इन दोनों को एक दूसरे से पृथक् करके नहीं रखा जा सकता। सुख के क्षण दुख को लिये हुए आते हैं और दुख के सुख को और मानव इन्हीं मधु-विष मिश्रित-प्यालों को पीता चला जाता है।

माँ के दिल में बहू को घर के काम-काज में दक्ष करने का जो शौक था, वह शीघ्र ही पूरा हो गया, और दो महीने बाद माँ ने फ़तवा दे दिया कि यह नयी बहू बड़ी बहू से भी गयी-गुज़री है। वह ज़बान की कड़वी हो, लड़ती-झगड़ती हो, पर काम तो करती थी। यह तो बस गुम-सुम पत्थर! अजगर की तरह खाना और सोना जानती है। काम के नाम पर सिफ़र है। यह कहते-कहते माँ पंजाबी भाषा की एक लोकोक्ति भी सुनाती।

बहू कम्म करन नूँ कही
बहू सुज्ज भड़ोला जही
बहू खान नूँ कही
दो सज्जरियाँ दो बही[1]

---

[1] बहू से-काम करने को कहा, बहू का मुँह भड़ोला (डहरी) बन गया?

और माँ उन दिनों की बातें सुनाती जब वह स्वयं ब्याही आयी थी और परदादी गंगादेई के कठिन शासन के नीचे उसे अथक काम करना पड़ता था।

इस बीच में चेतन दो बार जालन्धर आया था। वर्ष भर में एक महीना और महीने भर में अढ़ाई दिनों की छुट्टी उसे मिलती थी। इन अढ़ाई दिनों को इतवार से मिलाकर दोनों बार वह साढ़े तीन-तीन दिनों के लिए जालन्धर आया था। तब माँ के कठिन संयम से हारी-थकी उसकी पत्नी ने बस्ती चलने की इच्छा प्रकट की थी। यों भी कहा जा सकता है कि चेतन ने स्वयं उसके मन में बस्ती चलने की आकांक्षा जगा दी थी। बड़े प्यार से उसे अपने अंक में लेकर उसने उससे कहा था :—

"मैं तुम्हें आज ले चलूँ लाहौर, पर अभी भाभी गयी हैं। वह दो-चार महीने रह ले, तब तुम्हें ले चलूँ। इतनी जगह तो है नहीं कि तुम दोनों रह सको। अब माँ से मैं क्या कहूँ? उन्हें न नींद आती है, न भूख लगती है। दूसरों को भी वे ऐसा ही समझती हैं। जब तक यहाँ रहना है, यह सब कुछ सहन करते हुए ही रहना है। प्रातः उठने की और तनिक देर से खाने की आदत डालनी होगी। पुरुषों के खाने से पहले खा लेना माँ के धर्म में पाप है। मैं कह जाऊँगा। तुम न हो कुछ बासी-ऊसी खा लिया करना।" और फिर उसने वाणी में और भी स्निग्धता भरकर कहा था, "कहो तो दो एक दिन के लिए तुम्हें बस्ती छोड़ आऊँ, ज़रा तबीयत बहल जायगी तुम्हारी।"

चन्दा मन-ही-मन अपने इस सहृदय पति के चरणों में झुक गयी थी और इसी बहाने चेतन दोनों बार बस्ती हो आया था।

बहू से खाने को कहा, बहू ने दो ताज़ा और दो बासी रोटियाँ सामने रख लीं। हिन्दी में भी एक लोकोक्ति है जिसका यही अर्थ है—काम की न काज की अढ़ाई सेर नाज की।

चाँदनी रात थी और दिन भर बरसने के बाद तीतर के पंखों-सी बदली आकाश पर छायी हुई थी, जिसके सम्बन्ध में पुराने लोगों का विचार है कि वह वर्षा के पुनरागमन की सूचना देती है। उमस नहीं थी और ठंडी-ठंडी बयार चल रही थी। चांद के इर्द-गिर्द एक नन्हीं-सी बदली साँप की भाँति कुंडली मारकर बैठी थी और आकाश पर फैली हुई बदलियों में कहीं-कहीं कोई तारा झाँक उठता था। अपनी ससुराल में छत पर चेतन लेटा हुआ था। पास ही नीला बैठी थी और वह मन्त्रमुग्ध-सा उसकी ओर देख रहा था।

दोनों चुप थे। नीचे बर्तनों के मले जाने की आवाज़ आ रही थी, क़भी-कभी हैंड-पम्प का कर्कश स्वर भी आ जाता था या फिर चन्दा कभी-कभी (ऊपर अपने पति की उपस्थिति के कारण) सरगोशियों में बातें करती थी—"भाभी आटा देख लो काफ़ी है या नहीं?....'अम्बो' थाली कहाँ रख दी तैंने?" ...."चावल तो गल गये भाभी...."

उस दिन के बाद चेतन को आज नीला से दो बातें करने का अवसर मिला था। किंतु उसे बातें सूझ ही न रही थीं और वह निर्निमेष उसके सुन्दर मुख को देख रहा था। नीला का क़द लम्बा न था, किंतु ऐसा भी नहीं जिसे मझोला कहा जा सके? वह पतली न थी, लेकिन मोटी भी न थी—सुडौल, सुगठित अंग, तीखा लम्बा चेहरा, भरे गाल, जिनमें हँसते समय गढ़े पड़ जाते थे; बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और वय-सन्धि को पार करता और रेखाओं को उभारता शरीर। और चेतन बस उसे मोहित-सा देख रहा था।

सोचने पर भी उसे कोई बात न सूझ पड़ी। नीला के सामीप्य और उस चाँदनी रात की तरल मादकता से मस्त वह लेटा रहा। कोने में कोई टिड्डी अनवरत चीं-चीं करती रही और चेतन जैसे स्वप्न के संसार में

खोया-सा उसकी आवाज़ सुनता रहा।

नीला चेतन के बालों पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगी। अपनी कोमल अँगुलियों से उन्हें प्यार के साथ सुलझाते हुए उसने अनायास कहा "जीजा जी तुम्हारे बाल कितने कोमल हैं, कितने लम्बे और कितने कुंडल बन जाते हैं इनमें!"

चेतन को फिर भी कोई उत्तर न सूझा। उसने केवल नीला का एक हाथ अपने हाथ में ले लिया और कुछ क्षण आँखें बन्द करके चुपचाप पड़ा रहा। उसके समस्त शरीर में जैसे एक हल्की-सी मीठी सनसनी दौड़ रही थी और वह चुप लेटा उसका आनन्द ले रहा था। फिर उसने उस कोमल हाथ को अपने दूसरे हाथ में लेकर दबाया और फिर अपने धड़कते हुए वक्ष पर रख दिया।

नीला चुप रही। उसके बालों पर धीरे-धीरे हाथ फेरती रही, उसके कुंडलों को सुलझाती रही।

कुछ क्षण बाद चेतन ने कहा "मैं सोचा करता हूँ नीला मैं दो बार चन्दा को देखने आया और दोनों बार ही मैंने तुम्हें देखा।"

"मैंने भी आपको दोनों बार देखा और मैं यह भी बता सकती हूँ कि पहले दिन जब आप बस्ती के अड्डे पर खड़े थे, आप ने कौन-सा सूट पहन रखा था।"

एक हल्की-सी लहर चेतन के शरीर में दौड़ गयी। नीला के हाथ को प्यार से सहलाते हुए उसने कहा "यदि मुझे उस दिन पता चल जाता कि तुम चन्दा की ही बहन हो तो......"

"तो जीजा जी......" नीला ने उत्सुकता से पूछा।

लेकिन चेतन चुप रहा। उसने सिर्फ़ एक गहरा निश्वास छोड़ा और जैसे अपने प्रेम के समस्त मीठे भार से उसके हाथ को दबाया।

नीला ने कहा, "आपका दिल बुरी तरह धड़क रहा है।"

चेतन का दिल वास्तव में ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था, उसका गला

सूखा जा रहा था और शरीर गर्म हो रहा था।

नीला के हाथ को इधर-उधर फिराता वह अपने कंठ और फिर वहाँ से अपने गालों पर ले गया। अपने ठंडे दायें गाल पर वह गर्म हाथ रख-कर उसने उसे दबाया। उसके मन को कुछ अपूर्व-सी शांति मिली। उसकी नस-नस ने एक विचित्र सुख का अनुभव किया। लेकिन साथ ही एक अज्ञात आकांक्षा से उसके हृदय की गति तीव्रतर हो गयी, उसका शरीर गर्म होने लगा। वह हल्का-हल्का कम्पन महसूस करने लगा। वह कबूतरी के पंखों-से उस मुलायम और श्वेत हाथ को अपने ओठों के पास ले जाने लगा था कि नीला ने हाथ खींच लिया।

"बहन ने शायद मुझे आवाज़ दी है।"

और वह भाग गयी।

दूसरी सुबह जब चेतन जाने लगा तो नीला अपनी नाचती मुस्कराती आँखें लिये आयी। और उसने उससे लाहौर से फिर आते समय रिबन और क्लिप लेते आने की फ़रमाइश की।

दूसरी बार जब चेतन आया था तो वह न केवल क्लिप और रिबन, बल्कि लिप-स्टिक, क्रीम और पाउडर का डिब्बा भी लाया था। और बड़ी सफ़ाई से अपने इस कृत्य की दाद उसने अपनी पत्नी से ले ली थी।

आते ही उसने चन्दा से कहा था कि रिबन और क्लिप वह नीला के लिए लाया है और लिप-स्टिक, क्रीम और पाउडर उसके लिए। फिर कुछ क्षण ठहरकर दो-चार इधर-उधर की बातें करके उसने कहा था, "मुझे तो ज़रा-ज़रा-सी ये दो चीज़ें तुम्हारी बहन को देते शर्म आती है। वह तुम्हारी बहन ठहरी, ये ज़रा-ज़रा-सी चीज़ें उसे क्या दूँगा?" और फिर जैसे उसे उसी समय खयाल आया हो, उसने कहा, "तुम यह लिप-

स्टिक, क्रीम और पाउडर भी उसे दे देना। उसे कुछ तसल्ली तो हो। तुम्हारे लिए मैं अगली बार आता हुआ और ले आऊँगा। वह तुम्हारी बहन है और पहली बार उसने कुछ फ़रमाइश की है......"

और भोली चन्दा मान गयी थी। लेकिन जब बस्ती जाने पर उसने नीला को वह सब कुछ दिया जो उसके जीजा उसके लिए लाहौर से लाये थे तो वह हँस दी थी। क्लिप और रिबन उसने रख लिए थे किंतु शेष चीज़ें उसने चन्दा को वापस दे दीं। इस पर चन्दा ने उससे कहा था, "इन्हें तुम स्वयं ही अपने जीजा को वापस देना।"

तब पाउडर का डिब्बा और क्रीम तथा लिप-स्टिक की शीशियाँ उठाकर नीला ऊपर गयी थी और तीनों चीज़ें उसने चेतन के सामने रख दी थीं।

"इन्हें आप बहन को दे दें।" उसने कहा था।

"लेकिन मैं तो सिर्फ़ तुम्हारे लिए लाया हूँ।"

"मैं कैसे इनका प्रयोग कर सकती हूँ?"

"क्यों?"

"आप भी भोले हैं जीजा जी! किसी कुँवारी लड़की को बस्ती में आपने सुर्ख़ी या पाउडर लगाये देखा है?"

इतने ही से उसके गाल सुर्ख़ हो गये और इससे पहले कि चेतन कुछ कहता वह भाग गयी।

चेतन ने महसूस किया जैसे चिरकाल से बनाया हुआ उसका स्वप्न-संसार छिन्न-भिन्न हो गया हो।

लेकिन उसी शाम को दोनों चीज़ें अपनी पत्नी को वापस देते हुए उसने कहा, "अच्छा हुआ नीला ने इन्हें नहीं लिया।"

चन्दा ने चुपचाप चीज़ें ले लीं।

"मुझे सिर्फ तुम्हारा खयाल था," चेतन ने एक खिसियानी-सी हँसी के साथ कहा, "तुम्हारी बहन कहीं यह न कहे कि उसका जीजा महाकंजूस है, नहीं मैं सोच रहा था कि यह चीज़ें नीला को देने के लिए कह तो दिया, पर तुम्हारे लिए कहाँ से लाऊँगा। इस महीने तो कुछ बचा नहीं पाया।"

चन्दा चुपचाप सुनती रही।

और ब्योरा देते हुए चेतन ने कहा, "तुम्हें मैंने लिखा था न कि इस महीने का लगभग सारा वेतन मैंने भाई साहब को दे दिया है। उन्होंने नीला गुम्बद के पास बाइबल सोसाइटी के सामने दुकान खोल ली है। चल निकलने की पूरी आशा है। पहले ही महीने तीस रुपये आये हैं। लेकिन रुपये तो आते हैं दो-दो चार-चार करके, पर किराया देना पड़ता है इकट्ठा। सो तीस तो उन्हें दे दिये। शेष दस से ये चीज़ें लाया और यहाँ भी आया। मकान का किराया अभी देना बाकी है। खाने का तो खैर भाई साहब प्रबन्ध कर देंगे, पर मैं सोच रहा था....लेकिन यह अच्छा ही हुआ तुम यह रक्खो! अगले महीने टिकुली और तेल आदि भी तुम्हें ला दूँगा।"

किंतु उसी रात वह नीला से कह रहा था :

"नीला तुमने वह सब वापस कर दिया, यह न देखा कि लाने वाले के हृदय को कितनी ठेस पहुँचेगी ?"

रात के अँधेरे में नीला ने अपने इस जीजा की आँखों में देखने का प्रयास किया।

वह मुंडेर पर बैठी थी। तनिक अंतर से चेतन चारपाई पर लेटा हुआ था। ऊपर आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। चौथ का चाँद किसी कुबड़े की तरह लेटा हुआ था। एक नन्हा-सा चमगादड़ इधर-से-उधर और उधर-से-इधर अतीव विह्वलता से उड़ रहा था। नीला को लगा जैसे निमिष मात्र के लिए चेतन का गला भर आया हो।

उसने हँसकर कहा, "जीजा जी ! मैं लेकर क्या करती, जब मैं उन्हें काम में न ला सकती थी । आप कोई चीज़ लायें जो मैं काम में ला सकूँ फिर मैं उसे न लूँ तो. . . ."

चेतन को सान्त्वना मिली और फिर उसने नीला का हाथ खींचकर अपने हाथ में ले लिया ।

नीला चुप बैठी रही ।

उसके हाथ पर अपना हाथ फेरते हुए उसने बताया कि वह चन्दा को कुछ दिनों के लिए बस्ती ही छोड़ जाना चाहता है ।

उसने कहा, "मेरी माँ देवी है । उसने हमारी ख़ातिर अनेक कष्ट सहे हैं । दुखों के कारण उसमें जान तक भी नहीं रही । उसने हमें कभी गाली नहीं दी, झिड़का नहीं, बुरा-भला नहीं कहा । मेरी सदा यह अभिलाषा रही कि मैं उसे प्रसन्न कर सकूँ । उसके आँसू मैं सहन नहीं कर सकता । इसीलिए मैं चाहता हूँ कि उससे कुछ न कहकर चन्दा ही को कुछ दिन के लिए बस्ती छोड़ दूँ ।"

नीला ने सिर्फ़ इतना ही कहा था, "वह तुम्हारी माँ है, पर चन्दा की तो सास है । बस यही अंतर है ।"

"मैं हैरान हूँ नीला, कि चन्दा से भी माँ की नहीं निभ सकी । भाभी के सम्बन्ध में तो माँ कहती थी कि वह लड़ाकी, झगड़ालू, कर्कशा है, लेकिन तुम्हारी बहन तो ऐसी नहीं । उसमें और कुछ न हो सरलता, सहृदयता, विनम्रता तो कूट-कूटकर भरी हुई है । मैं सोचता था कि मैं न सही, माँ तो खुश होगी, लेकिन. . ."

और चेतन ने नीला का गर्म हाथ अपने ठंडे गालों पर रख लिया । एक निमिष के लिए वह हाथ काँपा, फिर स्थिर हो गया ।

"चन्दा पढ़ी-लिखी नहीं । चार-पाँच दर्जे तक. . .लेकिन इतने से क्या होता है ? और फिर वह एकदम देहातिन है । अपनी सारी सरलता

या जिसमें छपने की उसे आशा होती, उसे ही वह सबसे पहले उठाकर देखता। कभी जब उसके हाथ में कोई ऐसी पत्रिका आ जाती, जिसमें उसकी कभी रचना छपी होती और वहीं स्टाल पर पत्रों की देख करने वालों में उसका कोई परिचित होता तो उसका मन उस अपने परिचित को उस बात की सूचना देने के लिए मचल उठा करता। कई बार ऐसा भी होता कि उसके पास ही कोई व्यक्ति खड़े-खड़े उसकी ही कविता अथवा कहानी देख रहा होता, तब उसके चेहरे पर एक रंग आता और एक जाता। उसे प्रबल आकांक्षा होती कि उस व्यक्ति को किसी तरह इस बात का पता चल जाय कि यह नवयुवक जो उसके पास ही खड़ा है, उस कहानी अथवा कविता का रचयिता है। किंतु इस तरह की बात अपने किसी परिचित अथवा अपरिचित को समझाने में वह सदैव असफल रहा करता। हाँ अपनी कृतियों को छपे अथवा पढ़े जाते देखकर उसके मन को अपार प्रसन्नता होती। इसीलिए वह प्रायः धुएँ और धूल की परवाह न करके स्टाल पर कितनी ही देर खड़ा रहता। दुकान का मालिक उसे मुफ़्तख़ोर न समझ ले, इस विचार से, जैसे-तैसे कुछ पैसे बचाकर, एक दो साहित्यिक पत्रिकाएँ भी वह कभी-कभी ख़रीद लिया करता। दुकानदार से मेल-जोल बढ़ाने के लिए उसने उसे एक पत्रिका की एजेन्सी भी ले दी थी।

चेतन का मन खिन्न-सा था। इसका एक कारण तो यह था कि सारा दिन दफ़्तर में प्रकट वह अँग्रेज़ी तारों का अनुवाद करता रहा था, किंतु उसका मन जालन्धर से आने वाली प्रत्येक गाड़ी की प्रतिक्षा करता रहा था। किसी-न-किसी बहाने वह घर जा-जाकर देखता और निराश होता रहा था और इसी कारण वह ग़लतियाँ करता और झिड़कियाँ खाता रहा था। दूसरा कारण यह था कि ड्योढ़ी के ऊपर रहने वाली विधवा ने

उसे ख़ूब चिढ़ाया था। "क्यों झूठ बोलते हो," उसने कहा था, "ब्याह तो तुम्हारा हुआ ही नहीं, पत्नी कहाँ से आयगी ? पता नहीं किसके ब्याह की शीरनी लाकर तुमने मुहल्ले में बाँट दी !" चेतन ने कहा था कि उसकी पत्नी आज अवश्य आ जायगी, लेकिन जब वह दो-तीन बार घर गया और पूछने पर उसे पता चला कि वह नहीं आयी तो उसे उनके सामने बहुत खिन्न होना पड़ा था।

फिर शाम को दफ़्तर का काम समाप्त करके, इस विचार से कि उसकी पत्नी घर न आयी बैठी हो, फ़ज़ल की दुकान के बदले जब वह सीधा घर गया था तो उसे निराश होना पड़ा था। तब झुँझलाहट में खाना खाते-खाते वह अनायास भाभी से उलझ पड़ा था और खाने की थाली पटककर उठ खड़ा हुआ था।

वास्तव में भाभी लाहौर आकर फिर जालन्धर न जाना चाहती थी। वह अपढ़ और गँवार थी। उसका विचार था कि उसके देवर और देवरानी उसके पति की कमाई खाना चाहते हैं इसलिए उसे जालन्धर भेज रहे हैं। अपने मन का यह भाव उसने चेतन पर प्रकट भी कर दिया था। चेतन का रक्त खौल उठा था और वह लड़-झगड़कर खाना छोड़ चला आया था।

वहीं अपने अड्डे पर पहुँचकर वह पत्रिकाएँ देखने लगा। उसका मन लग न रहा था। हल्की-हल्की सर्दी उतर आयी थी। वह खादी की एक कमीज़ पहने और तहमद बाँधे खड़ा था। सोच रहा था कि उसके पास गर्म कपड़ा कोई नहीं। उसने जल्दी की थी, यदि वह सर्दियों में विवाह करता तो और कुछ न सही उसे एक गर्म सूट तो मिल ही जाता। अब सर्द सूट तो उसने अपने भाई को दे दिये थे। (वे उससे सिर्फ़ दो वर्ष बड़े थे और उसके सूट उन्हें फ़िट आते थे। फिर वे डाक्टर थे और सूटों की उन्हें बड़ी आवश्यकता थी) लेकिन लाहौर में सर्दी तो ख़ूब पड़ती है। माना की

राष्ट्रीय पत्र के जूनियर एडीटर को सूट-बूट अच्छा नहीं लगता, लेकिन वह एक गर्म अचकन तो सिलवा ही सकता था।

उसे कुछ-कुछ भूख-सी लग रही थी और वह सोच रहा था कि यदि जेब में कुछ पैसे होते तो सामने कोने के सिक्ख हलवाई की दुकान से डेढ़ पाव-आध सेर गर्म-गर्म दूध पीता, जिस पर मलाई की मोटी परत जमी हुई थी और जिस पर बादामों की गिरियाँ तथा छोहारे दूर ही से जमे दिखायी देते थे। कल्पना-ही-. ल्पना में चेतन के मन-मस्तिष्क में उस दूध की सुगन्ध बस गयी। कुछ विचलित-सा होकर उसने हाथ की पत्रिका पर से दृष्टि उठायी।

तभी एक ताँगा उसके पास से गुज़रा। पिछली सीट पर एक नव-विवाहिता घूँघट निकाले बैठी थी। उसके साथ सफ़ेद धोती पहने उस पर रेशमी चादर ओढ़े एक अधेड़ महिला थी। ज्योंही युवती पर से होती हुई उसकी दृष्टि उस महिला पर पड़ी कि उसके मुँह से अनायास निकल गया—"माँ!"

पत्रिका को वहीं फेंक वह तहमद सम्हालता हुआ ताँगे के पीछे-पीछे भागा और उसने दो एक आवाज़ें दीं—"माँ!" "माँ!" और फिर "परसराम!" "परसराम!" और माँ ने ताँगा रुकवा लिया।

२९

अपनी इस नयी बहू को घर के काम-काज में दक्ष करने का जो उत्साह माँ को था, यद्यपि वह जालन्धर ही में ठंडा पड़ चुका था तो भी जब चेतन ने अपना वैवाहिक जीवन आरम्भ करने के लिए पत्नी को बुलाया और लिखा कि उसे परसराम या शिवशंकर के साथ भेज दिया जाय तो वह भी साथ आ गयी थी। शायद वह अपनी इस बहू को जीवन के कठिन मार्ग पर चलने से पहले हर तरह समझा-बुझा देने का एक और प्रयास कर देखना चाहती थी। इसीलिए जब अपनी देवरानी के आने पर चेतन की भावज अनिच्छापूर्वक अपने देवर के साथ जालन्धर चली गयी तो माँ उसके साथ न गयी।

भाई साहब की दुकान के अन्दर (कदाचित् सामान आदि रखने के लिए) एक परछत्ती थी। इसकी छत दुकान के एक तिहाई भाग पर थी और लकड़ी की एक तंग सीढ़ी इससे लगी हुई थी। अपनी छोटी भावज के आने और अपनी पत्नी के जाने के बाद भाई साहब ने अपना बोरिया-बिस्तर वहीं लगवा लिया। बिस्तर तो खैर जैसा-तैसा था ही, किंतु बोरिये के नाम पर उनके पास एक सूटकेस ही था, जिसके कब्जे इतने पुराने हो चुके थे कि

ऊपर का ढकना सदैव खुला रहता था। बस दो जून खाना खाने के लिए वे घर आते थे।

अपनी माँ की उपस्थिति, विशेषतया विवाह के उन पहले दिनों में, चेतन को उतनी अच्छी नहीं लगी। कमरे दो ही थे। अन्दर धीरे से भी बात की जाय तो बाहर सुनायी दे जाती थी। माँ की उपस्थिति में अपनी पत्नी से बात-चीत करने का उसे अवसर न मिलता। माँ कुछ रोड़ा अटकाती हो, यह बात न थी। वह तो बाहर के कमरे में अधिक-से-अधिक फ़ासले पर बैठी मौन रूप से विष्णुसहस्रनाम, प्रेम सागर अथवा रामायण का पाठ किया करती या केवल माला फेरती रहती। किंतु अपनी माँ की उपस्थिति में अपनी पत्नी के साथ बातें करने में अथवा उसे अन्दर कमरे में ले जाकर बैठाने में चेतन को बड़ी लज्जा लगती थी। फिर उसकी पत्नी भी सदैव उससे कतराती थी। दिन- प्रतिदिन चेतन उससे खुलकर बातें करने को व्यग्र होता, पर जब भी वह घर आता उसे घूँघट निकाले मौन देखता। बहाने से यदि वह उसे अन्दर बुलाता भी तो अव्वल तो वह बहुत देर तक न ठहरती और यदि वह उसके शरीर से किसी तरह की आज़ादी लेना चाहता तो महज़ इस विचार से ही कि माँ बाहर बैठी पूजा कर रही है, उसे लज्जा आने लगती और अपनी पत्नी से खुलकर दो बातें करने की साध उसके समझ में दिन-प्रतिदिन प्रबलतर होती जाती।

तभी इतवार आ गया।

इतवार को अधिकांश समाचार-पत्रों के दफ़्तरों में छुट्टी होती है। चेतन के दफ़्तर में उस दिन भी काम होता था। बात यह थी कि उसके पत्र का 'संडे एडीशन' मंडे (Monday) को निकलता था। उस दिन दूसरे पत्रों से मुकाबिला न होता था। शनि के दिन अँग्रेजी सरकार ने भारत सम्बन्धी ह्वाइट पेपर प्रकाशित किया था। इसलिए चेतन के ज़िम्मे इतवार को स्थानीय नेताओं से इंटरव्यू करने की ड्यूटी लगी थी। दूसरे समाचार-पत्रों

को छुट्टी के कारण यह सुविधा प्राप्त न थी। इसलिए सम्पादक महोदय चाहते थे कि वे उनसे पहले ही ह्वाइट पेपर के सम्बन्ध में स्थानीय नेताओं की सम्मतियाँ छापकर डायरेक्टरों की प्रशंसा और पाठकों का यश अर्जित कर लें।

चेतन दिन भर साइकिल लिये घूमता रहा। वह तीन तरह के नेताओं से मिला। एक जो राजनीतिक थे, राजनीति के सम्बन्ध में गम्भीर थे, अपने दृष्टिकोण के बारे में दयानतदार थे और जिनकी राय को महत्व भी दिया जाता था। ये नेता सारे के सारे ह्वाइट पेपर का पहले अध्ययन करना चाहते थे, फिर अपने दल के नेताओं के वक्तव्यों की प्रतीक्षा करना चाहते थे। किसी प्रकार का ओछा वक्तव्य देना उन्हें स्वीकार न था—उनके बयान कुछ अस्पष्ट से थे, कुछ अपूर्ण से, जिनमें निश्चयात्मक रूप से कुछ भी न कहा गया था और सरसरी नज़र से देखने पर ह्वाइट पेपर के असन्तोषजनक होने का उल्लेख था।

दूसरे नेता सामाजिक थे और राजनीति में उन्हें इसलिए घसीटा जाता था कि उनके पास पैसा अधिक था या फिर उनका नाम बड़ा था। वे किसी-न-किसी साम्प्रदायिक सभा के प्रधान अथवा उप-प्रधान थे। उनके वक्तव्य बड़े नपे-तुले दुअर्थी शब्दों में वेष्टित थे।

तीसरे ऐसे थे जो न राजनीतिक थे, न सामाजिक! जो बस नेता थे। काँग्रेस की सभाओं में शुद्ध खादी पहनकर भाषण झाड़ आते थे और किसी सामाजिक पार्टी में अपटूडेट फैशन की पोशाक में सज-बजकर पहुँच जाते थे। वे न इसके सम्बन्ध में गम्भीर थे न उसके—जीवन उनके लिए फूलों के उपवन-सा था जिसमें वे भौंरे बने घूमना चाहते थे। इनमें से कोई डाक्टर था, कोई वकील, कोई वैद्य, कोई बैरिस्टर, कोई धनी रिटायर्ड अफ़सर—जिसे मालूम न था कि अपने धन का क्या करे—अथवा कोई सम्पन्न बेकार—जिसे मालूम न था कि अपने समय का क्या करे।

उन्हीं में से एक लेडी डाक्टर से इंटरव्यू करने के बाद चेतन सारा दिन हँसता रहा।

ये देवी जी प्रेक्टिस तो न जाने कहाँ करती थीं, पर माल रोड पर उनके पति की कोठी थी। देवी जी बी० ए० थीं और अपने नाम के साथ उन्होंने इस तरह डिग्री लगा रखी थी, जैसे वह डिग्री सिर्फ़ उन्हीं के लिए बनी हो। एक बार म्यूनिसिपेल कमेटी की सदस्या बन चुकी थीं, दो बार प्रान्तीय कौंसिल के लिए भी खड़ी हुई थीं और फिर नेताओं के ज़ोर देने पर (जिसका मतलब यह है कि अन्य उम्मीदवारों से कुछ रुपये ऐंठकर) दोनों बार बैठ गयी थीं।

चेतन ने जाकर घंटी का बटन दबाया। उन्होंने दरवाज़ा स्वयं खोला। वह उनके पीछे-पीछे ड्राइंग-रूम में चला गया—साफ़ चमकती हुई दरी, झमझमाते हुए ग़ालीचे, झिलमिलाते हुए कुशन, साफ़-सुथरी मेज़-कुर्सियाँ, बहुमूल्य केबीनेट, क़ीमती चित्र और मेंटल-पीस पर रखी हुई कई ऐसी सुन्दर वस्तुएँ जिनका वह नाम भी न जानता था। श्रीमती राधारानी (यही उनका नाम था) एक श्वेत साड़ी में सुसज्जित, एक कुर्सी सरकाकर उस पर बैठ गयीं—तीस बत्तीस वर्ष की आयु, गेहुँआँ रंग, लेकिन बेहतरीन पेंट से चमकता हुआ। चिबुक के नीचे माँस उभरा हुआ था। कुछ ऐसी सुन्दर तो न थीं, लेकिन चेतन को मालूम था कि एक सिक्ख रईस ने केवल उनका सामीप्य प्राप्त करने के लिए इतनी पार्टियाँ दीं, इतनी सोसाइटियों को चंदे दिये कि उसकी सोलह-सत्तरह हज़ार की जायदाद दूसरों के घर जा पड़ी।

उस एक निमिष में चेतन ने अपने शरीर पर निगाह डाली। क्या हुआ यदि उसके नक्श अच्छे थे, उसके बाल लम्बे, मुलायम और घुंघराले थे, किंतु उसके कपड़े . . . .उस पर कोई कुन्ती ही रीझ सकती है, कोई प्रकाशो ही . . . .और मन-ही-मन एक लम्बी साँस खींचकर उसने कहा :

"आप ने ह्वाइट पेपर पढ़ा ?"

"कल रात जस्टिस नवल किशोर की पार्टी थी, मैं समाचार-पत्र तक नहीं पढ़ पायी।"

देश में हलचल मच गयी है, देश की किस्मत का फैसला सुना दिया गया है, पर श्रीमती जी को, जो लीडर कहलाती हैं उससे कुछ मतलब नहीं! लेकिन उन्हें ही क्या—चेतन ने सोचा—स्वयं उसे ह्वाइट पेपर से कितनी दिलचस्पी है ? कल जब उसके दफ़्तर में टेलीफ़ोन पर टेलीफ़ोन आ रहे थे, लोग ह्वाइट पेपर की शर्तें सुनने के लिए बेचैन थे, वह बड़े इत्मीनान से इनफ़र्मेशन ब्यूरो से ह्वाइट पेपर की कापी लेकर चला आया था। उसके मन में उसे देखने की तनिक भी उत्सुकता पैदा न हुई थी और इस बहाने जब उसे छुट्टी मिली थी तो वह गोल बाग़ की ओर से आते हुए अपने घर से होकर अपनी नव-परिणीता पत्नी से दो बातें करते जाना भी न भूला था। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्र में काम करने पर भी उसे उन शर्तों के अलावा, जिनका उसने स्वयं अनुवाद किया था, किसी दूसरी के सम्बन्ध में कुछ भी तो ज्ञात न था।

वास्तव में दो तरह के लोगों को राजनीति में किसी तरह की दिलचस्पी लेने का अवकाश नहीं मिलता। एक तो उन धनवानों को जो जस्टिस नवल किशोर की पार्टियों में शामिल होते हैं—कहीं अकाल पड़े, कहीं भूकम्प आये, ये उन अवसरों से भी (ख़ैराती कन्सर्टों के द्वारा) कुछ-न-कुछ मनोरंजन का सामान जुटा लेते हैं। दूसरे उनको जिनका मस्तिष्क तेरह-चौदह घंटे काम करने के बाद इतना थक चुका होता है कि उसमें राजनीति अथवा किसी दूसरी नीति के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जब कभी ये दूसरे लोग अपने अधिकारों को पहचानेंगे तभी पहलों को राजनीति में भाग लेने को विवश होना पड़ेगा।

चेतन ने कहा, "हमें आपका वक्तव्य तो अवश्य चाहिए, कल के विशेष

साप्ताहिक अंक में सब नेताओं के वक्तव्य जा रहे हैं। आपका भी तो रहना चाहिए।"

"लेकिन मैंने तो अभी तक समाचार-पत्र ही नहीं पढ़ा।"

"आप देख लीजिए। श्रीमती सुशीला देवी, श्रीमती अमृत कौर, मिसेज़ निहाल चन्द—सब के बयान जा रहे हैं। ह्वाइट पेपर का प्रभाव जहाँ तक भारतीय नारी के अधिकारों पर पड़ता है, वहीं तक बस आप पढ़ लें!"

और वे 'ट्रिब्यून' लेकर दूसरे कमरे में चली गयीं। चेतन आध घंटे तक वहीं बैठा रहा। समय काटने के लिए जल्दी-जल्दी लिए गये वक्तव्यों को कातिबों[१] के हवाले करने के लिए ठीक करता रहा। तत्पश्चात् वह मन-ही-मन साँझ का प्रोग्राम बनाता रहा।

वह लाला गणेश दास एडवोकेट, मंत्री प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी के यहाँ गया था। वे मिले नहीं थे और दयाल सिंह मैन्शन्ज़ से, जहाँ वे रहते थे, उसे पता चला था कि रात को नौ बजे से पहले न आयेंगे, और चेतन ने सोचा था कि संध्या को ज़रा जल्दी खाना खाकर वह अपनी पत्नी को माल पर सैर के लिए ले जायगा और रास्ते में दयाल सिंह मैन्शन्ज़ से दस-पन्द्रह मिनट में इंटरव्यू लेता जायगा।

तभी पौन घंटे के बाद श्रीमती राधारानी बाहर आयीं और उन्होंने कुछ अन्यमनस्कता से कहा, "मैं तो कुछ नहीं लिख सकी, वास्तव में मेरा ध्यान बहुत-सी बातों की ओर लगा है। मैं लिखने का 'मूड' नहीं बना सकी।"

---

[१]उर्दू में लीथो छपाई होने से पहले सब मैटर कातिब (छापे-सी सुन्दर लेखनी वाले) लिखते हैं, फिर प्लेट या पत्थर पर अंकित किया जाता है तब छपता है।

चेतन ने कहा, "आप ज़बानी मुझे अपने विचार बता दें, मैं स्वयं लिख लूँगा।"

"मैं कुछ भी न सोच सकी।"

लेकिन चेतन की सहज पत्रकार-बुद्धि को इतना समय नष्ट करके योंही उठ जाना स्वीकार न हुआ। धैर्य के साथ उसने कहा, "मैं समझ गया हूँ, आपके कैसे भाव हैं। आप ने भारत की नारी के सम्बन्ध में शर्तें तो पढ़ ही ली हैं, मैं आपकी ओर से एक छोटा-सा वक्तव्य लिखता हूँ। यदि आपको उसकी कोई बात अपने विचारों से मेल खाती दिखायी न दे अथवा असंगत लगे तो काट दीजिएगा।"

उन्होंने कुछ 'न' 'न' की। लेकिन चेतन ने कहा, "यदि आपको कोई वाक्य पसन्द न हुआ तो मैं उसे बदल दूँगा या काट दूँगा।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये उसने लिखना आरम्भ कर दिया।

और यद्यपि उसने स्वयं वे शर्तें न पढ़ी थीं, किंतु पहली दो महिलाओं के वक्तव्यों से, जो उसने अभी सँवारे थे, कुछ मसाला लेकर उसने एक गोल-मोल-सा वक्तव्य लिख डाला, जिसमें मिस्टर मैकडानल्ड के प्रयास की सराहना भी थी, लेकिन उसके फल-स्वरूप भारत की नारी को जो अधिकार मिले उससे असन्तोष भी दिखाया गया था और यह भी आशा प्रकट की गयी थी कि ह्वाइट पेपर की नींव पर जो इंडिया एक्ट बनाया जायगा उसमें भारतीय नारी को अधिक अधिकार दिये जायेंगे।

वक्तव्य लिखकर चेतन ने श्रीमती जी को सुनाया। वे ख़ुश हो गयीं और उल्लसित स्वर में उन्होंने कहा कि कोई वाक्य काटने की आवश्यकता नहीं। चेतन ने उनके हस्ताक्षर कराये और चला आया।

इस इंटरव्यू के बाद चेतन ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि आज के लिए यह यथेष्ट है। तीन वक्तव्य वह इससे पहले ले चुका था। लाला

गणेश दास का वक्तव्य वह शाम को ले लेगा और समय मिला तो दफ़्तर में जाकर दे आयेगा, नहीं तो दूसरे अंक में छप जायगा।

घर जाकर उसने कहा कि रात को उसकी ड्यूटी नहीं, इसलिए उसकी इच्छा है कि पत्नी को लारेंस की सैर करा लाये।

यह कहकर वह दफ़्तर गया। दो घंटे जमकर उसने वह सब मसाला देख-दिखाकर कातिब को दिया, लिखे जाने पर पढ़ा और सम्पादक महोदय को नमस्कार करके चला आया।

वह आज लोहारी के चौक की ओर नहीं गया, सीधा घर पहुँचा। खाना खाया और फिर पत्नी से झट तैयार होने के लिए कहा। यह अजीब बात थी कि दहेज में कितनी ही चीजें आने के बावजूद उसकी पत्नी के पास कोई ऐसी धोती अथवा ब्लाउज़ न था जिसे पहनकर वह उसके साथ सैर को जा सके। क़ीमती साड़ियाँ और रेशमी तथा दरियाई और सिल्मे के दो तीन सूट थे, लेकिन वे अनायास ही दृष्टि को अपनी ओर खींचते थे। चेतन के पास साधारण कपड़े भी अधिक न थे और वह अपने सीधे-सादे कपड़ों को पहने हुए रेशमी सूट अथवा बनारसी साड़ी में आवृत पत्नी के साथ सैर को न जाना चाहता था। उस समय मन-ही-मन में उसने चाहा—कितना अच्छा होता यदि उसके ससुराल वाले इन क़ीमती साड़ियों और सूटों के स्थान पर दस बीस अच्छी धोतियाँ दे देते!

इस महीने उसके पास एक पैसा भी न बचा था और इसीलिए वह अपनी पत्नी को घर में हर वक्त पहनने के लिए एक धोती तक न लाकर दे सका था और वह घर में भी बनारसी साड़ी ही पहने रहती थी। साड़ी हन-कर उसे न लेटने की तमीज़ थी न बैठने की। वह उसे पहने ही फ़र्श पर बैठ जाती थी और उसे पहने हुए ही लेट जाती थी।

बहरहाल इस खयाल से कि अँधेरा हो गया है और कोई व्यक्ति उनकी वेश-भूषा के अंतर को न देखेगा, चेतन ने पैड की तख़्ती पर क्लिप में दो-चार

फुलस्केप कागज़ लगाये, पेंसल ली और चल पड़ा।

उसकी पत्नी ने अभी घूँघट निकाल रखा था। गली के बाहर निकलकर चेतन ने कहा, "अब घूँघट उठा लो, नहीं लोग दुकानों पर बैठे नीचे झुक-झुककर देखेंगे।"

सरलता से चन्दा ने कहा, "अँधेरे में वे क्या देखेंगे।"

चेतन निरुत्तर-सा हो गया। फिर कुछ ठहरकर उसने कहा, "लेकिन गिर पड़ोगी, फ़ायदा क्या है?"

और चन्दा ने साड़ी का छोर तनिक उठा लिया और चेतन के पीछे-पीछे चलने लगी।

"तुम मेरे बराबर क्यों नहीं चलतीं?"

"मैं आपके पीछे ही अच्छी हूँ!"

"पागल हो, मेरे साथ-साथ चलो!"

वह तनिक आगे आ गयी। लेकिन अब भी वह उसके बिलकुल बराबर न थी। बात करने के लिए चेतन को अपना सिर तनिक मोड़ना पड़ता था।

ठंडी हवा चलने लगी थी। लॉ कॉलेज रोड की धूल-भरी सड़क से बचने के लिए (जो तब म्यूनिसिपेलिटी के अधीन न आयी थी और जहाँ पाँव टखनों तक धूल में धँस जाते थे) वे लॉ कॉलेज होस्टल की दीवार के साथ-साथ जा रहे थे। होस्टल के अन्दर बरामदे में घूमता हुआ कोई बेफ़िक्रा छात्र अलाप रहा था।

तेरे सोहनयाँ बालाँ दी छाँ हेठाँ
मेरे दिल ने आहलना पा लिया नी।[1]

चेतन को कोई बात न सूझ रही थी। अपने कोट को सीने पर और भी कसते हुए उसने कहा, "सर्दी खूब उतर आयी है।"

---

[1] तेरी सुन्दर केशराशि की छाया में मेरे दिल ने नीड़ बना लिया है।

"मुझे तो इन कपड़ों में भी गर्मी लगती है।"

"तुम्हारे शरीर में अभी गर्मी है। मेरी गर्मी तो अखबार के दफ़्तर में निकल गयी।" और चेतन हँसा।

फिर दोनों चुपचाप चलने लगे।

कचहरी रोड के मोड़ पर अँधेरे में दो-तीन सिपाही छिपे खड़े थे। ज्योंही एक व्यक्ति (इस खयाल से कि चौरस्ते के समीप जाकर वह उतर जायगा) बत्ती और ब्रेकों के बिना साइकिल पर गुनगुनाता हुआ गुज़रा कि उन्होंने सीटी दी। उसकी गुनगुनाहट सहसा वायुमण्डल में विलीन हो गयी, रंग फ़क हो गया और पाँव भी सड़क से घिसटने लगे।

"अपना नाम बताओ!" सिपाही ने अपनी नोट बुक और पेंसल निकालकर बिजली की रोशनी में होकर कहा।

"ग़लती हो गयी सरदार जी, गुनाह माफ़....."

चेतन हँसा। ग़लती और गुनाह—कितनी आपेक्षिक बातें हैं। वह रोज़ इसी तरह बिना बत्ती और ब्रेकों के साइकिल चलाता होगा और अपने मित्रों में अपनी इस चालाकी और चाबुकदस्ती की डींग मारता होगा। लेकिन अब वह पकड़ा गया है तो वही उसका चातुर्य उसकी ग़लती बन गया है, गुनाह बन गया है। सोसाइटी की दृष्टि में गुनाह प्रकट ग़लती का नाम है। बड़े-से-बड़ा गुनहगार यदि अपने गुनाहों को समाज की दृष्टि से बचा सकता है तो वह पुण्यात्मा है और फिर दंड, क्षमा, कर्तव्य, क्या सापेक्ष नहीं? इस गुनहगार को माफ़ करके सिपाही अपने-आपको दया का अवतार समझकर सीना फुला सकता है। किंतु यदि कोई बड़ा अफ़सर पास हो तो ऐसे व्यक्ति को जिसकी साइकिल की बत्ती तेल समाप्त होने के कारण बुझ गयी हो और जो सचमुच माफ़ी का अधिकारी हो, पकड़कर चालान करके अपनी कर्तव्यपरायणता की दाद ले सकता है।

और चेतन के ओठों पर एक मुस्कान फैल गयी।

'नीला गुम्बद' पार करके दोनों माल रोड पर हो लिए। चेतन बहुतेरा चाह रहा था कि अपनी इस नयी पत्नी को अपने हँसमुख स्वभाव का कुछ परिचय दे—और कुछ नहीं तो दो एक ठहाके ही लगाये। लेकिन वह कुछ खिन्न-सा हो रहा था। शायद उसके अर्द्ध-चेतन में कहीं से हीन-भाव आ बैठा था, जो शायद श्रीमती राधारानी के ड्राइंग-रूम को देखकर पैदा हो गया था, या उसके कपड़ों की कमी ही अज्ञात रूप से उसके मन-प्राण पर छा गयी थी।

तंग आकर उसने अपनी पत्नी को उन नेत्री महोदया की बात सुनानी शुरू कर दी। लेकिन बहुत समझाने पर भी, ह्वाइट पेपर क्या बला है, चन्दा भली-भाँति यह बात न समझ सकी...'हुँ'...'हुँ'! वह ज़रूर करती रही, किंतु वक्तव्य लिखाने-लिखवाने के सम्बन्ध में श्रीमती राधारानी की परेशानी और उनके स्थान पर स्वयं ही वक्तव्य लिखने की बात कहकर चेतन अपनी पत्नी के ओठों से जिस हँसी की आशा रखता था, उसका वहाँ कोई आभास उसे न मिला! तब और भी खिन्न होकर उसने अपनी पत्नी को बताया कि उसे अवश्य ही शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। स्त्रियों के लिए, विशेषतया लेखकों के साथ विवाह की गाड़ी में जुतने वालियों के लिए और उनमें भी उसकी अपनी पत्नी के लिए ज्ञानार्जन की महत्ता उसका प्रिय विषय था। इसलिए इस सम्बन्ध में उसने एक छोटा-मोटा भाषण देना शुरु कर दिया। लेकिन तभी दयाल सिंह मैन्शन पर उसकी दृष्टि पड़ी और उसे याद आया कि उसे तो लाला गणेश दास से इंटरव्यू लेना है।

दयाल सिंह मेन्शन की शक्ल आधे कटे हुए अंडे की-सी है। जहाँ से दुकानों की पाँत गोल होने लगती है वहीं प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता लाला गणेश दास एडवोकेट का बोर्ड लगा था। काफ़ी चौड़ी सीढ़ियाँ उनके फ़्लैट को जाती थीं। अपनी पत्नी को साथ ले जाने में उसे कुछ संकोच हुआ। उसे

सीढ़ियों ही में खड़ी करके वह ऊपर गया। घंटी का बटन दबाया। नौकर ने उसे आफ़िस में बैठाया और बताया कि वकील साहब अभी आते हैं।

चेतन पाँच मिनट तक बैठा रहा, लेकिन वे नहीं आये। तब भागकर और चंद सीढ़ियाँ उतरकर उसने अपनी पत्नी से कहा, "घबराना नहीं, मैं अभी आया!" और वह भागकर फिर कमरे में अपनी जगह पर जा बैठा।

वहीं बैठे-बैठे उसे पाँच मिनट और बीत गये तब उसने नौकर से फिर पूछा और उसे मालूम हुआ कि वे बस खाना खतम ही कर रहे हैं, अभी पाँच मिनट में आ जायेंगे।

तब फिर चेतन भागकर सीढ़ियों पर गया। अपनी पत्नी के कन्धे को थपथपाते हुए उसने कहा, "देखो घबराना नहीं, सकुचाना नहीं। अव्वल तो यह माल रोड है, यहाँ भले आदमी बसते हैं, लेकिन कौन कह सकता है कि एक भला आदमी कब भलाई छोड़ दे और बुराई शुरू कर दे। इसलिए यदि कोई सीढ़ियों से गुज़रने वाला व्यक्ति किसी तरह की शैतानी करना चाहे तो बेधड़क होकर उसे डाँट देना या मुझे बुला लेना। सीढ़ियाँ चढ़ते ही सब से पहले कमरे में हूँ!"

उसे यों आश्वासन देकर और स्वयं आश्वस्त होकर वह फिर कमरे में जा बैठा।

तभी नेता महोदय धोती बाँधते-बाँधते आ गये। एक निमिष के लिए चेतन ने उन्हें देखा। काला रंग, मोटा थल-थल पिल-पिल शरीर, मँझला क़द, छोटी कन्धों में धँसी हुई गर्दन, उस पर बड़ा चौड़े मस्तक वाला सिर और उस पर बिना क्रीज़ की गोल-सी बनी गाँधी टोपी। और चेतन सोचने लगा कि किस प्रकार ऐसे भद्दे शरीर को ऐसा प्रखर मस्तिष्क प्राप्त है?

आकर लाला जी ने एक लम्बा वक्तव्य लिखवाया—"ह्वाइट पेपर तो बस ह्वाइट पेपर (कोरा कागज़) ही है। जो अधिकार एक हाथ से दिये

गये हैं, उन्हें दूसरे हाथ से छीन लिया गया है। न केवल यह, बल्कि जो अधिकार पहले प्राप्त थे उन पर भी हस्तक्षेप किया गया है। आदि आदि . . .

जब चेतन वह महत्वपूर्ण इंटरव्यू लेकर वापस आया तो उसकी पत्नी खड़े-खड़े थककर और लगभग रुआँसी होकर वहीं सीढ़ियों पर बैठ गयी थी।

लेकिन इस इंटरव्यू के कारण चेतन की खिन्नता कुछ दूर हो गयी थी, इसलिए उसने अपनी पत्नी को तनिक गुदगुदाकर हँसा दिया।

सीढ़ियों से उतरकर चेतन ने सोचा कि अब क्या किया जाय? अभी सवा दस बजे थे। चेतन के मन में आया कि वापस जाये और अपनी कार-गुज़ारी दिखाकर प्रशंसा पाये। लेकिन उसे मालूम था कि प्रशंसा तो सम्पादक महोदय को मिलेगी और उसे और कई घंटे काम करना पड़ेगा। किसी भव्य भवन के निर्माण का श्रेय तो इंजीनियरों ही को मिलता है, राज मज़दूर तो बस दिन-रात काम करते हैं। उसने निश्चय किया कि आज जब इतने दिनों के बाद कुछ अवसर मिला है तो कहीं घंटे डेढ़ घंटे की सैर कर ली जाय।

पत्नी ने कहा, "देर हो गयी है, माँ प्रतीक्षा करती होगी, इसलिए घर चलना चाहिए।" लेकिन चेतन का मन कुछ उमंग पर था। उसने कहा, "अब तक तो इंटरव्यू सिर पर सवार था, सैर का आनन्द तो अब आयेगा।"

और वे दोनों लारेंस की ओर चल पड़े। चेतन ने प्रकाशो से अपने रोमांस का किस्सा छेड़ दिया।

विक्टोरिया गेट के पास पहुँचकर चेतन ने कहा, "आओ तुम्हें लारेंस दिखा लायें।"

"वह क्या है?"

"यहाँ का प्रसिद्ध बाग है!"

"लेकिन रात बहुत बीत गयी है।"

"तो क्या हुआ?"

और वे विक्टोरिया गेट में से होकर चले। चिड़िया घर की ओर इशारा करके उसने बताया कि यह चिड़िया घर है और वे जलचरों के तालाब के पास से होकर गुज़र रहे हैं। दूसरी ओर बारासिंघे और मृग हैं जिनको बाहर जाने से रोकने के लिए बड़े-बड़े ऊँचे लोहे के जँगले लगे हुए हैं।

चन्दा ने उत्सुकता से इधर-उधर देखा, किंतु सड़क की बिजली के मद्धिम उजाले में जंगले के एक हिस्से के अतिरिक्त उसे कुछ भी दिखायी न दिया। हाँ, सड़े पानी की गन्ध उसके मस्तिष्क में बस गयी और उसका दम घुटने-सा लगा।

लारेंस बाग बोटैनिकल गार्डन्स के नाम से भी प्रसिद्ध है। तरह-तरह के देशी-विदेशी पेड़-पौधे वहाँ लगे रहते हैं। चिड़िया घर के तालाब से ज़रा आगे, न जाने किस नाम के देशी या विदेशी दो बड़े-बड़े घने विशालकाय पेड़ हैं, जिन पर चमगादड़ विचित्र डरावने स्वर में चीखते रहते हैं। वहाँ पहुँचकर चेतन की पत्नी डर गयी—अँधेरी रात, सर्दी, ग्यारह का समय और सन्नाटा! चेतन का हृदय भी धक-धक करने लगा... यदि कोई गुंडा इधर निकल आये और उन्हें तंग करे तो वह क्या कर सकता है? उसकी तो आवाज़ भी सुनायी न देगी......दो चार गुंडे तो बड़ी आसानी से उसकी पत्नी तक को छीनकर ले जा सकते हैं......

तभी उसकी पत्नी ने उसका दामन पकड़कर खींचा, "मैं कहती हूँ चलिए, वापस चले चलिए।" उसकी आवाज़ रोने की हद को पहुँच रही थी,. "मुझे डर लग रहा है।"

उस समय चेतन के अन्तर का पुरुष जाग उठा। डर! वह तो पुरुष है। डर उसके सामने क्या वस्तु है? और उसने साहस के साथ कहा, "नहीं नहीं, अब इतनी दूर आकर वापस क्या जायँगे। यहाँ बड़ी रौनक़ हुआ करती है। और मन में उसने सोचा—म्यूनिसिपेलिटी ने ऐसी अँधेरी जगह बिजली का बल्ब क्यों नहीं लगवाया।

लगभग सौ गज़ चलकर वृक्षों में से छनती हुई मिंटगुमरी हाल के बल्ब की रोशनी सामने दिखायी दी।

चेतन का खयाल था कि लॉन में कुछ रौनक़ होगी। अभी महीना डेढ़ महीना पहले, जब एक दिन उसे इधर आने का अवसर मिला था, उसने बारह बजे रात तक लारेंस में रौनक़ देखी थी। लेकिन वह भूल गया कि सर्दी उतर आयी थी और लारेंस में आने वालों के पास सर्दियों में अपने-आपको व्यस्त रखने के लिए सैर के अतिरिक्त दूसरे भी कई साधन थे।

यद्यपि उस रोशनी से उसे कुछ तसल्ली हुई थी और वह रात के उस सन्नाटे में अपनी पत्नी को लारेंस का परिचय देता रहा था, लेकिन उसका रोमांस ठंडा पड़ चुका था और उस समय तक नहीं जागा जब तक सड़क छोड़ महारानी विक्टोरिया की मूर्ति नहीं आ गयी।

घर पहुँचा तो माँ ने रोकर कहा कि उसे दूसरे दिन ही गाड़ी पर चढ़ा दिया जाय।

उस समय तो चेतन बे-सिर-पैर के बहाने बनाकर और एक दो बार खिसियानी-सी हँसी हँसकर सोने चला गया। लेकिन दूसरे दिन उसने माँ से माफ़ी माँगी और कहा कि उसे एक जगह दफ़्तर का काम पड़ गया, जिससे देर हो गयी। उसने अपनी पत्नी से भी कहा कि वह माँ के चरणों पर गिरकर माफ़ी माँगे। किसी तरह के अपराध के बिना वह अपनी सास के क़दमों पर झुकी भी, लेकिन माँ नहीं मानी। वह सुबह ही जाने को तैयार हो गयी। वह कुछ बोली नहीं, गुस्सा नहीं हुई, जाते समय हँसी भी, उसने आशीर्वाद भी दिया, किंतु नये ज़माने के यह लच्छन देख सकने की शक्ति न रखने के कारण उसने वहाँ रहना उचित नहीं समझा।

———

३०

माँ के चले जाने पर एक और समस्या चेतन के सामने आयी। उसे तो इसका पता ही न चलता यदि भाई साहब बातों-बातों में स्वयं ही इसकी ओर इशारा न कर देते।

बात यह थी कि चन्दा भाई साहब से आध बालिश्त का घूंघट निकालती थी। दोपहर के समय चेतन तो बारह बजे दफ़्तर चला जाता और भाई साहब काम से फ़ारिग़ होकर एक डेढ़ बजे आते। तब चन्दा भागकर पिछले कमरे में जा छिपती। भाई साहब किसी पड़ोसिन को बुलाते। उससे कहते कि तनिक चन्दा से खाना देने के लिए कह दे। वह खाना लाकर दे देती और तब तक बैठी रहती जब तक भाई साहब खाना समाप्त न कर चुकते। इस तरह भाई साहब को अपनी इस छोटी भावज से यदि कोई बात कहनी होती तो पहले वे उस पड़ोसिन से कहते, फिर वह चन्दा से कहती। इसी प्रकार चन्दा का उत्तर भी उसी के द्वारा भाई साहब तक पहुँचता।

"अब घर की अपनी कुछ ऐसी बातें भी होती हैं जो किसी पड़ोसिन के सामने नहीं भी कही जा सकतीं?" भाई साहब ने कहा था। "तुमने

अच्छा आर्य-समाजी घर में विवाह किया! मैंने कभी नहीं देखा कि छोटी भावज जेठ की छाया तक से दूर भाग जाय।"

उसी दिन चेतन ने अपनी पत्नी से कहा, "यह तुम्हारी कैसी मूर्खता है? विवाह के अवसर पर तो तुमने घूँघट निकाला नहीं, ससुर छोड़ ससुर के पिता तक उपस्थित थे। और अब जेठ ही से डेढ़ गज़ लम्बा घूँघट निकाले फिरती हो।"

उसकी पत्नी हँसी—अपनी मोतियों-सी उज्ज्वल हँसी—"मैं तो माँ जी के डर से निकालती हूँ," उसने कहा, "कहिए अभी हटा दूँ?"

"लेकिन माँ यहाँ कहाँ बैठी है।"

"यदि उन्हें पता चल जाय?"

"तो फिर कौन-सा प्रलय आ जायगा। उनका और परदादी गंगादेई का ज़माना अब लद गया!"

चन्दा ने उस दिन अपने पति को वचन दिया कि वह निश्चय ही घूँघट हटा देगी, किंतु इस पर भी अपने जेठ के सामने घूँघट उठाने में उसे झिझक ही रही। जब भी वे बाज़ार में सामान ख़रीदने के लिए जाते तो यों होता कि एक ओर भाई साहब होते और दूसरी ओर चेतन और दोनों के मध्य घूँघट निकाले चन्दा चलती। पर्दे के कारण उसे जो कष्ट होता उसके विचार से भाई साहब आगे बढ़ जाते अथवा पीछे रह जाते और यदि कोई ऐसी चीज़ मोल लेनी होती जिसमें उनके परामर्श की आवश्यकता न होती तो वे कोई-न-कोई बहाना करके चले जाते।

दिवाली का दिन था। चेतन अपने बड़े भाई और अपनी पत्नी के साथ साँझ समय अनारकली की सैर को निकला। यद्यपि दीवाली के दिन अनारकली की सैर का आनन्द रात ही को आता है, लेकिन चेतन और उसके बड़े भाई का यही विचार था कि दिये जलने से पहले-पहले अनारकली की सैर

कर ली जाय और जो मिठाई आदि लेनी है, ले ली जाय। कारण यह था कि दिये जलते ही अनारकली में बेपनाह भीड़ हो जाती थी और उस भीड़ में गुंडों का इतना आधिक्य होता था कि किसी शरीफ़ आदमी के लिए अपनी बीवी या बहन को साथ लेकर निकलना और बेइज्ज़ती से बचना लगभग असम्भव था। उससे पिछले वर्ष दीवाली के अवसर पर अनारकली में जो हुआ था, उसके किस्से चेतन ने समाचार-पत्रों में पढ़े थे। अपने एक मित्र की पत्नी के मुँह से सुने भी थे और उसका ख़ून खौल-खौल उठा था—उसका मित्र अपनी पत्नी और लड़की के साथ दीवाली की रात अनारकली की बहार देखने घर से निकला था। अभी वे 'पैसा अख़बार स्ट्रीट' ही में थे कि उन्होंने देखा कि स्वयं-सेवकों और सिपाहियों द्वारा सुरक्षित रस्सियों को तोड़कर गुंडों का बेपनाह हुजूम बाढ़ पर आयी हुई नदी की तरह बह रहा है—उनके देखते-देखते एक लड़का उछलकर एक ताँगे में पिछली सीट पर बैठी हुई स्त्री के बराबर जा बैठा। इससे पहले कि अगली सीट पर बैठा हुआ पुरुष उससे कुछ कहता, उसके गाल की चुटकी भर, फिर उछलकर भीड़ में जा मिला। एक चलती मोटर के साथ लटकते हुए दो-तीन युवकों को उन्होंने देखा जो अन्दर बैठी लड़कियों से मज़ाक कर रहे थे—चलते-चलते स्त्रियों को चुटकी काटना, उन्हें धक्का देना और फ़िकरे और फ़बतियाँ कसना आम बात थी—और चेतन के मित्र पैसा अख़बार स्ट्रीट से वापस चले आये थे।

अभी सूरज डूबा न था जब चेतन, उसकी पत्नी और भाई साहब 'नीला गुम्बद' की ओर से अनारकली में दाखिल हुए। पिछले वर्ष दीवाली के दिन जो गुंडागर्दी हुई थी, उसके विरुद्ध समाचार-पत्रों में बड़ा हो-हल्ला मचा था। यही कारण था कि इस वर्ष महावीरदल, सेवा समिति, आर्य-समाज, स्काउट्स—सभी मिलकर अनारकली के प्रबन्ध में व्यस्त थे।

"ये सब प्रबन्ध धरे के धरे रह जायँगे" भाई साहब ने दार्शनिकों के से

अन्दाज में कहा, "मुझे तो उन स्त्रियों पर हँसी आती है जो यह सब जानते हुए भी तमाशा बनने चली आती हैं।"

"और मुझे कॉलेज के लड़कों पर गुस्सा आता है," चेतन बोला, जो ऐसी अनुचित और भोंडी हरकतें करते हैं। उनके घर माँ-बहनें नहीं क्या ?"

"माँ बहनें !" भाई साहब हँसे, मुझे बाबूराम की याद आ जाती है।"

"बाबूराम ?"

"हमारे साथ पढ़ता था" भाई साहब ने कहना शुरू किया। लफंगा नम्बर वन था। कोई लड़की जाती (सूरत-शक्ल कैसी भी क्यों न हो) वह छेड़खानी करने से बाज़ न आता था। एक दिन कॉलेज से छुट्टी हुई। हम लोग साइकिलों पर चले जा रहे थे कि दूर एक स्त्री एक युवती को साथ लिये हुए जाते दिखायी दी।....'सन्दूक़'! बाबूराम ज़ोर से चिल्लाया। 'सन्दूक का मतलब मॉशूक़ से था,' भाई साहब ने समझाया, "आशिक जालन्धरी" ने उन्हीं दिनों एक मुशायरे में एक शेर पढ़ा था :

हो जो सन्दूक़ तो ईंधन ही बना ले उसका
काम आता नहीं माशूक़ पुराना होकर।

और उसी दिन से हमारे कॉलेज के लड़कों ने मॉशूक़ के बदले सन्दूक़ पुकारने लगे थे.......।"

"सन्दूक़" और विषय के गाम्भीर्य को भूलकर अचानक चेतन ने वहीं बाज़ार में रुककर ज़ोर का ठहाका लगाया और चन्दा ने घूँघट तनिक और खींच लिया।

"उस लड़की को देखते ही," भाई साहब ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा "बाबू राम" 'सन्दूक़-सन्दूक़' चिल्लाता हुआ उसके पीछे भागा। उसके साथियों ने उससे बाज़ी मारने की कोशिश की। पैडलों पर ज़ोर बढ़ गया। साइकिलें हवा से होड़ ले चलीं। लेकिन ज्यों ही बाबू राम ने

उस लड़की के पास पहुँचकर फवती कसी और लड़की ने मुँह घुमाया कि वाबू राम के ओठों से एक हल्की-सी चीख निकल गयी।

"क्या माल है!" लड़की की सुन्दरता देखकर एक ने आह भरी।

"वावू राम को तो ग़श आने लगा है," दूसरा, "हँसा साले की आँखों में उकाव बैठे हैं जो इतनी दूर से माल पहचान लेते हैं।"

किसी ऐसे व्यक्ति की तरह जिसे शिकंजे में कसा जा रहा हो, बाबू राम फुसफुसाया "मेरी बहन है, ज़रा साइकिल तेज चलाओ।"

चेतन ने फिर बीच वाज़ार रुककर ठहाका लगाया।

"भाई साहव ने अपने विचारों की रौ में तनिक उत्तेजित होकर कहा, "ये कॉलेज के लड़के जो आती-जाती लड़कियों को छेड़ते हैं, उन्हें देखकर अत्यन्त अश्लील मज़ाक करते हैं, यह कभी नहीं सोचते कि उन्हीं के मित्र उनकी बहनों को देखकर भी ऐसे ही अश्लील मज़ाक करते होंगे।"

"हमारे पाठ्य-क्रम में चरित्र और नागरिकता की शिक्षा को कोई महत्व प्राप्त नहीं।" चेतन को जैसे भाई साहब की उत्तेजना छू गयी, "आर्य-समाजी स्कूलों कॉलेजों में 'संध्या' के श्लोक याद कर लेना (या अधिक हुआ तो प्रातः सायं संध्या कर लेना;) सनातन धर्मी संस्थाओं में 'ओम् जय जगदीश हरे, भगत जनन के संकट छिन में दूर करे' का जाप अथवा सिर हिला-हिलाकर और खड़तालें बजा-बजाकर 'राधेकृष्ण' या 'रघुपति राघव राजा राम' का संकीर्तन; इस्लामी स्कूलों में पाँच वक्त की नमाज़ या कुरान की तलावत और मिशन स्कूलों में बाइबल का पाठ ही धर्म-शिक्षा का चरम ध्येय समझ लिया जाता है। अव्वल तो इन साम्प्रदायिक संस्थाओं के छात्र धर्म के नाम पर एक दूसरे का ख़ून करने के लिए तैयार रहने के बावजूद, उस धार्मिक पाठ-पूजा की ओर ध्यान नहीं देते और जो देते हैं, वे बिना उसके महत्व को समझे, अध्यापकों के कृपा-भाजन बनने के हेतु अंधाधुन्ध संध्या-वन्दन किये जाते हैं। रहे सरकारी

स्कूल और कॉलेज—वहाँ अपने धर्म के प्रति आस्था ही मिट जाती है और लड़के माँ-बाप का रुपया उड़ाने और औबाशी सीखने के अतिरिक्त कुछ नहीं सीखते। मेरा बस चले तो सारी-की-सारी यूनीवर्सिटी को ढाकर......।

चेतन भाषण देने के अन्दाज़ में बड़े ज़ोर से हाथ को हवा में घुमा रहा था कि अचानक उसकी पत्नी उसे धरती में धँसती हुई दिखायी दी—पलक झपकते एक बाँह से चेतन और दूसरी बाँह से भाई साहब ने उसे थामा, नहीं वह धरती में समा गयी होती अथवा औंधे मुँह गिर पड़ती।

बात यह थी कि जब दोनों भाई कॉलेज के लड़कों की इस उच्छृंखलता का आधारभूत कारण जाने बिना उनकी बदचलनी को कोसने में एक दूसरे से बाज़ी ले जाने में निमग्न थे, चन्दा पूर्ववत घूँघट निकाले दोनों के मध्य चली जा रही थी। बेली राम ड्रगिस्ट की दुकान के पास से होकर लोहारी के चौक तक धरती के अन्दर-ही-अन्दर जो नाली जाती है, उसमें कभी-कभी कुछ जगह खुली पड़ी रहती है और म्युनिसिपेल कमेटी उसे कई-कई दिन तक ढकने का नाम नहीं लेती। वही नाली एक दो जगह से उस दिन खुली पड़ी थी। चन्दा ने घूँघट तो निकाल ही रखा था। वह गढ़ा न देख पायी। उसका पाँव उसमें फँस गया। यदि दोनों भाई अचानक दोनों ओर से उसे थाम न लेते तो वह औंधे मुँह गिर पड़ती, रेशमी साड़ी जो खराब होती सो होती, टाँग अलग टूट जाती।

जब तनिक स्वस्थ होकर चन्दा फिर चलने लगी तो उसने पूर्ववत घूँघट निकाल लिया, बल्कि लज्जा के कारण लाल हो जाने वाले मुख को छिपाने के लिए और भी लम्बा कर लिया। लेकिन साड़ी को ठीक कर जब वह चलने लगी तो चेतन ने क्रोध के साथ पीछे से घूँघट खींच लिया।

चन्दा ने फिर घूँघट नहीं निकाला, किंतु सारे मार्ग उसने जेठ की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा, निगाहें नीची किये वह चलती गयी।

लेकिन दो महीने के बाद जब भाभी फिर लाहौर आयी और उसने अपनी देवरानी को निर्लज्जों की तरह अपने जेठ के सामने हँसते और ठहाके लगाते देखा तो उसके आग-सी लग गयी।

चेतन की ससुराल में किसी लड़की की शादी थी और इस बात की सम्भावना थी कि शायद दोनों को वहाँ जाना पड़े। इसलिए भाई साहब ने अपनी पत्नी को बुला लिया था। उसके पत्र पर पत्र आते थे और फिर चेतन भी इसे ज़्यादती समझता था कि वह तो अपनी पत्नी के साथ लाहौर का आनन्द लूटे और उसके भाई साहब दुकान की उस परछत्ती पर पड़े सड़ते रहें।

लाहौर पहुँचकर श्रीमती चम्पावती देवी ने देखा कि जब उसके पति दुकान से आये तो उसकी देवरानी ने न तो घूँघट निकाला—घूँघट निकालना तो दूर रहा, सिर पर कपड़ा तक नहीं लिया—न अपना स्वर ही धीमा किया और न आँखें ही झुकायीं। उसी तरह ठहाके लगाती रही। और तो और अपने आदर-योग्य जेठ से भी एक दो मज़ाक करने से नहीं हिचकिचायी।

उसका देवर उस समय घर पर न था, नहीं वह अवश्य ही उससे इस निर्लज्जता का कारण पूछती।

इसके बाद एक दिन जब फिर चन्दा अपने जेठ की उपस्थिति में ज़ोर से हँसी तो चेतन की भाभी ने उसे रोक दिया, "ससुर जेठ की कुछ तो शर्म होनी चाहिए बहन, आँखों का पानी क्या बिलकुल ही मर गया।"

चन्दा जब हँसती थी तो सुन्दर लगती थी। उसका मौन चेतन को खलता था, इसलिए वह सदैव उसे हँसाता रहता था और चन्दा को हँसने

की आदत भी पड़ गयी थी। जेठानी की इस डाँट से उसकी हँसी सहसा रुक गयी और ग्लानि से उसके मुख का रंग पीला पड़ गया।

उसी शाम आँगन के ऊपर रहने वाली विधवा चेतन की भावज को यह सदुपदेश दे रही थी:

"तुम हँसने और घूँघट उठाने की बात कह रही हो, मैं कहती हूँ, वह सिनेमा और सैर-तमाशे अपने जेठ के साथ जाती है। देखो बहन ज़माने की आँख में शर्म नहीं, अपने पति को सम्हालकर अपने बस में रखो!"

चम्पावती ने रुद्धकंठ से कहा, "और मैं अपने देवर तक से घूँघट निकालती हूँ, ऊँचे स्वर से बात नहीं करती!"

"मुझे तो उस पर हँसी आती है जिसने अपनी पत्नी को इतनी आज़ादी दे रखी है!"

लेकिन चम्पावती को न अपनी देवरानी पर ग़ुस्सा था, न अपने देवर पर। उसे तो अपने पति पर क्रोध आता था।

जब रात को उसके पति खाना खाने आये तो उसने कहा—

"भला वह तो बच्ची है, आपको तो शर्म आनी चाहिए जो इस तरह उसके हँसी-मज़ाक में योग देते हो।"

भाई साहब पूरे तितिक्षावादी थे—मीठी, कड़वी, तीखी, चुभती किसी बात का भी उन पर कुछ प्रभाव न पड़ता था। वे चुपचाप खाना खाते रहे।

"जब वह आपके सामने बैठी 'हिं, हिं', करती है तो आप से रोका नहीं जाता उसे?" भाभी ने मूँह बिचकाकर कहा था।

"मैं उससे कह दूँगा" यह कहकर हाथ-मुँह धो, छड़ी उठा वे सैर को चले गये थे।

लेकिन अपने पति के इस वाक्य से चम्पावती की तुष्टि न हुई थी और जब उसकी देवरानी उसके संग खाना खाने बैठी तो उसने अपने-आप पर बड़ा संयम रखकर उसे समझाया कि बड़ों के प्रति छोटों का क्या कर्तव्य होना चाहिए, छोटों को बड़ों से कितना विनम्र व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार ससुर और जेठ से पर्दा करना चाहिए और किस तरह उनके सामने बोलना तक न चाहिए।

"पुरुष तो ऐसे ही होते हैं," चेतन की भाभी ने कहा था, "उन्हें तो लोकाचार का ज्ञान नहीं होता। इन सब बातों का ध्यान तो स्त्रियों ही को रखना पड़ता है। तुम्हारे जेठ ने बहुतेरा कहा, पर जब देवर सयाने हुए तो मैंने उनसे पर्दा करना शुरू कर दिया!"

चन्दा ने उस समय तो अपनी जेठानी को कोई उत्तर नहीं दिया, पर जब रात को दो बजे के लगभग चेतन दफ़्तर से आया तो उसने कहा, "अब मैं भाई साहब से पर्दा किया करूँगी!"

उसके चिबुक को तनिक ऊपर उठाकर उसकी बड़ी-बड़ी भोली-भोली आँखों में आँखें डालकर उसने पूछा, "क्यों?"

उत्तर में सरल चन्दा ने दिन की सारी बातें बता दीं।

गहरी रात होने के बावजूद चेतन ने एक ऊँचा ठहाका लगाया—इतना ऊँचा कि अन्दर कोठरी में सोयी हुई चेतन की भाभी और उसकी बच्ची जाग पड़ी और उसे चिचियाने से रोकने के लिए भाभी को उसके मुँह में स्तन देना पड़ा। नींद भाभी की आँखों से उड़ गयी और वह दत्त-चित्त होकर उस कमरे के अंधकार में लेटी अपने देवर और देवरानी की बातें सुनने लगी।

किंतु दो तीन रातों से निरन्तर अधिक काम करने के कारण थका-हारा चेतन "वह तो पागल है" इतना कहने के अतिरिक्त कुछ और कहे बिना सिरहाने रखा दूध पीकर सो गया।

एक दिन चेतन ने पड़ोस के एक विवाह में चन्दा को गाते सुन लिया था। उसके स्वर की मधुरता को देखकर उसने मन में निश्चय कर लिया था कि वह उसे नियमित रूप से गाने की शिक्षा दिलायेगा। पेट काटकर किसी-न-किसी तरह वह एक हारमोनियम भी ले आया था और उसने स्वयं एक संगीतज्ञ से एक-दो गीत सीखकर उसे सिखा भी दिये थे। इस घटना के दूसरे दिन इतवार था। इसलिए चन्दा अपने पति की उपस्थिति में बाजा सीखने का अभ्यास कर रही थी। उसी समय भाई साहब आ गये।

"देखिए भाई साहब, मैंने कितनी अच्छी धुन सीखी है," चन्दा ने सहसा प्रशंसा पाने के विचार से कहा।

भाई साहब चुप खड़े रहे। एक शब्द भी उनके मुँह से न निकला। पहले वह इस तरह पूछती तो वे कहते, "कौन-सी धुन? ज़रा सुनें तो!" पर वे चुप खड़े रहे और फिर गहर-गम्भीर वाणी में उन्होंने कहा, "चन्दा तुम मेरे सामने न गाया करो!"

चेतन आश्चर्यचकित-सा उनके मुँह की ओर देखने लगा और फिर जब भाई साहब ने उसी स्वर में उससे कहा, "तुम मेरे सामने इतने ज़ोर से हँसा भी न करो!" तो चेतन झल्लाकर बोला—"यह नहीं हो सकता भाई साहब, चन्दा हँसेगी, गायगी। आप यह कैसी बात कर रहे हैं? वह मुँह फुलाये अच्छी नहीं लगती। हँसती रहे तो अच्छी लगती है!"

भाई साहब ने इसका उत्तर नहीं दिया। सिर्फ़ इतना कहा, "तुम्हारी भाभी आपत्ति करती है!" और फिर चन्दा से कहा, "तुम्हें सास की तरह अपनी जेठानी का आदर करना चाहिए।"

यह अन्तिम बात चेतन के मन लगी और उसने चन्दा को समझाया,

"भाभी पुराने और संकुचित वातावरण में पली है। उसके विचारों और भ्रमों का कुछ-न-कुछ ख़याल रखना चाहिए। भाई साहब के सामने तुम नंगे सिर न रहा करो और कम हँसने की भी कोशिश किया करो!" और फिर बायीं आँख दबाकर शरारत से मुस्कराते हुए उसने कहा, "विशेष-कर जब भाभी सामने हो!"

३१

अपने इस वैवाहिक जीवन से चेतन कुछ अधिक सन्तुष्ट हो और चन्दा के लाहौर आ जाने पर नीला उसे बिलकुल भूल गयी हो, यह बात न थी। उसे चन्दा अच्छी लगती थी, वह उसके साथ हँसता-हँसाता और सैर-तमाशे भी जाता था। किंतु इस पर भी जब उसने चन्दा से सुना था कि कान्ता की शादी है और शायद उन्हें इलाबलपुर जाना पड़े तो अज्ञात रूप से वह निमन्त्रण की प्रतीक्षा किया करता था। भाभी को लाहौर ले आने के लिए भी उसने इसी विचार से अनुमति दे दी थी। चन्दा सरल थी, भोली-भाली थी, उदार थी, सहृदय थी, विनम्र और संकोचशील थी। पर वह सुन्दर और शिक्षित न थी, इसी बात का खेद चेतन को सदैव रहा करता था। इतने दिन के वैवाहिक जीवन के बाद उस खेद में कमी न हुई थी, बल्कि वह कुछ बढ़ा ही था।

बात यह थी कि उन्हीं दिनों उसके प्रधान सम्पादक का विवाह हो गया था। उन सम्पादक महोदय का, जिनको वह वज्र-मूर्ख और निरा गावदी समझा करता था। एक दिन जब दफ़्तर में आकर अपने उल्लास

को छिपा सकने में असफल होने पर, बात के औचित्य-अनौचित्य की चिन्ता न करते हुए उन्होंने कातिब को सम्बोधित कर कहा, "वह तो बस परी है अमरनाथ !" तो अपनी पत्नी का ध्यान आ जाने से चेतन का दिल धँस-सा गया था। मन-ही-मन चेतन ने सोचा कि दैव दयालु भी होता है तो किन मूर्खों पर !

सम्पादक महोदय उदार विचारों के व्यक्ति थे और कभी एक समाजवादी संस्था के मंत्री तक रह चुके थे। उन्होंने अपने सब मित्रों का परिचय अपनी इस नव-परिणीता पत्नी से कराया था। इसी परी से एक बार रास्ते में चेतन की भेंट हो गयी। चन्दा उसके साथ थी और वह चाहता था कि किसी प्रकार वह कन्नी काट जाय। पर अपनी स्वर्णस्मिति से चेतन को एक बार सिर से पाँव तक डुबोते हुए परी ने पूछ ही तो लिया, "यह आपके साथ क्या आपकी श्रीमती......" और उनके ओठ फैल गए और दाँतों की अवलि चमक उठी।

"जी हाँ, यही मेरी श्रीमती जी हैं।" खिसियानी-सी हँसी के साथ उनकी बात काटते हुए उसने कहा था। और वह जल्दी-जल्दी चन्दा को लेकर चला गया था।

और सम्पादक महोदय की यह पत्नी सुन्दर ही न थी, सुशिक्षित और सुसंस्कृत भी थी।

उन दिनों चेतन को बड़ी आकांक्षा होती थी कि यदि उसकी पत्नी सुन्दर नहीं हो सकती तो सुशिक्षित अवश्य हो जाय। संध्या को दफ़्तर से आकर, खाना आदि खाकर वे सैर को जाते थे। गोल बाग की रविशों पर टहलते हुए, जब बड़ी सुन्दर बातें हो रही होतीं, चेतन को सहसा ध्यान हो आता कि वे इस समय को व्यर्थ ही गँवा रहे हैं। क्यों न सैर ही सैर में वह अपनी पत्नी को पढ़ा दे? और वह सहसा उससे पूछता—

"वह दाल के साथ रोटी खाता है, इसकी अँग्रेज़ी बनाओ!"

बातचीत के अचानक बन्द हो जाने से चन्दा कुछ उदास हो जाती और धीरे से कहती—

"दाल की अँग्रेज़ी मुझे नहीं आती।"

"दाल का दाल ही रहने दो, शेष वाक्य की अँग्रेज़ी बनाओ।"

चन्दा सोचने का उपक्रम करती और फिर झिझकते हुए कहना शुरू करती—

"He eat......"

क्रोध को बरबस रोककर चेतन कहता, "ग़लत! कल क्या नियम बताया था तुम्हें?"

चन्दा चुप रहती।

"जिस वाक्य में 'ता है' या 'ती है' आये उसमें वर्ब (verb) अर्थात् क्रिया के साथ एस (s) या, ई-एस (es) लगता है।" क्रोध को किसी-न-किसी तरह दबाकर चेतन कहता और फिर एक दूसरे वाक्य की अँग्रेज़ी पूछता।

"नौकर बाज़ार से मिठाई लाता है। अँग्रेज़ी बनाओ।"

"नौकर की अँग्रेज़ी मुझे नहीं आती" चन्दा की आवाज़ चिड़चिड़ी होती।

"नौकर को नौकर ही रहने दो!" चेतन के स्वर में क्रोध होता।

"लेकिन बाज़ार......"

"तुम अँग्रेज़ी तो बनाओ। बाज़ार को बाज़ार ही कहते हैं।"

किंतु अँग्रेज़ी उससे फिर भी न बनती। कार्तिक की स्निग्ध धवल ज्योत्सना गोल बाग की सुनसान वीथियों, वृक्ष-लताओं, पुष्प-पल्लवों, घास से आच्छादित भूमिखंडों और तारकोल से काली सड़कों को स्वप्न की-सी सुन्दरता प्रदान कर रही होती; दिन भर चँगड़ानियों की गालियाँ

और कर्कश स्वर सुन-सुनकर ऊबे हुए उसके कान पत्तों की मीठी मर्मर सुनने के लिए आकुल होते; उपलों से लदी हुई दीवारों को देख-देख थकी हुई उसकी आँखें इस स्वप्न-संसार का रस लेना चाहतीं; सड़क के किनारे जहाँ एक चबूतरे पर पुराने समय की एक नन्हीं-सी तोप पड़ी है, वह कुछ क्षण बैठना चाहती; पर उसका यह अरसिक पति जो कवि और कथाकार होने का दम भरता था. . . .ये कैसे कवि हैं, वह सोचती. . . .और वाक्य की अँग्रेज़ी उससे न बनती. . . . .

चेतन पहले तो झल्लाता, फिर शिक्षा पर एक छोटा-सा भाषण झाड़ता और फिर चुपचाप, तनिक जल्दी-जल्दी चलने लगता। चलते-चलते वह आगे हो जाता और वह पीछे घिसटती आती।

आधी रात के बाद सर्दी में ठिठुरता हुआ वह आता। गहरी नींद में सोयी चन्दा उसके कई बार दरवाज़ा खटखटाने पर किवाड़ खोलती और सिरहाने रखा ठंडा दूध, जिस पर मलाई की मोटी तह जम जाती, उसे पिलाकर लेट रहती। वह पीठ मोड़ लेती। कुछ देर तक चेतन भी पीठ मोड़े लेटा रहता, लेकिन उसके अंगों की सर्दी न जाती। तब वह एक हाथ से उसे अपनी ओर करके उसके गर्म-गर्म गदराये शरीर में गुम हो जाता।

हर दूसरे तीसरे ऐसा होता। मानसिक तौर पर वह रूठता, शारीरिक तौर पर मान जाता। और नीला कभी-कभी उसे बेतरह याद आने लगती।

अपने वैवाहिक जीवन के तीन-चार महीने बाद ही उसने एक दिन अनन्त को पत्र लिखना आरम्भ किया—

"....मैं कहता हूँ अनन्त मैंने क्या शादी कर ली!

तुम ठीक कहते हो। मैं डरपोक हूँ। मेरी दशा उस व्यक्ति की

सी है जो एक हिंस्र पशु से डरकर दूसरी ओर भागता है तो उसके सम्मुख दूसरा आ जाता है, दूसरे से भयभीत होकर तीसरी ओर मुड़ता है तो उसे तीसरे का सामना करना पड़ता है।

मैं डर रहा था कि मैं गिर रहा हूँ। अपने चरित्र से गिर रहा हूँ। और मैंने सोचा कि दूसरों की क्यारियों में मुँह मारने की आज्ञा देने की अपेक्षा मन के इस उद्दंड पशु को अपनी एक निज की क्यारी बना दूँ। पर कदाचित् मन के इस पशु को दूसरे की खेतियों में मुँह मारना अधिक रुचता है।

यह वासना है, गुनाह की लज़्ज़त है, देखे जाने का भय है, यह क्या है, जो अभिसार में मिलन से अधिक सुख भर देता है।

दूसरे की आलमारी में लगी हुई पुस्तकें अनन्त, बड़ी अच्छी लगती हैं; उन्हें पढ़ने को बड़ा जी जाहता है; उन्हें पढ़ने में बड़ा आनन्द मिलता है, पर जब हम उन्हें ख़रीद लेते हैं तो वे प्रायः अनपढ़ी और उपेक्षित हमारी आलमारियों में पड़ी रहती हैं।

मेरे मन में सदैव द्वन्द्व मचा रहता है। चन्दा सीधी-साधी, भोली-भाली लड़की है। सहृदय, भावुक और उदार! किंतु मुझे उसके ये गुण नहीं भाते। जब वह मेरे सामने आती है तो मैं अनायास ही नीला से उसकी तुलना करने लगता हूँ......"

चेतन अभी इतना ही लिख पाया था कि चन्दा उसके पास आ गयी। चेतन ने जल्दी से पत्र मेज़ के दराज़ में रख दिया।

"क्या लिख रहे थे?" पत्नी ने हँसते हुए पूछा।

"योंही एक कविता आरम्भ की थी"।

"सुनाइए।"

"खतम होने पर सुनाऊँगा।" उसने कहा और फिर दीर्घ-निःश्वास

भरकर बोला...''लेकिन तुम कविता-अविता क्या समझोगी? काश कहीं तुम भी कुछ परिश्रम करके थोड़ा-बहुत पढ़ लेतीं!'' फिर सहसा बात का रुख बदलकर उसने पूछा ''वह पुस्तक पढ़ डाली तुमने?''

''मैंने पढ़नी आरम्भ की थी पर.....।''

चेतन ने उसके मुख की ओर देखा। निर्निमेष वह देखता रहा और वहीं उसके मुख पर उसे किसी दूसरे मुख की रेखाएँ बनती दिखायी दीं। और उसने अपनी पत्नी को अपने आलिंगन में भींच लिया और उसकी आँखों में देखते-देखते उसे चूम लिया।

उसकी पत्नी चकित खड़ी उसकी ओर देखती रही। तब चेतन ने अपने प्रिय विषय 'शिक्षा' पर एक छोटा-सा भाषण दे डाला।

''जवानी के चार वर्ष तो चन्दा योंही बीत जायँगे। यों, फुर से!'' और उसने चुटकी बजायी, ''पता भी न चलेगा। यौवन में शारीरिक आकर्षण ही पति-पत्नी को एक दूसरे के समीप रखता है। किंतु युवावस्था बीतते देर नहीं लगती और समय आ जाता है कि पति के लिए घर में कोई आकर्षण नहीं रहता। पति पत्नी को नहीं समझ पाता और पत्नी पति को। यदि तुम मुझ-सी अध्ययनशील बन जाओ चन्दा, साहित्य में तुम्हें भले-बुरे की तमीज़ हो जाय तो हमारे बीच पति-पत्नी के बदले संगी और संगिनी का नाता स्थापित हो जायगा, हम एक दूसरे को भली-भाँति समझते जायँगे और दिन-प्रतिदिन हमारे प्रेम की ज़ंजीर मजबूत होती जायगी।''

चन्दा चुपचाप अपने पति की ओर देखती रही। फिर उसने धीरे से कहा, ''मैं पढ़ने लगती हूँ तो मुझे नींद आ जाती है।''

''यह नींद तो प्रगति की घातक है। नींद आलस्य है, नींद मृत्यु है।'' और चेतन को पता न था कि वह क्या बक रहा है। वह कहता चला गया— ''अज्ञान भी एक नींद है चन्दा—महानिद्रा-सी भयानक! इस महानिद्रा पर विजय पाने के लिए तुम्हें अपनी इस नींद की कुछ घड़ियों का त्याग

करना होगा, नहीं तो अज्ञान की महानिद्रा अपने अंधकार में तुम्हें लील जायगी।"

चन्दा ने तनिक हँसकर कहा, "ब्याह होने पर मैं समझा करती थी कि पढ़ाई समाप्त हो गयी, किंतु मैं आपके आदेश का पालन करने की पूरी कोशिश करूँगी।"

"तुम्हारी पढ़ाई तो वास्तव में अभी आरम्भ हुई है।" चेतन ने कहा "ज्ञान जाग्रति है और जाग्रति मानव को किसी समय भी अग्राह्य न होनी चाहिए।"

"मैं और अधिक लगन से पढ़ने का यत्न करूँगी।"

और वह बाहर जाकर चारपाई पर लेटे-लेटे पढ़ने लगी।

चेतन ने पत्र निकाला और उसे फिर लिखने लगा, किंतु अपनी पत्नी की सरलता और सहृदयता उस पर कुछ ऐसी छा गयी कि वह उस पत्र को और आगे न बढ़ा सका। पढ़कर उसने उसे फाड़ दिया। मन-ही-मन अनन्त को सम्बोधित करके उसने केवल इतना कहा—'तुम नहीं जानते अनन्त, मेरे मन में सदैव कैसा द्वन्द्व मचा रहता है, प्रतिदिन मुझे कैसी यन्त्रणा सहनी पड़ती है।"

३२

आख़िर वह निमन्त्रण आ गया, जिसकी प्रतीक्षा चेतन इतने दिनों से मन-ही-मन कर रहा था। इलावलपुर में उसके ससुर की ननिहाल थी। वहीं उनके मामा की पोती का विवाह था। ससुर के ननिहाल से साधारणतया दामाद को दूर का भी वास्ता नहीं होता, किंतु पंडित दीनबन्धु और वेणी प्रसाद को वास्तव में उनके मामा ही ने पाला था। दोनों बच्चे ही थे, जब उनके सिर से उनके पिता का साया उठ गया था। नाना भी जीवित न थे, किंतु मामा ने अपने इन भानजों को अपने बच्चों से भी अधिक समझा। पंडित वेणी प्रसाद ओवरसियर हो गये, पंडित दीनबन्धु ने भी खूब व्यापार किया। इस प्रकार उन्होंने जो कमाया वह इस पिता-तुल्य अपने मामा को भेजते रहे। यही कारण था कि केवल प्राइमरी स्कूल के अध्यापक होने के बावजूद मामा ने दूर-दूर तक ईंटों के भट्टों का व्यवसाय फैला रखा था और इलावलपुर छोड़ वहाँ से बाइस मील दूर जालन्धर में आकर अपना एक पक्का मकान बनवा लिया था। उनके लड़के हरमोहन और कुलदीप राजकुमारों की तरह रहते और हरमोहन के बारे में तो

एक बार इतना भी सुना गया था कि मामा उसे विलायत तक भेजने की सोच रहे हैं।

मामा के बड़े लड़के चूनी लाल की मृत्यु हो चुकी थी। गर्मियों के दिनों में अपनी कुमैत घोड़ी पर सवार होकर अपने एक दूर के भट्टे पर गया था। मार्ग में उसे प्यास लगी। एक खेत में पक्के हरे तरबूज़ बिखरे थे। उतरकर उसने दो बड़े-बड़े तरबूज़ तोड़े। हथेलियों का ज़ोर देकर उनकी फाँकें कीं और खा गया। प्यास तो मिट गयी, परन्तु भट्टे पर पहुँचते-पहुँचते पेट में तीव्र शूल उठने लगा। जाते ही धरती पर लोट गया। ऊसर, उजाड़ स्थान, समीप के गाँव में कोई हकीम न वैद्य, हैज़े का सख़्त दौरा, संध्या होते-होते तड़पकर ठंडा हो गया।

इसी चूनी लाल की बड़ी लड़की कान्ता का विवाह था। माँ-बाप के मर जाने के बाद दादा ने उसे अपनी दूसरी पोतियों से कहीं ज़्यादा लाड़ से पाला था। और वह चाहता था कि उसकी शादी भी ऐसी धूम-धाम से करे कि बच्ची को पिता का अभाव न खटके। चन्दा कान्ता के साथ खेली-कूदी और बड़ी हुई थी। उसे कान्ता ने स्वयं अपने हाथ से पत्र लिखा था और अनुरोध किया था कि वह अपने साथ जीजा जी को भी लाये। पर जीजा जी तो दूर रहे, चन्दा स्वयं भी जाने के लिए कुछ वैसी आतुर न थी।

बात यह थी कि चेतन के रोज़-रोज़ के भाषणों से तंग आकर अन्त में चन्दा नियमित रूप से स्कूल जाने लगी थी। "यदि आप मुझे सचमुच शिक्षित देखना चाहते हैं," उसने कहा था, "तो आप मुझे किसी स्कूल में दाखिल करा दें। आप स्वयं मुझे न पढ़ा सकेंगे। एक शब्द पढ़ायेंगे तो चार बार झिड़केंगे और चार घंटे लेक्चर देंगे।" उसने यह बात इतने भोलेपन से कही थी कि चेतन हँस दिया था और उसने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था और वह बड़े शौक़ से पढ़ने लगी थी। उसकी

अध्यापिका का कहना था कि उसने अत्यन्त प्रखर बुद्धि पायी है। चन्दा को स्वयं भी पढ़ने का बहुत शौक़ हो गया था और जो भी समय उसे मिलता, उसमें वह पढ़ने में लगी रहती। वह जब दाखिल हुई थी तो लड़कियों ने एक बार सारी पुस्तकें समाप्त कर ली थीं, पर उसकी अध्यापिका ने विश्वास दिलाया था कि यदि चन्दा जी लगाकर पढ़ेगी तो वह तीन महीने ही में हिन्दी-रत्न की परीक्षा दे लेगी। यद्यपि अध्यापिका ने यह भी आश्वासन दिलाया था कि यदि वह फेल हो गयी तो भी दूसरे वर्ष उसे भूषण में दाखिल कर लिया जायगा, पर चन्दा असफल न होना चाहती थी। रत्न में पढ़ने वाली छोटी-छोटी लड़कियों में बैठते हुए उसे पहले ही बड़ी लज्जा आती थी, असफल होकर वह उनमें कहाँ बैठ सकेगी? और उसने जी-जान से पढ़ना शुरू कर दिया था।

यही कारण है कि जब उसे निमन्त्रण मिला तो वह स्वयं इलावलपुर जाने के लिए कुछ उतनी व्यग्र न थी। लेकिन जब चेतन दफ़्तर से आया तो उसने अपने पति से इस बात का ज़िक्र नहीं किया, "कान्ता की शादी है", उसने कहा, "ताऊ जी का पत्र आया है। कान्ता और नीला ने आप से आने का अनुरोध किया है।" चेतन को संक्षिप्त में उसने पत्र का सारांश बता दिया, पर अपनी ओर से किसी प्रकार की इच्छा प्रकट नहीं की।

चेतन का हृदय धक-धक करने लगा, पर अपने आन्तरिक उल्लास को छिपाकर उसने अत्यन्त संयत स्वर में बेपरवाही से कहा, "अच्छा लाओ तो देखें क्या लिखा है?"

चन्दा ने पत्र अपने पति को दे दिया। वास्तव में यह निमन्त्रण हरमोहन की ओर से था। पर एक अलग काग़ज़ पर कान्ता ने उससे आने के लिए कहा था। इस पर चन्दा के ताऊ और पिता की ओर से ताकीद थी और नीला के हाथ की लिखी हुई दो पंक्तियों में ताकीद-

मज़ीद[1] थी, जिनमें उसने अपने इस प्यारे जीजा जी को सानुरोध बुलाया था।

"आज-कल दफ़्तर में बड़ा काम है," चेतन ने पत्र पढ़कर लौटाते हुए कहा, "दो सम्पादक तो बीमारी के कारण छुट्टी पर गये हुए हैं, तीसरा बीमार होने की फ़िक्र में है। फिर भाई मैं तो विवाह-शादी के झमेलों से बड़ा घबड़ाता हूँ, और शादी नगर में हो तो बात भी है, यहाँ जाना होगा उनके गाँव में......"

"हाँ विवाह तो वे अपने यहाँ ही करेंगे," चन्दा ने कहा, "लेकिन इलावलपुर गाँव नहीं, कस्बा है!"

"अरे यहाँ गाँव और कस्बों में कौन-सा बड़ा अंतर होता है और मैं तो अपने सम्बन्धियों तक के ब्याह-शादियों में शामिल नहीं होता। फिर..."

बात काटकर उसकी पत्नी ने कहा, "फिर निकट सम्बन्धी हों तो भी कुछ बात है, आपको दफ़्तर में काम है और मैं स्कूल से छुट्टी लेना पसन्द नहीं करती। कान्ता की बात ज़रूर है। उससे मिलने को जी चाहता है, किंतु उसे एक बार यहाँ बुला लेंगे। वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं।"

अन्तिम बात सुनकर चेतन ज़रा बौखलाया। वह सोचता था—उसकी पत्नी अनुरोध करेगी, वह 'न' 'न' करेगा और आखिर बड़ी मुश्किल से उस पर अहसान का बोझ लादते हुए जाने को तैयार हो जायगा। पर चन्दा की यह बात सुनकर क्षण भर के लिए वह अप्रतिभ-सा उसके मुँह की ओर ताकता खड़ा रहा। फिर उसने शीघ्र ही पैतरा बदला।

"दूर निकट की बात नहीं," वह बोला, "प्रायः भाई-भाई भी इतने दूर चले जाते हैं कि शत्रु उनसे समीप जान पड़ते हैं। इसके विपरीत पराये कई बार इतने समीप आ जाते हैं कि अपने हो जाते हैं। प्रश्न समय

---

[1] ताकीद मज़ीद=और भी अनुरोध

का है। मेरे पास समय कम है।" फिर कुछ रुककर वह बोला, "किंतु मैं सोचता हूँ कि तुम्हारे पिता और ताऊ तो उन्हें अपना-सा ही समझते हैं। इसलिए, यह तो एक तरह से उन्हीं के यहाँ जाना है। निमन्त्रण भी तो उन्हीं की ओर से आया है, कहीं वे हमारी अनुपस्थिति का बुरा न मानें?"

और वह कुछ क्षण चुप रहा ताकि चन्दा पर इस तर्क की प्रतिक्रिया जाने। पर उसका मुख भाव-शून्य था। उसने फिर कहा—

"तुम इतने महीनों से इस ब्याह की बात कर रही थीं, मुझे साथ चलने को तैयार कर रही थीं, अब......"

"पहले मुझे कोई परीक्षा तो पास करनी न थी, शादी-ब्याह में शामिल होती रही तो दे चुकी परीक्षा, और फिर कहीं फेल हो गयी तो आप ही जान खायँगे।"

चेतन हँसा, "वहाँ कौन से इतने दिन लगेंगे, चार-पाँच दिन के लिए ही तो जाना होगा।"

चन्दा चुप रही। वह सोच में पड़ गयी। फिर लम्बी साँस लेकर चेतन ने कहा:

"और मैं सोचता हूँ इस बहाने तुम्हें भी कुछ आराम मिल जायगा और मैं भी समाचार-पत्र की इस चक्की से कुछ दिनों के लिए छुट्टी पाऊँगा।"

अपने आराम की बात तो शायद चन्दा पर उतना असर न डालती पर अपने पति के लिए हँसी-खुशी के दो दिन उपस्थित करने को वह झट से तैयार हो गयी।

३३

पाँच के बदले चेतन को वहाँ पन्द्रह दिन लग गये।

कई बार जीवन में कोई ऐसी छोटी-सी घटना घटती है जो हमारे जीवन की समस्त धारा बदल देती है। न केवल यह, बल्कि कई बार वह छोटी-सी, नित्य प्रति घटने वाली असंख्य साधारण घटनाओं में से एक घटना हमारे सम्पर्क में आने वालों की जीवन धाराओं को भी पलट देती है और हमारे जीवन की ऐसी महत्वपूर्ण घटना बन जाती है कि उसका प्रभाव जीवनपर्यन्त हमारे मन पर रहता है।

चेतन के ससुर के मामा की इस पोती का विवाह भी चेतन, चन्दा और नीला के जीवन में एक ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना बन गया।

चेतन अपनी पत्नी को लेकर सीधा इलावलपुर न गया था। वह कई महीनों से अपने माता-पिता से मिली न थी और पहले बस्ती ग़ज़ाँ जाना चाहती थी। चेतन भी जाते-जाते चुपराना में होने वाले वसन्तोत्सव को देख लेना चाहता था।

चुपराना गाँधी-मंडप से आध मील पर होश्यारपुर रोड पर स्थित है। किसी समय में वहाँ सिर्फ़ एक कुआँ था और प्रातः सैर को जाने वाले, नगर के उत्तरी भाग के निवासी, वहाँ स्नानादि को जाते थे। इधर जालन्धर के प्रसिद्ध सोंधी वंश में किसी बुज़ुर्ग के मरने पर उसकी समाधि चुपराना के समीप बना दी गयी थी और अपने इस बुज़ुर्ग की याद को ताज़ा रखने के लिए वसन्त के दिन उस बुज़ुर्ग के वंशजों ने एक मेले का आयोजन कर दिया था। इस मेले को सफल बनाने के हेतु एक कवि-सम्मेलन का भी प्रबन्ध किया जाता था। चेतन की इच्छा थी कि यदि उससे कहा गया—यदि उससे अनुरोध किया गया—तो वह अपनी एक कविता पढ़ देगा। यह कविता उसने तीन साल पहले कॉलेज के दिनों में वसन्तोत्सव पर लिखी थी। मन-ही-मन वह उस कविता को याद करने का प्रयास भी करता रहा।

रात को चेतन अपनी ससुराल में ही सोया। इससे पहले जब एक-दो बार वह आया था तो पंडित वेणी प्रसाद के यहाँ ठहरा था और वह उस घर को ही अपने ससुर का घर समझता था। लेकिन अब उसे मालूम हुआ कि उसके ससुर का निजी कोई मकान नहीं। अपनी जेठानी से उसकी सास की कभी न पटी थी और अपने पति को लेकर वह अलग हो गयी थी। इस मकान के भी दो कमरे ही उसके ससुर ने किराये पर ले रखे थे। यद्यपि किसी ने उस पर प्रकट नहीं होने दिया, परन्तु उसे कुछ ऐसा लगा कि उसके ससुर का हाल कुछ पतला है।

रात को बड़े प्यार से चेतन की सास ने उसे आलू और अंडों की तरकारी बनाकर खिलायी। "चन्दा के पिता बड़े शौक़ से खाया करते थे," उसने खाना परोसते हुए कहा, "रणवीर और हरमोहन भी बड़े शौक़ से पकवाते थे। लेकिन चन्दा के पिता ने माँस खाना छोड़ दिया और रणवीर या हरमोहन अब इधर क्यों आने लगे।" और उसने एक ठंडी उसाँस छोड़ी।

यों चेतन बड़ा सात्विक प्रकृति का युवक था। शराब और सिगरेट तो दूर वह पान तक न खाता था। लेकिन बी० ए० पास करने के बाद अपने मित्र अनन्त के निरन्तर अनुरोध के कारण, स्वास्थ्य के विचार से, उसने माँस खाना आरम्भ कर दिया था। वह आरम्भ करने ही का अपराधी था। नियमित रूप से माँस खाने के लिए वह कभी पैसे न बचा पाया था। अंडे अत्यन्त स्वादिष्ट बने थे। वह जी भरकर खा गया।

दूसरे दिन वह अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहनकर चुपराना जाने के लिए तैयार हुआ। बाकी घर वालों से उसने कह दिया कि "आप लोग इलावलपुर जायँ, मैं रणवीर के साथ शाम की गाड़ी से पहुँच जाऊँगा।"

वह रणवीर नीला का बड़ा भाई था। दूसरों से कविता लिखवाकर पढ़ने का शौक़ीन। उसी को साथ लेकर चेतन चुपराना की ओर चल पड़ा।

बारह बजने वाले थे। धूप तेज़ हो गयी थी। बस्ती से अपनी उमंग में वह अपनी कहानियों और कविताओं की प्रशंसा करता और इस प्रकार अपने इस साले पर रोब जमाता हुआ पैदल ही चल पड़ा था। लेकिन जब वह लगभग चार-पाँच मील चलकर चुपराना पहुँचा तो उसने देखा कि वसन्तोत्सव का तो वहाँ निशान तक नहीं। वास्तव में जिन धनीमानी सज्जनों के उत्साह ने वहाँ मेला आरम्भ करवाया था उनमें किसी की मृत्यु कुछ महीने पहले हो गयी थी और शोक के कारण उन्होंने इस बार मेले का आयोजन न किया था। लोग जा-जाकर लौटे आ रहे थे।

चुपराना से इधर ही सड़क पर चेतन रुक गया। इस चार-पाँच घंटे में पहली बार उसे महसूस हुआ कि वह अत्यन्त थक गया है और सूर्य की किरणें भी उसके शरीर में कुछ चुभती रही हैं।

बड़ी मुश्किल से उसने अपनी तीन वर्ष पहले लिखी हुई कविता याद की थी और उसे मन-ही-मन कई बार दोहराया था। उस कविता के समस्त

शब्द अगनित हथौड़ों की तरह उसके सिर में चोट पहुँचाने लगे।

चुपराना के वसन्तोत्सव में सम्मिलित होने के बाद उनका स्टेशन जाने का प्रोग्राम था। घड़ी देखी तो गाड़ी में अभी तीन घंटे बाकी थे। उसे इतनी थकान लग रही थी कि बस्ती या शहर में अपने घर वापस जाना उसे दूभर मालूम होता था।

"यहाँ कोई ताँगा न मिल जायगा?" चेतन ने विवशता से रणवीर की ओर देखते हुए पूछा।

"नज़र तो नहीं आता।"

"तो चलो नगर को जाने की अपेक्षा यहीं से स्टेशन की ओर चलें। वहीं जाकर कुछ सुस्ता लेंगे।

तभी रणवीर को पहली बार किसी चीज़ का अभाव महसूस हुआ। उसे अपना कंठ सूखता हुआ लगा और उसके कलेजे में कुछ कुसमुसी-सी होने लगी। तब उसे ध्यान आया कि उसने तो सुबह से एक पान तक नहीं चबाया और न एक सिगरेट ही पिया है। इस समय तक तो वह आठ-दस पान चबा जाया करता है और सिगरेट की एक-डेढ़ डिबिया फूंक दिया करता है। उसने इस प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत किया। "रायल सिनेमा के पास चौधरी की दुकान पर बैठेंगे" उसने कहा—"मैं पान और सिगरेट ले लूँगा और आप एक-दो कप चाय पी लीजिएगा। थकान दूर हो जायगी।"

और दोनों चल पड़े।

चेतन का यह साला विचित्र प्रकृति का युवक था। जिन लोगों की माताएँ उन्हें अत्यधिक लाड़ से पालकर उनके बचपन में ही मर जाती हैं, उन्हीं में रणवीर भी एक था। यों कोई वैसा बुरा व्यसन उसमें न था, किंतु निठल्लापन भी क्या कोई छोटा ऐब है? वह दिन भर निरर्थक घूमता रहता, खूब पान चबाता, खूब सिगरेट पीता, खूब स्कीमें बनाता और उन्हें खूब ही तोड़ता। लम्बा, पतला नोकदार मुँह, ठोढ़ी रास अन्तरीप!

गाल जैसे खाड़ियाँ, दाँतों पर पान की लाली और टार्टर की कालिमा, बाल रूखे, शुष्क और चौड़े मस्तक पर बिखरे हुए! चौधरी की दूकान पर चाय पिलाने के बाद उसने अपने जीजा जी को इलावलपुर की गाड़ी में बैठा दिया और इस समस्त सेवा के बदले में उसने अपने इन कवि जीजा से गाड़ी के डिब्बे में बैठे-बैठे एक कविता बनवा ली।

इस कविता के सम्बन्ध में कुछ दिन बाद उसने आँखों में बरबस मद भरकर और स्वर को यथासम्भव रोमेंटिक बनाकर जालन्धर के एक फ़सली समाचार-पत्र के फ़सली सम्पादक से कहा—"दिन भर सरसों को सुन्दर वासन्ती फूल, गेहूँ को बालियाँ, आम और नीम को बौर और अनार तथा कचनार को नयी कोपलें प्रदान करता हुआ जब वसन्त का सूरज संध्या के समय पश्चिम की सुनहरी झील में छिप रहा था, तब मुझे यह कविता सूझी।" फिर उसने तनिक और गर्वस्फीत स्वर में कहा था, "जिस प्रकार वसन्त की मीठी मादक बयार में साँस भरने ही से नस-नस में नव-स्फूर्ति का आभास होता है उसी प्रकार इस कविता को पढ़कर आपको अपनी नस-नस में नव-जीवन दौड़ता हुआ महसूस होगा। ज़रा सुनिए तो......!"

३४

कविता को पढ़कर किसी की नसों में नव-जीवन अथवा नव-स्फूर्ति का संचार हुआ या नहीं, इसे तो रणवीर या उस कविता को सुनने-पढ़ने वाले जानें, पर कविता समाप्त कर उसे रणवीर को सौंपते हुए इलावर स्टेशन पर उतरकर कस्बे को जाते-जाते चेतन को ज़ोर की सर्दी लगने लगी। उसका सारा शरीर काँपने लगा। नव-जीवन का संचार तो दूर रहा, उसे अपना पुराना जीवन भी साथ छोड़ता हुआ प्रतीत होने लगा।

वसन्त के आरम्भ की सुन्दर संध्या थी। सूरज सचमुच पश्चिम की सुनहरी झील में धीरे-धीरे उतर रहा था और उसकी सुनहरी किरणें नाचते हुए मोर के पंखों-सी आकाश में गोलाकार फैल रही थीं। बाकी जिस देहाती सुन्दरता का वर्णन चेतन ने उस कविता में किया था, उसका चिन्ह मात्र भी उन्हें वहाँ दिखायी न दिया था। ठंडी-ठंडी हवा चलने लगी थी, चेतन का शरीर बुरी तरह काँप रहा था और उसके मस्तक में असह्य पीड़ा होने लगी थी।

अपना हाथ रणवीर की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा, "रणवीर ज़रा

मेरा हाथ तो देखो, मुझे बेहद जाड़ा लग रहा है!"

"जीजा जी आप का शरीर तो तवे की तरह गर्म है।" रणवीर ने उसकी कलाई छूते ही दुश्चिन्ता से कहा।

"ज़रा तेज़ चलो, मेरा जी घबरा-सा रहा है।"

दोनों और तेज़ चलने लगे।

रास्ते की धूल से चेतन का सफ़ेद पायजामा मैला हो रहा था और मन-ही-मन वह सोच रहा था कि उसके पास तो कोई दूसरा पायजामा भी नहीं।

कस्बे के बाहर एक जौहड़ में अत्यन्त दुर्गन्ध भरा पानी इकट्ठा हो रहा था। उसमें एक दो बेडौल से सूखे पेड़ों के तने पड़े थे। किनारे पर कुछ टूटी हुई बैलगाड़ियों के पहिए, जुए, ऊँठने, उलारू आदि इधर-उधर बिखरे पड़े थे। एक बेपहिए की पूरी की पूरी बैलगाड़ी भी एक ओर पड़ी थी। इर्द-गिर्द कूड़े के ढेर थे। एक सूखा, टेढ़े-मेढ़े तने वाला पीपल का पेड़, जिसके सिरे पर ही चन्द हरी टहनियाँ लहरा रही थीं, इस सारे दृश्य को एक दार्शनिक की उदासीनता से निरख रहा था।

तेज़-तेज़ चलते और ज्वर के वेग से काँपते हुए चेतन को यह सब अत्यन्त नीरस और उदास प्रतीत हुआ। उसका जी मतलाने लगा और जब वह तीन-चार सँकरी, दुर्गन्धयुक्त, गंदी, मैली, गलियों से गुज़रकर मामा चिरंजीत लाल के पक्के तिमंज़ले मकान के बालाखाने पर पहुँचा तो उसे ज़ोर की कै हुई।

रणवीर ने नीचे जाकर बताया कि जीजा जी को ज्वर हो आया है और वह पानी लेकर फिर ऊपर को भागा।

अतीव पीड़ा से फटे जाते से सिर को थामे, नाली पर बैठे-बैठे, ज्वर के वेग से जलती तपती आँखों से चेतन ने देखा कि एक लड़की भागती-

भागती आयी और देखते-देखते उसने अन्दर चौबारे में बिस्तर बिछा दिया और रणवीर से कहा कि जीजा जी को वहाँ लिटाये।

कुल्ला करके, वैसे ही सिर थामे, रणवीर के सहारे जब वह बिस्तर पर जा लेटा और जब उस पर लिहाफ़ डाल दिया गया तो उसने अपने मस्तक पर ठंडा, प्यार भरा हाथ फिरता हुआ महसूस किया और उसके कानों में आवाज़ आयी—मधुर और मादक "जीजा जी!"

चेतन को बड़े ज़ोर का कम्पन हो रहा था। ज्वर की तीव्रता के कारण उसकी आँखें भट्टी की तरह तप रही थीं। उससे बोला न जाता था, लेकिन नीला का स्वर पहचानकर उसे बड़ी ही सान्त्वना मिली। लिहाफ़ के अन्दर उसकी आँखें भर-सी आयीं। पुनः जब नीला ने प्यार से उसके मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसे आवाज़ दी तो उसने लगभग गीले थरथराते स्वर में कहा :

"नीला, सिर फटा जा रहा है।"

इस बीमारी में चन्दा अपने पति के पास ज़्यादा नहीं आयी। जब सिर दर्द से व्याकुल होकर चेतन ने उसका नाम लेकर पुकारा था तो वह एक बार आयी और सहमे हुए स्वर में उससे कहा था—

"आप मेरी माँ को यहाँ मुँह दिखाने योग्य न रहने देंगे। यह जालन्धर या बस्ती नहीं, यह गाँव है। बड़े पुराने विचारों के लोग रहते हैं यहाँ। आपको जिस चीज़ की ज़रूरत होगी, उसका मैं पूरा-पूरा ख़याल रखूँगी। मैं नीला से कहे देती हूँ। आपकी आवश्यकताओं की ओर वह पूरा-पूरा ध्यान देगी। मेरे माता-पिता की इज़्ज़त का ख़याल रखें—मुझे नाम लेकर न पुकारें!"

और अत्यन्त अनुनय के स्वर में यह सब कहकर वह भाग गयी थी।

नीला से कुछ कहने की उसे आवश्यकता ही न पड़ी थी, क्योंकि अपने जीजा जी की आवाज़ सुनकर वह चन्दा के पीछे ही भाग आयी थी।

चेतन के कमरे में उस समय बच्चे शोर मचा रहे थे। और उसका सिर फटा जा रहा था। "भगवान के लिए इनको यहाँ से भगाओ!" चेतन ने सिर थामते हुए किसी-न-किसी तरह कहा।

नीला ने बच्चों को झिड़क-डाँटकर भगा दिया, किवाड़ भेड़, कुंडी चढ़ा दी और चेतन के सिरहाने आ बैठी। चेतन उस समय पीड़ा से कराह रहा था। नीला धीरे-धीरे उसका सिर दबाने लगी।

इसके बाद चेतन पर कुछ नीम बेहोशी-सी छा गयी। नीला का स्वर जैसे कहीं बहुत दूर से आते हुए, मीठे मद-भरे संगीत की शांति-प्रद तान की भाँति उसके कानों में आता रहा। नीला क्या-क्या बातें करती रही, उसे यह सब याद नहीं। लेकिन उस अर्ध-चेतनावस्था में भी उसकी कुछ बातें चेतन के मानस पट पर अमिट रूप से अंकित हो गयीं।

......उसके लम्बे-लम्बे घुंघराले बालों में अपनी कोमल अँगुलियाँ फेरते हुए नीला ने कहा था, "जीजा जी तुम्हारे बाल कितने सुन्दर हैं! लम्बे, काले घुंघराले—"

......और फिर पूछा था, "क्यों जीजा जी! ये घूँघर आपने कैसे बनाये हैं? आप ने बनाये हैं, या स्वयं ही बन गये हैं? मेरे तो बाल ऐसे नहीं बन पाते। लम्बे तो हैं, पर घुंघराले नहीं।"

और उसने अपनी वेणी लेकर जीजा जी को अपने बाल दिखाये थे कि वे कैसे कोमल और लम्बे हैं, पर घुंघराले नहीं।

चेतन ने ज्वर के कारण तपते-जलते अपने हाथों में वे कोमल ठंडे केश ले लिये थे और अनजाने ही उसने वेणी को धीरे-धीरे खोल डाला था

और लम्बे, काले, सुकोमल, सुवासित, शांतिप्रद कुन्तल चेतन के मुख पर बिखर गये थे।

......"जीजा जी आपने मेरी वेणी खोल दी!"

......उसने बाल खींचे थे। पर चेतन ने उन्हें न छोड़ा था, न नीला ही ने उन्हें मुक्त कराने का कुछ अधिक प्रयास किया था। उन लम्बे, काले, सुकोमल कुन्तलों को चेतन ने अपने दोनों हाथों में ले लिया था, अपने मुख पर बिखरा लिया था और नीला उस पर झुक गयी थी...इतना... इतना...कि एक वार उसे प्रबल आकांक्षा हुई कि उसके गले में बाहें डालकर वह उसे चूम ले। पर उसने बालों को ही चूमा। वह भी इस तरह कि नीला को आभास तक न हुआ और वह पूर्ववत बातें करती गयी।

......"जीजा जी मैं तो ब्याह न करूँगी। कोई मेरी शादी बरबस थोड़े ही कर देगा।"

......"क्यों जीजा जी जब लोग ब्याह के बाद ब्याह को कोसते हैं तो वे क्यों करते हैं शादी? न करें! सुख से रहें। मैं तो कभी न करूँगी। मैं तो साफ़-साफ़ कह दूँगी पिता जी से।"

और उसने अपनी बड़ी बहन की कहानी सुनायी थी।

......"मीला बहन क्या सुखी है? विवाह के पहले जाने क्या-क्या सोचती होगी? हवा में कितने क़िले बनाती होगी? किंतु अब तो उसकी आँखों का पानी ही नहीं सूखता। बड़े जीजा जी इंजीनियर हैं, सात-आठ सौ वेतन पाते हैं। ससुर धनी-मानी हैं, किंतु फिर भी सुख नहीं। जब विवाह हुआ था तब बड़े जीजा जी पढ़ते थे। सास ने तीन वर्ष तक उसे पति के पास नहीं फटकने दिया। फिर सास के साथ बहन की बनी नहीं, इसलिए सास ने शोर मचाया कि वह तो बाँझ है, मैं अपने लाल का दूसरा ब्याह कर दूँगी।"

और नीला कुछ क्षण चुप शून्य में ताकती रही थी। फिर उसने कहा था।

......ख़ैर उस समय जीजा जी दूसरा ब्याह करने को तैयार न हुए। बाद में बहन के एक छोड़ तीन बच्चे हुए, पर उसका वैवाहिक जीवन सफल न हुआ। अब जीजा जी को शिकायत है कि जीजी कुरूप है। फूहड़ है, शिक्षित नहीं, संस्कृत नहीं!"

"...ज़बरदस्ती कौन करेगा जीजा जी? मैं विवाह करूँगी ही नहीं।"

"......बच्ची नहीं हूँ, चौदह वर्षों की होने आयी हूँ।"

और मस्तक दबाते-दबाते नीला ने उसके गालों पर हाथ फेरा।

"......जीजा जी दाढ़ी आपके बड़ी बढ़ आयी है। आप हजामत क्यों नहीं बनवा लेते?" और वह हँसी थी मैं बना दूँ उसतरा लेकर?

"......जीजा जी आपके ओठों पर पपड़ियाँ जम गयी हैं, इन पर ज़रा-सा मक्खन लगा दूँ।

और अपना एक हाथ उसने चेतन के सूखे ओठों पर फेरा। चेतन ने उसके हाथ पर अपना हाथ रख दिया था और उस हाथ को अपने ओठों से तनिक-सा दबा दिया था।

और उसका समस्त शरीर झुनझुना उठा था। उससे कुछ बोला न गया था। उसका गला सूज गया था। उसे बड़ी तकलीफ़ थी, पर उस समस्त कष्ट और पीड़ा के बावजूद उसे बड़ा पुलक और राहत मिली।

रात को नीला ने दूध में बनफशा उबालकर उसके गले पर बाँध दिया।

दूसरे दिन गाँव के अस्पताल का कम्पाउंडर आया जो अपने-आपको डा० बिधान चन्द्र राय से कम न समझता था। कुनैन मिक्सचर और फ़ीवर मिक्सचर की खुराकें वह उसे पिलाता रहा, किंतु चेतन को आराम न हुआ। हारकर उसने एक देहाती हकीम से, जो अत्तार भी था, 'अत्तरी-

फल ज़मानी[1] मँगाया। दूध के साथ उसे पिया और गरिष्ठ अंडों से (जो ठीक तरह न पचने के कारण उसके आमाशय ही में सड़कर विकार पैदा कर रहे थे) जब पेट साफ़ हुआ तो वह कुछ ठीक ढंग से सोचने योग्य बना। उसने हजामत बनवायी, मुँह-हाथ धोया और चारपाई पर आराम से लेट गया।

एक-एक करके सब बातें उसके मस्तिष्क में घूमने लगीं।...

गले में शोथ होने के कारण वह अधिक न बोल पाया था और बातें अधिकतर नीला ही करती रही थी। लेकिन जितनी देर वह पास बैठी बातें करती रही थी, चेतन को एक अपार तुष्टि, एक अपार सुख का आभास मिलता रहा था। ......उसके लम्बे, काले, सुकोमल, सुगन्धित बाल; पतली पर मांसल अँगुलियाँ......हृदय को भेदकर, सोयी हुई भावनाओं को जगाने वाली उसकी दृष्टि......परन्तु चन्दा......

और अचानक अपनी पत्नी का ध्यान आ जाने से उसने उसे आवाज़ दी।

भागकर नीला ऊपर आ गयी।

बिना उसकी ओर देखे, बिना उससे दृष्टि मिलाये चेतन ने कहा, "तुम ज़रा अपनी बहन को भेज दो।"

"क्या काम है जीजा जी?" जैसे उसकी नाचती हुई वाणी ने पूछा।

"तुम ज़रा उसे भेज दो।"

और कुछ चकित-सी नीला चुपचाप चली गयी। दूसरे क्षण चन्दा उसके पास खड़ी थी।

"कहिए!"

चेतन चुप रहा। वह सोच रहा था कि अभी जो बात उसके मन में अचानक उठी थी, उसे कहे या न कहे।

---

[1] एक यूनानी दवाई।

चन्दा उसके पास बैठ गयी और उसके लम्बे-लम्बे बालों पर हाथ फेरते हुए उसने कहा—

"आप ने मुझे बुलाया था, क्या हाल है अब तबीयत का?" और एक स्निग्ध मुस्कान उसके ओठों पर फैल गयी।

"तुम्हारी बला से।" चेतन ने रुखाई से कहा, "तुम्हारी ओर से कोई मरे या जिये, तुम अपनी सखी-सहेलियों और गाने-बजाने में मस्त रहो।"

"क्यों क्या बात है?" चन्दा का गला भर आया। उसकी मुस्कान विषाद में विलीन हो गयी और उसकी चकित आँखें पति के क्षीण और तनिक पीले चेहरे पर जम गयीं।

"मैं आज चार-पाँच दिन से बीमार हूँ। इतना ज्वर चढ़ आया, तुमने पूछा भी आकर?"

"क्यों मैं तो बराबर आपकी ख़बर रखती हूँ। आपको किस बात का कष्ट हुआ है, नीला जो थी......!"

"नीला जो थी...नीला जो थी...नीला..." झल्लाकर चेतन ने लगभग चीखते हुए कहा, "तुम मेरे पास बैठो।"

अत्यन्त विनीत और आर्द्र स्वर में चन्दा ने कहा, "आप नहीं जानते मैं आपके पास आ बैठी तो बीस तरह की बातें होंगी। कुटुम्ब की स्त्रियाँ जो मुँह में आया बकेंगी। नीला..."

"मैं कहता हूँ चन्दा तुम पागल हो," चेतन ने खीजकर कहा "नीला अब बच्ची नहीं, चौदह वर्ष की हो गयी है वह, और मैं—देखती नहीं हो—इंसान हूँ, कमज़ोर इंसान..."

चन्दा ज़ोर से हँस पड़ी, "आप ने तो मुझे डरा ही दिया था। मुझे इस बात का डर नहीं। वह मेरी छोटी बहन है। ताऊ की लड़की हुई तो

क्या, मैंने उसे बहन ही की तरह समझा है। उसकी इज़्ज़त आपके हाथ में है। वह चंचल है, बालिका है, छोटी-मोटी गलती कर सकती है, पर आप तो नहीं कर सकते।"

और एक असीम, अपार, उदार विश्वास से अपने पति को देखते हुए उसने उसके मस्तक पर हाथ फेरा।

चेतन ने अपनी दृष्टि अपनी पत्नी की आँखों में जमा दी। इस सरल हृदया पत्नी से कभी वह विश्वासघात कर सकता है! एक असीम दया और निर्मल प्रेम से उसके मन-प्राण प्लावित हो उठे। कितना बड़ा दिल पाया है इस नारी ने? फिर कितनी भोली! नहीं जानती कि मानसिक सम्बन्ध के अतिरिक्त शारीरिक सम्बन्ध भी कोई चीज़ है। मन से मनुष्य अपने संगी का बना रहना चाहता है, शरीर नहीं रहने देता। मन शरीर को अपने अधिकार में, अपने संयम में रखना चाहता है, किंतु वह प्रायः बिदके हुए घोड़े की तरह भाग खड़ा होता है। उसने धीरे से कहा——

"यदि तुम मेरे पास नहीं बैठना चाहती, तो फिर मुझे यहाँ से ले चलो।"

उस दृष्टि से जो स्निग्ध-स्नेह से भरकर एक बच्चे के चंचल भोलेपन को देखती है, चन्दा ने अपने पति की ओर देखा और उसके कन्धे को प्यार से थपथपाकर उसने कहा, "मैं कहीं जा तो नहीं रही, सदैव आपके पास ही तो मुझे रहना है। आप ही के कहने पर मैं यहाँ आयी थी। अब जिस काम से आयी हूँ, उसकी समाप्ति के पहले कैसे चली चलूँ? इस तरह जाना तो बचपना होगा। बस दो-चार दिन और किसी प्रकार काट दें। मैं तो दिन-रात आपके पास बैठी रहूँ, किंतु रिश्तेदारों का डर है। यों कहने को मैं चाहे नीचे आँगन में बैठी रहती हूँ, पर मेरी समस्त वृत्तियाँ आप ही की ओर लगी रहती हैं।"

और वह उठी।

चेतन ने लम्बी साँस ली। कुहनियों के बल वह तनिक-सा उठा हुआ था। उन्हें उसने ढीला छोड़ दिया और हताश-सा लेट गया।

"मुझे कुछ भूख-सी लगी है। ज़रा-सा गर्म दूध ला दो।" मीठे स्वर में उसने कहा।

"मैं अभी भिजवाती हूँ।" तत्परता से चन्दा नीचे की ओर चली।

३५

चेतन ने सिर उठाकर देखा—दूध भरा गिलास लिये हुए नीला आ रही है।

गिलास को दोनों हाथों से थामे होने के कारण उसके सिर का दुपट्टा खिसक गया था और लम्बे, काले, खुले, सुवासित केश उसके कन्धों को ढके हुए थे।

चेतन का हृदय धक से रह गया। यह नीला इतनी सुन्दर उसे कभी न लगी थी। सद्यस्नाता, धुले निखरे अरुण कपोल, मधु-ऋतु के प्रभात-सी स्वच्छ वह उसके सामने खड़ी थी।

"जीजा जी दूध पी लो।"

दूध के गिलास पर झुकी उसकी निगाहें तनिक-सी ऊपर उठकर चेतन की आँखों से चार हुईं और वसन्त के सूरज की प्रथम किरण-सी एक हल्की-सी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गयी।

चेतन नहीं हँसा। वह उठकर बैठ गया और तनिक काँपते हुए हाथों से उसने गिलास थाम लिया। नीला उसके बिस्तर पर बैठ गयी

और दोनों हाथों से उसके दोनों कन्धे थामकर उसने उसे सहारा दिया। उसके वक्ष की गर्मी को चेतन ने अपनी पीठ पर अनुभव किया।

उसने दो घूँट पिये—गर्म, स्वच्छ, ताज़ा दूध। लेकिन चेतन का कंठ जैसे सूख रहा था, उसके हाथ काँपने लगे।

"मैं पिला दूँ आपको" नीला ने प्यार से कहा।

'नहीं मैं पी रहा हूँ!" चेतन बोला।

और उसने दो घूँट और पिये।

तभी बाहर कोठे पर खेलते शोर मचाते, एक दूसरे को छूते, धमा-चौकड़ी मचाते हुए बच्चे अन्दर चौबारे में आ दाख़िल हुए। चिढ़कर नीला बिस्तर से कूद उनके पीछे भागी। "तुमसे कितनी बार कहा है, इधर न आओ!" उसने उन्हें डाँटते और बाहर निकालते हुए कहा और बाहर आँगन की मुँडेर पर से नीचे किसी चची को सम्बोधित करके चिल्लायी—

"चाची हटा लो इनको, जीजा जी की तबीयत ठीक नहीं और ये शोर मचाते हैं! किवाड़ लगाती हूँ तो धड़ाधड़ तोड़ते हैं, शैतानों से क्या कम हैं ये सब?" और क्रोध में भ्रू-भंग किये हुए आकर उसने खट से किवाड़ बन्द कर लिये, चटख़नी लगा दी और अपने जीजा के पीछे उसी तरह सटकर बैठ गयी।

चेतन के शरीर में फिर बिजलियाँ-सी कौंध गयीं। अपनी पीठ के साथ नीला के स्वस्थ वक्ष का परस और उष्णता अनुभव करते ही चेतन के हाथ फिर काँपने लगे। एक विचित्र आनन्द-भरी झुरझुरी-सी रह-रहकर उसके शरीर में उठने लगी। अपनी पत्नी को बीसियों बार उसने आलिंगन में लिया था, किंतु कभी भी ऐसी झुरझुरी, ऐसा कम्पन उसके शरीर में उत्पन्न न हुआ था।

नीला ने गिलास उसके हाथ से ले लिया। "आप तो काँप रहे

हैं" यह कहते हुए चेतन के समस्त शरीर को अपनी दायीं बाँह पर लेकर उसने बायें हाथ से गिलास उसके ओठों से लगा दिया। चेतन जैसे किसी दूसरी ही दुनियाँ में पहुँच गया। बेलि-सी उस किशोरी के हाथ से, उसकी भुजा का सहारा लिये उसके वक्ष से लगे दूध पीने में चेतन ने जो क्षण व्यतीत किये और उनमें उसे जिस असीम आनन्द का आभास मिला, वह उसे अब तक कभी न मिला था। कुन्ती के साथ बात करते हुए भी नहीं और प्रकाशो के वक्ष पर चुटकी काटते हुए भी नहीं। वसन्त के नीलाम्बर पर जैसे छोटे-छोटे मेघ-बाल अपनी गर्म-गर्म ऊन के गदेले लिये उड़े जा रहे थे और वह उनकी सेज पर लेटा उनके साथ उड़ा जा रहा था।

जब चेतन के दूध पी चुकने के बाद नीला ने वहीं बैठे-बैठे हाथ बढ़ाकर गिलास ताक में रख दिया और हटने लगी तो अचानक दायें हाथ से उसे अपने आलिंगन में भरकर चेतन ने उसे चूम लिया।

नीला चारपाई से नीचे उतर गयी।

चेतन श्रान्त-सा बिस्तर में धँस गया।

नीला ने जाकर झट से दरवाज़ा खोल दिया और फिर चुपचाप आकर उसके सिरहाने खड़ी हो गयी।

चेतन ने देखा—उसके गाल निमिष-मात्र के लिए और भी लाल हो गये और फिर कपास के फूल की सफ़ेदी उन पर दौड़ गयी।

करवट बदलकर लेटे-लेटे चेतन ने कहा, "नाराज़ हो गयी हो नीला, माफ़ कर दो!"

नीला ने उत्तर न दिया। तेज़-तेज़ चलती वह कमरे से निकल गयी।

उसने अपने उस कृत्य पर नीला से माफ़ी माँग ली थी और नीला ने उसे माफ़ भी कर दिया था, पर वह स्वयं अपने-आपको क्षमा न कर पाया था। साँझ को जब पंडित वेणी प्रसाद अपने हिलते-डोलते शरीर को लिये

हुए उसका हाल चाल पूछने उसके पास आकर बैठे थे तो लैम्प के उस धीमे प्रकाश में, उसने धीरे-धीरे, एक दो बातों को छोड़कर इशारों-इशारों में सब कुछ उन्हें बता दिया और सलाह दी कि नीला अब युवती हो गयी है, अब उसका विवाह कर देना चाहिए। माँ सिर पर नहीं और आप भी उतना ध्यान नहीं दे सकते......और ज़माना अच्छा नहीं.... बस्ती में अपढ़ लड़कियों की संगति......और व्यस्त रहने के लिए उसके पास कुछ है नहीं......आदि ......आदि......

इसके बाद नीला उसके पास न आयी थी। यदि चेतन को कुछ आवश्यकता भी हुई तो उसकी छोटी बहन शीला ही आयी। चेतन का दम घुटने लगा। वह चाहने लगा कि उसी क्षण उठकर भाग जाय, सीधा लाहौर चला जाय, फिर कभी जालन्धर अथवा इलावलपुर न आये।

लेकिन इसके बाद भी उसे चार दिन वहाँ रहना पड़ा। वे चार दिन जैसे चार वर्षों से बीते। चारपाई पर वह अकेला लेटा छत की कड़ियाँ गिनता रहा। उसे पहली बार अनुभव हुआ जैसे कमरे में से रूह उड़ गयी है और वह एक शव-सा मुँह बाये उसके पास पड़ा है। एक ही दिन में उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ गया। वह यों ही चन्दा को आवाज़ें देता और जब हर आवाज़ पर नन्हीं शीला फुदकती हुई आती तो मन-ही-मन में झल्लाकर रह जाता।

अन्त में तीसरे दिन शीला को अपने पास बैठाकर, उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए, उसने पूछा था, "क्यों शीला, नीला को इधर नहीं देखा, क्या करती रहती है वह!"

"रोती रहती है।"

"रोती रहती है, पर क्यों?"

किंतु इस 'क्यों' का उत्तर वह निरीह बालिका क्या देती? चेतन को लगता जैसे कोई उसका हृदय कचोट रहा है।

चौथे दिन भी नीला न आयी। चेतन के लिए अब पल भर भी उस कमरे में बिताना कठिन हो गया। कान्ता अपनी ससुराल से एक दिन के लिए आकर जा चुकी थी। विवाह पर आये हुए सगे-सम्बन्धी जाने लगे थे। उसने चन्दा को बुलाया और आग्रह किया कि मुझे इसी क्षण यहाँ से ले चलो। कान्ता की माँ और उसकी सास ने बहुतेरा कहा कि अभी तुम्हारा जी ठीक नहीं, अभी दो-चार दिन और यहाँ रहो, पर वह न माना। ग्लानि से उसके मन प्राण जल रहे थे! विवश हो चन्दा उसे लेकर चल पड़ी।

मामा चिरंजित लाल के उस तिमंज़िले मकान से उतरते हुए उसके मन में प्रवल आकांक्षा हुई कि यदि नीला कहीं मिल जाय तो वह उससे फिर एक बार माफ़ी माँग ले। पर उसे उतरते देख, वह भागकर कमरे में जा छिपी। चेतन को ऐसा लगा था जैसे किसी ने ज़ोर से उसके मुँह पर चाँटा दे मारा हो।

३६

कल्लोवानी के अपने उसी कमरे में चुपचाप बिस्तर पर लेटा हुआ चेतन अन्यमनस्क-सा खिड़की के बाहर देख रहा था।

जिस दिन वह इलावलपुर से जालन्धर लौटा था, उसी दिन, घर पहुँचते ही उसे मालूम हुआ था कि उसके दादा का देहान्त हो गया है और ग्यारह दिन तक उसके लिए वहीं रहना अनिवार्य है। यद्यपि इलावलपुर में उसका ज्वर उतर गया था, किन्तु रास्ते की थकन, गर्मी और दादा के देहान्त के बाद घर में खाने की असुविधा हो जाने के कारण वह फिर बीमार पड़ गया था।

आज ग्यारहवें दिन दादा का क्रिया-कर्म हुआ था, और दिन भर का थका चेतन लेटा था। सामने के मकान की छत पर गोपीनाथ सुनार की लड़की दम्मो अनमनी-सी बैठी थी और निचली मंज़िल की खिड़की में उसकी माँ—अमरकौर—एक ही धोती से अपने तन को ढँके, न जाने किसे कोस रही थी।

दम्मो की माँ दिन भर किसी-न-किसी को कोसती रहती थी—कभी बूढ़ी अन्धी सास के लोभ को, कभी बुड्ढे बेबस, अपाहिज ससुर की लोलुपता को, कभी बच्चों की नालायकी को, कभी पति के ख़सारे को और कभी समधी की नीचता को—गली-मुहल्ला, सगे-सम्बन्धी सब उसे अपने विरुद्ध षड़यन्त्र रचते दिखायी देते थे।

खिड़की से आधी बाहर को झुकी हुई, अपनी नंगी बाँह बढ़ा-बढ़ाकर पीले, पिचके पपीतों-सी अपनी नंगी छातियों को बार-बार धोती से ढकती हुई, वह न जाने किसे गालियाँ दे रही थी। लड़ने के लिए उसे केवल बहाना दरकार होता था। मुहल्ले में कोई लड़ता हो, वह किसी-न-किसी प्रकार उसमें आ कूदती थी और फिर दिन भर उसके शत्रुओं को उससे मुक्ति पाना कठिन हो जाता था।

चेतन के सामने चन्द दिन पहले की घटना घूम गयी और उसके ओठों पर एक हल्की-सी मुस्कान आ गयी। अजीब लड़ाकी थी यह दम्मो की माँ......

साँझ का समय था, जब परली गली की पंडितानी ने (जिसे चेतन मौसी कहकर पुकारता था) अपनी भैंस लाकर खिड़की के सीखचों से बाँध दी। दादा के रहते तो किसी को साहस न होता था कि सीखचों से कोई पशु बाँधना तो दूर, मकान के पास से भी कोई भैंस या गाय ले जाय। किंतु उनके देहावसान के पश्चात् शायद उसने चेतन की माँ के शहर की होने के नाते इसका अधिकार पा लिया था। किंतु माँ को यह बात अच्छी न लगी कि जिस बात को दादा नापसन्द करते थे, उनके आँखें मूँदते ही उसकी आज्ञा दे दी जाय। उसने चेतन को आदेश दिया कि भैंस जिसकी भी हो खोल दी जाय।

चेतन ने भैंस को खोलते हुए, मुहल्ले के चौक में सूत के अड्डे पर बैठी पड़ोसिन मलावी से हँसकर कहा, "वाह चाची तुम भी ख़ूब हो, तुम्हारे यहाँ

बैठे-बैठे हमारी खिड़की से कोई भैंस बाँध दे और तुम हटाओ भी न।"

"मैं कैसे हटाती, तुम्हारी मौसी ही ने बाँधी है।" मलावी ने सूत अटेरते हुए कहा।

मौसी भी कहीं निकट खड़ी थी। नाक-भौं सिकोड़ते हुए भैंस की रस्सी हाथ में लेकर वह बोली, "मैंने तो पल भर के लिए बाँधी थी। ज़रा सानी में खली मिला रही थी।" फिर कुछ रुककर और तनिक मुँह बिचका-कर उसने कहा "और दम्मो की माँ ने रात भर बाँध रखी, उसे किसी ने नहीं रोका।"

उसने यह बात साधारण ढंग से केवल सूचनार्थ कही थी, लेकिन दम्मो की माँ ने सुन ली। वह घर में कोई भी काम क्यों न करती हो, उसके कान मुहल्ले ही में लगे रहते थे। मौसी के मुँह की बात अभी उसके मुँह ही में थी कि उसी एक धोती से अपना तन ढाँके वह खिड़की में आ बैठी और बाँह बढ़ाकर अपनी नंगी होती हुई छाती पर कपड़ा ठीक करते हुए उसने कहा—

"और उन ख़समाखानियों को क्या करूँ जो मेरे दरवाज़े पर आकर मरती हैं। अभी कल एक रंडी का कटड़ा सारा दिन दरवाज़े के सामने बँधा रहा। आना-जाना मुश्किल हो गया।"

"खसम को अपने तू खा, रंडी तू हो।" ऐन कोने में लाला जंगबहादुर की माँ दम्मो की माँ ही की तरह अकेली धोती में अपना शरीर छिपाती आ खड़ी हुई।

चेतन भैंस की रस्सी खोलकर अन्दर बैठक में आ बैठा। मौसी भैंस को लेकर उसके खूँटे से बाँधकर चली गयी। मलावी ने अपना साज़-सामान उठाया और अपने घर जाकर मिरचें कूटने लगी—आध मन मिरचें उसे रात भर में कूटकर पंसारी को देनी थी—लेकिन मुहल्ले के एक कोने में अपने मकान की खिड़की में बैठी दम्मो की माँ और दूसरे कोने

में बैठी लाला जंगबहादुर की माँ पूर्ववत् एक दूसरी के पति, पुत्रों, बेटियों, दामादों और दूर निकट के सम्बन्धियों का नाम ले-लेकर मधुर वचनों की वर्षा करती रहीं।

लड़ते-लड़ते दम्मो की माँ के मुँह से झाग निकलने लगी थी और क्रोध के आवेश में उन पीले-पीले पपीतों को ढकने का भी उसे उतना ध्यान न रहा था, लेकिन वह किससे लड़ रही है, यह देखने के लिए चेतन उठकर खिड़की में नहीं गया। वहीं लेटा-लेटा वह उसके मुख पर क्रोध और आवेश के क्षण-क्षण बदलते भावों को देखता रहा। वहाँ से उसकी दृष्टि ऊपर छत की शहनशीन पर बैठी उसकी लड़की पर चली गयी। इस समस्त लड़ाई-झगड़े से जैसे उसे कोई दिलचस्पी न थी। अनमनी-सी बैठी वह कहीं दूर शून्य में मुटर-मुटर तक रही थी।

उस समय ऐसा लगता था कि यह लड़की अपने जीवन में हँसी तो दूर, मुस्करायी तक नहीं। पर चेतन जानता था कि कुछ ही वर्ष पहले सारा मुहल्ला उसकी स्वर्ण-स्मिति और जगमगाते मोतियों-सी स्वच्छ हँसी का घायल था। जब वह अपने लम्बे, घुँघराले बालों को धोकर, उन्हें सुखाने के हेतु पीठ पर बिखराये, खिड़की में आ बैठती थी तो मुहल्ले भर के लड़के किसी-न-किसी बहाने चेतन की बैठक में आ इकट्ठे होते—अमरनाथ, जगदीश, प्राण, महेश, गूजर—यहाँ तक कि अमीचन्द भी उस समय वहाँ आ जाया करता था।

यह अमीचन्द चेतन का सहपाठी था। योग्य और बुद्धिमान तो उतना नहीं था, पर परिश्रमी बड़ा था और अपने इसी परिश्रम के बल पर सदैव क्लास में सर्व-प्रथम आता था। जब अध्ययन में जुटता तो उसे दीन-

दुनिया की ख़बर न रहती। किंतु चेतन ने देखा था कि जब दम्मो खिड़की में आ बैठती तो वह भी चेतन से कोई-न-कोई पुस्तक लेने, या स्कूल-टास्क School-task पूछने, या किसी ऐसे ही बहाने आ जाया करता और यद्यपि साधारणतया वह मौन और गम्भीर बना रहता पर दम्मो की मुस्कान के सामने चेतन ने उसकी उस सौम्यता को भी पिघलकर मुखर होते देखा था।

अमीचन्द के बहाने उतने सूक्ष्म चातुरी-भरे न होते और चेतन और अनन्त तत्काल उसका अभिप्राय भाँप जाया करते।

"तुमने यदि विदर्ज की Money समाप्त कर ली हो तो मुझे दे दो!" अमीचन्द कहता और कनखियों से दम्मो की ओर देखता।

अनन्त ठहाका लगाता, "यहाँ बैठकर अर्थशास्त्र के ग्रन्थ कहाँ पढ़े जा सकते हैं मित्र!" वह हँसते हुए कहता, "हम तो बुत को सामने बैठा के, यादे ख़ुदा करते हैं।" और एक नज़र दम्मो की ओर देखकर आँख मारता और कहता—

जहाँ उलझा हुआ है दिल तुम्हारा
वहीं अटका हुआ है दम हमारा ?

अमीचन्द शरमा जाता और घबराकर चला जाता। बाद में अनन्त और चेतन उसी की इस घबराहट पर ख़ूब ठहाके लगाते।

"किताबों का कीड़ा!" अनन्त उपेक्षा से कहता, "पढ़-पढ़कर मर जायगा और अन्त में किसी सरकारी दफ़्तर में दो एक चपरासियों पर रौब जमाता हुआ बाल सफ़ेद कर लेगा। दम्मो की मुस्कान का जादू यह क्या जाने?"

फूल मुस्कराते हैं, दिल पै चोट पड़ती है,
हाय वो रुख़े-ख़ंदाँ, हाय वो शबाब उनका

और शेर कहकर और अभिनेताओं की तरह लम्बी साँस भरकर, अनन्त दम्मो पर अपनी निगाहें जमा देता।

लेकिन वही दम्मो, जिसकी मुस्कान से उनके हृदयों की गति तीव्र हो जाती थी, उस समय अनमनी और उदास बैठी थी। यदि वह उस समय मुस्कराती भी तो मन पर पुलक के बदले अवसाद छा जाता।

जीवन! चेतन ने लम्बी साँस भरते हुए सोचा—बचपन की सरलता और यौवन की सरसता कब प्रौढ़ता के गम्भीर अवसाद में बदल जाती है, इसका माप नहीं। प्रायः शरीर युवा रहता है, पर मन प्रौढ़ हो जाता है।

और वहीं लेटे-लेटे चेतन के सामने नीला का विपन्न मुख घूम गया। उसने देखा उसका विवाह हो गया है। किसी अनजाने नगर में, किसी अनजाने मकान की छत पर वह दम्मो ही की तरह अन्यमनस्क और उदास बैठी है। उसकी वह मुस्कान, उसकी वह चंचलता सब लुप्त हो गयी है और उसके ओठों ने दम्मो ही की तरह विष का वितरण सीख लिया है...

यह उसने क्षण भर की भावुकता में क्या कर डाला? कायर! अतीव आत्म-ग्लानि और आत्मोपेक्षा के साथ उसने दिल-ही-दिल में अपने-आपको कोसा। इलावलपुर की समस्त घटना उसके सामने घूम गयी और उसने बेचैनी से करवट बदली। तभी एक उदास-सी दृष्टि से दम्मो ने उसकी ओर देखा और फिर मुख फेर लिया—मानो कह रही हो, 'अब तुम इन ओठों पर मुस्कान मत ढूँढ़ो। इनकी मुस्कान का स्रोत तो सूख गया है। विवाह के विषैले साँप ने उसमें विष का संचार कर दिया है। अब यदि मैं मुस्करायी भी तो उस विषैली मुस्कान को लेकर तुम क्या करोगे।'

क्षण भर के लिए चेतन की आँखों के सामने फिर वही दृश्य घूम गया—किसी दूरस्थ प्रदेश में ऐसे ही मकान पर अनमनी-सी नीला बैठी

है। वह कुमारी नहीं, विवाहिता है और चेतन को देखकर उसके ओठों पर ऐसी ही कटु-विषैली मुस्कान फैल गयी है।

चेतन के हृदय से एक दीर्घ-निश्वास निकल गयी। उसने करवट बदल ली। उसी समय उसे ऊपर से अपने पिता की, नशे में चूर थरथराती कड़क सुनायी दी––

"इस हरामज़ादे ने कहा कि इसे विश्वास नहीं आता! क्या मैंने लगाया हाथ शराब को इन ग्यारह दिनों में?"

———————

३७

चेतन के दादा को मरे आज पूरे ग्यारह दिन हो गये थे और ग्यारह दिन तक उनके घर में एक प्रकार की चहल-पहल रही थी। रोना और पीटना भी हुआ था। पर चेतन के दादा ७० वर्ष के होकर, अपनी आयु पूरी भोगकर, एकादशी के शुभ दिवस परलोकगामी हुए थे। ऐसी अच्छी मौत तो सब को आये। क्योंकि पुराने खयाल के हिन्दुओं में ऐसे दिन परलोक वासी होने वाला सीधा स्वर्ग जाता है, इसलिए रोने-पीटने के साथ हास-परिहास भी होता रहा था। सियापे में भी दादा को (यद्यपि जीवन में वे पटवारी से गिरदावर तक न बन पाये थे) पंजाब का राजा बना दिया गया था। जब अपने आधे सीनों को धोतियों से कसे सियापे की परेड के लिए घेरा बाँधकर खड़ी हुई स्त्रियाँ मध्य बैठी हुई रानी (नाइन) ने अपने बारीक सानुनासिक स्वर में बैन गाया था—

हाय हाय वे पंजाब दे या राजिया

और मुहल्ले की स्त्रियों ने छातियाँ पीटते हुए उसका अनुकरण किया था तो बड़ी बूढ़ियों ने सियापे के सुरताल में किसी प्रकार की रुकावट डाले

बिना, उसी समान-गति से छातियों पर हाथ जमाते हुए कहा था—"राजा, सच राजा!"

बूढ़े लोगों के मरने पर दुख के बदले सुख अधिक मनाया जाता है। चेतन के दादा की अरथी भी बाजे-गाजे के साथ निकली थी; गुलाल से सिर मुँह रंग गये थे; छोहारों, तालमखानों और भुने हुए चावलों की वर्षा अरथी पर की गयी थी। पर उनकी मृत्यु पर घर में दुख भी कम न था। एक तो वे इतने बूढ़े न दिखायी देते थे, फिर वे इतने बीमार न पड़े थे और फिर उनकी उपस्थिति पंडित शादीराम के हाथों दुखी उस घर की आत्मा पर एक शांत, सुखद मरहम का काम देती थी। इन ग्यारह दिनों में स्वयं चेतन की आँखों के सामने कई बार दुनिया के तीन-पाँच से बेखबर, भोले, उदार, धर्मपरायण अपने दादा का चित्र घूम गया था। रह-रहकर चेतन को उन दिनों की याद आ जाती जब उनके दादा ने अपनी कमज़ोर आँखों से महीनों चूल्हा झोंका था।

'कलायत' के स्टेशन पर रामानन्द को और 'सैला खुर्द' के स्टेशन पर चेतन को पं० शादीराम ने जिस निर्दयता से पीटा था, उसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए (ज्योंही पंडित जी की बदली रिलीविंग में हुई) माँ अपने सब लड़कों को जालन्धर ले आयी थी (बहाना सीधा था कि रिलीविंग में जब पंडित जी स्टेशन-स्टेशन घूमेंगे, बच्चों की पढ़ाई खराब होगी) चेतन के बड़े भाई को भी माँ ने अपने मायके से, जहाँ पिता की मार के डर से उसने उसे भेज रखा था, जालन्धर बुला लिया था और वे सब स्थानीय स्कूल में शिक्षा पाने लगे थे। इसके बाद यद्यपि दो-तीन साल रिलीविंग में रहकर चेतन के पिता मकेरियाँ पर पक्के नियुक्त हो गये थे और मकेरियाँ में एक छोड़ दो हाई स्कूल थे, लेकिन माँ बच्चों को वहाँ न ले गयी थी। जब चेतन और उसके भाइयों को जालन्धर ही में छोड़, महीने के वेतन को शराब अथवा जुए की भेंट होने से बचाने के लिए माँ अपने पति के पास मकेरियाँ

चली जाती तो चेतन के दादा ही सब को खाना पकाकर खिलाते। अपने बूढ़े दादा के स्नेह-सौहार्द, सरलता, सहृदयता का ख़याल आ जाने से चेतन की आँखों में आँसू छलक आते। यद्यपि स्वभाव उनका भी कर्कश था, किंतु हृदय इतना कोमल था कि उनकी सब कर्कशता भूल जाती थी। वे दुर्गा के उपासक थे। बच्चों को खाना खिलाकर, स्कूल भेजकर वे स्वयं कुएँ पर जाकर स्नान करते और फिर दो-अढ़ाई घंटे तक चंडी का पाठ करते। पाठ-पूजा से निवृत्त होकर वे अपने लिए खाना तैयार करते और कई बार दो बजे, कई बार अढ़ाई-तीन बजे, जाकर स्वयं खाना खाते। वे पीटते थे, लेकिन प्यार भी करते। पीटने पर पश्चात्ताप भी करते। वे चंडी के उपासक हैं, इसलिए उनके स्वभाव में कठोरता और कर्कशता आ गयी है—ऐसा उनका विचार था। किंतु यह कठोरता उनके हृदय को कठोर न बना सकी थी। वे बच्चों पर नाराज़ होते, पर जब वे रोने लगते तो उन्हें मिठाई के लिए पैसे भी दे देते। जब चेतन के पिता सब कुछ गँवा देते, वेतन तक न भेजते तो वे उन्हें गालियाँ देते; किन्तु यदि कहीं ऐसे समय पंडित शादीराम स्वयं वहाँ आ पहुँचते और अपने पिता के पाँव पर सिर रख देते तो चेतन के दादा उनके सब दोष क्षमा कर देते और पेन्शन से जोड़-जोड़कर रखे हुए रुपये उन्हें लाकर दे देते। चेतन के पिता प्रायः उनसे इस प्रकार रुपये हथिया ले जाते, किंतु जानते हुए भी उसके दादा हर बार ठगाई खा जाते।

वहीं चारपाई पर लेटे-लेटे दादा का समस्त जीवन चेतन के सामने घूम गया। अपने इस पुत्र के लिए उन्होंने कितने कष्ट न उठाये थे? चेतन के पिता तीन वर्ष के थे जब उनकी माँ मर गयी थी। तब उसके दादा ने जिस कठिनाई से उन्हें पाला, महामारी के उन दिनों में जिस प्रकार वे शिशु को पीठ से लगाये हुए घूमते थे, इसका ज़िक्र कई बार आँखों में आँसू-भरकर दादा ने किया था। और इस सब तपस्या का फल उन्हें क्या मिला?

सदा की जलन, दुख और पीड़ा! पेन्शन लेकर वे इसलिए घर आये थे कि उनकी आँखों की ज्योति मन्द पड़ गयी थी। और उनका विचार था कि उनका बेटा, जो अब स्टेशन मास्टर हो गया था, उन्हें जीवन के शेष दिन आराम से बिताने में सहायता देगा। उनके इस बेटे ने उन्हें यह विश्वास भी दिलाया था। पर क्या उन्हें कभी एक घड़ी को सुख मिला? एक घड़ी को भी शांति नसीब हुई? वे अपने इस पुत्र की करतूतों पर सदैव जलते-भुनते रहे। बुढ़ापे में प्रायः अपनी अन्धी आँखों से अपने पोतों के लिए खाना पकाते रहे और बड़ी किफ़ायत से जोड़ा हुआ (आठ रुपये प्रति मास) पेन्शन का धन सदैव अपने इस स्टेशन मास्टर पुत्र और उसके बेटों पर खर्च करते रहे।

चेतन को महसूस हुआ जैसे उसके दादा सदैव एकाकी रहे। अपने इस पुत्र के हाथों (अपने पौत्र ही की तरह) उन्होंने भी कम यातनाएँ नहीं सहीं। अपने इकलौते पुत्र को वे सदैव धर्मपरायण, सत्यवादी, साधु-सन्तों, गौ-ब्राह्मणों की सेवा करने वाला; धन का यथेष्ट भाग दान-पुण्य तथा सत्-कार्यों में लगाने वाला देखना चाहते थे। उसे शराबी, जुआरी, वेश्या-गामी, धन को पाप के कामों में गँवाते देखकर उन्हें कितना दुख, कितना क्लेश, कितनी आन्तरिक व्यथा होती होगी? किंतु इतने पर भी जब यही दुराचारी पुत्र उनके सामने आकर अपनी मुसीबतों का रोना रोता था तो उस बुज़ुर्ग का सरल हृदय द्रवित हो उठता था और वे अपना तन मन तक उसके अथवा उसके बच्चों के हेतु अर्पण करने को तत्पर हो जाते थे।

माँ ने चेतन को बताया था कि मरने से चार दिन पहले तक वे स्वयं कुएँ पर जाकर स्नान और पाठ-पूजा करते रहे थे। अचानक उनके मूत्राशय में कुछ तकलीफ़ हो गयी, पेशाब रुक गया। वे स्वयं जाकर हकीम नबीजान को दिखा आये और एक दिन उन्होंने उनका जोशाँदा भी पिया। फिर जब कष्ट बढ़ा तो डाक्टर बस्तीराम को बुलाया और उसने कैथीटर

से पेशाब ख़ारिज किया। फिर ऐसा दिखायी दिया कि आराम आ जायगा। पर रात को उनकी तबीयत कुछ ज़्यादा ख़राब हो गयी। वे बेहोश हो गये। पंडित शादीराम को तार दिया गया। वे उन दिनों बहराम स्टेशन पर नियुक्त थे। उस समय शायद वे पी-पिलाकर बेहोश पड़े थे। सुबह उनको फिर तार दिया गया और उधर भैरो बाज़ार से कैप्टन डाक्टर लहना सिंह को बुलाया गया। पर दोनों उस समय पहुँचे जब दादा की सरल निरीह आत्मा पिंजर छोड़ चुकी थी।

पंडित शादीराम ने उसी समय शपथ खायी कि मैं अब कभी भी शराब न पिऊँगा और आज क्रिया-कर्म के दिन तक उन्होंने उसे मुँह न लगाया था।

"यह हरामज़ादा कहता है कि इसे विश्वास नहीं आता।" उसके पिता की गरज फिर सुनायी दी। "मुझे अभी बनारसी दास ने बताया है। सब मेरी हँसी उड़ा रहे हैं, और मैंने ग्यारह दिन तक शराब को हाथ तक नहीं लगाया।"

"यदि इतने दिन नहीं लगाया तो अब जो लगा लिया, अभी आज ही तो क्रिया समाप्त हुई है!" माँ ने कहा।

"तूने ही तो लड़कों को भड़काया है जो बाहर जाकर मेरी निन्दा करते हैं।" चेतन के पिता ने गरजकर कहा। और चेतन को ऐसा लगा जैसे यह कहते-कहते उन्होंने एक लात माँ को जमा दी और वह गिर पड़ी। भागकर वह ऊपर गया।

उसके पिता और उसका छोटा भाई परसराम गुत्थम-गुत्था हो रहे थे, उसकी माँ गिरी पड़ी थी और उसकी भाभी (जो भाई साहब के साथ उसी सुबह क्रिया-कर्म में भाग लेने आयी थी) एक ओर सहमी खड़ी थी और क्रोध से लाल आँखें किये भाई साहब माँ को उठा रहे थे।

"मैं तुम सब का क़त्ल कर दूँगा" और अपने लड़के से अपने-आपको छुड़ाकर उसके पिता लकड़ी चीरने की कुल्हाड़ी उठाने बढ़े।

जल्दी से भाई साहब ने एक हाथ से माँ को और दूसरे से छोटे भाई को पकड़ा और बाहर होकर सीढ़ियों का दरवाज़ा लगा दिया।

दूसरे क्षण चेतन के पिता ख़ाली हाथ लौटे। कुल्हाड़ी उन्हें नहीं मिली। उन्होंने दरवाज़ा खोलना चाहा। वह बाहर से बन्द था। "अच्छा!" उन्होंने अपने-आप से कहा, "जैसे मैं यह दरवाज़ा नहीं खोल सकता! मैं इसे तोड़ दूँगा।" और उन्होंने रसोई-घर से पीतल की गागर उठा ली। उसे सिर से ऊपर उठाकर दरवाज़े पर दे मारा। किवाड़ नये थे। एक ही चोट से क्या टूटते। तब दे गागर पर गागर—उन्मादी की भाँति वे किवाड़ों को तोड़ने लगे।

रात का अन्तिम पहर था। उसके पिता ऊधम मचाकर सो गये थे। उन्होंने किवाड़ तोड़ दिये थे, लेकिन भाई साहब ने नीचे डेवढ़ी के किवाड़ लगा दिये थे और वे सूखे शीशम के मोटे तख़्तों के किवाड़! उनके सामने गागर बेचारी की क्या बिसात थी। आख़िर मुहल्ले वालों ने आकर बीच-बचाव कर दिया। भाई साहब और छोटे भाई ने माफ़ी माँग ली थी, पंडित जी का नशा भी टूट गया था और सब रो-रुलाकर सो गये थे। लेकिन चेतन को ज़रा भी नींद न आयी थी।

पास के किसी घर में घड़ी ने चार बजाये। चेतन उठा। उसने भाई साहब और अपनी पत्नी को जगाया और आध घंटे के बाद तीनों सामान उठाये स्टेशन की ओर चल दिये।

रास्ते में भाई साहब ने कहा, "तुम्हारी भाभी साथ चलने के लिए बड़ा आग्रह कर रही थी। मैंने कहा—चार छः महीने और सब्र करो, ज़रा आय बढ़ जाय तो ले चलूँ। कहने लगी—आप तो अपनी सब कमाई

छोटे भाई और भावज को खिला रहे हैं। भला उनमें कौन से लाल लगे हैं!—कमाई!" भाई साहब व्यंग्य और अवसाद से हँसे, "यहाँ दुकान का किराया ही निकल जाय तो बड़ी बात है।"

रात यद्यपि बीत चली थी, पर कर्तव्यपरायण प्रहरियों की तरह तारे अभी तक जमे खड़े थे। ऊपर की दुनिया धीरे-धीरे मन्द पड़ रही थी, नीचे का संसार अंधकार के सागर से जैसे डूबकर उतर रहा था। सड़कों पर भंगी झाड़ू दे रहे थे और प्रातः की अमल पवित्रता उड़ती हुई धूल से मैली हो रही थी। भीगी ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी, जिसे खुलती हुई दुकानों की जमी गर्म साँसें कहीं-कहीं दम घोटने वाली बना देती थीं। भाई साहब की व्यंग्यमयी हँसी सहसा एक अभेद्य मौन में बदल गयी और वे शून्य में देखने लगे।

चेतन ने दायें कन्धे से हटाकर ट्रंक को बायें कन्धे पर कर लिया और चन्दा ने कहा, "थक गये हों तो मुझे दे दीजिए।"

३८

उस रात को भाई साहब किसी-न-किसी तरह भाभी से पिंड छुड़ा आये थे, लेकिन अभी उन्हें लाहौर आये महीना भी न बीता था कि भाभी के खत पर खत आने लगे कि उसे जालन्धर के नरक से शीघ्रातिशीघ्र निकालकर लाहौर के स्वर्ग में (जिस पर उनकी पत्नी होने के नाते उसका सहज-अधिकार था) बैठाया जाय। न केवल यह, बल्कि माँ चिट्ठी पर चिट्ठी लिखने लगी कि अब जब तुम कमाने लगे हो तो अपनी इस लड़ाकी बहू को बुला लो ताकि रोज़ की क़िल-किल से मेरा पिंड छूटे।

यह एक विचित्र बात थी कि चेतन की भाभी ने पढ़ना आरम्भ कर दिया था। माँ ने लिखा था कि काम-धन्धा छोड़कर सारा दिन कापियाँ काली करती रहती है और पूछा था कि आखिर यह बूढ़ा तोता पढ़कर करेगा क्या ?—ऐसे सब पत्रों के उत्तर में भाई साहब 'एक चुप सौ सुख' के सुनहले सिद्धान्त से काम लेते थे। उस महान तितिक्षावादी को तो माँ अथवा बीवी के पत्र क्या विचलित करते, किंतु चेतन को ही स्वयं कुछ आत्म-ग्लानि-सी होने लगी थी। वह सोचता था—मेरे भाई अकेले रहते

हैं और मैं अपनी पत्नी के साथ मौज उड़ाता हूँ, यह तो निरा स्वार्थ है। क्या मुझे ही पेट भर खाने का अधिकार है, उन्हें क्या भूख नहीं लगती? अन्त में एक दिन जब रणवीर लाहौर आया तो उसने सहसा अपनी पत्नी को उसके साथ भेजने का निश्चय कर लिया और भाई साहब से कह दिया कि आप भाभी को आने के लिए पत्र लिख दें।

चन्दा ने स्वयं तो चेतन से कुछ नहीं कहा। उसने परीक्षा पास कर ली थी और उसे छुट्टियाँ ही थीं। पर जब शाम को चेतन घर लौटा तो बाहर गली ही में मेहतरानी ने (जिसे वह सहृदयता वश अथवा मानवता के नाते आदर से चौधरानी कहकर पुकारता था) उसे रोक लिया।

यह चौधरानी उसके पारिवारिक जीवन में कुछ अर्से से महत्व पा गयी थी। वास्तव में चेतन अपने उदार विचारों के कारण भंगी और ब्राह्मण में मानवता के नाते कोई अंतर न मानता था। उसकी शह पाकर चौधरानी भी अपने-आपको उनके बराबर समझने लगी थी और एक बार तो उनके चौके की चौखट तक पर आ बैठी थी।

वह साफ़-सुथरे कपड़े पहनती थी, एक आँख में तनिक-सा भैंगापन होने पर भी साफ़-सुथरी और बनी-ठनी रहती थी और जब चाहती थी तो अपने उसी स्वर को जिससे वह अपने शत्रुओं को भयंकर गालियाँ देती थी, मधु-सा मीठा बना लेती थी। चेतन उससे छू जाने पर बिदकता न था और न उससे बात करना बुरा समझता था, पर उसे अपने रसोई-घर की चौखट में बैठे देखकर संस्कार वश वह तनिक चौंका। कुछ क्षण वह चुप खड़ा रहा। फिर एक खिसियानी हँसी के साथ उसने सिर्फ़ इतना कहा— "चौधरानी, कहीं यदि मेरी माँ तुम्हें यहाँ बैठे देख ले!..."

इस पर अपनी भैंगी आँखों में हँसते हुए चौधरानी ने कहा था, "अजी बाबू जी भला मैं क्या जानती नहीं...."

और यह कहते-कहते वह ज़रा पीछे भी हट गयी थी। चेतन उसके साफ़-सुथरेपन के कारण उसकी कुछ आर्थिक सहायता भी कर दिया करता था और वह चन्दा के बेकार क्षणों में पास पड़ोस की बातें सुनाकर उसका दिल बहला जाया करती थी।

उस समय चेतन को रोककर तनिक भेद भरे स्वर में चौधरानी ने कहा, "बीबी जी आज रो रही थीं। उनसे क्या क़सूर हो गया जो आप उन्हें भेज रहे हैं। कहती थीं—चौधरानी तू उनसे कहना मेरा यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता।"

चेतन कुछ उत्तर दिये बिना तनिक-सा हँसकर घर चला आया था। मन-ही-मन उसे अपनी पत्नी पर बड़ी दया हो आयी। वह उसे बराबर की संगिनी कहने का दंम भरता है, पर उसकी इस बराबर की संगिनी में इतना साहस भी नहीं कि अपनी इस ज़रा-सी स्वाभाविक इच्छा को उसके सामने रख सके। एक बार उसके जी में आया कि यदि किसी तरह बन पड़े तो अपनी पत्नी का जालन्धर जाना रोक दे। पर वह रणवीर और भाई साहब से कह चुका था और भाई साहब ने जोश में (सेक्स की अपनी स्वाभाविक भूख के जोश में नहीं, वरन पत्नी और माँ को अपनी महत्ता और कर्त्तव्यपरायणता का प्रमाण दे सकने के जोश में) उन दोनों को पत्र भी लिख दिये थे। माँ को उन्होंने लिखा था—मैंने प्रबन्ध कर लिया है, चम्पा को तत्काल लाहौर भेज दीजिए, और पत्नी को आदेश दिया था—पत्र देखते ही लाहौर चली आओ!

चेतन ने चुपचाप आकर अपनी पत्नी को तैयार कर दिया पर न जाने क्यों उसे तैयार कर देने के बाद वह अपने-आपको इतना खिन्न और क्लान्त पा रहा था कि उसने उन्हें वहीं से विदा कर दिया। अपनी पत्नी की मूक अभिलाषा के बावजूद वह उन्हें स्टेशन तक छोड़ने नहीं गया।

उनके चले जाने के बाद वह चुपचाप नाली पर बिछी हुई खाली चारपाई में धँस गया और फिर लेट गया और उस तिमंज़िले मकान के ऊपर छाये हुए खुले, निखरे, नीले, आकाश के शून्य को अपलक निरखने लगा। सहसा उसका अपना मन विशाल शून्य से भर गया। एक अज्ञात, अकथ, अनाम अवसाद उसके मन-प्राण पर छाकर उसकी आत्मा को अनायास मसलने लगा। चेतन ने अनुभव किया जैसे उस अवसाद के सामने वह नितान्त बेबस है। निर्जीव से शरीर को उसने और भी ढीला छोड़ दिया और निस्पन्द लेटा रहा।

दो दिन निरन्तर वर्षा होते रहने के बाद आकाश कुछ खुला था। कच्ची, गीली दीवारों, उनसे बेतरह चिमटे हुए भीगे-भीगे उपलों, कीचड़ से भरकर बह निकलने वाली नालियों, चंगड़ों के आँगनों में पशुओं के खुरों से बन जाने वाले गोबर और कच्ची मिट्टी के तगारों और न जाने किन-किन रसायनिक द्रव्यों की मिली-जुली दुर्गन्ध सारे वातावरण पर छा रही थी; नाक में घुसकर जैसे नस-नस में समा रही थी; अनुभूति को, चेतन को, मानो शिथिल कर रही थी और चेतन एक प्रकार की अचेतावस्था में दीवार के उस पार चंगड़ानियों का शोर सुन रहा था।

साँझ के सूरज की कुन्दन-धूप गली के सिरे पर बने सरदई खिड़कियों वाले तिमंज़िले मकान के शिखर को दीप्ति कर रही थी और ऊपर आकाश में बिखरे हल्के सफ़ेद बादलों के टुकड़ों में आग लग गयी थी। उस ऊँचे मकान और उसके सुनहरे शिखर को देखते-देखते, चेतन को उस मकान के पैरों में किलबिलाने वाली सृष्टि का ध्यान हो आया—उस साधनहीन सृष्टि का जिसमें वह भी शामिल था—उसने लम्बी साँस ली। जीवन...! इसके पैरों में कितनी गन्दगी, कूड़ा-कर्कट, बीमारी, ग़रीबी, दुर्गन्ध, कुरूपता बिखरी रहती है, परन्तु अपने सिर पर यह सदैव उस मकान के शिखर की भाँति स्वर्ण-मुकुट पहने रहता है। और चेतन की आँखों के सामने अपना

अतीत वर्तमान और भविष्य घूम गया और उसने सोचा—क्या वह सदैव जीवन के पैरों ही में पड़ा रहेगा ? उसके ताज का मोती बनना क्या उसे कभी नसीब न होगा ?

इन उदास विचारों से वह घबरा-सा उठा। उसने चाहा कि उठे और सैर करता गोल बाग तक हो आये। पर वातावरण की उदासी और सील भरी बू कुछ इस प्रकार उसकी चेतना पर छा गयी थी कि वह अपने इन असम्बद्ध, असंगत, अस्त-व्यस्त विचारों की उलझन में फँसा वहीं लेटा, आकाश की ओर ताकता रहा और मकान के शिखर पर दमकती हुई कान्ति किसी मरणासन्न रोगी के नयनों की दीप्ति-सी धीरे-धीरे अंधकार में परिणत हो गयी।

———

३९

एक सप्ताह के बाद भाभी आ गयी। और उसके आगमन के एक सप्ताह बाद ही चेतन को दूसरे मकान की खोज में रत हो जाना पड़ा।

भाभी एक बार पहले भी आयी थी। और तब चेतन विवाहित न था। सारे कष्ट सहता हुआ दुकान पर रहने लगा था, पर अब उसे ऐसा करना कठिन दिखायी देता था।

अपनी पत्नी को जालन्धर भेजकर, चेतन ने अपने अवकाश के समय में कुछ साहित्य-सृजन का निश्चय कर लिया था। चन्दा को वह एकदम भूल गया हो, अथवा वह अवसाद जो उसके बेबसी के क्षणों में, चन्दा को जालन्धर भेजने के बाद, उसके मन-प्राण पर छा गया था, सर्वथा मिट गया हो, ऐसी बात न थी, पर स्थिति कैसी भी क्यों न हो, उसे अपने अनुसार बनाकर उसका अधिकाधिक लाभ उठाना, उसने बहुत पहले सीख लिया था। अपने अवकाश और अवसाद को उसने रचनात्मक कार्य में लगाने का निश्चय कर लिया। उसका विचार था कि कम-से-कम पाँच-छः महीने

अपनी पत्नी को नहीं बुलायेगा और इसलिए मन-ही-मन उसने एक बड़ा उपन्यास लिखने का प्रोग्राम बना लिया। किसी महान लेखक के सम्बन्ध में उसने पढ़ा था कि जब वह सैर को जाता तो अपनी कहानियों के अध-कच्चे, अस्पष्ट ख़ाकों में रंग भरता और उनकी रेखाओं को उभारता-सँवारता था। चेतन ने भी यह नियम बना लिया कि संध्या को आकर खाना खाने के बाद अकेला सैर को चला जाता और अपने उपन्यास का ढाँचा तैयार करता।

उपन्यास और उसकी कला के सम्बन्ध में उसका ज्ञान नहीं के बराबर था। पुस्तकें खरीदने के लिए पैसे का और लायब्रेरियों में जाकर उनकी आलमारियों में भरी हुई दौलत से लाभ उठाने के लिए समय का उसके पास नितान्त अभाव था। अपने कॉलेज के पाठ्य-क्रम में उसने जो दो एक उपन्यास पढ़े थे, उनकी भी कुछ धुँधली ही-सी याद उसे थी। रही भाई साहब के लाये हुए उपन्यासों को पढ़ने की बात, सो अव्वल तो वे एक उपन्यास पढ़ने के बाद शीघ्र ही दूसरा लाने के विचार से उसे तत्काल लौटा दिया करते थे, फिर चेतन को पढ़ाई का शौक़ था और परीक्षाओं के दिनों में वह उपन्यासों को हाथ न लगाता था। इसके अतिरिक्त भाई साहब की रुचि कुछ वैसी स्पष्ट अथवा संस्कृत न थी। वे किसी तमीज़ के बिना उपन्यास पढ़ते। कई बार ऐसा हुआ कि वे कोई अच्छा उपन्यास पढ़ रहे होते, पर चेतन के पास समय न होता। फिर जब उसके पास समय होता तो वे ऐसा उपन्यास पढ़ रहे होते जिसे पढ़ना उसके विचार में समय नष्ट करने के बराबर होता।

किंतु उपन्यास-कला के सम्बन्ध में अपनी इस अज्ञता के होते भी उसने एक बड़ा उपन्यास लिखने का प्रोग्राम बना लिया और मन-ही-मन उसका ढाँचा बनाकर उसके कुछ पहले परिच्छेदों की रूप-रेखा भी तैयार कर ली जो कुछ यों थी:—

१. नायक अभिजात-कुल का दीपक है। भोला-भाला और माँ-बाप

के लाड़ प्यार में पला। अभी-अभी उसने कॉलेज से डिग्री ली है। उसकी माँ चाहती है कि वह एक बड़े सम्पन्न घराने में विवाह करे, पर वह इन्कार कर देता है। वह कुछ और आगे पढ़ना चाहता है और इतनी जल्दी विवाह के बन्धन में वँधना उसे पसन्द नहीं।

२. उसके पिता को रुई के सट्टे में हानि उठानी पड़ती है। यद्यपि उसका पिता उसे कुछ नहीं कहता, पर वह प्रातः-सायं उसके मुरझाये हुए चेहरे को देखता है। अपनी माँ से उसे पता चलता है कि स्थिति न सुधरी तो उन्हें दीवालिया होना पड़ेगा और उसका पिता इतना चुप है कि आशंका से उसका दिल दहल जाता है। उसे डर है कि कहीं उसका पिता अपनी जान पर न खेल जाय और एक दिन जब फिर उसकी माँ उससे उसी सम्पन्न घराने में विवाह करने का अनुरोध करती है तो वह मान जाता है। इस विचार से कि पिता के दीवालिया होने और फल-स्वरूप शादी की मंडी में अपना मूल्य घट जाने से पहले वह शादी कर ले और दहेज़ के आभूषणों से अपने पिता की सहायता करे।

३. वह अपने मन में भविष्य के आचरण की एक रूप-रेखा बना लेता है। उसका विवाह हो जाता है। उदास-उदास-सा वह उसमें भाग लेता है। उसे लगता है जैसे वह शादी उसकी नहीं किसी दूसरे की है और वह दूल्हा नहीं केवल बराती है।

४. सुहाग रात में वह अपनी दुल्हन को देखता है। उसकी सुन्दरता तलवार-सी नोक सरीखी उसके अन्तर में खुब जाती है। वह उससे प्यार भी करता है और उससे दूर भी हटता है। वह अपनी सोची हुई स्कीम को कार्य-रूप में परिणत भी करना चाहता है, पर जब वह अपनी नव-परिणीता पत्नी को देखता है तो उसे साहस नहीं होता। इसी द्वन्द्व में दिन बीत जाते हैं और उसके संकल्प के पाँव डगमगाते-से दीखते हैं। तभी एक दिन अपने पिता से उसका साक्षात्कार होता है और वह उसका दिन-प्रतिदिन पीला

होता मुख देखता है और उसका मन एकदम कठोर हो जाता है। द्वन्द्व मिट जाता है। वह निश्चय करता है कि जो कुछ उसे करना है जल्दी करेगा।

५. उस रात वह अपनी पत्नी से कहता है कि वह अपने गहने उतारकर अलग रख दे, क्योंकि चाँद को गहनों की ज़रूरत नहीं होती और वह उस चाँद को उसकी स्वाभाविक सुन्दरता में देखना चाहता है। फिर कुछ क्षण इधर-उधर की बातें करके, अपने संकल्प को प्रतिक्षण मन-ही-मन बड़ी कठोरता से दृढ़ करते हुए, वह जेब से एक पत्र निकालता है जो किसी अध्यापक की ओर से उसके नाम लिखा हुआ है। उस पत्र में उसकी पत्नी के विश्वासघात का उल्लेख है कि वह अपने ट्यूटर से प्रेम करती थी कि उससे विवाह करने का वचन उसने अपनी अँगुली के रक्त से लिखकर दिया था और उसने धन के लोभ में उस वचन को तोड़ दिया था आदि . . . आदि . . . यह पत्र वह अपनी पत्नी के आगे कर देता है।

६. उसकी पत्नी यह अभियोग सुनकर भौंचक्की रह जाती है। वह इन्कार करती है, पर वह नहीं सुनता और कृत्रिम क्रोध का अभिनय करते हुए, उसी दशा में उसे साथ लेकर अपनी सुसराल जाता है और अपनी पत्नी को उसके घर के दरवाज़े पर छोड़ आता है। वह अपने पिता के नाम एक चिट्ठी लिख देता है और हरद्वार को चल देता है।

इसके बाद चेतन ने सोचा था कि नायक (शरत बाबू के देवदास की भाँति) मारा-मारा फिरेगा, हरद्वार में एक लड़की उससे प्रेम करने लगेगी। पर वह उसके प्यार का प्रतिदान न देगा। अपनी भोली-भाली पत्नी और उसके प्रति किये गये पाप की याद एक दुर्धर-चट्टान बनकर उस प्रेम के मार्ग में आ खड़ी होगी। पर वह उस बाला से जितना खिंचेगा उतना ही वह उस पर मिटेगी। आख़िर वह उसे छोड़कर चल देगा। इस बीच में उसके पिता की स्थिति अचानक अच्छी हो जायगी। वह अपने समधी के घर जाकर अपनी बहू को तसल्ली देगा और नायक को खासी दयनीय

दशा म खोज निकालेगा। नायक का पिता, उसकी माँ, उसका ससुर, यहाँ तक कि उसकी पत्नी तक उसे क्षमा कर देगी, पर फिर हँसी उसके ओठों पर न आयेगी। अपनी पत्नी और प्रेमिका के मध्य उसका हृदय पेंडुलम सरीखा डोलेगा। उसकी प्रेमिका उसके विरह में चारपाई पकड़ लेगी। वह उससे मिलेगा, पर कब?—जब उसकी अन्तिम हिचकी अपने प्रेमी की प्रतिक्षा में उसके कंठ में अटकी होगी।

प्रेयसी के विरह-जनित-दुख और नायक की दुबिधा का वर्णन चेतन कुछ ऐसे करुणापूर्ण ढंग से करना चाहता था कि उसकी कल्पना ही से उसकी आँखें कई बार भर आयी थीं।

उसने उपन्यास का नाम भी सोच लिया था—"चंचल"—और दो एक बार उसे दिल-ही-दिल में पुकारकर देख भी लिया था कि यह कानों को कितना अच्छा लगता है और इतना सुन्दर नाम सोचने पर मन-ही-मन अपनी पीठ भी ठोंक ली थी।

और फिर वह मोहन लाल रोड से एक मोटी कापी ले आया था। वह मैली न हो जाय, इस खयाल से उसने उस पर काग़ज़ भी चढ़ा दिया था और उसके पहले पृष्ठ पर उपन्यास और उसके लेखक का नाम सुन्दर मोटे अक्षरों में लिखकर नीचे ऊपर सुन्दर बेल बना दी थी।

अवकाश रहने पर वह घर पर भी काम करता था और इस कापी को दफ़्तर भी ले जाता था। जब रात को एक बजे के बाद काम अपेक्षाकृत कम होता तो वह कुछ लिखने का प्रयास करता।

भाभी के आने पर उसका यह उपन्यास धरा का धरा रह गया और घर में रहना अथवा वहाँ बैठकर काम करना उसके लिए कठिन से कठिनतर होता गया।

बात यह थी कि जब उसकी पत्नी यहाँ थी तो भाई साहब दुकान पर सो जाते थे। अब उनकी पत्नी आ गयी तो वे घर में उठ आये थे और दुकान पर सोने की बारी चेतन की थी। परन्तु उसे अब वहाँ सोना बड़ा कठिन लगता था। जब रात के एक दो बजे वह दफ़्तर से चलता तो उसे इतनी दूर दुकान पर जाना दूभर मालूम होता। फिर सोने के पहले उसे ठंडा, मलाई वाला दूध पीने की आदत हो गयी थी। इसके अतिरिक्त दुकान पर लघु अथवा दीर्घ किसी प्रकार शंका से निवृत्त होने का प्रबन्ध न था, और चेतन दो अढ़ाई बजे दफ़्तर से आकर शौचादि से निवृत्त हो लिया करता था, ताकि सुबह नौ बजे तक आराम से सो सके।

रहा घर, सो वहाँ इतना स्थान न था कि भाई, भाभी तथा उनके दो बच्चों के साथ वह भी सो सके। या सो सके तो उन चंचल बच्चों की उपस्थिति में सुबह नौ बजे तक सोया रह सके। फिर उसकी उपस्थिति में भाई साहब के लिए प्राइवेसी की कोई गुंजाइश न थी। सब से बढ़कर यह बात थी (और इसी ने वास्तव में उनके लिए उस मकान का निवास असह्य बना दिया) कि भाई साहब जितने सुस्त, और शांत स्वभाव के थे, उनके बच्चे उतने ही चंचल और उद्दंड थे। इतना लड़ते-भिड़ते और शोर मचाते कि अवकाश के समय किसी प्रकार का आराम करना अथवा रचनात्मक काम करना नितान्त असम्भव था।

एक दिन शाम को जब वह वापस आया तो उसने देखा कि उसका प्रिय शीशे का क़लमदान (जो उसने कबाड़ी की दुकान से नक़द एक रुपये में ख़रीदा था और जो उसकी उस थर्ड-हैंड मेज़ को सुशोभित करता था) देहरी में रखा हुआ है और भाई साहब के सपूत सुरेश महाशय उसकी लाल नीली स्याही से अपनी छोटी बहन के मुँह पर बेल-बूटे बना रहे हैं, ताकि वह पूर्ण रूप से सीता बन जाय और वे रामलीला का खेल खेल सकें।

चेतन ने क़लमदान छीनकर मेज़ पर रखा; बका-झका; अपने

भतीजे को पीटा और इसके फल-स्वरूप भाभी से लड़ा, किंतु इसका परिणाम कुछ भी न निकला। दूसरे दिन जब वह संध्या को दफ़्तर से आया तो उसने देखा कि सुरेश महाशय उसकी मेज़ पर चढ़े दीवार से चिपटी एक मकड़ी को पकड़ने के प्रयास में तल्लीन हैं और उसके लेखों, कहानियों तथा कविताओं की मोटी फ़ाइल उनके पाँवों के नीचे बेतरह कुचली जा रही है। उसे देखकर जो वे चौंके तो मेज़ समेत सब कुछ धड़ाम से नीचे आ रहा। क़लमदान टूट गया, काग़ज़ बिखर गये और जब रोते झींखते उसने सब कुछ फिर से सजाया तो उसे मालूम हुआ कि मेज़ की वह टाँग, जिसे कबाड़ी ने बड़ी चतुराई से जोड़ रखा था, टूट गयी है।

और वह अपना समस्त रचनात्मक कार्य छोड़ मकान ढूँढ़ने की मुहिम पर निकल पड़ा।

———

४०

गर्मियों की एक सुबह चेतन अनन्त को पत्र लिख रहा था।

"हमने मकान बदल लिया है। यह नया मकान भी यद्यपि चंगड़ मुहल्ले ही में है, पर यही गनीमत है कि पीपल बेहड़ा में नहीं। मकान बहुत अच्छा है। जिस प्रकार चीकू के खुरदरे असुन्दर छिलके के मध्य सुन्दर गूदा होता है उसी प्रकार इस मैले, गन्दे इलाके में यह सुन्दर सुनिर्मित मकान है। जगह बहुत नहीं—एक बड़ा कमरा है जिसे एक लकड़ी के पार्टीशन द्वारा दो कमरों में बाँट दिया गया है। स्नानगृह नहीं है, पर रसोई-घर इतना खुला है कि उसके एक कोने में बने हुए नाली के खुरे से स्नानगृह का काम लिया जा सकता है। कमरों की पिछली दीवार में खिड़कियाँ हैं, दीवारों पर सफ़ेदी और किवाड़ों पर बेहद अच्छा सरदई रंग का वारनिश है। इसके अतिरिक्त बड़े कमरे की छत में बिजली का पंखा भी लगा हुआ है। अनन्त! जब कभी मैं खिड़कियाँ खोलकर, पंखा चला चारपाई पर लेटता हूँ तो मन एक

अनिर्वचनीय आनन्द से विभोर हो उठता है। एक अत्यन्त गन्दी, सील-भरी, अँधेरी, कोठरी के बाद एक खुले, रोशन, हवादार कमरे में साँस लेने का आनन्द शायद तुम नहीं जान सकते।

तुम सोचोगे कि चंगड़ मुहल्ले में ऐसा सुन्दर मकान मुझे मिल कैसे गया? वास्तव में यह मकान सरदार जगदीश सिंह (लैंड लार्ड ऐंड हाउस प्रोप्राइटर) का निजी मकान है। यह सरदार जगदीश सिंह वही हज़रत हैं जिन्होंने श्रीमती राधारानी का समीप्य प्राप्त करने के लिए अपनी अधिकांश जायदाद पार्टियों, कंसर्टों और यारदोस्तों की भेंट कर दी। तुमने शायद समाचार-पत्र में यह खबर पढ़ी होगी कि अब इन सरदार महोदय ने अदालत में श्रीमती राधारानी के पति और अपने तीन मित्रों के विरुद्ध सोलह हज़ार रुपया ठग लेने के अभियोग में मुक़दमा चलाया है।...

वास्तव में सरदार जगदीश सिंह को मित्र 'बड़े विश्वस्त' और वफ़ादार मिले थे। उनमें से अधिकांश की पत्नियाँ सुन्दर थीं और वे उन्हें अपने इस रसिक मित्र की पार्टियों में ले आना बुरा भी नहीं समझते थे। उनमें से दो मित्रों (हरचरण सिंह और बलवीर सिंह) ने जब यह देखा कि सरदार जी श्रीमती राधारानी के लिए अत्यधिक आतुर हैं तो उन्होंने अपने इस मित्र का कष्ट निवारण करने की ठानी। सरदार जगदीश सिंह को समझाया कि निरी पार्टियाँ देने से कुछ न बनेगा। दर्शन हो जायँगे, पर केवल दर्शन! और यदि इतना ही अभीष्ट है तो इसके लिए इतना खर्च क्यों? बस शाम को लारेंस की सैर को गये––दर्शन भी हो गये और पैसे भी न लगे।

हरचरण सिंह ने कहा, "अरे भाई कोरी दीदारबाज़ी[1] से क्या बनता

---

[1] **दीदारबाज़ी=दर्शन**

है। मज़ा तो जब है, जब महबूब[1] पहलू में हो और....." और उसने मूँछों में मुस्कराते हुए बायीं आँख मारी।

सरदार जगदीश सिंह का शरीर यह सुनते-सुनते गर्म हो गया और दाढ़ी और मूँछों के घने काले जंगल में उनकी आँखें जुगनुओं-सी चमक उठीं।

तब उनके इन दोनों परम मित्रों ने उन्हें परामर्श दिया कि पार्टियाँ देने के अतिरिक्त त्योहार आदि में उन्हें श्रीमती राधारानी को उपहार भेजने चाहिएँ, ताकि वह उनके और समीप आ जाय। अपने मित्र की खातिर इस बात का भार उन्होंने अपने 'दुर्बल' कन्धों पर लेना स्वीकार कर लिया कि वे स्वयं उन उपहारों को श्रीमती राधारानी तक पहुँचा देंगे।

सरदार जगदीश सिंह ने अपने इन 'एक-निष्ट' मित्रों का परामर्श मानने में विलम्ब से काम न लिया। यह और बात है कि वे उपहार श्रीमती राधारानी तक पहुँचते-पहुँचते उन मित्रों के घर ही रह गये। और इस बहाने सरदार जगदीश सिंह की पार्टियों का आनन्द लूटने के साथ-साथ उन्होंने अपनी पत्नियों के पुराने तगादे मिटा दिये और उन्हें गहनों कपड़ों से लाद दिया।

फिर एक दिन सरदार जगदीश सिंह के इन मित्रों ने उनसे कहा कि श्रीमती राधारानी को छः-सात हज़ार रुपये की आवश्यकता है, यदि वे गुप्त रूप से इसका प्रबन्ध कर देंगे तो बस वह उनकी क्रीत दासी हो जायगी।

"उसको अपनी सर्जरी के लिए रुपया चाहिए," हरचरण सिंह ने कहा, "और मैं तुमसे कहता हूँ कि उसे प्राप्त करने का इससे अच्छा अवसर तुम्हें न मिलेगा।"

"राय साहब भवानी दयाल अपनी सारी जायदाद उसके चरणों पर

---

[1] महबूब=प्रिय

न्योछावर करने को तैयार थे," बलवीर सिंह ने रद्दा जमाया, "पर वह उनके पास तक न फटकी।" और फिर उसने भेद-भरे स्वर में कहा, "लेकिन तुम्हारी पार्टियों, तुम्हारे उपहारों, तुम्हारे मूक प्रेम और सब से बढ़कर तुम्हारे पुरुषत्व ने उसे विमुग्ध कर दिया है। तुम उसका यह काम कर दो, फिर उसे तुम्हारे पहलू में ला बैठाना हमारा काम है।"

"और फिर जब एक बार तुम्हारे पास आ गयी," हरचरण बोला "तो उसे अपनी बनाये रखना, तुम्हारी हिम्मत पर निर्भर है।"

"नारी," बलवीर ने आँख मारकर कहा, "बस एक ही चीज़ चाहती है—पुंसत्व ! और तुमसे अधिक वह किसमें होगा !"

सरदार जगदीश सिंह (लैंड लार्ड ऐंड, हाउस प्रोप्राइटर) अपनी मूँछों को ताव देकर बोले, "इस बात की तुम चिन्ता न करो।" और उनकी आँखों में एक अमानुषीय चमक आ गयी। फिर सहसा सम्हलकर कुछ सन्देह के स्वर में उन्होंने कहा, "मुझे विश्वास कैसे हो कि तुम ठीक ही कहते हो।"

इस पर दोनों मित्र सरदार जगदीश सिंह को अमृतसर ले गये और दरबार साहब जाकर उन्होंने सौगन्ध खायी कि वे उनका काम बना देंगे और सरदार जी ने वहीं (अमृतसर के एक साहूकार के पास) अपनी अन्तिम कोठी गिरवी रखकर श्रीमती राधारानी के गदराये शरीर का परस प्राप्त करने के लिए सात हज़ार रुपया उनकी भेंट कर दिया। और बाक़ी दो-चार हज़ार उस सुअवसर पर खर्च करने के लिए रख लिया, जब वह उनकी हो जायगी।

उनके तीसरे एडवोकेट मित्र ने जब यह देखा कि नहाने वाले तो बहते जल में जी भर डुबकियाँ लगा रहे हैं और वे किनारे पर ही खड़े तक रहे हैं तो उन्होंने भी लगे हाथों एक डुबकी लगा लेने की सोची। लेकिन वे ज़रा देर में चेते। उस समय तक तो नदी का पानी ही प्रायः सूख चुका

था। इस पर भी उन्होंने हिम्मत न हारी और नदी में कुछ और जल लाने की युक्ति सोच निकाली।

अपनी सुन्दर और सुशिक्षित पत्नी द्वारा उधर तो उन्होंने सरदारनी जी को भड़काया कि वे अपने 'सरदार जी' से पूछें कि आखिर इतना रुपया किस कुएँ अथवा खाई में जा पड़ा और इधर जब जगदीश सिंह ने अपने मित्रों की 'हरामज़दगी' की कथा उन एडवोकेट मित्र से कही तो अपने मित्र के दुख से दुखी हो उन्होंने कहा—

"मैं तुम्हें एक-एक पैसा इन हरामज़ादों से लेकर दूँगा।" रोष से उनका गला भर-सा आया, "कमीने! तुम इन पर नालिश क्यों नहीं कर देते?"

लेकिन जब सरदार जगदीश सिंह ने (जो अब लैंड लार्ड ऐंड हाउस प्रोप्राइटर कुछ भी न रहे थे) प्रश्न-सूचक दृष्टि से उनकी ओर देखा और पूछा आखिर नालिश भारतीय दंड विधान की किस धारा के मातहत की जाय तो उन एडवोकेट साहब ने उन्हें विश्वास दिलाया कि दंड विधान की धाराएँ तो उनके हाथ की कठपुतली हैं; मुकदमा वे अवश्य खड़ा कर देंगे।

"आखिर निगला हुआ धन ये हरामजादे यों ही तो नहीं उगलेंगे," उन्होंने अपनी सुन्दर ऐनक को ठीक करते और अपनी सुन्दर पत्नी से समर्थन चाहते हुए कहा, "इनको तो अदालत में ख़्वार करना पड़ेगा।" फिर धीरे से उन्होंने कहा, "बस नालिश करने के लिए रुपये का प्रबन्ध तुम कर दो! वह केस खड़ा करूँगा कि पहली पेशी ही में हरामज़ादों के वारंट जारी हो जायँ।"

किंतु भूतपूर्व लैंड ओनर तथा हाउस प्रोप्राइटर ने उन्हें बताया कि जायदाद के नाम पर उसके पास सिर्फ़ उनका निवासस्थान ही है और पहली पेशी ही सही, पर उसके लिए भी तो रुपया चाहिए। वह कहाँ से आयगा?

तब उन एडवोकेट मित्र ने सरदार जगदीश सिंह को मामला चलाने के लिए इसी मकान से रुपया प्राप्त करने की युक्ति बता दी।

"तुम्हारे एक बीवी और दो बच्चे हैं। तुम चार जीव हो। इतना बड़ा मकान तुम्हारे किस काम का है? इसके हिस्से करके तुम किरायेदार क्यों नहीं बसाते? इससे जहाँ तुम्हारे घर में रौनक़ हो जायगी, तुम्हारी पत्नी को सहेलियाँ मिल जायँगी और तुम्हारे बच्चों को साथी, वहाँ मज़े से तुम्हारे केस के लिए रुपया मिल जायगा। कुछ भी तो यत्न नहीं करना पड़ेगा!"

अपने पत्र में इस घटना का संक्षिप्त विवरण देते हुए चेतन ने लिखा—

"इस मामले के लिए पैसा जुटाने के हेतु सरदार जगदीश सिंह ने अपना निवासस्थान किरायेदारों के लिए भिन्न भागों में विभक्त कर दिया है और इस तरह वे लैंड लार्ड न सही, हाउस प्रोप्राइटर फिर से बन गये हैं। इन्हीं किरायेदारों में सरदार जी के साथ के हिस्से में रहने के लिए हम आये हैं। उनकी लड़की जवान हो रही है और वे नहीं चाहते कि इस हिस्से में किसी संदिग्ध व्यक्ति को रखें। और इस तरह हम सरदार जगदीश सिंह (भूतपूर्व लैंड लार्ड और वर्तमान हाउस प्रोप्राइटर) के साथ बड़ी शान से डटे हुए हैं। बरामदे में प्लाइवुड का एक पार्टीशन उनके भाग को हमारे भाग से अलग करता है और हम उनके एडवोकेट मित्र की जान की दुआएँ दे रहे हैं......"

उन एडवोकेट साहब ने क्या केस बनाया, यद्यपि इस सम्बन्ध में चेतन ने अपने पत्र में अनन्त को कुछ नहीं लिखा, पर जिन लोगों ने अदालत में सरदार जगदीश सिंह के पेटीशन को सुना, वे उन एडवोकेट साहब की

धूर्तता और सरदार जगदीश सिंह की 'बुद्धिमत्ता' की भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना न रह सके।

संक्षिप्त में पेटीशन कुछ इस प्रकार था--'एक दिन मैंने अपने मित्र बलवीर सिंह को मोरी गेट के बाहर सोशलिस्टों की एक सभा में देखा। मैं कुछ क्षण उनके पास जा खड़ा हुआ। दूसरे दिन मेरी अनुपस्थिति में मेरे घर पुलिस का एक सिपाही दो बार आया और उसने कहा कि सरदार जी कहाँ हैं, उनकी गिरफ़्तारी के वारंट हैं। उस शाम मेरे दूसरे मित्र हरचरण सिंह ने बताया कि सोशलिस्टों की उस सभा को खिलाफ़-कानून क़रार दे दिया गया था, तुमने नाहक उसमें भाग लिया। उसने कहा, "बलवीर सिंह की गिरफ़्तारी के भी वारंट आये हैं। अब तुम यों करो कि अमृतसर भाग जाओ, नहीं यहाँ गिरफ़्तार हो जाओगे और सात साल सख़्त क़ैद से कम में छुटकारा नहीं होगा"—मैं अमृतसर भाग गया। वहीं मुझे बलवीर सिंह भी मिला। उसने कहा, "श्रीमती राधारानी के पति मैजिस्ट्रेट के परिचित हैं और हरचरण से भी उनकी मैत्री है। तुम हरचरण को लिखो कि कुछ दे-दिलाकर इस मामले को खतम करा दे।" मैंने हरचरण को लिखा। उसने आकर बताया कि दस हज़ार से कम में काम न बनेगा, बड़ा संगीन मामला है और मैजिस्ट्रेट आठ हज़ार से कम में बात नहीं करता। दो हज़ार रुपया श्रीमती राधारानी के पति की भेंट करना होगा।" तब बलवीर सिंह ने लगभग रोते हुए कहा—"मेरे पास तो अपना मकान ही है, मैं उसे गिरवी रख दूँगा, पर उससे तो एक हज़ार भी हाथ न आयगा।" मैं भी घबरा गया और इसी घबराहट में मैंने अपनी माडल टाऊन वाली कोठी गिरवी रखने का फैसला कर लिया। हरचरण सिंह ने कहा कि वह ऐसा प्रबन्ध कर देगा जिससे किसी को कानोकान खबर न होगी। बस चार दिन के बाद हरचरण सिंह, साहूकार, वकील और श्रीमती राधारानी के पति को लेकर आया। मैंने कोठी गिरवी रख दी। दरबार साहब के सामने उन सभों ने शपथ ली

कि वे मुझे और बलवीर सिंह को जेल की ज़िल्लत से बचा लेंगे। दरबार साहब के ग्रन्थी मेरी गवाही देंगे कि इन्होंने वहाँ शपथ ली थी। दूसरे गवाह भी उपस्थित हैं।"

इस पेटीशन के अन्त में सरदार जगदीश सिंह ने यह भी कहा कि उनका वंश बड़ा ऊँचा है और सरकार का पुराना खैरख्वाह है (यहाँ उन्होंने अपने भाइयों के नाम गिनवाये जिनमें से कई सरदार साहब, कई सरदार बहादुर और दो सर भी थे)। वे अपने वंश को कलंकित करने से डरते थे। उन्होंने आज तक किसी राजनीतिक सभा में भाग नहीं लिया। राजनीतिक सभाओं में भा॰ लेना तो दूर उन्होंने कभी समाचार-पत्र तक नहीं पढ़ा। उनकी इसी सरलता, अनभिज्ञता और सरकार की वफ़ादारी का अनुचित लाभ उनके इन मित्रों ने उठाया है।

चेतन ने अपने पत्र के अन्त में लिखा—

"बस मामला चलते ही सरदारनी जी के अनुरोध पर सरदार जी ने बरामदे में एक और पार्टीशन करके उसमें 'ग्रन्थ साहब' का 'प्रकाश' कर दिया है। गुरु महाराज मामला जीतने में उनकी सहायता करें, इस आशय से सुबह शाम वे स्वयं, उनकी लड़की और लड़का दरवाज़े की चौखट पर मुट्ठियाँ भरते रहते हैं। एक अखंड पाठ हो चुका है, दूसरे की तैयारियाँ हो रही हैं। और श्रीमती राधारानी का यह प्रेमी इस तरह व्यस्त है जैसे किसी आपत्ति से जूझने के लिए नहीं, उसकी शादी के हेतु ये अनुष्ठान हो रहे हैं।"

४१

रात बेहद अँधेरी थी। वर्षा अपना वेग दिखाकर अब नन्हीं-नन्हीं बूँदों में बरस रही थी। चेतन ने घड़ी की ओर देखा, अढ़ाई बज गये थे। सामने सम्पादक महोदय प्रेस कापी तैयार करके वहीं कुर्सी पर टाँगें सिकोड़े सो गये थे। चेतन उपन्यास लिख रहा था, किंतु प्रयास करने पर भी उससे अब आगे न लिखा जाता था। उसका श्रान्त मस्तिष्क थके हुए घोड़े की तरह अड़ गया था और बार-बार पानी के छींटों के रूप में चाँटे मारने पर भी आगे न बढ़ रहा था। उसने कापी बन्द की, सम्पादक को जगा, उससे छुट्टी ली, छाता उठाया और चल दिया।

बाहर डयोढ़ी की चौखट पर खड़े होकर उसने गली में दृष्टि डाली। शुक्ल पक्ष होने के कारण बिजली की बत्तियाँ बन्द थीं। यद्यपि काजल-काली घटाओं ने शुक्ल पक्ष को कृष्ण पक्ष से भी अधिक काला बना दिया था, पर कानून तो कानून ठहरा, बादलों के छा जाने से उसमें कैसे परिवर्तन हो, गहन अंधकार के बावजूद बत्तियाँ बन्द थीं। गली के तिमंज़िले मकान इस अंधकार को और निबिड़ बना रहे थे। नीचे पानी की नदी ठाठें मार रही

थी और ऊपर से परनालों का पानी शोर मचाता हुआ उससे मिल रहा था।

चेतन ने सोचा, कुछ क्षण और प्रतीक्षा कर लें। किंतु यह विचार कि अढ़ाई बज गये हैं, जैसे बरबस उसे आगे ढकेलने लगा। एक हाथ में छाता और उपन्यास की कापी थामकर दूसरे से तहमद को ऊपर उठाता हुआ वह सीढ़ियाँ उतर गया।

गली में घुटनों तक पानी था। रोशनी से सहसा अँधेरे में आने के कारण उसे कुछ दीख न रहा था। माप-मापकर पग धरता हुआ वह आगे बढ़ा।

वह लाख चाहता था कि परनालों की निरन्तर बहती धाराओं से बच जाये, पर वे सब 'हरर-हरर' करते ऐन गली के मध्य गिर रहे थे। दीवार के साथ चलने में पाँव के नाली में फँस जाने का भय था। उसका छाता दो-तीन वर्ष उसकी सेवा करने के बाद जर्जर-प्रायः हो गया था। इसलिए वह भगवान शिव की भाँति इन अगनित धाराओं को अपने सिर पर वहन करने को विवश था।

अभी कठिनाई से उसने आधी गली पार की होगी कि उसे अचानक ऐसा लगा जैसे किसी ने निचुड़ता हुआ कोड़ा पूरे ज़ोर से उसकी गर्दन पर दे मारा हो। उसे एक 'शूँ' की आवाज़ सुनाई दी और अँधेरे में कोई भयानक-सी चीज़ उसकी ओर बढ़ी। वह उछला। उसका दिल धक-धक करने लगा और पानी की गर्म-गर्म धारा उसने गर्दन से अपने वक्ष की ओर बहती महसूस की।

जब वह गली के सिरे पर पहुँच गया तो उसने पीछे मुड़कर देखा। उसकी आँखें अंधकार से अभ्यस्त हो चुकी थीं। तब उसे पता चला कि वह तो पड़ोस में रहने वाले प्रोफ़ेसर साहब की उद्दंड गाय है जिसकी गीली दुम उसके गले से किसी भूखी प्रियतमा की तरह लिपट गयी थी।

वहीं गली के सिरे पर खड़े-खड़े उसने पहले प्रोफ़ेसर साहब, फिर उनकी गाय और फिर म्युनिसिपेल कमेटी को आधी दर्जन गालियाँ दीं। फिर वह धीरे-धीरे चल पड़ा।

बाज़ार में गली की अपेक्षा अंधकार कुछ कम था। और यद्यपि वर्षा फिर होने लगी थी, पर बादलों की तह शायद हल्की हो गयी थी। डूबा हुआ चाँद उभर आया था और उसकी मध्यम ज्योत्स्ना बादलों में से छनकर उस सूची-भेद्य अंधकार को कम कर रही थी।

और वह चलता-चलता महान् लेखक के कथनानुसार समय का लाभदायक उपयोग करने के विचार से मन-ही-मन उपन्यास के कथानक पर विचार करने लगा था।

एस० पी० एस० के हाल के पास पहुँचकर उसने देखा कि मोहन लाल रोड और चंगड़ मुहल्ले का संगम प्रयाग का संगम बना हुआ है। उसके सामने पानी में डूबी हुई चंगड़ मुहल्ले की सड़क घूम गयी। यदि वह उधर से जायगा तो दीवान चन्द हलवाई की दुकान तक उसे पानी में चलना पड़ेगा और चंगड़ मुहल्ले के बाज़ार का पानी—ध्यान मात्र ही से उसका जी मतलाने लगा। तब उसने सोचा कि वह बन्देमातरम् प्रेस के पास से होकर जाने वाली गली से घर जायगा। और वह उधर चल पड़ा।

गली के आरम्भ में नाली का छोटा-सा लोहे का पुल टूटा हुआ था और पानी बड़े वेग से बह रहा था। दस-बारह क़दम चलने के बाद गली ऊँची थी। पैरों से टटोलता-टटोलता चेतन बढ़ा जा रहा था और अनजाने ही उस महान् लेखक के कथन का भी पालन कर रहा था। उसके मस्तिष्क में उपन्यास का कथानक बन-सँवरकर अपना पूरा आकार पा रहा था। तभी उसे लगा जैसे उसके हाथ से कोई चीज फिसली जा रही है। कथानक के निर्माण में तल्लीन उसने उसे थामा भी, पर तभी नाली में उसका पाँव फँस गया और वह चीज़ फिसलकर छप से पानी में गिर गयी।

वह चौंका। नाली बहुत गहरी न थी, इसलिए उसका पाँव टूटने से बच गया। पर यदि उसका पाँव टूट जाता तो शायद उसे इतना दुख न होता जितना उसे यह जानकर हुआ कि वह चीज़ उसके उपन्यास की कापी थी।

उसने बेतहाशा पानी में इधर-उधर हाथ मारा। पर फिर वह अपनी इस मूर्खता पर स्वयं ही हँसा—कापी यहाँ कहाँ! वह तो पानी के प्रवाह में मोहन लाल रोड के संगम तक चली गयी होगी—उसने सोचा और कुछ क्षण तक वहीं मूक-मर्माहत-सा भीगता खड़ा रहा। चारों ओर निबिड़ अंधकार छाया था। वर्षा की रिमझिम, परनालों और बहते हुए पानी का शोर रात की निस्तब्धता भंग कर रहा था। एक ताँगा 'छप' 'छप' करता हुआ उसके पीछे से निकल गया। चेतन ने सोचा कि वह सुबह आकर अपनी कापी ढूँढ़ेगा, किंतु चलते समय उसने फिर अनायास पैर से इधर-उधर टटोलकर देख लिया।

नाली को पार करके वह चुपचाप चलने लगा। यद्यपि उस महान् लेखक ने कहा था कि चलते समय का उचित प्रयोग लाभदायक तौर पर सोचना है, किंतु निरन्तर प्रयास करने पर भी वह इस अमूल्य कथन का पालन न कर सका। वह सोचता तो रहा, पर वह सब लाभदायक था, इसमें सन्देह है। जब वह घर पहुँचा तो उसका मन खिन्न, शरीर क्लान्त और पलकें भारी थीं। रह-रहकर उसके सामने वह मोटी कापी, उसके सुन्दर पृष्ठ, नीली-नीली लकीरें और उन पर बड़े यत्न से सुन्दर लेखनी में लिखे हुए उपन्यास के परिच्छेद घूम-घूम जाते। उसे ऐसा लग रहा था जैसे यह उपन्यास वह फिर न लिख सकेगा—इतना सन्तोष वह कहाँ से लायगा? यह सोचते-सोचते वह सीढ़ियाँ चढ़ गया और दरवाज़े पर पहुँचकर उसने दस्तक दी।

सरदार जगदीश सिंह के नौकर ने (जो पार्टीशन के इस ओर बरामदे में सोता था) आकर दरवाज़ा खोला और कहा—

"बीबी जी आयी हैं।"

"बीबी जी! कौन बीबी जी?"

"आपकी बीबी!"

"माँ।"

"नहीं जी आपकी बीबी," नौकर ने तनिक हसते हुए कहा।

तभी चन्दा ने आकर रसोई-घर का दरवाज़ा खोला। वह शायद अब तक जाग रही थी। उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। चेतन के मन में उल्लास की लहर दौड़ गयी और कापी के खो जाने का विचार पलक झपकते हवा हो गया।

नौकर चला गया था। वहीं सीढ़ियों पर खड़े-खड़े वे कितनी देर तक बातें करते रहे। चन्दा ने उसे बताया कि उसका जी वहाँ बिलकुल न लगता था। वह बहुतेरा हँसने, प्रसन्न रहने का प्रयास करती थी, पर उदासी अनायास ही उसके मन-प्राण पर छा जाती थी। माँ ने उसे बस्ती भेज दिया, पर वहाँ भी उसका मन न लगता था—रोने-रोने को हुआ करता था। आख़िर जब रणवीर लाहौर आने लगा तो माँ ने नाराज़ होकर उसे उसके साथ चले जाने को कहा और वह चली आयी। "मुझे आपका डर था......" उसने कहना शुरू किया, किंतु चेतन ने अपना सिर (वर्षा के कारण जिसके बाल घुँघराले हो गये थे) चन्दा के वक्ष से लगा दिया। उन भीगे, घुंघराले बालों में अँगुलियाँ फेरते हुए चन्दा ने उस सिर को अपनी छाती से भींच लिया। अपने उस डर की बात को पूरा करने की ज़रूरत फिर उसे नहीं रही।

कुछ क्षण दोनों आनन्दातिरेक से चुप खड़े रहे। फिर चन्दा ने कहा, "चलकर कपड़े बदल डालिए। सर्दी न लग जाय!" और वे दोनों

रसोई-घर में आ गये। कमीज़ उतारकर चेतन ने खूँटी पर फेंक दी और बदन पोंछकर तहमद बदल, वहीं रसोई-घर में एक बाल्टी को उलटकर उस पर बैठ गया। चन्दा उसके पास धरती पर बैठ गयी और उसका सिर चेतन ने अपनी गोद में ले लिया।

वहीं बैठे-बैठे चन्दा ने बताया कि माँ ने एक चिट्ठी भी दी है। और उसने अपने ब्लाउज़ से एक चिट्ठी निकालकर चेतन को दी। चेतन उस समय ज़रा भी चिट्ठी पढ़ने के मूड में न था। चन्दा का कोमल, गदराया शरीर अज्ञात रूप से उसके मस्तिष्क पर छाया जा रहा था। उसने अन्यमनस्कता से पत्र को पढ़ना आरम्भ किया—माँ ने चन्दा के व्यवहार की शिकायत की थी और ताने दिये थे—किंतु चेतन ने दो-चार पंक्तियाँ पढ़कर ही पत्र को अलग रख दिया और दायें हाथ से चन्दा को अपनी छाती से लगा लिया।

चन्दा आयी थी तो डरती थी कि कहीं इस प्रकार बिना पूछे चले आने पर चेतन गुस्सा न हो, पर उसके व्यवहार से उत्साह पाकर उसके वक्ष से लगी-लगी वह अनवरत बातें सुनाती चली गयी—सोहनी, केसरी, लक्ष्मी, पारो, शीला, कर्तारी अपनी सभी सहेलियों की बातें......।

कई बार चेतन को इच्छा हुई कि वह चन्दा से नीला की बात भी पूछे, पर हर बार वह अपनी इस इच्छा को बरबस दबाकर रह गया।

सामने रसोई-घर की खिड़की से प्रातः का झुटपुटा दिखायी देने लगा था जब भाई साहब ने जगकर पार्टीशन के दूसरी ओर से लगभग पितृ-स्नेह से भरी आवाज़ में कहा :

"अब सो जाओ चेतन, दोपहर को तुम्हें फिर दफ़्तर जाना है।"

४२

सर्दी उतर आयी थी। चेतन ने छोटा कमरा सम्हाल लिया था। चारपाई उसमें एक ही आ सकती थी और पार्टीशन के दूसरी ओर भाई और भावज के होने से उसे लज्जा भी आती थी। किंतु चन्दा को पुनः बस्ती या जालन्धर भेजने की अपेक्षा उसने इस लज्जा को उठा रखना ही श्रेयस्कर समझा।

"कोई हद है बेशर्मी की," इस बात की ओर संकेत करते हुए उसकी भाभी ने एक बार अपने पति से कहा था, "दिन-रात एक ही चारपाई पर लेटे रहते हैं। फिर वह (भाभी का अभिप्राय चेतन से था) तो खुली तबीयत का आदमी है, इसको तो शर्म आनी चाहिए। पति तो पति जेठ के साथ भी उसी चारपाई पर बैठी 'खिहि' 'खिहि' करती रहती है।

इसी बात को लेकर सरदारनी ने भी चेतन से दो-चार बार मज़ाक किया था। तंग आकर उसने उस छोटे से कमरे में बिछायी जा सकने वाली दो चारपाइयाँ बनवायीं। लेकिन एक ही रात उन पर सोकर उसने उन्हें भावज को दे दिया था कि लो इन पर अपने बच्चों को सुलाओ।

इसके बाद वह रसोई-घर में भी दूसरी चारपाई बिछवाता रहा था, पर कुछ ही दिन बाद इस प्रवंचना से भी उसने मुक्ति पा ली।

पर इतने ही से उसे निष्कृति नहीं मिल गयी। देवरानी और जेठानी के इकट्ठे रहने से उसे नित्य किसी-न-किसी नयी समस्या से दो-चार होना पड़ता। सब से पहली समस्या खाना पकाने की थी। चन्दा पढ़ती थी, इसलिए खाना पकाने का काम भावज ही को अधिक करना पड़ता था। यद्यपि चन्दा को शिकायत रहती थी कि उसकी जेठानी चेतन की तरकारी में तड़का कम लगाती है और उसके दूध में मलाई नहीं डालती, पर चेतन सन्तुष्ट था कि चन्दा को पढ़ने-पढ़ाने के लिए समय तो मिल जाता है। और वह उसे समझा देता था कि ऐसी ज़रा-ज़रा-सी बातों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।

वास्तव में जब चन्दा ने कुछ ही महीनों के परिश्रम से अच्छे नम्बरों से हिन्दी रत्न की परीक्षा पास कर ली तो चेतन की दृष्टि में उसकी वकत बढ़ गयी थी। वह न चाहता था कि उसे खाना पकाना पड़े, किंतु उसकी भाभी को अपनी देवरानी का यों रानी बने बैठना एक आँख न भाता था और वह भाई साहब से रोज़ तगादा करती थी कि उसे भी स्कूल में दाखिल करा दिया जाय। भाई साहब बेपरवाही से हँस देते—"अब तुम पढ़कर क्या करोगी ?" वे कहते, "बच्चे पालो और राम का नाम जपो।" और वे छड़ी उठाकर सैर को निकल जाते।

दिन-प्रतिदिन भाभी के तगादे और भाई साहब की बेपरवाही बढ़ने लगी। आखिर जब भाभी का अनुरोध बढ़कर क्रोध और भाई साहब की बेपरवाही चुप की सीमा को पहुँच गयी तो एक दिन भाभी स्वयं मोहन लाल रोड गयी और कैलीग्राफ़ी की दो-चार कापियाँ खरीद लायी। सारा दिन बैठी, एकनिष्ठ हो, वह उन्हें भरती रही। जब शाम को भाई साहब ने

आकर खाना माँगा तो उसने इन्कार कर दिया। "वह यदि पढ़ती है तो क्या मैं नहीं पढ़ती," उसने अँगूठा मटकाकर कहा, "वह तो पढ़ने के बहाने खाट पर टाँगें फैलाये लेटी रहे और मैं बाँदी बनी घर का सब काम करूँ!"

जब भाई साहब का समझाना-बुझाना, अनुनय-विनय, सब बेकार गया तो आख़िर चेतन ने फ़ैसला किया कि भाभी सुबह और चन्दा शाम को खाना पकाये। यह भी तै हो गया कि छुट्टी के दिन चन्दा सुबह पकायेगी ताकि वे शाम को सैर के लिए जा सकें।

इस समस्या से छुटकारा मिला तो बाजे की समस्या भयावह रूप धारण कर सामने आ गयी।

चेतन और चन्दा ने बड़ी कठिनाई से दूसरी ज़रूरतें काटकर बाजा ख़रीदा था। बात यह थी कि जिस दिन से चेतन पर अचानक यह भेद खुला था कि उसकी पत्नी ने बड़ा सुरीला गला पाया है और उसने इस बात का फ़ैसला कर लिया था कि वह एक हारमोनियम ख़रीदेगा और नियमित रूप से अपनी पत्नी को संगीत की शिक्षा देगा, वह बाजा जुटाने का तिकड़म भिड़ाने लगा था। चन्दा ने इस बीच में पन्द्रह रुपये जमा कर रखे थे। दस का और प्रबन्ध करके चेतन एक संगीत-टीचर की सहायता से पैंतिस रुपये का एक हारमोनियम ले आया था। उसने दस रुपये इस वादे पर दुकानदार से उधार कर लिए थे कि पाँच-पाँच रुपये की किस्तों में दो महीने में उतार देगा। उन्हीं संगीत-टीचर से पाँच रुपये महीने पर वह स्वयं बाजा सीखने लगा था। जो कुछ वह सीखकर आता घर आकर चन्दा को सिखा देता।

पहले तो भाभी को इस बात की जलन थी कि चन्दा अपने जेठ के सामने क्यों गाती है। जब चेतन ने उसे रोक दिया तो भाभी ने स्वयं बाजा सीखने की रट लगा दी। जब भी भाई साहब शाम को घर आते तो खाना परोसते समय भाभी बाजा सीखने की इच्छा प्रकट करती।

इन तगादों के उत्तर में भाई साहब दुख और व्यंग्य से हँसते। दुकान में अभी कितने ही औज़ार कम थे; कुर्सी भी सस्ती और पुरानी किस्म की थी; बाहर का साइन-बोर्ड भी छोटा था; दुकान में लकड़ी और शीशे के पर्दों की ज़रूरत थी; बिजली का पंखा तक भी न था—वे पत्नी को समझाने की कोशिश करते, पर भर्तृहरि ने कहा न कि सागर को कण भर मधु से मीठा किया जा सकता है, पर मूर्ख को......और भाभी चीख़ उठती, "आप तो डाक्टर हैं और वह चालीस रुपये का क्लर्क! उसकी बीवी तो स्कूल में पढ़े, बाजे बजाये और मैं बैठी मुटर-मुटर ताका करूँ। उनको सब कुछ लेकर देने के लिए तो आपके पास पैसे आ जाते हैं और मेरे लिए......"

ऐसे समस्त अवसरों पर भाई साहब के लिए भोजन विष बन जाया करता। किसी-न-किसी तरह दो चार कौर निगलकर वे उठ खड़े होते। छड़ी उठाते और चुपचाप बाहर निकल जाते।

अपनी भाभी की इस ईर्ष्या से तंग आकर चेतन ने अपनी पत्नी से कह दिया कि वह अपनी जेठानी को भी बाजा सिखा दिया करे।

चन्दा ने उसी दिन से श्रीमती चम्पावती को गाना सिखाना आरम्भ कर दिया। भाभी के गले में रस का सर्वथा अभाव था। स्वर उनका कौवे का-सा था, किंतु इससे वे तनिक भी हतोत्साह न होती थीं और गला फाड़े सुर-बेसुर गाये जातीं।

उन्हीं दिनों एक और घटना घटी जिसने भाभी की ईर्षाग्नि पर तेल का काम किया।

बात यह हुई कि चेतन के पास उसके वेतन के अतिरिक्त कुछ और रुपये आ गये। कृषकों के हितचिन्तक, पूँजीपतियों के एक साप्ताहिक-पत्र

के स्वामी ने चेतन से प्रति-सप्ताह एक कृषि-सम्बन्धी कहानी लेने का वादा किया था और पहली कहानी के रुपये भी उन्होंने दे दिये। सर्दी ज़ोरों से पड़ने लगी थी और चन्दा के पास एक भी गर्म कपड़ा न था। इसलिए चेतन ने उसे एक स्वेटर-कोट ले दिया। जब चेतन घर से चला था तो उसका यही खयाल था कि एक सस्ता-सा स्वेटर-कोट वह चन्दा को ले देगा। परन्तु जब वह चन्दा को लिये हुए 'तिलक होज़री' के अन्दर जा बैठा और उसने सामने के क़दआदम शीशे पर नज़र डाली और अपनी आकृति दर्पण में निरख (मन-ही-मन उसकी प्रशंसा करते हुए) अपने मुलायम बालों पर उसने हाथ फेरा और देखा कि उसकी पत्नी की आँखों से एक सलज्ज मुस्कान निकलकर उसके ओठों पर फैलती हुई चेहरे को रोशन कर रही है तो न जाने उसे क्या हुआ कि वह सस्ता स्वेटर खरीदने की बात एकदम भूल गया। उसने ऐसे गर्व के स्वर में सेल्ज़मैन से स्वेटर दिखाने को कहा कि घटिया स्वेटर लाने की उसमें हिम्मत ही न हो।

पर उसके स्वर में जो गर्व था, उसकी ओर ध्यान न देकर सेल्ज़मैन ने दो-अढ़ाई रुपये तक के स्वेटर उसके सामने लाकर रख दिये।

चेतन ने कहा, "कुछ और अच्छे दिखाओ!"

सेल्ज़मैन चार पाँच तक के उठा लाया।

शायद चेतन को इसमें अपना अपमान लगा। कुछ बेसब्र होकर उसने कहा, "और दिखाओ भाई, जो सब से अच्छा हो वह दिखाओ!"

तब सेल्ज़मैन गुलाबाँसी रंग का एक स्वेटर-कोट लाया जिसके कालर पर श्वेत धारियाँ थीं।

"इसका क्या मूल्य है?" चेतन ने पूछा।

"आठ रुपये।"

चेतन की जेब में आठ ही रुपये थे। चार रुपये उसे मालिक मकान को किराये के हिसाब में देने थे और चार रुपये उसने स्वेटर-कोट के

लिए रख छोड़े थे। चन्दा को यह बात मालूम थी, इसलिए जब उसने चन्दा से उसकी पसन्द पूछी तो उसने साढ़े तीन रुपये के एक स्वेटर-कोट पर अँगुली रख दी।

तब हँसते हुए और शीशे में अपनी शक्ल देखकर बालों पर हाथ फेरते हुए गुलाबाँसी स्वेटर-कोट की ओर संकेत करके चेतन ने पूछा, "यह तुम्हें अच्छा नहीं लगता क्या?"

अरमान भरी आँखों से चन्दा ने स्वेटर-कोट की ओर देखा और फिर आँखें झुका लीं।

चेतन भूल गया कि चार रुपये उसे मालिक मकान को देने हैं। एक विचित्र प्रेम भरे दया-मिश्रित भाव से उसने अपनी पत्नी की ओर देखा और आठ रुपये जेब से निकालकर सेल्ज़मैन के सामने रख दिये, "यह गुलाबाँसी स्वेटर बँधवा दो।"

भाभी ने इस स्वेटर को देखा तो ईर्ष्या की एक टीस उसके हृदय की गहराई में उठी।

"चन्दा को तो आठ रुपये के स्वेटर लेकर दिये जायँ और मैं सर्दी में ठिठरूँ?" भाई साहब के आने पर भाभी ने कहा।

"मुझे तो यह भी मालूम नहीं कि उसने क्या खरीदा है।" भाई साहब व्यंग्य और विवशता से हँसे। चन्दा को बुलाकर उन्होंने स्वेटर-कोट देखा और एक दबी हुई साँस उन्होंने दिल में दबा ली। चेतन दफ़्तर जा चुका था। इस डर से कि उन्हें बहुत उल्टी-सीधी सुननी पड़ेंगी, खाना खा, छड़ी उठा, भाई साहब सैर को चले गये।

दूसरे दिन उन्होंने अलग ले जाकर चेतन को समझाया कि तुम्हारी भाभी भी स्वेटर के लिए शोर मचा रही है। मेरे पास तो पैसा है नहीं। जब उसे बाहर जाना हो तो स्वेटर-कोट तुम उसे दे दिया करना।

यद्यपि पहले वह स्वेटर-कोट भाभी ही ने पहना और कुल मिलाकर

भी भाभी ही स्वेटर को ज़्यादा पहनती रही तो भी अपने निजी स्वेटर के लिए उसने भाई साहब का पीछा न छोड़ा।

वे लाख समझाते कि उनकी आय ज़्यादा नहीं, उनका ख़र्च बड़ा है, उन्हें बहुत सामान ख़रीदना है, वे स्वयं चेतन के सूट पहनते हैं, पर भाभी को विश्वास न होता और वह यही कहती कि आप उनको खिला रहे हैं और हमें कुछ नहीं देना चाहते।

इस रोज़-रोज़ की चख़-चख़ से भाई साहब इतना तंग आ गये कि उन्होंने अपनी पत्नी को उसकी बुआ के पास भेज दिया। भाभी की यह बुआ लाहौर के पास ही श्रीरामपुर गाँव में रहती थी। उसका दामाद लाहौर में काम करता था। अपनी लड़की को देखने वह जब आती तो रस्मी-तौर पर चम्पावती को साथ ले जाने के लिए भाई साहब से अवश्य कहती। इस बार जब वह आयी और उसने भाई साहब से चम्पा को श्रीराम-पुर भेजने के लिए कहा तो इस अनुरोध की औपचारिकता का ख़याल न कर, भाई साहब ने भाभी को बरबस तैयार कर दिया।

———

४३

समाचार-पत्र के दफ़्तर में काम करते हुए उसे साल भर होने को आया था, पर चेतन के स्वभाव में अभी तक लड़कपन कम न हुआ था। भाई साहब कई बार उससे कहा करते, "चेतन तुम तो बिलकुल बच्चे हो!" वह उनसे लड़ने लगता। किंतु जब कभी उसे अपनी ग़लती का पता चल जाता वह हँस देता और कहता, "मैं बच्चा ही तो हूँ, शादी हो गयी तो क्या? मेरी उम्र ही अभी क्या है?" और कई बार वह हँसकर यह भी कहता, "भाई साहब मैं बच्चा ही बना रहना चाहता हूँ। बूढ़ा बनना मुझे पसन्द नहीं। लेकिन बचपन में कितने भी लाभ क्यों न हों, हानि भी कम नहीं और एक बार अपने इसी बचपने के फल-स्वरूप वह और उसकी पत्नी बीमार पड़ गये।

बात कुछ भी न थी। चेतन संध्या को दफ़्तर से आया था। उसे ज़ोर की भूख लगी हुई थी। भूख उसे जब भी लगती वह कुछ न कर पाता। कई बार ऐसा भी होता कि चन्दा उसके लिए अलग तरकारी छौंककर रख देती और कहती, "बस कुछ देर नहीं; आइए बैठिए, फुलका अभी सेंके

देती हूँ।" वह आकर रसोई-घर में बैठ जाता और रोटी के सिकते-सिकते सब्ज़ी खतम कर देता और चन्दा जब फिर उसके लिए सब्ज़ी छौंकती तो वह इस बीच में रूखा फुलका ही खा जाता।

कई बार ऐसा भी होता कि वह भूख के कारण कोई पुस्तक लेकर पढ़ने बैठता पर पढ़ने में उसका मन न लगता और वह पुस्तक छोड़कर नीचे चला जाता। वहाँ मासिक 'गिरिजा' के सम्पादक मुन्शी गिरिजा-शंकर के पास जा बैठता और फिर बातों में ऐसा लीन हो जाता कि उसे भूख की याद भी न रहती और चन्दा ऊपर रसोई-घर में बैठी अपने भाग्य को कोसा करती।

चेतन मुन्शी गिरिजाशंकर को कुछ अधिक पसन्द न करता था। केसर की घटना के बाद तो वह उनसे और भी बिदकने लगा था, पर उनकी बातों में उसे रस मिलता था और इसलिए ऐसे समय जब उसे भूख लगी हो और खाना तैयार न हो, वह उनके यहाँ जा बैठता था और उनकी लच्छेदार बातों में अपनी समस्त भूख भूल जाया करता था।

उस दिन भूख से बेचैन होकर जब चेतन अपने मकान की सीढ़ियाँ उतरा तो उसका विचार था कि मुन्शी जी के पास जा बैठेगा। पर उनकी दुकान बन्द थी। वह चुपचाप आगे चल पड़ा। मोहन लाल रोड से निकलकर वह लोअर-माल पर हो लिया और ज़िला कचहरी के पास से होता हुआ गोल-बाग में एक पेड़ के साथ बनी हुई गोल बेंच पर जा बैठा।

उसे इतनी भूख लग रही थी कि वहाँ बैठना और किसी दूसरी बात के सम्बन्ध में सोचना उसे दुष्कर प्रतीत होने लगा। एक उदास-सी दृष्टि उसने अपने चारों ओर डाली—संध्या का समय था और लोग बाग की सैर को निकल आये थे। दायें ओर के लॉन में दो-एक काली मामाएँ लाल-लाल गोरे-गोरे बच्चों को खेला रही थीं। गोरे गुलगोथने, गुबले-गुबले बच्चे अपनी नीली-नीली आँखों, सफ़ेदी मिश्रित हल्के-भूरे बालों,

और अपनी स्वस्थ-स्फूर्ति के कारण चेतन को बड़े भले मालूम हुआ करते थे और कई बार वह गोल-बाग से गुज़रता हुआ उनका खेल देखने को रुक जाया करता था। पर उस अनमनेपन में वे उसे अत्यन्त घिनौने दिखायी दिये। उसे कुछ ऐसा लगा कि जैसे उनके शरीर का हर लोथड़ा और उनके रक्त का प्रत्येक कण अगनित काले बच्चों के रक्त-माँस से बना है और उसे ऐसा आभास हुआ जैसे समस्त काला संसार मामा बना दिन-रात गोरे संसार की सेवकाई कर रहा है। और उसके मन में आयी कि वह उल्का बनकर इस गोरे संसार पर फट पड़े और उसे नष्ट-भ्रष्ट कर, उस भूखे काले संसार को मुक्त करे।

वह बेंच से उठा। सामने टेनिस कोर्ट में खेल शुरू हो गया था। अपने गोरे-गोरे शरीर पर श्वेत टेनिस शर्ट और नेकर पहने एक सुन्दर-स्वस्थ रमणी अपना कौशल दिखा रही थी। यद्यपि चेतन को टेनिस अथवा क्रिकेट के खेल बड़े प्रिय थे और स्वयं कभी न खेल सकने पर भी वह उन दोनों खेलों को देखने और उनके टूर्नामिंटों के विवरण पढ़ने में बड़ा आनन्द पाता था, पर उस समय टेनिस कोर्ट में उस रमणी की उपस्थिति भी उसे अपनी ओर आकर्षित न कर सकी। पेट की भूख जहाँ तृप्त होकर सो जाती है, वहीं तन की जगती है। रमणी की गोरी जाँघें जो नेकर के कारण आधी नंगी थीं, चेतन को अपनी ओर न खींच सकीं। एक बार उनकी ओर अनमनी-सी दृष्टि डालकर वह घर की ओर चल पड़ा। उसे ऐसा लग रहा था जैसे गोल-बाग में आये उसे बहुत देर हो गयी है, उसे चलना चाहिए। चन्दा खाना बनाकर बैठी उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। इस प्रतीति के साथ ही उसकी कल्पना के सम्मुख तरकारी से भरी कटोरियाँ और गर्म-गर्म फूली-फूली रोटियों से भरी थाली घूम गयी। पर जब कचहरी तथा लॉ कॉलेज रोड की धूल फाँककर वह अपने घर पहुँचा और अतीव उत्सुकता के साथ उसने रसोई-घर में झाँका तो उसके

बदन में आग लग गयी—चूल्हे के पास घुटनों में सिर दबाये चन्दा मज़े से आलू छील रही थी।

"तुम अभी आलू ही छील रही हो और मैं मील भर का चक्कर लगा आया हूँ!" उसने चीखकर कहा, "खाना पकाना भी नहीं सिखाया किसी कम्बख़्त ने तुम्हें!"

न जाने चन्दा की तबीयत ख़राब थी अथवा उसने चेतन की आकृति पर प्रतिक्षण गहरे होते रोष की रेखाओं को नहीं देखा, इसलिए वहीं घुटनों पर सिर रखे आलू छीलते-छीलते उसने कहा, "खाना पकाना कोई खेल तो है नहीं। पका तो रही हूँ।"

चेतन का शरीर क्रोध से काँपने लगा। उसने पत्नी की बाँह दबोच उसे उठाया और लगभग घसीटते हुए उसे बड़े कमरे में ले गया। वहाँ चारपाई पर उसे बैठा दिया और बोला, "यहाँ बैठो, देखो, कितनी जल्दी पकाता हूँ खाना!"

चन्दा रोने लगी थी। किंतु उसकी ओर ध्यान दिये बिना, वह जैसे अंगारों पर चलता हुआ रसोई-घर में आया। आलू लगभग छीले जा चुके थे। उसने उन्हें काटकर धोया और चढ़ा दिया। फिर आटा गूँथा और उसमें मुट्ठियाँ भरकर और पानी छिड़ककर उस पर कपड़ा रख दिया। फिर उसने तरकारी को देखा। अभी पकी न थी। तब कुछ क्षण वह घुटनों पर सिर रखे चुपचाप बैठा विष घोलता रहा।

जब चेतन के पिता रिलीविंग में न होते और किसी स्टेशन पर उनकी नियुक्ति हो जाती तो माँ उनके पास चली जाती थी ताकि कम-से-कम उनका वेतन तो मदिरा के चंगुल से घर के लिए बच जाय। तब उसकी अनुपस्थिति में चेतन के दादा खाना पका लिया करते थे। उन्हें आँखों से कुछ कम दिखायी देता था। इसलिए खाना पकाने के अतिरिक्त और कोई काम न कर पाते। तब शेष काम तीनों भाई आपस में बाँट लिया

करते थे। भाई साहब सब्जी तरकारी लाते और इस प्रकार दो-एक पैसे उसमें से बचा लेते। पानी भरने का काम छोटा भाई अपने ज़िम्मे लेता—अखाड़े से वापस आकर पसीना सुखाने के बहाने परसराम बड़ी आसानी से आठ दस घड़े लाकर घर में पानी-ही-पानी कर देता। घर की सफ़ाई और बर्तन मलने का काम चेतन अपने ज़िम्मे ले लेता। इस काम में उसकी सहायता उसके अन्य छोटे भाई करते।

कभी-कभी परसराम रूठकर पानी भरने से इन्कार कर देता। तब चेतन चुपचाप घड़ा उठाकर पानी भर लाता था। पर रोज़-रोज़ पानी भरना उसके बस का रोग न था। किंतु सफ़ाई, यह उसे बड़ी प्रिय थी। सप्ताह में एक बार रविवार को वह घर की सफ़ाई करता और तब वह घर के समस्त कोने-अँतरे झाड़कर रख देता। सफ़ाई का जैसे उसे उन्माद-सा हो जाता। जब बारह एक बजे वह घर की सफ़ाई खतम करता तो उसकी कमर दुख रही होती, शरीर धूल से अटा पड़ा होता और सिर में चक्कर आया करते। फिर सात दिन तक वह आँगन तथा दो-तीन कमरों की सफ़ाई के अतिरिक्त किसी दूसरी ओर ध्यान न देता। किंतु रविवार को जैसे उसका उत्साह पुनः जाग उठता और वह एक-एक कमरा, एक-एक ताक, एक-एक कोना झाड़ने लग जाता।

रहा बर्तन मलना—तो न जाने उसे इसमें क्यों रस मिलता। जब वह मैले गन्दे बर्तनों को मल-धो और चमकाकर टोकरे में रखता तो उसे एक विचित्र प्रकार का सन्तोष होता। स्कूल ही की बात नहीं, जब वह कॉलेज में गया था तब भी उसने अपने हिस्से का वह काम करने में किसी प्रकार का संकोच न किया था। उन दिनों काम करते-करते वह सोचा करता था कि उसकी भावी पत्नी उसके घर को ऐसी ही सफ़ाई और सलीके से रखेगी। उसका रसोई-घर इसी प्रकार धुला-धुलाया रहेगा और टोकरे में चुनकर रखे हुए चमकते-दमकते बर्तन आँखों को ठंडक पहुँचायेंगे।

—उसे कभी घर की सफ़ाई न करनी पड़ेगी। वह चंचल चपल, सुघड़ और सलीके वाली होगी। बिजली की गति से वह काम किया करेगी। जब वह सुबह-सुबह दफ़्तर जाया करेगा तो अपने कपड़े धुले-धुलाये तैयार पाया करेगा। न उसे पायजामे या शलवार में इज़ारबन्द डालना पड़ेगा, न कमीज़ के बटन टाँकने पड़ेंगे और न ऐन चलते समय उधड़े-फटे कपड़े सीने पड़ेंगे। वह घर के समस्त झंझट अपनी पत्नी को सौंपकर निश्चिन्त हो जायगा और ऐसी मानसिक शांति पायगा जिसमें महान् रचनाओं का सृजन होता है। पर उसे मिली यह मोटी-मुटल्ली, निर्जीव, निष्प्राण-सी अकर्मण्य पत्नी जिसकी हर बात का उसे स्वयं ध्यान रखना पड़ता था, जो घर को तो क्या साफ़-सुथरा रखती, स्वयं भी साफ़-सुथरी न रह सकती थी। एक दीर्घ-निश्वास उसके अन्तर से निकल गयी। उसकी दृष्टि बर्तनों पर गयी। ज़रा भी चमक न थी उनमें।

और जैसे क्रोध के दुगने वेग से वह उठा। सब बर्तन उठा-उठाकर उसने उन्हें नाली के खुरे पर रखा, मला, धोया और फिर टोकरे में चुना। खुरे पर सेरों कीचड़ जमा हुआ था। मन-ही-मन जलते हुए उसने उसे मल-मलकर साफ़ किया और क्रोध के उस वेग में सारे-के-सारे रसोई-घर को धो डाला। इस ओर से निबटकर उसने आटे को एक बार फिर से गूँथकर उसकी लोई बनाकर रख दी। तरकारी वह पहले ही उतार चुका था, तवा ऊपर रखकर उसने रोटियाँ सेंकी। फिर उसने थाली परोसी और एक बार निखरे, धुले, साफ़-सुथरे रसोई-घर और चमकते-दमकते बर्तनों को देखकर गर्व से सीना फुला वह बड़े कमरे में गया और किसी-न-किसी तरह हँसने की चेष्टा करते हुए उसने कहा—"चलिए जनाब खाना तैयार है! अब चलकर नोश फ़रमाइए और देखिए कि इस बीच में किस प्रकार मैंने रसोई-घर की ज़िन्दगी सुधार दी है।"

किंतु चन्दा वहीं की वहीं बैठी रही। न हिली न डुली। उसने सिर्फ़

इतना कहा, "मुझे भूख नहीं!"

अपनी पत्नी की अपेक्षा अच्छे और सुचारु ढंग से सब काम कर लेने के गर्व ने चेतन के जिस क्रोध को दबा दिया था यह बात सुनकर वह पूरे वेग से भड़क उठा। भारी-भारी पग धरता हुआ वह रसोई-घर में गया, परोसा हुआ खाना उसने ढक दिया और भूखा ही बाहर निकल गया।

तीन दिन तक दोनों तने रहे। न चन्दा ने खाना खाया और न चेतन ने। भाई साहब समझा-समझाकर हार गये। तीसरे दिन चेतन बीमार पड़ गया और चन्दा की तबीयत भी ख़राब हो गयी। भाई साहब ने माँ को तार दिया। वह आयी और दोनों को जालन्धर ले गयी।

४४

अपनी इस मूर्खता के बाद चेतन बीमार रहने लगा था। उसे ज्वर-सा रहता था। सिर में चक्कर आया करते और कमर में पीड़ा रहती। जब वह अपनी समझ से स्वस्थ होकर लाहौर आया था तो भी सर्दियाँ उसे छुट्टियाँ लेते ही बीती थीं। चार दिन अच्छा रहता तो छः दिन बीमार पड़ जाता। उसे अपने ऊपर जो अटल विश्वास था उसके पाँव डगमगा गये थे।

मूर्खता-वश तीन दिन निराहार रहने के अतिरिक्त उसकी इस बीमारी का एक और भी बड़ा कारण था। तीन दिन भूखे रहने से जो वह बीमार पड़ गया, उसका भी शायद यही कारण था। अपने वैवाहिक जीवन के उस पहले वर्ष में वह उस भूखे की तरह व्यवहार करता रहा था जिसके सामने पहली बार मीठे स्वादिष्ट भोजन से भरी थाली आयी हो। उचित-अनुचित का उसे ज्ञान न रहा था। हमारी इस निम्न-मध्य-वर्गीय संस्कृति में जब यौन सम्बन्धी किसी बात का ज्ञान युवा लड़की-लड़के के कानों के पास तक ले जाना पाप समझा जाता है तो अपने सहज-ज्ञान द्वारा केलिरत पशु-

पक्षियों को देख; अपने ही तरह के अपने से अज्ञानी मित्रों या झूठे बाज़ारी वैद्य-हकीमों से सुन-सुनाकर; या फिर छिपे-छिपे कोकशास्त्र की तरह के ग्रन्थ पढ़-पढ़ाकर उन युवकों की वासना समय से पहले चाहे जग जाती हो, पर सेक्स का उचित ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता। यही कारण था कि इस एक वर्ष के अन्त ही में चेतन की शक्ति काफ़ी क्षीण हो गयी थी। वह बीमार-सा रहने लगा था और यद्यपि मुन्शी गिरिजाशंकर पर उसे भरोसा न रहा था और भाई साहब ने उसे उनकी दवाई करने से रोका भी था, किंतु चेतन उनकी दवाई का चमत्कार देख चुका था—कितनी शक्ति भर गयी थी उसमें उन दिनों—वह सोचता और उन्हें पसन्द न करता हुआ भी उनके पास जा बैठता था। कई बार उसका जी होता था कि वह उनसे वही औषधि माँगे, जिसे दो दिन सेवन करने से उसके स्नायु सात दिन तक तने रहे थे।

लेकिन कुछ भाई साहब के डर और कुछ परिणाम के भय से उसे दवाई माँगने का साहस न हुआ था।

उन्हीं दिनों उसकी भेंट कविराज रामदास से हो गयी।

कविराज रामदास यौन रोगों का उपचार करने वाले एक प्रसिद्ध वैद्य थे। कम-से-कम उनका नाम बहुत बड़ा था। सेक्स सम्बन्धी विषयों में युवकों का पथ-प्रदर्शन करने के हेतु उन्होंने कई पुस्तकें लिखी थीं और ऐसे ढंग से लिखी थीं कि यदि अच्छा भला युवक भी उन्हें पढ़ लेता तो अपने-आपको बीमार समझने लगता और दूसरे ही दिन उनके दवाखाने जा पहुँचता।

चेतन ने भी उनमें से एक पुस्तक पढ़ी थी और भाई साहब की डाँट के बावजूद वह कविराज से भेंट करने को उत्सुक था। वह तत्काल चला

जाता, लेकिन उसने सुन रखा था कि पाँच रुपये तो केवल कविराज जी के परामर्श की फ़ीस है, दवाई के दाम अलग रहे। और पाँच रुपये तो दूर, वह पाँच आने ख़र्च करने में भी असमर्थ था।

उन्हीं दिनों उसने अपने एक मित्र से सुना कि कविराज साहित्यिकों का बड़ा आदर करते हैं। यह सुनकर उसके उल्लास का ठिकाना न रहा। उसने अपनी कहानियों का मसौदा लिया, तनिक-सा साहस बटोरा और उनके औषधालय में जा पहुँचा।

बात यह थी कि वह अपनी कहानियों का संग्रह छपवाना चाहता था और प्रकाशक उसे मिल न रहा था। "नाम बिकता है," उसने अपने एक पत्र में अनन्त को लिखा था "नये लेखक को इस बात की आशा न करनी चाहिए कि साहित्य अथवा कला के नाम पर प्रकाशक उसकी पुस्तक छापकर उसका उत्साह बढ़ायेंगे। उनका साहित्य पैसा है और कला उसे पैदा करने की रीति! अधिकांश उनमें अनपढ़ और कला से कोरे हैं। जिसका नाम बिकता है उसी के पीछे भागते हैं।" और उसने सोचा था कि वह एक दो पुस्तकें स्वयं छपवायेगा। प्रेस का उसने प्रबन्ध कर लिया था, पर काग़ज़ के लिए उसके पास दाम न थे। जब उसने सुना कि कविराज साहित्यिकों, विशेषतया नये साहित्यिकों की सहायता करते हैं तो वह साहस बटोरकर (अपने अर्ध-चेतन मन में उनसे बीमारी के सम्बन्ध में परामर्श लेने की इच्छा को छिपाये) अपनी कहानियों का पुलंदा बग़ल में दबाये, उनके औषधालय की सीढ़ियाँ चढ़ गया।

जब सब रोगी परामर्श ले चुके और वह अन्दर गया तो उसे बैठने का भी साहस न हुआ। उसने तहमद और खादी की कमीज़ पहन रखी थी। छाती का बटन टूटा होने के कारण बार-बार काज को काल्पनिक बटन से मिलाते हुए, खड़े-खड़े ही उसने अपना परिचय दिया। बताया कि वह एक उदीयमान कलाकार है। उसकी कहानियों का पहला संग्रह तैयार है,

एक 'महान आलोचक' ने उसकी भूमिका लिखी है; उसने प्रेस का प्रबन्ध कर लिया है, पर काग़ज़ के लिए उसके पास पैसे नहीं। और झिझकते-झिझकते उसने अपना मन्तव्य प्रकट किया था कि यदि वे किसी प्रकार काग़ज़ का प्रबन्ध कर दें तो वह साहित्य-क्षेत्र में चमकने का अवसर पा सके।

कविराज ने उसे बड़े प्यार से बैठाया, उसे प्रोत्साहन दिया और कहा, "मैं काग़ज़ का प्रबन्ध कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो!" फिर बातों-बातों में उन्होंने उसे यह भी समझा दिया कि जीवन में सदैव अपनी सहायता आप करनी चाहिए। स्वावलम्बी के लिए किसी का एहसान सिर पर लेना उचित नहीं। "मन पर बोझ रह जाता है," उन्होंने कहा, "आदमी ऊँचा उठ जाता है, पर उसकी आँखें झुकी रहती हैं।" और चेतन को इस घोर-संकट से बचाने के लिए उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि वे उससे रुपये वापस लेने के बदले उसी क़ीमत की पुस्तकें ले लेंगे। "मैं अपनी नयी पत्रिका 'स्वास्थ्य' के ग्राहकों के लिए तुम्हारी पुस्तक पुरस्कार स्वरूप रख दूँगा," उन्होंने कहा, "जो भी नया ग्राहक बनेगा, उसे तुम्हारी पुस्तक पुरस्कार स्वरूप दी जायगी। तुम्हारी पुस्तक भी छप जायगी, उसे अधिक लोग पढ़ भी लेंगे और तुम्हारी दूसरी पुस्तक के लिए क्षेत्र भी बन जायगा!" और वे मूँछों में मुस्कराये।

"जी, जी!" चेतन ने प्रसन्न होकर कहा, "मैं छपते ही आपकी सेवा में ले आऊँगा। इस समय आप काग़ज़ का प्रबन्ध कर दें।"

"वह सब हो जायगा, तुम इसकी चिन्ता न करो। ख़ूब जी लगाकर लिखो।" फिर हँसते हुए उन्होंने कहा था, "पर अपने स्वास्थ्य का भी ख़याल रखो, मालूम होता है कि तुम इस ओर ध्यान नहीं देते।"

"जी......जी।" और एक शर्मीली-सी हँसी के अतिरिक्त चेतन कुछ न कह सका था और दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हुआ वहाँ से उठ आया।

वह कविराज जी के औषधालय से उतरा तो इतना प्रसन्न था जैसे अचानक कोई निधि उसके हाथ आ गयी हो। आते ही उसने कहानी-संग्रह का मसौदा मेज़ पर फैलाया और उसमें एक और पृष्ठ बढ़ाकर समर्पण-स्वरूप लिखा :

कविराज रामदास जी को

पहली ही भेंट पर जिनके प्रति मन
श्रद्धा से प्लावित हो उठता है।

४५

कविराज जी ने न केवल काग़ज़ से उसकी सहायता करने का वचन देकर चेतन का साहस बढ़ाया था, बल्कि अपनी नयी पत्रिका के लिए उससे स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर लेख भी लिखवाये थे और साहित्यिकों की जो सरपरस्ती वे किया करते थे, उसका ज़िक्र करते हुए, उसे उन लेखों के पैसे भी दिये थे।

उन्होंने 'स्वास्थ्य' नाम से यह पत्रिका उन्हीं दिनों जारी की थी। मुन्शी गिरिजाशंकर की पत्रिका से यह उतनी ही भिन्न थी जितना कि दोनों का व्यक्तित्व! नहीं तो 'स्वास्थ्य' के प्रति कविराज जी का प्रेम साहित्य के प्रति मुन्शी जी के प्रेम से भिन्न न था।

"अभी पत्रिका नयी है, इसलिए मैं तुम्हें चार आने प्रति पृष्ठ ही दूंगा," उन्होंने कहा था, "पर मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी पुस्तक की तरह यह पत्रिका भी लाखों की संख्या में बिकेगी। तब तुम्हारा पुरस्कार भी चार आने से चार रुपये तक हो सकेगा।"

चेतन के उल्लास का वारापार न रहा था। एक पृष्ठ के चार आने

तो दूर उसे तो कभी पूरी की पूरी कहानी के चार आने न मिले थे। तब तक उसकी जितनी कहानियाँ छपी थीं मुफ्त छपी थीं।

वह स्वयं नये विषय चुनता और बारह-तेरह घंटे दफ़्तर में काम करने के बाद घर पर लेख लिखता। इस तरह जो पैसे बनते वे अपने बड़े भाई को देता। भाई साहब की दुकान पर अब एक बड़ा भारी बोर्ड लग गया था। बाहर एक शीशे का और अन्दर प्लाईवुड का पार्टीशन शोभा देता था। वेटिंग रूम का रूप निखर आया था। और परछती के ऊपर भी एक गहरे नीले रंग का पर्दा दिखायी देता था। उसके पीछे भाई साहब ने दोपहर को आराम करने की जगह बना ली थी।

किंतु जिस इच्छा को लेकर वास्तव में चेतन कविराज से मिलने गया था वह अभी तक उन पर प्रकट न कर सका था। उसके सिर में पीड़ा कुछ अधिक रहने लगी थी, कमर भी अधिक दुखती थी और चक्कर भी कुछ ज्यादा आने लगे थे। आख़िर एक दिन झिझकते-झिझकते उसने अपने स्वास्थ्य की चर्चा छेड़कर अपनी वह इच्छा भी प्रकट कर ही दी। अपने शारीरिक कष्ट की बात कहते हुए उसने कहा, "मैं कई बार आप से निवेदन करना चाहता था कि यदि आप भली-भाँति मेरा निरीक्षण कर मेरे लिए कोई औषधि बता दें तो बड़ी कृपा हो।"

कविराज ने एक बार उसके चेहरे की ओर देखा, निमिष भर सोचा और फिर हँसे। "तुम्हें औषधि की नहीं, आराम की ज़रूरत है," उन्होंने कहा, "दो-तीन महीने के लिए अपने थके हुए अंगों को विश्राम दो, सैर करो, आराम करो, व्यायाम करो, और परहेज़ रखो, तुम ठीक हो जाओगे।" फिर उन्होंने जैसे अपने-आप से कहा था, "दैनिक पत्र का जीवन भी कोई जीवन है। इसमें पिसते हुए आदमी स्वस्थ रह भी कैसे सकता है? कुछ दिनों के लिए इससे छुटकारा पाओ।" और उन्होंने स्वास्थ्य और उसे अच्छा बनाये रखने के प्राकृतिक साधनों पर एक छोटा-सा मीठा भाषण

दे डाला था—"जान है तो जहान है।" उन्होंने कहा, "यदि जान में जान है तो एक छोड़ बीस काम हो सकते हैं और यदि जान को रोग लगा है तो आदमी क्या तीर मारेगा?"

"मैं पहले ही बहुत छुट्टियाँ ले चुका हूँ।" चेतन ने विवशता से कहा, "मुझे दफ़्तर से जितनी छुट्टियाँ मिल सकती हैं उनसे कहीं ज़्यादा!"

"तुम कल आना," उन्होंने तनिक सोचकर कहा, "मैं कोई-न-कोई रास्ता निकालूँगा।"

दूसरे दिन जब वह उनके पास गया तो उन्होंने अपनी पत्नी का ज़िक्र किया :

"मैंने बीबी जी से (उनका अभिप्राय अपनी सहधर्मिनी से था) तुम्हारे विषय में बात की थी। उनका हृदय बड़ा कोमल है। अपने पाँवों पर आप खड़े होने का प्रयास करने वाले तुम जैसे युवकों से उन्हें बड़ी सहानुभूति है। जब मैंने उन्हें बताया कि तुम दैनिक-पत्र में किस प्रकार दिन-रात काम करके अपना जीवन-निर्वाह करते हो और किस प्रकार तुम्हारा स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिर रहा है तो वे द्रवित हो गयीं और उन्होंने मुझसे कहा—आप उसे अपने साथ शिमले क्यों नहीं ले चलते?"

और कविराज जी ने चेतन को बताया कि वे प्रति वर्ष ग्रीष्म-ऋतु में किसी-न-किसी पहाड़ पर जाया करते हैं। "स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और काम भी अधिक होता है।" वे बोले, "मैं समय को व्यर्थ नष्ट करने के पक्ष में नहीं। धन अपने में कुछ महत्व नहीं रखता—समय ही सब से बड़ा धन है। मैं सदैव पहाड़ पर जाकर काम करता हूँ और मेरी समस्त पुस्तकें किसी-न-किसी पहाड़ पर ही लिखी गयी हैं।"

और उन्होंने बताया कि वे इस बार शिमले जा रहे हैं और चेतन चाहे तो उनके साथ चल सकता है।

"पर नौकरी......" चेतन ने कहना चाहा।

"जीवन होगा तो बीस नौकरियाँ मिल जायँगी।" वे उसकी बात काटकर बोले, "तुम्हें यहाँ कितने रुपये मिलते हैं?"

"चालीस!" चेतन ने कहा।

"मैं तुम्हें पचास दे दूँगा, खाना वहाँ किसी होटल से खा लिया करना और मेरे यहाँ पड़े रहना। और तुम क्या चाहते हो?" फिर कुछ देर बाद उन्होंने कहा, "सेहत से बढ़कर और कोई चीज़ नहीं। दफ़्तर से तीन महीने की छुट्टी ले लेना। बाद में सेहत अच्छा हुआ तो काम करना, नहीं तो सात-आठ महीने मेरे लड़के को पढ़ा देना। इस बीच में तुम्हें कोई-न-कोई नौकरी मिल जायगी।"

"पर छुट्टी......" चेतन ने कहना चाहा।

"इसकी चिन्ता तुम न करो, मैं तुम्हारे डाइरेक्टर को चिट्ठी लिख दूँगा।"

"और काम......"

इस पर कविराज जी ने एक मीठा-सा ठहाका लगाया, "सेहत बनाओ भाई! इससे बड़ा काम कौन-सा है? वहाँ तुम सेहत बनाने के लिए जा रहे हो। यही तुम्हारे लिए सब से बड़ा काम है, इतना तुम समझ लो।"

"पर मैं......"

हँसते हुए कविराज जी ने कहा, "भई, काम तुम कोई भी कर लेना। यह तो बाद की बात है। तुम्हारा पहला काम तो अपनी सेहत बनाना है।" और फिर हँसते हुए उन्होंने कहा, "मैं शीघ्र ही शिमले के लिए चल दूँगा। मकान और दुकान का वहाँ प्रबन्ध हो चुका है। तुम तैयारी कर लो। काम तो होता ही रहेगा।"

चेतन इतना प्रसन्न हुआ कि आते ही उसने अनन्त को एक पत्र लिखा जिसमें उसने अपने सम्पादक और उन जैसे अगनित लोगों की नीचता का

उल्लेख करते हुए कविराज जी की सहृदयता, उदारता और दयाशीलता पर छोटा-मोटा निबन्ध लिख डाला।

"मेरी भेंट सचमुच ही एक महान-आत्मा से हुई है" उसने लिखा, "कविराज रामदास का नाम तो तुमने सुना ही होगा। अरे वही जिन्होंने यौन-सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं। आज तक हम उन्हें एक विज्ञापनबाज़ वैद्य ही समझते आये हैं। उनके सम्बन्ध में तरह-तरह की अफ़वाहें भी सुनते आये हैं। पर मैं तो पहली ही भेंट में उनका भक्त हो गया। ऐसी सहृदय, महान, उदार आत्मा पायी है उन्होंने।"

न केवल यह, उसने कविराज की पत्नी से अपने अज्ञात परिचय का ज़िक्र करते हुए उनकी प्रशंसा में एक 'क़सीदा' लिख डाला और कविराज के भाग्य को सराहा जिन्हें उन ऐसी सदय और सहृदय पत्नी मिली।

रात को जब भाई साहब घर आये तो उसने बड़े उल्लास से उन्हें बताया कि वह शिमले जा रहा है। अपने दफ़्तर से छुट्टी ले लेगा, मज़े से शिमले की सैर करेगा, कहानियाँ लिखेगा, पहाड़ियों पर घूमेगा और ख़ूब मोटा होकर आयगा।

"पर तुम काम क्या करोगे ?" भाई साहब ने ससन्देह पूछा।

"काम अभी तो उन्होंने कुछ बताया नहीं। बस इतना कहा है, "सैर करो, खाओ-पिओ और सेहत बनाओ ?"

भाई साहब के मन में कई शंकाएँ उठीं, पर चेतन के पास उन्हें निवारण करने को समय न था। वह जाकर अपने सारे मित्रों को यह समाचार देना चाहता था कि वह गर्मियों में शिमले जा रहा है। इसलिए उनकी शंकाओं का समाधान किये बिना ही वह घर से निकल गया। समय पर दफ़्तर पहुँचने की भी उसने चिन्ता नहीं की।

४६

जून का दूसरा सप्ताह अभी शुरू हुआ था, जब कविराज ने शिमले के लिए चल देने का फ़ैसला किया और चेतन से कहा कि वह भी तैयार होकर उनके दवाखाने पहुँच जाय।

चेतन को तैयारी ही कौन करनी थी। विवाह में आयी नर्म-गर्म रज़ाई-दुलाई उसके पास थी ही। किसी प्रकार जोड़-तोड़ करके खादी के दो पायजामे तथा दो कमीज़ें उसने और सिलवा लीं। उसके पास कोट का सर्वथा अभाव था, इसलिए उसने अपने पिता का वही पुराना सरकारी ओवर-कोट (जिसे भाई साहब काफ़ी अर्से तक पहन चुके थे) साथ ले लिया। उन दिनों यह नियम था कि तीन वर्ष बाद स्टेशन मास्टर को नया कोट मिल जाता था और पुराना उसी का हो जाता था। यह कोट पिता के पास अपनी अवधि समाप्त करके भाई साहब के पास आ गया था और जब वे तीन चार वर्ष तक उसे पहन चुके तो उन्होंने बड़ी कृपाकर चेतन को दे दिया था। चेतन ने उसे फिट करवा लिया था। नयी काट के बावजूद वह किसी कबाड़ी की दुकान से ख़रीदा हुआ दिखायी देता था। इतने पर भी

जब चेतन नये धुले कपड़ों पर उसे पहनता तो लम्बे घुंघराले बालों और खुले गले के साथ वह कुछ बुरा न लगता था।

चेतन के लिए शिमला जाना विलायत जाने से कम महत्वपूर्ण न था। उसका उल्लास अन्तर में समा न पाता था। आग उगलते मौसम में तेरह-तेरह घंटे काम करने वाले उप-सम्पादक के लिए गर्मियों में शिमले के आनन्द की कल्पना स्वप्न से कुछ कम नहीं।

गाड़ी शिमले की ओर जा रही थी। कविराज, उनकी दयामयी पत्नी और उनके बच्चे इंटर में बैठे थे और कविराज के क्लर्क जयदेव तथा नौकर यादराम और उसकी पत्नी के साथ चेतन थर्ड में।

वह इतना प्रसन्न था कि डिब्बे में सोने के लिए यथेष्ट स्थान होने पर भी उसे नींद न आ रही थी। अमृतसर के स्टेशन पर उनके साथ जालन्धर का एक युवक आ बैठा। चेतन को पहचानकर उसने 'नमस्ते' की। चेतन उसे पहचान तो न पाया, पर जब उसे मालूम हुआ कि वह उनके मुहल्ले के निकट ही का रहने वाला है तो उसने बड़े गर्वस्फीत स्वर में बताया कि वह सेहत बनाने के लिए शिमला जा रहा है। और उससे यह प्रार्थना भी की कि यदि कष्ट न हो तो उनके घर जाकर वह चेतन की माँ और छोटे भाइयों को उसकी कुशल-क्षेम का समाचार अवश्य दे दे। "कहना," चेतन ने उससे कहा, "कि चेतन शिमला जाते हुए गाड़ी में मिला था। वह तीन-चार महीने वहाँ रहेगा और स्वास्थ्य ठीक होने पर लौटेगा।"

यह कहकर वह अपने उस जालन्धरी साथी के चेहरे पर ईर्ष्या मिश्रित-आदर का भाव टटोलने लगा।

गाड़ी लगभग रात के एक बजे जालन्धर पहुँची। यादराम अपनी छः फुट लम्बी सुगठित युवा देह लिये नंगी सीट पर ही सो गया था। उसकी पत्नी ज़रा-सा घूंघट खींचकर बैठी-बैठी ऊँघ रही थी, पर चेतन की आँखों

में नींद न थी। उसने खिड़की से सिर निकालकर अपने चिर-परिचित स्टेशन को देखा। इधर-उधर निगाह दौड़ायी कि यदि कोई परिचित टिकट-चेकर दिखायी पड़ जाय तो उसे अपने शिमला जाने का समाचार दे, किंतु दूर तक देखने पर भी उसे कोई परिचित टिकट-चेकर न मिला।

उनींदी आँखें लिये, बाहर प्लेटफ़ार्म ही पर मेज़ कुर्सियाँ सजाये, कुछ बाबू अपने काम में निमग्न थे। उनके लिए जैसे गाड़ियों का आना-जाना, मुसाफ़िरों का चढ़ना-उतरना, इंजनों की चीखें, गार्डों की सीटियाँ कुछ भी महत्व न रखती थीं। संसार के कोलाहल में रहते हुए भी उससे दूर रहने वाले योगियों की तरह जैसे निर्लिप्त वे अपनी साधना में रत थे। चेतन ने बड़ी ऊँचाई से एक बड़ी दया-भरी दृष्टि उन पर डाली। उन्हें क्या मालूम कि जब वे इस ऊमस में, निचुड़ते हुए कपड़ों के साथ, मेज़ों पर झुके हुए हैं, उनके पास ही खड़ी गाड़ी में बैठा वह युवक शिमले की ठंडी हवाओं का आनन्द लूटने जा रहा है।

चेतन के मन में आया कि एक बार उतरकर स्टेशन पर टहले, ज़रा प्लेटफ़ार्म के बाहर जाय, हो सके तो स्टेशन के चिर-परिचित कुएँ का ठंडा पानी ही पिये। पर उसे याद आया कि रात आधी से ज़्यादा बीत चुकी है, कुआँ खाली होगा और सबील पर पानी पिलाने वाला कहीं मीठी या कड़वी नींद के मज़े ले रहा होगा!

गाड़ी चल पड़ी। चेतन ने बाहर से दृष्टि हटा ली। यादराम की पत्नी यद्यपि अब भी ऊँघ रही थी, पर उसके चेहरे का घूँघट खुला था। चेतन ने पहले दबी और फिर खुली आँखों से उसके मुख की ओर देखा। लेकिन ऐसा करने से पहले उसने अपने सामने एक पुस्तक खोलकर रख ली।

शिमला चलने से पहले चेतन ने कविराज को एक तरह से विवश कर दिया था कि उसे साथ ले चलने से पहले वे उसे कोई-न-कोई काम अवश्य

बता दें, उसके स्वाभिमान को यह स्वीकार न था कि वह उनके सिर पर बोझ बनकर जाय।

उसके मन में स्वयं ही यह बात उत्पन्न हुई अथवा कविराज के जीवन की घटनाएँ सुनकर उसे अपने स्वाभिमान का ध्यान हो आया, इसका ठीक-ठीक निश्चय तो नहीं किया जा सकता, पर शिमला ले चलने के प्रस्ताव को सुनकर और यह जानकर कि उसे वहाँ काम अधिक न करना होगा, उसने कृतज्ञता का भाव प्रकट किया था तो कविराज जी ने बातों-बातों में अपने जीवन के आरम्भिक संघर्ष की एक घटना उसे सुनायी थी—"मेरे एक मित्र ने मेरी आर्थिक सहायता की थी," उन्होंने कहा, "पर उस समय मैं उनके रुपये वापस न दे सकता था, इसलिए मैंने साल भर तक किसी प्रकार की फ़ीस लिये बिना उनके बच्चों को पढ़ाया।" वे अपनी रौ में इसी प्रकार की कई घटनाएँ सुना गये जब अपने सहायकों से जो कुछ उन्होंने पाया, उससे कहीं अधिक उन्हें दिया। चेतन यद्यपि पहले भी इस बात पर ज़ोर देता था कि उसे काम बता दिया जाय, पर यह सब सुनकर उसने बिना काम जाने, उनके साथ जाने से इन्कार कर दिया था।

तब कविराज जी ने, जैसे विवश होकर, उसे बताया था कि उनका विचार बच्चों के जन्म-मरण और लालन-पालन के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने का है। उन्होंने उसे अमरीका की एक पत्रिका भी दिखायी थी और कहा था कि वह पंजाब-पब्लिक-लायब्रेरी में जाकर देख ले। यदि इस विषय पर कुछ पुस्तकें मिल जायँ तो वे तत्काल लायब्रेरी के सदस्य बन जायँगे। चेतन उनकी बात समझ गया था और उनकी सहृदयता का बदला देने के लिए उसने मन-ही-मन इस विषय पर उन्हें एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिख देने का निश्चय भी कर लिया था।

बातों-बातों में कविराज जी ने उसे समझा दिया था कि पुस्तक उनके नाम से छपेगी। उसमें बच्चों की समस्त व्याधियों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक

ज्ञान संकलित होगा और पाठकों को परामर्श दिया जायगा कि पेचीदगी हो तो तत्काल किसी प्रसिद्ध वैद्य या डाक्टर से परामर्श किया जाय।

चेतन लायब्रेरी से पाँच पुस्तकें ले आया था। उसने अपने मन में पुस्तक का एक ढाँचा-सा भी बना लिया था। उन्हीं पुस्तकों में से एक उसने उस समय अपने सामने खोल ली थी।

यादराम की पत्नी ने भी एक-दो बार कनखियों से उसकी ओर देखा। चेतन को लगा जैसे उसके ओठों पर हल्की-सी मुस्कान भी खेल रही है—ऐसी मुस्कान जिसका पता न लगता था कि ओठों पर है अथवा आँखों में! गेहुँआँ रंग, चेहरे पर शीतला के हल्के-हल्के दाग़, पतला-दुबला शरीर, दाँतों के मोतियों में मिसी की लकीरें। वह सुन्दर न थी, पर उसकी आँखों और उसकी मुस्कान में कुछ ऐसा आकर्षण था कि चेतन पुस्तक पढ़ना छोड़कर उसे देखने लगा और फिर उससे बातें करने लगा।

डिब्बे में यात्री बहुत न थे। जो थे वे भी विसुध, मुँह बाये, सिर लटकाये, बड़ी विचित्र मुद्राएँ बनाये, नींद की गोद में जा पड़े थे। सामने की बर्थ के ऊपर, सामान रखने के स्थान पर, सोये हुए एक व्यक्ति की टाँग बेतरह लटक रही थी और चेतन को डर था कि तनिक पहलू बदला और वह नीचे आ रहेगा। उस लटकते हुए पाँव के नीचे यादराम विसुध सोया हुआ था। उसके हल्के-हल्के ख़ुर्राटे डिब्बे की निस्तब्धता भंग कर रहे थे। बात पहले मन्नी ही ने आरम्भ की।

"नींद नहीं आती बाबू जी ?" अपनी मुस्कान को तनिक और ज्ञेय बनाते हुए उसने पूछा।

चेतन को उसकी मुस्कान भली लगी। उसमें सहानुभूति थी, सौहार्द्र था और उत्सुकता थी।

पुस्तक पर ही दृष्टि जमाये उसने फिर कनखियों से मन्नी की ओर देखा। "गाड़ी में मुझे नींद नहीं आया करती।" उसने तनिक हँसकर कहा।

मन्नी अधलेटी-अधबैठी थी। वह उठकर बैठ गयी और उसने चेतन के घर, माता-पिता, भाई-बहनों के सम्बन्ध में प्रश्न किये।

उसके प्रश्नों में, उसकी वाणी में, उसके नयनों की सालस-लालस मुस्कान में कुछ ऐसी स्निग्धता थी कि चेतन का शरीर गर्माने लगा। रात की उस नीरवता में, उस सोये-खोये से डिब्बे में उसे मन्नी बड़ी प्यारी लगने लगी। बैठे-बैठे चेतन का शरीर अकड़ रहा था, उसने अपने पैर मन्नी की बर्थ पर थोड़े से पसार लिये।

"खुलकर पसार लीजिए बाबू जी," मन्नी ने बड़े प्यार से उसके पाँव को लगभग खींचते हुए कहा। साथ ही उसने अपने पाँव चेतन की बर्थ पर फैला दिये। "बैठे-बैठे घुटने अकड़ जाते हैं," वह हँसी।

कुछ क्षण तक चेतन चुपचाप पुस्तक पढ़ता रहा। फिर उसने कनखियों से मन्नी के पैरों की ओर देखा—छोटे-छोटे प्यारे-प्यारे पैर—उँगलियों में रजत चुटकियाँ और छल्ले पड़े थे और टखनों में कड़े तथा झाँझनें। उसके तलवों में जावर रचा था जिसका रंग मिट्टी और कीचड़ से मिलकर काला हो गया था।

"तुम अपने पाँव धोती नहीं, देखो काले से हो रहे हैं!" उसने पहले उन्हें छूते और फिर उन पर हाथ फेरते हुए कहा।

"लाख धोती हूँ बाबू जी, पर सारा दिन घर का काम करना पड़ता है—चौका-बर्तन, झाड़ू-बुहारी—कहाँ तक साफ़ रह सकते हैं?" और उसने अपने हाथ दिखाये, जिनमें काली धारियाँ मेंहदी के लाल रंग पर उभर आयी थीं।

चेतन के जी में आया कि इन लाल काले हाथों को चूम ले; पर तभी

यादराम ने करवट बदली। चेतन का हाथ फिर पुस्तक पर आ गया और दोनों के पाँव एक दूसरे से ज़रा फासले पर हो गये।

किंतु इस बार यादराम की पीठ उनकी ओर हो गयी। तब मन्नी ने झिझकते-झिझकते चेतन के पाँवों को छुआ और बोली, "आपके पैर भी तो काले हैं बाबू जी!"

"मेरे"—चेतन हँसा—"मुझे धोने का अवकाश ही कब मिलता है। घूमता मैं क्या कम हूँ; और फिर जूतों के नाम मेरे पास केवल ये चप्पल हैं। ज़रा-सा पानी या कीचड़ हो तो लिचलिचाने लगते हैं।"

मन्नी का लहँगा जो उसके टखनों से ज़रा ऊँचा उठ गया था, दोनों बर्थों के मध्य लटक रहा था और टखनों के ऊपर का गोरा-गोरा हिस्सा नज़र आ रहा था—गोरा-गोरा बादाम के से रंग का-सा। चेतन का जी चाहता था कि पाँवों पर हाथ फेरता-फेरता ऊपर उन गोरी-गोरी बादामी पिंडलियों तक ले जाय; पर इसी समय गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकी। बहती हुई चीज़ें जैसे पानी के रेले से किनारे पर आ चढ़ती हैं, इसी प्रकार स्टेशन की भीड़ में से कुछ यात्री डिब्बे में चढ़ आये।

उनके आने, सामान रखने, बैठने या लेटने की व्यवस्था करने, और अपनी अनगढ़, अनमँझी पहाड़ी बोली में निरन्तर बोलते रहने से डिब्बे की निस्तब्धता भंग हो गयी। यादराम पूर्ववत् गहरी नींद में सोता रहा। सामने ऊपर की बर्थ पर सोने वाले ने टाँग ऊपर खींच ली और चादर से गर्दन तथा मुँह का पसीना पोंछते हुए दूसरी ओर करवट बदल ली। कुछ ऊँघते-ऊँघते गर्दनों के झटके से उठ बैठे, कुछ सोये-सोये उठे और एक अलस-दृष्टि चारों ओर डालकर फिर सो गये। एक ने डेढ़ पाव गर्म-गर्म दूध पिया, दूसरा लोटा लिये पानी को भागा।

तभी कोने में सोया हुआ एक व्यक्ति हड़बड़ाकर उठा।

"कौन स्टेशन है?" उसने भारी स्वर में एक नये यात्री से पूछा।

"अम्बाला ।"

"अम्बाला !" उसने मुँह वा दिया। फिर साथ के व्यक्ति को झकझोर डाला। "अरे जल्दी उठो अम्बाला आ गया, गाड़ी चलने वाली है।"

साथी इस तरह उठा जैसे उसे बिजली का झटका लगा हो और जल्दी-जल्दी सामान समेटकर दोनों डिब्बे से उतर गये।

चेतन की दृष्टि आगन्तुकों पर जम गयी। अपना सामान आदि सम्हालकर वे लोग सामने की पटरी पर डट गये थे। उनमें तीन स्त्रियाँ थीं। पुरुषों के कपड़े उतने अच्छे न थे—टख़नों से ऊँचे, तंग, मैले पायजामे; गबरून की कमीज़ें और उन पर पहाड़ी जाकेट! दोनों के मस्तकों पर उस्तरे से बड़े चौड़े ख़त बने हुए थे जिनकी नोकें उनकी गोल-गोल टोपियों में छिपी हुई थीं। उनकी चोटियाँ चूहों की दुमों की तरह टोपियों के नीचे गर्दन के पिछली ओर लटक रही थीं। स्त्रियों के कपड़े कुछ साफ़ और भड़कीले थे। दो युवा थीं और एक अधेड़। किंतु तीनों अपनी उम्र से कुछ ज़्यादा की लगती थीं और असंयम ने उनके चेहरों पर ऐसी रेखाएँ बना दी थीं जो सस्ते पाउडर और रूज के बावजूद स्पष्ट दिखायी देती थीं।

जब गाड़ी चल पड़ी और सब लोग जमकर बैठ गये तो एक पहाड़ी युवक ने जाकेट की जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली और एक-एक सिगरेट सब को बाँट दिया। क्षण भर बाद सब बड़े मज़े से सिगरेट पीने लगे। चेतन चकित-सा उन स्त्रियों की ओर देखता रह गया। वे इतने सहज सरल भाव से सिगरेट पी रही थीं कि इस कला में पूर्णतः सिद्धहस्त दिखायी देती थीं। बड़े इत्मीनान से सिगरेट पीती हुई वे बड़े मज़े से धुएँ के नन्हें-नन्हें मरगोले छोड़ रही थीं।

चेतन स्वयं सिगरेट न पीता था। सिगरेट का धुआँ उसके लिए असह्य था। कमरे में या उसके पास बैठा कोई सिगरेट पीता हो तो उसके सिर को चक्कर आने लगते थे। इस पर भी उसके मित्रों में ऐसे युवकों की कमी

न थी जिन्हें सिगरेट का व्यसन था। किंतु स्त्रियाँ भी सिगरेट पीती हैं, उसके लिए यह सर्वथा नयी बात थी।

डिब्बे में अधिक लोगों के आ जाने से एक प्रकार की घुटन-सी हो गयी थी। गाड़ी पूरी रफ़्तार से जा रही थी। खुली खिड़कियों से गर्म हवा के झोंके आते थे, उनके साथ ही रास्ते की धूल और इंजन का धुआँ। यह धूल और धुआँ यात्रियों के पसीने की गन्ध से मिलकर पहले ही कम गला न घोट रहा था, इस पर ये पाँच व्यक्ति सिगरेट पीने लगे। चेतन का जी घबराने लगा। उसके सर को हल्का-हल्का चक्कर आने लगा। पर वे पहाड़ी स्त्रियाँ अधलेटी-अधबैठी टाँगें फैलाये-सिकोड़े, जैसे डिब्बे के सारे वातावरण पर छायी हुई, इस शांति और सन्तोष से सिगरेट पी रही थीं कि चेतन के मन में आया—वह भी टाँगें पसार ले, शरीर को पीछे की ओर ढीला छोड़ दे और कहीं से सिगरेट लेकर उन्हीं की तरह नाक और मुँह से धुएँ के नन्हें-नन्हें मरगोले छोड़े। पर इस बीच में उसका दम अधिक घुटने लगा और उसका सिर अधिक चकराने लगा। उसने सिर खिड़की से बाहर निकालकर दो-चार बड़े-बड़े साँस लिये और फेफड़ों को बाहर की हवा से भर लिया।

बाहर चाँद चमक रहा था और बादलों का भी कोई निशान न था, पर धूल का एक पर्दा-सा धरती और आकाश के मध्य छाया हुआ था। ऐसा लगता था जैसे चाँदनी को धरती तक पहुँचने में कष्ट हो रहा है। सकुची-सकुची वह छायी हुई थी। उसकी बाहें जैसे कुछ ही दूर तक फैल-कर रह जाती थीं। अंधकार को भेदने में जैसे वे अशक्त थीं। इस धूल-धूसरित ज्योत्सना के नीचे दूर तक मटमैली धरती लेटी थी। वर्षा अभी आरम्भ न हुई थी। मुरझायी, झुलसी हरियाली रात की इस मटमैली चाँदनी का अंग बन गयी थी। पेड़-पौधे भागती छायाओं की तरह सामने से निकल जाते थे। सहसा गाड़ी के परले सिरे पर इंजन फिर धुआँ छोड़ने

लगा। हल्की चाँदनी में धुएँ का काला बादल गाड़ी के ऐन ऊपर पीछे की ओर, लपकते हुए अजगर की तरह बढ़ने लगा। उसकी जलती आँखों की तरह चिनगारियाँ चमक उठीं। चेतन ने जल्दी से अपना मुँह अन्दर कर लिया।

डिब्बे के अन्दर सब कुछ उसी तरह था। केवल मन्नी अपने पति की जाँघ पर सिर रखकर सो गयी थी। मुँह पर उसने घूँघट कर लिया था और लहँगे को टाँगों के गिर्द अच्छी तरह लपेट लिया था। उसके पैरों की अँगुलियों में पड़े हुए छल्ले और चुटकियाँ पूर्ववत् चमक रही थीं।

उन चमकती हुई चुटकियों और छल्लों से ऊपर दृष्टि उठाकर चेतन ने फिर उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर देखा। वे पूर्ववत् सिगरेट पी रही थीं। उनकी आँखों में चेतन को कुछ ऐसी बेबाकी और संकोचहीनता दिखायी दी जो उसने कभी जालन्धर के कोतवाली बाज़ार की वारांगनाओं के नयनों में देखी थी। स्कूल से आते समय वह मुहल्ला मेहन्द्रुआँ से आने के बदले कई बार पुलिस लाइन को पारकर, सब्जी मंडी के सामने से होता हुआ, कोतवाली बाज़ार की ओर से आया करता था और कितनी देर तक खड़ा निर्निमेष उन काली कुरूप स्त्रियों को देखता रहता था जो बड़ी बेबाकी से अपनी कोठरियों के आगे पाउडर थोपे बैठी रहतीं और गाँवों से नगर को आने वाले जाट जिनसे अत्यन्त अश्लील और भद्दे मज़ाक किया करते। इन पहाड़ी स्त्रियों की आँखों में उन्हीं वेश्याओं जैसी निस्संकोचता थी।

तभी उसकी दृष्टि एक दूसरे व्यक्ति पर गयी जो उन पहाड़ी स्त्रियों की ओर अत्यन्त भूखी निगाहों से देख रहा था। उसकी लोलुप दृष्टि का अनुसरण करते हुए चेतन ने देखा कि उसके आकर्षण का केन्द्र वह स्त्री है जो उन तीनों में युवा और अपेक्षाकृत सुन्दर है। गुलाबी रंग का चूड़ीदार रेशमी पायजामा, चमचमाती कमीज़, उस पर सुन्दर सरदई रंग की जाकेट और सिर पर रेशमी दुपट्टा पहने, बिस्तर पर कुहनी रखे वह दीवाली के

अवसर पर बिकने वाले चित्र की 'मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी' की भाँति हथेली पर सिर टिकाये लेटी हुई थी। उसके कानों की रजत बालियाँ और नाक की लौंग उसकी तीखी नुकीली आकृति पर बड़ी भली लग रही थी। उसके गालों पर पाउडर की धूलि भी दूसरों की अपेक्षा कम थी—शायद इसीलिए कि उसके चेहरे पर लकीरें भी दूसरों की अपेक्षा कम थीं। और वह व्यक्ति—अधेड़ उम्र, नुकीली खिचड़ी दाढ़ी, नाक के नीचे से कटी हुई शरयी मूँछें, नंगा सिर, खरखरे खिचड़ी बाल, आँखों में तीव्र भूख और वासना की झलक !

जब स्त्रियों ने सिगरेट खतम कर लिये और उनके शेष टुकड़े खिड़कियों के बाहर फेंक दिये तो वह उठकर उनके पास आया। जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली, एक सिगरेट स्वयं लिया और डिबिया उन दो पहाड़ी युवकों की ओर बढ़ा दी। उन्होंने एक-एक सिगरेट ले लिया। तब उसने डिबिया दूसरी दोनों स्त्रियों की ओर बढ़ायी। उन्होंने भी एक-एक सिगरेट ले लिया। अन्त में उसने ओठों के कोनों को फैलाते और अपने पीले दाँत निकालते, सकुचाते, लजाते, डिबिया उस 'मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी' की ओर बढ़ायी। वह ठहरी मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी ! उसी शाहाना अन्दाज़ से उसने सिर हिला दिया—"हम यह नहीं पीते !"

खिसियानी-सी हँसी के साथ हाथ पीछे हटाते, दाँतों को कुछ और निपोरते हुए निराशा-मिश्रित स्वर से उस व्यक्ति ने पूछा—"तो . . . . . ?

"हम कैवेंडर पीते हैं।"

"मेरे पास तो लाल बादशाह ही है !" और वह खिन्नता से हँसा।

तब उस स्त्री ने उसी राजसी ठाठ से अपने साथी को आदेश दिया कि वह कैवेंडर की डिबिया निकाले।

पहाड़ी युवक ने कैवेंडर की डिबिया निकालकर उसे एक सिगरेट दिया। उसी तरह लेटे-लेटे, बिना हाथ हिलाये उसने वह ओठों में थाम

लिया और जब उसने दियासलाई जलायी तो उसी तरह लेटे-लेटे मुँह ज़रा-सा आगे बढ़ाकर उसे सुलगा भी लिया और उसी प्रकार मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी बनी धुएँ के हल्के-हल्के मरगोले छोड़ने लगी।

चेतन ने पुस्तक पढ़ने का प्रयास किया पर उसे लग रहा था जैसे उसके सिर पर मनों बोझ लाद दिया गया हो। आँखों में नींद का नाम तक न था, पर उनमें कड़ुवाहट आ गयी थी। भवों के ऊपर पीड़ा की एक रेखा दौड़ रही थी और शरीर क्लान्त प्रतीत हो रहा था। सामने की बर्थ पर टाँगें फैलाकर वह पीछे को लेट गया और उसकी आँखें महज थकान से बन्द हो गयीं।

लेकिन उसे नींद न आयी। पहाड़ी स्त्रियों की बात-चीत, उस वासनासक्त व्यक्ति की खिसियानी हँसी और बैकग्राउँड में गाड़ी की खड़खड़ाहट—सब कुछ उसे सुनायी दे रहा था।

वह व्यक्ति मंगल-द्वीप की उस सम्राज्ञी से अत्यन्त भोंडे मज़ाक कर रहा था और उसी मुस्कान-मिश्रित उपेक्षा से वह उसे टाले जा रही थी। तभी उसने एक दूसरी आवाज़ सुनी, "अरे पास जा बैठो, वहीं पड़े क्या 'हिहि' 'हिहि' कर रहे हो।"

भारी थकी आँखें खोलकर चेतन ने देखा कि एक और व्यक्ति जाग-कर उठ बैठा है और पहले को बढ़ावा दे रहा है। लेकिन उसका साहस नहीं होता कि उस मानिनी के पास जा बैठे।

तभी गाड़ी एक स्टेशन पर रुकी। वह व्यक्ति उठकर मिठाई ले आया और दोना लिये हुए उसके पास जा बैठा। अपने मैले पीले दाँत निकालते हुए उसने एक हाथ से मिठाई का दोना उसकी ओर बढ़ाया और दूसरे से उसके दोनों घुटनों को लेकर अपनी बग़ल में भींचा। और उसकी आँखों में वासना की ज्वाला लपलपाने लगी।

चेतन की अर्ध-निमीलित आँखें पूरी तरह खुल गयीं।

मंगल-द्वीप की सम्राज्ञी ने ज़रा-सी भवें सिकोड़कर उस दोने की ओर देखा, फिर घृणा-मिश्रित-उपेक्षा से उस व्यक्ति की ओर, फिर सहसा बिस्तर पर कुहनी के बल उठते हुए अपने घुटनों को उसके बन्धन से मुक्त करके उसने खींचकर ज़ोर से एक लात उस दोने पर दे मारी—ऐसे कि मिठाई उस व्यक्ति के मुँह पर उसकी मूर्खता के चिह्न अंकित करती हुई खिड़की के बाहर जा पड़ी।

"वेश्याएँ हैं!" उस दूसरे व्यक्ति ने कहा, "खा कमाकर फ़र्लो (Furlough) पर जा रही हैं।" और वह हँसा।

खिन्न सा होकर पहला व्यक्ति चेहरा पोंछता हुआ अपनी जगह पर जा बैठा। उसके नयनों की लपलपाती हुई वासना बुझते हुए अंगारों-सी मन्द पड़ गयी।

चेतन ने आँखें बन्द कर लीं।

"फ़र्लो!"—कितना स्निग्ध, प्यारा शब्द है! जिस दिन उसे दफ़्तर से छुट्टी होती थी, बंगाली गली तो दूर, वह गणपत रोड तक की ओर न जाता था। यदि उसे अनारकली भी जाना होता तो चाहे उसे कितना घूम-कर जाना पड़े, वह दफ़्तर को जाने वाली सड़क की ओर मुँह न करता। उन वेश्याओं के प्रति एक विचित्र सहानुभूति से उसका मन प्लावित हो उठा। साल भर के थके, टूटे, शिथिल अंग लेकर अपने शरीर को बेचकर, उन्हें भूखे हिंस्र पशुओं की दया पर छोड़ने के बाद, ये बेचारी क्लान्ति की मारी कुछ आराम करने जा रही हैं। और यह भूखा व्यक्ति........ पाजी......! और एक नपुंसक-सा क्रोध उसके मस्तिष्क में अलाव की भाँति जलने लगा .... लेकिन उसके पलक भारी होते गये, उसके अंग शिथिल पड़ते गये और वह अलाव क्षण-प्रतिक्षण मन्द पड़ता गया। उसका सिर खिड़की के साथ जा लगा, बाज़ू लटक गये और वह गहरी नींद सो गया।

———

४७

धूप खूब चमक रही थी और दो-एक छींटे चाहे पड़े हों, पर वर्षा ऋतु अभी आरम्भ न हुई थी, जब वे शिमले पहुँचे।

कविराज उनके साथ न थे। मोटर द्वारा शिमले पहुँचने के विचार से कालका में ही उतर गये थे। "तुम पहली बार शिमले जा रहे हो," उन्होंने कालका स्टेशन पर चेतन से कहा था, "शायद तुम्हें बहुत चक्कर आयें, इसलिए तुम गाड़ी ही से जाओ।" और उन्होंने जयदेव को आदेश दिया था कि वह चेतन के आराम का पूरा-पूरा ध्यान रखे।

उन्हें सपत्नीक मोटर में सवार कराके जयदेव, यादराम और उसकी पत्नी के साथ चेतन शिमला को जाने वाली डिबिया-सी गाड़ी में तीली की भाँति ठसकर जा बैठा था।

उस नन्हीं-सी गाड़ी में बैठकर शिमले की सैर का आनन्द लेने की आकांक्षा चेतन के हृदय में बचपन से दबी पड़ी थी। चौथी कक्षा में उसकी पुस्तक में 'शिमला की सैर' शीर्षक से एक बड़ा मनोरंजक लेख था। जिस दिन उसने वह लेख पढ़ा था, वह घर आकर घंटों बैठा कल्पना-ही-कल्पना

में शिमले की सैर का आनन्द लेता रहा था। 'शिमले को जाओ तो बड़ा मज़ा आता है'—पुस्तक में लिखा था—'रेल छक-छक करती धीरे-धीरे चलती है, कभी इधर मुड़ती है, कभी उधर मुड़ती है, साँप की तरह बल खाती हुई सुरंग में दाख़िल हो जाती है। डिब्बे में अँधेरा छा जाता है। बत्तियाँ जल उठती हैं, लगता है जैसे रात हो गयी हो . . . . .' इस परिच्छेद में शिमले को जाने वाली छोटी-सी पटरी और उस पर चलने वाली नन्हीं-सी गाड़ी का एक चित्र भी दिया गया था, जिसमें उस ७० मील लम्बी रेल की पटरी का एक छोटा-सा टुकड़ा बल खाता हुआ दिखाया गया था। उस पर एक छोटी-सी गाड़ी भी थी जो एक सुरंग से निकल रही थी। उस रात जब चेतन अपने बिस्तर पर लेटा तो बार-बार उसके मस्तिष्क में यह चित्र घूमता रहा और बार-बार वह अपने-आपको उस छोटी-सी गाड़ी की खिड़की में बैठे शिमले की सैर का आनन्द लेते देखता रहा।

कालका से शिमले को जाने वाली इस गाड़ी के डिब्बे में बैठते हुए चेतन के मस्तिष्क में वह चित्र और उससे सम्बन्ध रखने वाला शिमले की सैर का वृत्तान्त घूम गया। मन-ही-मन उसने इस सैर का अवसर देने के लिए कविराज जी को धन्यवाद भी दिया।

किंतु उसका यह उल्लास शीघ्र ही भंग हो गया और उसकी कृतज्ञता का वेग भी कम हो गया। डिब्बा यात्रियों से इतना भर गया कि उसके लिए सिर तक हिलाना कठिन हो गया। एक दो बार उसने जयदेव की ओर करुणा भरी दृष्टि से देखा, किंतु वह स्वयं इस प्रकार बैठा था कि उसके लिए गर्दन तक मोड़ना कठिन था।

कालका ही में चेतन लघुशंका के लिए जाना चाहता था, किंतु कविराज जी को कार तक पहुँचाने के कारण उसे देर हो गयी और जब यादराम ने उससे कहा कि यदि वे देर कर देंगे तो गाड़ी में जगह न मिलेगी तो वह उससे निवृत्त हुए बिना गाड़ी में आ बैठा था। किंतु कई घंटे वह उसे दबाये बैठा

रहा जिससे उसकी नाभि के नीचे पीड़ा होने लगी। प्राकृतिक दृश्यों में उसका मन तनिक न लगा। जब किसी सुन्दर दृश्य की ओर उसकी आँखें जातीं, नाभि के नीचे की पीड़ा उसका ध्यान हटा देती। भीड़ ज़रा भी कम न हो रही थी, बल्कि पहाड़ी लोग गाड़ी के पायदानों पर लटके हुए थे। आखिर बड़ोग के स्टेशन पर बड़ी मुश्किल से खिड़की द्वारा निकलकर वह लघुशंका से निवृत्त हो पाया।

दुर्भाग्य से बड़ोग स्टेशन पर उसे कुछ भूख-सी लगी और उसने स्टेशन पर दो-चार कचौरियाँ खा लीं। और इसके बाद आकर जब वह बैठा और गाड़ी साँप की तरह बल खाने लगी और दायें-बायें गिरिमालायें बनने-मिटने लगीं तो उसका सिर चकराने लगा। तभी उसके साथ बैठी एक स्त्री ने बाहर को मुँह करके कै की। चेतन का अपना जी मतला उठा......। इसके बाद उसे इतना ही याद है कि जब शिमले के स्टेशन पर जयदेव ने उसे कन्धे से हिलाया तो वह घुटनों में सिर रखे अचेत-सा पड़ा था।

'शिमले को जाओ तो बड़ा मजा आता है—!' सड़क पर चलते-चलते उस लेख की याद आने पर उसने निहायत बेज़ारी से सिर हिलाते हुए, एक बड़ी-सी गाली उस लेख़ के रचयिता को दे डाली। उसके माथे में हल्का-हल्का दर्द हो रहा था और शरीर, ऐसा प्रतीत होता था, जैसे पत्थरों में पिस गया हो। यादराम के झकझोरने पर जब वह गिरता-पड़ता स्टेशन के बाहर आया तो उसने जैसे पहली बार उस धूप को देखा था जो बाहर पेड़-पौधों, सड़कों और मकानों पर खिली हुई थी—निखरी-धुली, चमकती, तेज़—पर जलाने वाली नहीं—शरीर को हल्की-हल्की गर्मी पहुँचाने वाली। लेकिन चेतन का जी अभी तक मतला रहा था।

जयदेव ने सामान गिनवाकर कुलियों की पीठ पर लदवाया और पैदल चल पड़ा। चेतन भी उसके पीछे घिसटता हुआ चलने लगा।

जयदेव खुश था। यादराम भी खुश था और छोटे से घूँघट से मन्नी

की मुस्कान भी दिखायी दे जाती थी—लेकिन चेतन को कोई भी चीज़ अच्छी न लग रही थी। यद्यपि वे शिमला पहुँच गये थे, किंतु सर्दी उतनी न थी, बल्कि चेतन का गला सूख रहा था। ऐसा लग रहा था उसे जैसे वह 'अलिफ़लैला' के किसी उजड़े-वीरान नगर में आ गया है, जिसे आक्रमणकारियों ने जीत लिया है और ये कुली उस नगर के वासी हैं जो नये आक्रमणकारियों के गुलाम बन गये हैं।

कुलियों के शरीर पर मैले-कुचैले चीथड़े लिपटे हुए थे जो मैल और पसीने से कपड़े की बजाय कीचड़ ही के बने दिखायी देते थे। इतना-इतना भारी बोझ उठा रखा था उन्होंने कि चेतन आश्चर्य-चकित-सा उन्हें देख रहा था। देर तक उसकी निगाहें पने साथ-साथ जाने वाले कुली पर लगी रहीं। उसके पाँव में धूल से भरे भारी चप्पल थे, टाँगें घुटनों तक मैल से सनी हुई थीं, बाहों पर मछलियाँ उभर आयी थीं, पीठ पर सात ट्रंक एक साथ उठाये लठिया के सहारे वह चला जा रहा था।

तभी एक रिक्शा छनछनाती हुई उसके पास से गुज़र गयी। चार वर्दीपोश कुली उसे भगाये लिये जा रहे थे और एक मोटा, गंजा अँग्रेज़ मज़े से उसमें बैठा समाचार-पत्र पढ़ रहा था। घोड़ों और बैलों के स्थान पर पुरुषों को जुते हुए चेतन ने पहली बार ही देखा था। बाद में उसे मालूम हुआ कि शिमले की माल पर मोटर, इक्का, ताँगा कुछ भी नहीं चल सकता। शिमले के प्रभुओं को आदमी की सवारी अधिक पसन्द है। चेतन ने पीछे मुड़कर देखा। धूप से उस अँग्रेज़ का गंजा सिर चमक रहा था और कुलियों के पाँव नंगे थे। चेतन को लगा जैसे संसार का समस्त सुख वैभव चंद गंजे आदमियों के हिस्से में आया है। शेष सब तो उनकी सवारी को खींचने वाले पशु हैं।

लोअर बाज़ार के इस सिरे पर कविराज जी ने अपने लिए औषधालय किराये पर ले रखा था। इस पर उनका बोर्ड उनके आने से पहले लग

चुका था। कुछ सामान वहीं उतरवा दिया गया और यादराम को वहाँ ठहरने का आदेश देकर वे आगे बढ़े। पूछने पर चेतन को पता चला कि उनको रुल्दू के भट्टे जाना है, क्योंकि निवास के लिए कविराज जी ने मकान वहीं लिया है।

कुछ दूर चलकर वे बायीं ओर मुड़े। सामने एक सुरंग थी जो माल के नीचे-नीचे ईदगाह को जाती थी। उसमें प्रवेश करते ही पहली बार चेतन ने अनुभव किया कि वह पहाड़ पर पहुँच गया है। ठंडी-भीगी हवा का एक झोंका आया और उसे लगा जैसे मन का सब ताप मिट गया हो। यद्यपि वर्षा ऋतु अभी आरम्भ न हुई थी तो भी पहाड़ में से रिस-रिसकर पानी सुरंग की गोलाकार दीवार को भिगो रहा था और अणु परमाणुओं-सी नन्हीं-नन्हीं बूँदें हवा में उड़ रही थीं। बिजली के नन्हें-नन्हें बल्ब सुरंग में धूमिल प्रकाश की सृष्टि कर रहे थे और सुरंग के दूसरे दरवाज़े के अर्ध गोलाकार प्रकाश में से आते हुए मनुष्य बड़े भले प्रतीत होते थे।

रुल्दू भट्टा ईदगाह के नीचे बीस-तीस घरों की एक छोटी-सी बस्ती है, जिसके निर्माण में ईंट-पत्थरों के स्थान पर लकड़ी ही से अधिक काम लिया गया है—लकड़ी की सीढ़ियाँ, लकड़ी के फ़र्श और लकड़ी की छतें!

कविराज ने मकान की दूसरी मंज़िल किराये पर ली थी। सीढ़ियाँ चढ़कर कुली ने सामान रख दिया। चेतन इस बीच में बिलकुल थक गया था। दीवार से पीठ लगाकर वह अपने बँधे बिस्तर पर बैठ गया। लकड़ी के फ़र्श पर उसने टाँगें पसार लीं। और चुपचाप दूसरों को काम करते देखने लगा।

४८

शिमले के अपने इस निवास में, जहाँ दूसरी कई बातों के सम्बन्ध में चेतन की धारणाएँ बदलीं, वहाँ कविराज की महानता और कविराज-पत्नी की सहृदयता के सम्बन्ध में भी चेतन के विचार बदल गये।

इन तीन महीनों में उसने 'बीबी जी' की कुछ झाँकियाँ ही देखीं और उसे मालूम हो गया कि वे और चाहे जो हों पर सहृदय और उदार कदापि नहीं।

बीबी जी को उसने पहली बार लाहौर और फिर कालका के प्लेटफ़ार्म पर देखा था। गाड़ी रात के समय लाहौर से चली और प्रातःकाल कालका पहुँची थी, इसलिए दोनों ही बार वह उन्हें भली-भाँति न देख पाया था। फिर उसे कुछ संकोच-सा भी था। लेकिन उस डिबिया-सी गाड़ी में छः घंटे बन्द रहने के बाद, शिमले में कविराज जी के निवासस्थान पर पहुँचकर, जब वह हताश-सा अपने बँधे हुए बिस्तर पर बैठ गया तो उसने जैसे पहली बार आँख भरकर उन्हें देखा।

वे कुलियों से सामान उतरवाकर उसे ठीक जगह रखने की व्यवस्था

कर रही थीं।—पतला छरहरा शरीर, बत्तीस-पैंतीस की आयु, तीखे नक्श, तिकोन से चेहरे पर सजती हुई लम्बी नाक, भरे-भरे गाल और गोरा रंग। चश्मा उनके मुख पर सजता था। किंतु ढूँढ़ने पर भी चेतन को वह स्निग्धता और सौहार्द वहाँ दिखायी न दिया जो कविराज जी की बातें सुनकर, उसकी कल्पना ने, उनकी पत्नी के चेहरे पर बना लिया था। उनका मस्तक चौड़ा था, किंतु उस पर तेवर चढ़े हुए थे, भ्रूभंग थे और ओठ जैसे भिंचे-से थे। पहले उसने समझा कि रास्ते की थकन और परेशानी ने उनके मस्तक पर वे लकीरें बना दी हैं, पर बाद के तीन महीनों में उसने सदैव उन्हें वहाँ पाया और उनके ओठ सदैव भिंचे रहे। चेतन की बड़ी इच्छा रही कि वह उन ओठों पर मुस्कान देखे, पर शिमले के अपने उस प्रवास में उसे वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। तब उसने जान लिया कि वह सब मुस्कान तो कविराज जी के कथन में थी, उनकी पत्नी के ओठों पर नहीं। रही सहृदयता तो ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये चेतन को मालूम होता गया कि वह सहृदयता भी कविराज के शब्दों ही में थी, उनकी पत्नी के हृदय में नहीं और न उनके अपने ही दिल में। उसे यह भी ज्ञात हो गया कि अपने से छोटों के प्रति उनकी पत्नी के हृदय में दया के स्थान पर सदैव एक तीव्र घृणा विराजमान रहती है, जिसे कविराज अपनी वाणी की मिठास में छिपाये रखते हैं।

शिमला पहुँचने के पहले दिन तो उसने उन्हीं के साथ खाना खाया और वहीं सोया भी, पर सुबह ही कविराज जी ने उसका बिस्तर दवाखाने पहुँचा दिया। "तुम्हारा मन यहाँ ऊब जायेगा," उन्होंने कहा, "यह जगह बाज़ार से दूर है, फिर कुछ दिनों में ही बरसात शुरू हो जायगी, प्रतिदिन बाज़ार जाने में तुम्हें कष्ट होगा।" और उन्होंने उसे यह भी सुझा दिया कि शिमले में हर तरह के होटल हैं, जहाँ सात रुपये से पचास रुपये मासिक तक पर खाना मिल सकता है।

दवाखाने में सारी जगह का निरीक्षण करके उन्होंने उसके लिए एक कोना भी नियत कर दिया, जहाँ उसका बिस्तर रात को बिछाया और दिन को उठाया जा सके। इस ओर से निश्चिन्त होकर मूँछों में हँसते हुए उन्होंने कहा, "शिमले में तो आधे निवासी फ़र्श ही पर सोते हैं, चारपाइयाँ यहाँ बड़ी कठिनाई से मिलती हैं।" फिर उन्होंने अपनी मिसाल दी थी कि वे जब पहाड़ जाते हैं, सदा धरती पर ही सोते हैं। धरती पर सोने में उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। स्वास्थ्य के लिए भी धरती पर सोना बड़ा हितकर है। इससे आदमी की शक्ति बढ़ती है और स्वावलम्बन की भावना पैदा होती है। फिर चेतन के ज्ञान में वृद्धि करते हुए उन्होंने यह भी बताया कि संसार में ७५ प्रतिशत महान व्यक्ति उन्हीं लोगों में से उठे जो धरती पर सोने को बुरा नहीं समझते।

किंतु एक सप्ताह बाद ही यह सब भूलकर वे उसे फिर घर ले गये और उन्होंने उसे एक चारपाई भी दे दी।

शायद उन्होंने यह अनुभव किया कि जयदेव और यादराम की संगति तथा मिडिल बाज़ार का सामीप्य होने के कारण चेतन सन्तोषजनक रूप से काम नहीं कर पा रहा है। किसी दवाखाने का वेटिंग-रूम किसी लेखक के लिए उपयुक्त स्थान भी तो नहीं। उसे दवाखाने गये एक सप्ताह हो गया था और उसने पुस्तक की एक पंक्ति भी न लिखी थी।

"यहाँ तुम्हें धरती पर सोना पड़ता है," उन्होंने एक दिन दवाखाने में उससे कहा, "रात को बिस्तर बिछाना और सुबह उठाना एक मुसीबत है। तुम ठहरे लेखक! तुम्हें तो चाहिए कि बिस्तर बिछा रहे, किताबें तुम्हारे आस-पास बिखरी रहें, सोते-जागते, उठते-बैठते, पढ़ने-लिखने की पूरी स्वतन्त्रता तुम्हें प्राप्त हो। घर में एक कमरा तुम्हारे लिए रिज़र्व कर दिया जायगा। चारपाई का मैं प्रबन्ध कर दूँगा। एकान्त होगा। तुम्हें अपनी किताबें, अपने कागज़, अपनी चीज़ें रखने की पूरी सुविधा होगी। तुम

अपनी इच्छा के अनुसार उठ, बैठ, सो सकोगे और फिर यहाँ नहाने के लिए भी कोई जगह नहीं। वहाँ सब प्रकार की सुविधा होगी।"

रुल्दू भट्टे के मकान में कविराज जी ने उसे सीढ़ियों के पास वाला कमरा दे दिया। इस कमरे का एक दरवाज़ा अन्दर की ओर और दूसरा बाहर की ओर सीढ़ियों में खुलता था। उसी ओर एक खिड़की भी थी। एक छोटी-सी लकड़ी की अँगीठी भी कोने में बनी हुई थी। चेतन ने इस पर साबुन, तेल और शेविंग का सामान क़रीने से रख दिया। जो चारपाई उन्होंने उसे दी, उसे चेतन ने खिड़की के पास बिछा लिया। कमरा कुछ अँधेरा था, इसलिए उसने खिड़की के प्रकाश में बैठकर काम करना उपयुक्त समझा। पुस्तकें रखने की समस्या कठिन थी। (क्योंकि कमरे में कोई आलमारी न थी) सोच-सोचकर चेतन बाज़ार से एक चटाई ले आया और उसे सामने की दीवार के साथ बिछाकर उसने अपनी सब पुस्तकें उस पर चुन दीं।

एक तरह से यह कमरा उसे दवाखाने के वेटिंग-रूम से अच्छा ही लगा।

दूसरे दिन कविराज जी दवाखाने को जाने से पहले उसके कमरे में आये। मूँछों में मुस्कराते हुए उन्होंने कमरे की सजावट पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डाली, उसकी प्रशंसा की और बोले, "यह कमरा सिर्फ़ तुम्हारा है, तुम इसमें पढ़ो-लिखो, सोओ-जागो, मालिश अथवा व्यायाम करो, तुम्हें किसी प्रकार की रोक नहीं। अन्य किसी प्रकार का कष्ट यदि हो तो मुझसे कह देना।" फिर रुककर उन्होंने पूछा, "रात को दूध आदि तो नहीं पीते तुम ?"

"मैं रात को डेढ़ पाव दूध पीता हूँ।"

"तुम्हें कम-से-कम आध सेर पीना चाहिए।"

"डेढ़ पाव पीने का स्वभाव भी मैंने बड़ी मुश्किल से डाला है।"

इस पर कविराज हँसे, फिर उन्होंने दूध के गुणों पर एक छोटा-सा भाषण दिया और कहा, "यादराम की पत्नी तुम्हारे लिए दूध अँगीठी पर रख दिया करेगी। तुम सोते समय पी लिया करना।" यह चेतावनी उन्होंने उसे दे दी कि वह दस बजे तक घर पहुँच जाया करे, क्योंकि दस बजे सब सो जाते हैं और इसके बाद यदि कोई आये तो बीबी जी बुरा मानती हैं।

कविराज यह कहकर मूँछों में मुस्कराते हुए चले गये, पर चेतन को शीघ्र ही मालूम हो गया कि बीबी जी केवल दस बजे के बाद आने का ही बुरा नहीं मानतीं और भी बीसियों बातों का बुरा मानती हैं।

चेतन के वहाँ फिर लौट आने ही को उन्होंने ऐसी टेढ़ी दृष्टि से देखा कि दूसरी सुबह शौचादि के लिए उसे अन्दर के शौचालय में जाने का साहस नहीं हुआ। मन्नी ने उसे बता दिया कि नीचे घाटी में शौचालय बने हुए हैं और वह निश्चिन्त होकर वहाँ निवृत्त हो सकता है।

ये शौचालय रुल्दू भट्टे से काफ़ी नीचे खड्ड में बने हुए थे। बनवाने वाले ने उन्हे नौकरों के लिए बनवाया था। टीन की एक चारदीवारी थी और ऊपर छत के नाम पर टीन की चादर तक न थी। वर्षा के दिनों में वहाँ बैठना बड़ा कष्ट-साध्य था। पर चेतन मन्नी से पानी का लोटा लेकर वहीं निवृत्त हो आया, नहाने के लिए भी उसने अन्दर स्नानगृह में जाने का प्रस्ताव नहीं किया। चुपचाप लोटा और बाल्टी लेकर वह रुल्दू भट्टे के नल पर चला गया जो ऊपर माल को जाने वाले मार्ग के एक किनारे बना हुआ था।

उसके आराम का इतना ध्यान रखने वाले कविराज जी को शायद इसमें कोई विषमता नहीं दिखायी दी। वह नहा रहा था जब वे दवाखाने जाते हुए वहाँ से गुज़रे। उसे सड़क के किनारे नहाते देखकर उन्होंने पूछा, "अच्छा! यहाँ नहा रहे हो?"

"मुझे खुले में स्नान करना भाता है," चेतन ने अपनी हीनता को गर्व का विषय बनाकर कहा।

"तुम बड़े हिम्मती हो!" कविराज हँसकर बोले और फिर अपने रास्ते चले गये।

और जब बरसात की हवाएँ अपने पार्श्व में काले-कजरारे मेघों को लिये हुए आयीं और दिन-रात पानी बरसने लगा, तब भी चेतन साहसी बना रहा। उसी बेछत की, नौकरों वाली टट्टी में शौचादि के लिए जाता रहा और वहीं सड़क के किनारे नल पर नहाता रहा।

कविराज प्रतिदिन गर्म पानी से स्नान करते, सर्दी होने के कारण ओवर कोट पहने, हाथों पर दस्ताने चढ़ाये, छड़ी हाथ में लिये रोज़ उसके पास से निकलते, कई बार अपने मित्रों में उसके साहस का बखान भी किया करते, किंतु अपने निजी स्नानगृह के समीप उन्होंने, या यों कह लीजिए कि उनकी सहृदय पत्नी ने उसे एक दिन के लिए भी फटकने न दिया। यह और बात है कि एक दिन उनके पड़ोसी ने दयाभाव से चेतन को अपने स्नानगृह में नहाने की आज्ञा दे दी और चेतन ने खुले में नल पर, शीत से ठिठुरते हुए नहाने की मुसीबत से मुक्ति पायी।

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उसे मालूम होता गया कि वह तो उसी प्रकार कविराज का नौकर है, जिस प्रकार जयदेव अथवा यादराम। कविराज दूसरे बीसियों शोषकों की तरह एक शोषक हैं, वे उसे शिमला केवल वह पुस्तक लिखवाने के विचार से लाये हैं और उसे इस बात का भी पता चल गया कि पहले भी एक दो कलाकारों का स्वास्थ्य वे इसी प्रकार सुधार चुके हैं और इस पुण्य का फल वे पुस्तकें हैं जो सहस्रों की संख्या में उनके नाम से बिक रही हैं।

प्रतिदिन दुकान को जाने से पहले हँसकर वे उसके काम का ब्योरा ले लेते—पूछ लेते कि उसने कौन-सा नया अध्याय लिखा है, वह कौन-सा

नया अध्याय लिख रहा है, या फिर आगामी अध्याय में वह क्या लिखना चाहता है? चेतन ने कुछ लिखा होता तो पास बैठकर उसे सुनते। न लिखा होता तो पूछते कि उसकी तबीयत तो ठीक है, वह सैर तो कर रहा है और हँसकर कहते, "कोई बात नहीं, कोई बात नहीं, आज का दिन आराम कर लो, कल दुगुना लिख लोगे।" और उसी प्रकार मूँछों में हँसते हुए चले जाते।

एक बार उन्हें कुछ ऐसा लगा कि चेतन उनके अनुमान के अनुसार पूरा काम नहीं कर रहा। तब हँसी-हँसी में उन्होंने उसे जता भी दिया।

वह दोपहर को खाना खाने मिडिल बाज़ार जाया करता था और साधारणत: घंटे भर में वापस आ जाता था। उस दिन उसे देर हो गयी। वह खाना खाकर ऊपर से आ रहा था जब कविराज भोजन और आराम के उपरान्त औषधालय को जाते हुए उसे मार्ग में मिल गये और उन्होंने हँसते हुए पंजाबी में कहा—"घोड़िया, तू कम्म कुझ ज़्यादा नहीं कर रिहा।"

यद्यपि 'घोड़ा' उनके प्यार का शब्द था, पर रात को जब चेतन लेटा तो उसे नींद न आयी। प्रत्येक घटना अपने यथार्थ रूप में उसके सामने आने लगी। उसने अनुभव किया—वह, जयदेव, यादराम सब घोड़े ही तो हैं। कविराज की ख्याति की गाड़ी में जुते हुए हैं। यह अनुभूति जैसे एक तीर की तरह उसके हृदय को भेदती हुई चली गयी। ये इतने क्लर्क, मज़दूर, किसान—ये सब घोड़े हैं, विभिन्न गाड़ियों में जुते हुए घोड़े! अपने आराम और सुख की परवाह किये बिना, पसीने से तर, थकन से चूर, दिन-रात काम किये जाते हैं। इसलिए कि उनके प्रभु सफलता की गाड़ियों में बैठे अपने ध्येय तक पहुँच जायँ। बदले में उनको मिलता क्या है? रूखा-सूखा दाना और बस! उसे पचास रुपये मिल रहे हैं। शिमले जैसे महँगे नगर में पचास रुपये! 'घोड़ा'—एक तीव्र व्यंग्य तथा पीड़ा से वह मन-ही-मन

हँसा—'तो वह कविराज की सफलता और ख्याति की गाड़ी में जुता हुआ केवल एक घोड़ा है'—उसने सोचा—'उसे बड़ी चतुराई से उसमें जोता गया है। वह जो पुस्तक लिखेगा उस पर कविराज का नाम होगा। उनके बाद उनके पुत्र, पौत्र और चाहें तो पर-पौत्र तक उससे लाभ उठायेंगे और वह स्वयं क्या पायगा? पचास रुपये प्रतिमास के हिसाब से तीन महीनों के केवल डेढ सौ रुपये, जिनका अधिकांश वह शिमले ही में खर्च कर जायगा। फिर जिस प्रकार एक घोड़े के अयोग्य होने पर अथवा उसकी आवश्यकता पूरी हो जाने पर उसे हटा दिया जाता है, उसे भी हटा दिया जायगा।'...... और वह इस भ्रम में था कि उसकी स्थिति से दयार्द्र होकर उनकी पत्नी अथवा उसकी कला से प्रभावित होकर कविराज उस दैनिक-पत्र की चक्की से उसकी रक्षा करने के हेतु, उसे शिमला ले आये हैं—अपने घर का-सा एक व्यक्ति समझकर!......घर का-सा......वह फिर उसी व्यंग और पीड़ा से मुस्कराया।......उसने निमिष-मात्र को भी न सोचा था कि उसकी स्थिति जयदेव अथवा दयाराम से तनिक भी भिन्न न होगी।

तभी एक अदम्य विद्रोह उसके रोम-रोम में भड़क उठा। न जाने उससे पहले कौन उनकी सफलता की गाड़ी का घोड़ा बना होगा? उसे यह स्थिति स्वीकार नहीं। वह रस्सी तुड़ाकर भाग जायगा। यदि वह घोड़ा ही है तो किसी की गाड़ी में जुतने की अपेक्षा स्वच्छन्द विचरण करेगा।

दूसरी सुबह जब सदा की भाँति वही व्यावहारिक, मशीनी-सी मुस्कान मूँछों पर लिये हुए कविराज उसके कमरे में आये और उन्होंने हँसते-हँसते पूछा कि उसने पुस्तक का कोई नया परिच्छेद लिखा? तो उसने सब काग़ज़-पत्र उठाकर उनके सामने रख दिये और कहा "मुझे छुट्टी दीजिये!" आवेश में वह केवल इतना और कह सका था, "मैं समझता था कि मैं यहाँ

स्वास्थ्य बनाने के लिए आया हूँ, पर अब मुझे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो गया है।''

निमिष-मात्र के लिए मुस्कान कविराज के ओठों से विलीन हो गयी। फिर तत्काल उसी मुस्कान को तनिक और फैलाकर उन्होंने कहा, ''तो भई ठीक तो है, तुम स्वास्थ्य बनाने ही के लिए तो आये हो। खूब मालिश करो, व्यायाम करो, सैर को जाओ। तुम्हें रोकता कौन है? रहा काम, सो भाई वह तो तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। वह अनिवार्य नहीं। करो, चाहे न करो। यदि तुम यहाँ से अपने स्वास्थ्य को कुछ भी ठीक करके लौटे तो मेरा तुम्हें यहाँ लाना सफल हो जायगा।''

वे छड़ी घुमाते हुए चले गये और चेतन उस घायल साँप की तरह फुफकारता और अन्दर-ही-अन्दर विष घोलता हुआ-सा बैठा रहा जो चोट खाकर झपटा तो हो, किंतु जिसका वार बिलकुल खाली गया हो।

४९

सारा दिन चेतन खिन्न-मन-सा बिस्तर पर पड़ा करवटें बदलता रहा। उसकी आँखों पर से सहसा एक पर्दा हट गया था और जो कुछ उसे दिखायी दिया था, वह उसके सदा आदर्श की दुनिया में बसने वाले मन के लिए अत्यन्त वीभत्स था। उसे अपनी स्थिति की यथार्थता का आभास हो गया था और यह कटु आभास उसके मन-प्राण को एक विचित्र-सी क्लान्ति, एक अजीब से विषाद से भर रहा था। उसकी दशा उस रोगी की-सी थी जिसने कड़वी दवा का एक घूँट ही पिया हो किंतु वह एक घूँट ही उसकी जीभ, उसके कंठ, उसकी नस-नस को जलाता हुआ चला गया हो। यह कटु अनुभूति उसके मन-प्राण को एक गहरे अवसाद से भर रही थी। आज तक उसके शिशु-हृदय ने दुनिया का पाउडर और रूज से ढका हुआ सुन्दर मुख ही देखा था। उसकी वास्तविक कुरूपता देखकर उसका मन खिन्न हो उठा। ऐसी कुरूपता भी कहीं है, वह इस बात में विश्वास न करना चाहता था, किंतु वह जैसे कई गुना होकर उसके सरल हृदय पर अंकित हो रही थी।

संध्या को कविराज रोज़ की अपेक्षा कुछ जल्दी आ गये। वह उसी तरह अपने कमरे में लेटा हुआ था। खाना खाने तक न गया था। उन्होंने खिड़की में से झाँककर उसे अन्यमनस्क लेटे हुए देखा और चुपचाप अन्दर चले गये। कुछ क्षण बाद, कदाचित् छड़ी आदि रखकर, उन्होंने अन्दर से चेतन के कमरे का दूसरा दरवाज़ा खोला। चेतन उसी प्रकार लेटा रहा। उसने सिर तक न हिलाया।

"अरे भाई इस अँधेरे में क्या पड़े हो ?" उन्होंने अपने स्वर में चिन्ता भरकर कहा। "बना चुके इस तरह तुम अपना स्वास्थ्य !" और वे हँसे। फिर उसके सामने आकर बोले, "चलो तुम्हें जाकू की सैर करा लायें।"

चेतन वहाँ से हिलना तक न चाहता था। वह चाहता था, ज़ोर से रो पड़े, चीख उठे और उठकर ज़न्नाटे का एक थप्पड़ उस कपटी के मुँह पर जमा दे। पर वह चुपचाप लेटा रहा और जब उसके इतना कहने पर कि उसकी तबीयत ठीक नहीं और वह लेटना चाहता है, कविराज जी ने उसका हाथ थामकर उसे उठाया तो वह चुपचाप उठ खड़ा हुआ।

रास्ते में अपने आरम्भिक जीवन की कथाएँ सुनाकर वे उसका मन बहलाते रहे। जब जाकू की चढ़ाई शुरू हुई तो उन्होंने कहा, "सफलता का शिखर भी इसी प्रकार दुर्गम है भाई, धीरे-धीरे, निरन्तर अध्यवसाय और निष्ठा से उसे सर करना होता है।"

ऊँचाई पर जाकर वे एक स्थान पर रुके। दायीं ओर के पेड़ों में से उन्होंने नीचे की ओर संकेत किया। केलू के दो ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के मध्य, सामने बहुत नीचे, शिमले की माल रोड बल खाती-सी दिखायी दे रही थी। उसके साथ नन्हें-नन्हें से दीखने वाले मकान ऊपर से नीचे तक फैले हुए थे, उनके बहुत नीचे घाटी अत्यधिक सुरम्य लग रही थी। धुएँ के बादल उसमें तैर रहे थे। सूरज कहीं पहाड़ी के पीछे जा छिपा था। केवल एक किरण, न जाने किस कोण से, घाटी में प्रवेश करके बादलों के नीचे-नीचे, एक सिरे से

दूसरे सिरे तक, एक अत्यन्त मनोरम झूला बना रही थी। संध्या के उस झिलमिल प्रकाश में, उन सालस-लालस मेघों के नीचे, घाटी की गहरी हरियाली को विचित्र रंगों से रँगता वह झूला इतना सुन्दर और अलौकिक लग रहा था कि चेतन मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा रह गया।

"किसी कुशल चित्रकार की कल्पना अपने शिखर पर पहुँचकर भी क्या ऐसे सुन्दर चित्र की सृष्टि कर सकती है?" चेतन ने मन-ही-मन सोचा। किंतु प्रकृति का वह अमर चितेरा प्रतिदिन न जाने ऐसे और इससे भी कहीं सुन्दर कितने ही चित्र बनाता-मिटाता रहता है। उसका जी चाहा वह सारे के सारे दृश्य को अपने मानसपट पर अंकित कर ले।

"धीरे-धीरे, पग-पग हम उन्नति के शिखर की ओर बढ़ते हैं," कविराज जी अपनी बात को जारी रखते हुए बोले। (उनकी दृष्टि शायद उस अलौकिक दृश्य तक नहीं गयी। वे माल और उस पर की लौकिकता ही में उलझे रहे।) "हमें मालूम भी नहीं होता कि हम इतनी ऊँचाई चढ़ आये हैं। एक बार पलटकर जब हम नीचे की ओर देखते हैं तो हमें पता चलता है कि हमारे साथ चलने वाले अभी वहीं हैं और नन्हें-नन्हें क्षुद्र कीड़ों की भाँति मन्थर गति से चले आ रहे हैं। ज़रा उन माल रोड वालों को एक नज़र देखो और फिर इस ऊँचाई का खयाल करो!" वे हँसे और भेद-भरे स्वर में उन्होंने कहा, "सफलता के शिखर पर पहुँचने वालों का यही पुरस्कार है!"

उस प्राकृतिक दृश्य के अलौकिक सौन्दर्य में चेतन इतना निमग्न था कि कविराज जी ने क्या कहा, किस सत्य का निदर्शन किया, उसने कुछ नहीं सुना। जब कविराज चल पड़े तो जैसे एक सुख-स्वप्न से वह जागा और चुपचाप उनके साथ-साथ चलने लगा।

"उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए," कविराज ने अपने वक्तव्य को जारी रखते हुए कहा, "अध्यवसाय, निष्ठा और संलग्न-शीलता के अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि हम अपने हाथ में काम को

धैर्य के साथ पूरा करें। उसी में रस पायें। काम को काम की प्रसन्नता के लिए करें। जब हम अपने हाथ के काम को समाप्त कर लें तो हमारा मन खिन्न न हो, बल्कि प्रसन्न हो। यह गुण उन्हीं लोगों में होता है, जिन्होंने सफलता की प्राप्ति को अपना ध्येय बनाया हो।"

और उन्होंने फिर अपने आरम्भिक जीवन की एक मिसाल दी।

"मैं फ़िरोज़पुर के अनाथालय में क्लर्क था। यद्यपि मुझे वह काम ज़रा भी पसन्द न था, पर जब तक मैं वहाँ रहा, जी-जान से उसे निभाता रहा। एक बार व्यवस्थापक के छुट्टी जाने पर, मुझे उसके स्थान पर काम करना पड़ा। तुम्हें आश्चर्य होगा कि मैं उनके सारे काम के साथ अपना सब काम भी करता रहा और मैनेजर होते हुए भी चपरासियों की तरह साइकिल लिये घर-घर घूमता रहा। आज उन दिनों की याद करता हूँ तो वे स्वप्न से दिखायी देते हैं। हर सफल व्यक्ति को इन परिस्थितियों से जूझना पड़ता है और इनसे जूझकर ही वह सफलता के शिखर पर पहुँचता है।"

'हरामज़ादा!' चेतन ने मन-ही-मन दाँत पीसकर कहा, 'तू मुझे बिलकुल उल्लू समझता है, पर अब मैं तेरी बातों में आने से रहा।'

प्रकट वह 'जी हाँ' 'जी हाँ' करता रहा। कविराज जी ने उसे बताया कि सेहत काम करने से ख़राब नहीं होती, वह तो बेकायदगी से बिगड़ती है।

अपनी धुन में वे चेतन को सफल-जीवन के सफल नुस्खे बताते रहे और चेतन सोचता रहा—काश इस सैर में उसके साथ नीला होती, चन्दा होती या और कोई न सही तो अनन्त ही होता! यह व्यापारी. . .यह सैर का आनन्द क्या जाने? इसका मस्तिष्क तो दिन-रात लोगों की जेबें काटने के नित्य नये ढंग सोचने में व्यस्त रहता है।

जाकू के शिखर पर पहुँचते ही उनके इर्द-गिर्द बन्दरों की टोलियाँ

आ इकट्ठी हुईं। कविराज जी ने उसे बताया कि जाकू शिमले की सब से ऊँची चोटी है और उसी पर हनुमान जी का मन्दिर है, जहाँ पर हर मंगलवार को लोग दर्शनार्थ आते हैं।

चेतन चकित-सा खड़ा उस मन्दिर और उन बन्दरों को देखता रहा। उसने स्वप्न में भी न सोचा था कि इतनी ऊँचाई पर मन्दिर होगा। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब कविराज जी ने अपनी पतलून की जेब से चनों की मुट्ठी निकाली और बन्दरों के आगे फेंकते हुए मन्दिर की ओर बढ़े।

यद्यपि बन्दरों की संख्या बहुत बड़ी थी, लेकिन जब भी कविराज दाने फेंकते दो चार हृष्ट-पुष्ट बन्दर बरबस उस स्थान पर अधिकार कर लेते, कुछ दुर्बल खड़े तकते और शेष कविराज जी के पीछे हो लेते। क्षण भर के लिए रुककर चेतन उन मोटे-मोटे बन्दरों को देखने लगा। वे कभी एक और कभी दोनों हाथों से दाने चुग रहे थे। उनके कंठ की थैलियाँ फूल रही थीं और कुछ दूर पर उनके दुर्बल भाई उन दानों को अरमान भरी दृष्टि से तक रहे थे।

चेतन चुपचाप खड़ा उन बन्दरों को देखता रहा और देखते-देखते उसके सामने वे बन्दर मोटे-मोटे सेठ, जमींदार, नव्वाब, राजे, अफ़सर और नेता बन गये और चनों के दाने चाँदी-सोनों के सिक्के! और चेतन ने अपने-आपको उनमें पाया जो कविराज के पीछे-पीछे विवशता से दुम हिलाते हुए चले जा रहे थे।

'जाओ, भागो!' कविराज के पीछे चलते हुए मन-ही-मन चेतन ने उन बन्दरों से कहा 'तुम्हें क्या मालूम कि इस व्यक्ति की प्रकट दया-माया के अन्दर एक रक्त-पिपासु शोषक पशु भी है। अच्छा है कि यहाँ तुम महावीर की छत्रछाया में रहते हो। यहाँ तुम्हें भोजन भी मिल जायगा और श्रद्धा भी; पर यदि कभी तुम रुल्दू भट्टे तक इनके पीछे-पीछे चले

जाओ तो इनकी दया-माया का सारा भ्रम तुम पर खुल जायगा ।'

कविराज मन्दिर के पास जा पहुँचे । महावीर के मन्दिर का पुजारी गैरिक लँगोट और बंडी पहने उनकी अभ्यर्थना को मन्दिर के दरवाज़े पर आ गया । चेतन को इस वेश-भूषा में वह महावीर के उन अनुचरों ही सा लगा। अंतर केवल इतना ही था कि उसके दुम नहीं थी।

मन्दिर का दरवाजा लौह-सीखचों से बना था। चेतन ने पास जाकर देखा—अन्दर एक ओर अनाज की बोरियाँ पड़ी थीं। वह चकित रह गया। उसकी धारणा थी कि पुजारी शिमले जाकर कुछ माँग-जाँचकर ले आता होगा, किंतु उस ऊँची चोटी पर अनाज की उतनी बोरियों का तो खयाल भी उसे न आ सकता था। उसकी कल्पना के सम्मुख पीठ पर बोरियाँ लादे, झुकी हुई कमरों को लाठी के सहारे सम्हाले, पसीने और मैल से तर कुली जाकू की दुष्कर चढ़ाई चढ़ते हुए घूम गये।

'यह धर्म क्या पूँजी ही का दूसरा रूप नहीं ? पूँजी ही की तरह यह हज़ारों गरीबों की रक्त-स्वेद की कमाई पर फल-फूलकर मोटा नहीं हो रहा क्या ?' उसने सोचा ।

फिर उसे खयाल आया कि आज से पहले उसे यह सब क्यों नहीं सूझा। वह स्वयं मन्दिर में जाकर श्रद्धा-भक्ति से फूल चढ़ाता रहा है, घंटे-घड़ियाल बजाता और मन्दिर की देहरी पर मस्तक नवाता रहा है। किंतु मन्दिरों द्वारा निरीह जनता का जो शोषण हो रहा है और जिस प्रकार मन्दिर पूँजीवाद के स्तम्भ बने हुए हैं, इस बात की ओर कभी उसका ध्यान क्यों नहीं गया ? यह सब जो आज सहसा उसके सामने स्फटिक-सा साफ़ होकर आ गया, वह शायद इसलिए कि आज वह स्वयं अपने-आपको शोषित समझता था । और संसार में सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध उसका मन एक प्रबल उपेक्षा से भरा जा रहा था।

इस बीच में कविराज जी मन्दिर के आगे नमस्कार करके एक रुपया

चढ़ा चुके थे। वे आर्य-समाजी थे। चेतन जानता था कि साधु-सन्तों, मन्दिरों-मठों में उनकी तनिक भी आस्था नहीं। फिर इस महावीर के मन्दिर को देखकर उनके मन में अचानक इतनी श्रद्धा क्यों उमड़ पड़ी ? किंतु दूसरे ही क्षण यह भेद उसकी समझ में आ गया।

जब रुपया पाने पर पुजारी जी प्रसन्न होकर आशीर्वादों की वर्षा करने लगे तो कविराज ने उनको अपना परिचय देना आरम्भ किया —कि वे वैद्य हैं और वैद्य के नाते जहाँ तक होता है, जनता की सेवा करते हैं। उनके दवाखाने पर जब कोई ग़रीब आ जाता है तो उसको निशुल्क परामर्श देते हैं। (झूठ ! चेतन दिल-ही-दिल में चिल्लाया) "बचपन ही से मेरी यह इच्छा थी," कविराज जी ने कहा, "कि मैं बड़ा होकर ऐसा व्यवसाय अपनाऊँ जिसमें जनता की अधिक-से-अधिक सेवा करने की सम्भावना हो। जब मैंने बी०ए० पास कर लिया और जीवन में कुछ काम करने का प्रश्न पैदा हुआ तो मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि मुझे रोगियों की सेवा करनी चाहिए और मैंने वैद्य बनने का निश्चय कर लिया।"

[चेतन ख़ूब जानता था कि कविराज जी का वैद्य बनना केवल परिस्थितियों की विवशता के कारण था, नहीं वे तो ठेकेदार बनने जा रहे थे और उन्हें कभी लोक-सेवा का लेश-मात्र भी ध्यान न आया था।]

किंतु पुजारी जी ने दाँत निपोरते हुए कविराज जी का समर्थन किया, "स्वास्थ्य-दान से बढ़कर कौन-सा दान है महाराज !"

"मैं जब से शिमले आया हूँ," कविराज जी ने फूलकर कहा, "प्रतिदिन महावीर जी के दर्शनों को आने की सोचता रहा हूँ। पर इधर सामान आदि की व्यवस्था में इतना निमग्न रहा कि मुझे सिर उठाने का भी अवकाश नहीं मिला।"

पुजारी जी ने फिर खीसें निपोरीं।

"यह तो बड़ी सुरम्य जगह है। आप तो सचमुच स्वर्ग में रहते हैं।" कविराज जी ने कहा।

पुजारी जी केवल हँसे और सिर झुकाकर हाथ धोने के अन्दाज़ में हाथ मलते रहे।

"मैं प्रयास करूँगा कि कम-से-कम सप्ताह में एक बार अवश्य ही आपके दर्शनार्थ आया करूँ," कविराज जी बोले। फिर उन्होंने ज़रा उदास होकर कहा, "पर रोगियों की सेवा में इतना व्यस्त रहता हूँ कि नित्य-कर्म तक भूल जाता हूँ।" फिर बात का रुख बदलकर वे बोले, "पर महावीर जी की भेंट-स्वरूप एक रुपया मासिक आपको नियमित रूप से पहुँचता रहेगा। हमारी ओर से उसे आप बजरंग बली के चरणों में चढ़ा दिया कीजिएगा।"

पुजारी जी ने फिर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी।

फिर चलते-चलते जैसे सहसा कुछ याद आ जाने पर, मन्दिर की दीवार को देखते हुए कविराज जी ने कहा, "मैं आज-कल बच्चों के पालन-पोषण पर एक पुस्तक लिख रहा हूँ," और सहसा चेतन की उपस्थिति का ध्यान आ जाने से उन्होंने इतना और बढ़ा दिया, "यह बच्चा मुझे उसके लिखने में सहायता दे रहा है। मैं चाहता हूँ कि उस पुस्तक की विज्ञप्ति इस दीवार पर लिखवा दूँ ताकि यहाँ आने वाले महानुभाव उससे लाभ उठा सकें।"

"मन्दिर आप ही का तो है महाराज!" पुजारी जी ने हाथ जोड़-कर कहा।

कविराज जी ने उनको प्रणाम किया और चेतन की ओर मुड़े, "सूरज डूब रहा है," उन्होंने कुछ घबराकर कहा, "जल्दी चलना चाहिए, नहीं उतरने में बड़ी दिक्क़त होगी।"

और फिर कुछ आश्वस्त होकर, मूँछों में हँसते हुए, पुजारी जी को पुन: प्रणाम करके वे चल पड़े।

चेतन भी चुपचाप उनके पीछे-पीछे चला। घृणा का एक प्रचंड, दुर्दमनीय उफान उसके हृदय में उठा। उसने चाहा कि उफान को प्रबल वेग से बाहर निकल जाने दे—इतने वेग से कि वह इस ढोंगी, कपटी शोषक को बहा ले जाय; उसकी उस मुस्कान को, जो चेतन को विषैले बिच्छू के डंक-सी लगती थी, मिटा दे; उसे बता दे कि वह उसे क्या समझता है और एक ही बार इस प्रवंचना का अन्त कर दे। पर वह कुछ न कह सका। उसके अन्तर की समस्त घृणा एक गोला-सा बनकर उसके गले में अटक गयी। कविराज जी की बातों के उत्तर में 'हूँ, हाँ' करता हुआ वह उनके पीछे-पीछे चला आया।

जब वे उस जगह पहुँचे जहाँ रिज माल रोड में मिलती है तो कविराज जी की दृष्टि अचानक मोटे ओठ, चपटी नाक और चपटे चेहरे वाले एक काले-कलूटे व्यक्ति की ओर गयी जिसने एक क़ीमती सूट पहन रखा था और जिसके पीछे-पीछे वावर्दी रिक्शा वाले धीरे-धीरे उसकी रिक्शा ला रहे थे।

"सर टीकम लाल!" कविराज ने सहसा उल्लास से कहा और चेतन को कम-से-कम उतनी सैर प्रतिदिन करने की नसीहत देते और छड़ी को दुम की तरह हिलाते हुए वे उन सर महोदय की ओर चले गये।

तब चेतन की समस्त घृणा एक दबी हुई अत्यन्त अश्लील गाली के रूप में निकल पड़ी। जब कविराज दूर चले गये तो उसने पूरे ज़ोर से शून्य में वही गाली उनकी ओर फेंक दी। फिर वह चौंका कि उसे कोई पागल न समझ ले। किंतु आस-पास कोई न था।

और वह चल पड़ा।

सामने रिज के किनारे, बायीं ओर स्कैंडल-प्वाइंट पर सदा की तरह

दर्शक एकत्र थे। माल पर रोशनियाँ जाग रही थीं और उनके साथ ही दर्शकों की आँखों में लालसाएँ अँगड़ाइयाँ ले उठी थीं। अपने समस्त क्रोध और घृणा को गाली के रूप में निकालकर चेतन तनिक हल्का हो गया। पहले उसे ख़याल आया कि वह स्कैंडल-प्वाइंट से कैम्बरमियर पोस्ट आफ़िस तक माल के दो एक चक्कर लगाकर, मन के इस अवसाद को दूर करे। लेकिन वह कुछ थकान-सी अनुभव कर रहा था। इसलिए स्कैंडल-प्वाइंट के जँगले पर खड़े होकर माल का तमाशा देखना ही उसने यथेष्ट समझा और इस विचार से वह स्कैंडल-प्वाइंट की ओर बढ़ा।

५०

रिज की सड़क जिस स्थान पर जाकर माल से मिलती है, वहीं माल की ओर को यह जँगल-सा बना है। न जाने किस मसखरे ने इसे 'स्कैंडल-प्वाइंट' का नाम दे दिया, पर अब यह स्थान इसी नाम से प्रसिद्ध है। इस जँगले पर कुहनी टिकाकर बड़े आराम से माल की चहल-पहल देखी जा सकती है। शिमले की सैर को आये हुए लोग प्रायः इस जगह एक दूसरे से आ मिलते हैं। शिमले भर में कोई ऐसा एकान्त स्थान नहीं जहाँ खड़े होकर नीचे माल पर घूमने वालों (या वालियों) के केशों की बनावट से लेकर जूतों के फैशनों तक का निरीक्षण किया जा सके और किसी की शक्ल, किसी की चाल, किसी के स्वर अथवा किसी के ठहाके की कृत्रिमता, किसी हूर के पहलू में लंगूर और किसी यूसफ की बगल में बन्दरिया को लक्ष्य कर (किसी प्रकार के संकट के बिना) केवल अपना जी ख़ुश करने के लिए फबतियाँ कसी जा सकें। अपने ध्यान में मग्न चेतन इसी स्थान की ओर चला जा रहा था कि सहसा अपने एक पड़ोसी और सहपाठी को स्कैंडल-प्वाइंट की रेलिंग पर कुहनी टिकाये खड़े देखकर वह चौंका और

"अरे अमीचन्द तुम कहाँ ?" कहता हुआ सोल्लास उसकी ओर लपका।

एक सुदूर-सी मुस्कान के साथ अमीचन्द ने चेतन की ओर देखा और जैसे उतनी ही दूर से बोला, "कहो तुम कहाँ ?" और फिर यह देखकर कि चेतन ने हाथ बढ़ा रखा है, उसने भी हाथ आगे बढ़ा दिया।

चेतन चकित-सा उसे देखता रह गया। निश्चय ही यह उसका सहपाठी, उसका पड़ोसी, रट्टू, किताबों का कीड़ा, लजीला, शर्मीला, भीरु अमीचन्द नहीं, यह तो आकाश से भी ऊँचे अहं के सिंहासन पर बैठा कोई दूसरा ही व्यक्ति है। केवल उसका रूप-रंग अमीचन्द जैसा है।

उत्तर देने के बदले उसने पूछा, "तुम यहाँ कैसे ? किताबों की सैर ने तुम्हें किस प्रकार शिमले की सैर का अवकाश दे दिया ?" और वह खिन्नता से हँसा।

उतनी ही दूरी से अमीचन्द ने कहा, "मैं ज़रा ई० ए० सी० का कम्पीटीशन देने आया था।"

'साला ई० ए० सी० का'—चेतन मन-ही-मन आश्वस्त होकर हँसा—'और कोई रह जो नहीं गया ई० ए० सी० बनने के लिए !' प्रकट उसने ज़रा खुलकर हँसते हुए कहा, "तो भई ई० ए० सी० होकर हम गरीबों को न भूल जाना।"

तभी अमीचन्द का एक मित्र नीचे से गुज़रा।

"हैल—लो अमीचन्द !"

और अमीचन्द चेतन से हाथ मिलाकर अपने मित्र से मिलने माल पर चला गया। उसने न चेतन की बात का उत्तर दिया और न इस प्रकार अचानक चले जाने के लिए कोई क्षमा माँगी। उसकी वह सुदूर मुस्कान तनिक और फैली और बस चेतन के हाथ को ज़रा-सा हिलाकर वह चला गया।

चेतन वहीं खड़ा-का-खड़ा रह गया। सामने प्रतिक्षण फैलने वाले

बादलों पर जैसे अमीचन्द की वही सुदूर मुस्कान अंकित हो गयी। उसने रेलिंग पर अपनी कुहनी टिका ली और शून्य में देखने लगा।

सूरज पश्चिम की पहाड़ियों के पीछे अस्त हो चुका था। आकाश से सुरमई साये उतर आये थे। धरती के उजियाले में उनका उन्मुक्त नर्तन प्रकाश और छाया के विचित्र-संसार की सृष्टि कर रहा था। बादल नीचे घाटियों से उठकर उस संसार को और भी स्वप्निल बनाते हुए माल पर छा रहे थे। दुकानों की रोशनियाँ और माल के तमाशाइयों की चहल-पहल उस संसार में रस, राग और रंग का विचित्र समावेश कर रही थी।

देखते-देखते बादल माल से ज़रा और उठकर जाकू की ओर बढ़ गये। रिज के ऊपर, अपनी समस्त हारयाली को लिये हुए किसी ध्यानमग्न योगी की तरह जाकू का पहाड़ खड़ा था और मेघ-मालाएँ तरुणियों की भाँति उसके वक्ष से लिपटकर उसे अपनी साधना से डिगाने का विफल प्रयास कर रही थीं।

माल की रौनक क्षण-क्षण वढ़ रही थी। अपटूडेट सूट; रँगीली, भड़कीली, चमचम करती साड़ियाँ; नये-नये फैशनों से गुँथे हुए बाल; पाउडर, लिपस्टिक और रूज की कृपा से दमकते चेहरे; अहंकार और दर्प से भरी चालें; गप-शप और हँसी-ठहाके—माल का शून्य क्षण-प्रतिक्षण भर रहा था, मुखर हो रहा था।

किंतु चेतन को वहाँ यह सब दिखायी न देता था। उसे तो सामने की दुकानों के कँगूरों पर घुलते हुए बादलों में अमीचन्द की वही सुदूर मुस्कान अंकित दिखायी दे रही थी। और उसका मन हीन-भाव से भरा जा रहा था। 'यह साला ज़रूर ई० ए० सी० हो जायगा'—उसने मन-ही-मन कहा। मैं तो ज़रा भी सरक नहीं पाया। मेरे प्रासादों की तो नींव भी नहीं जम पायी!' उसने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा और वहीं रेलिंग पर खड़े-खड़े पल-पल गहन होते अंधकार के पट पर उसके सामने

उसके सारे प्रासाद एक-एक करके बनने लगे—अपने दफ़्तर में अँग्रेज़ी समाचारों का अनुवाद करते-करते जब वह थक जाता था, निरन्तर घंटों तक क़लम चलाने के कारण जब उसके अँगूठे का भाग दुखने लगता था और जब उसकी आँखें जल-सी उठती थीं तो ज़रा सुस्ताने के लिए कुर्सी पर पीछे को लेटकर वह शरीर को ढीला छोड़ देता था और कल्पना में भविष्य के महल बनाया करता था—ज्योंही भाई साहब की दुकान जमी और कुछ पूँजी हुई, वह उन्हें माल रोड पर दुकान खुलवा देगा। इस बीच में परसराम भी आ जायगा। तब भाई साहब की सहायता से वे एक प्रकाशन-गृह खोलेंगे; प्रेस लगायेंगे; अच्छी-से-अच्छी पुस्तकें छापेंगे। परसराम दुकान का हिसाब-किताब देखेगा। स्वयं चेतन बाहर दौरे करके पुस्तकों की बिक्री का प्रबन्ध करेगा। बाक़ी छोटे भाई भी उसी दुकान में लग जायँगे। भारत के बड़े-बड़े नगरों में प्रकाशन-गृह की ब्राँचें खोली जायँगी और दूसरे भाई बड़े होकर उनके काम की देख-भाल करेंगे। रही चन्दा सो वह इस बीच में प्रभाकर करके बी० ए० कर लेगी और उनका हाथ बटायेगी। रुपया पानी की तरह बरसेगा। किसी तरह का अभाव न रहेगा। सब भाई मिलकर माडल टाऊन में कोठी बनवा लेंगे, मोटर रख लेंगे और.....

तभी एक परिचित ठहाके ने उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। चेतन ने देखा उससे तनिक अंतर पर महाशय धर्मचन्द खड़े हैं। चेचक भरा गोल मुँह, कानी आँख, सिर पर पगड़ी, गले में ओवरकोट और टाँगों में उटंग पायजामा। ये महाशय लाहौर के एक उर्दू साप्ताहिक के स्वामी और सम्पादक थे। किसी ज़माने में वे साप्ताहिक-पत्र के बदले एक तंदूरनुमा होटल के प्रोप्राइटर थे। उनके होटल पर खाना खाने के लिए आने वालों में लाहौर के दो-चार उदीयमान कवि तथा साहित्यिक

भी थे। उनकी संगति और अनुरोध के कारण वे होटल छोड़कर एक साप्ताहिक पत्र जारी कर बैठे। पंजाब में उन दिनों साप्ताहिक-पत्रों का अभाव था और महाशय धर्मचन्द के होटल पर आने वाले लेखक अथवा कवि अपने साहित्यिक जीवन के उस काल से गुज़र रहे थे, जब मनुष्य को संसार में अपनी जगह बनानी होती है। इसलिए इनके पत्र को उन्होंने अपना मुख-पत्र बना लिया। और अपने उन मित्रों की सहायता से महाशय धर्मचन्द न केवल होटल वाले के स्थान पर एक प्रसिद्ध पत्र के सम्पादक हो गये, बल्कि उनका पत्र भी ख़ूब चल निकला। किंतु शीघ्र ही उनके मित्रों ने जीवन में अपना स्थान बना लिया। वे व्यस्त हो गये और अपने प्रचार तथा उन्नति के दूसरे साधन उन्होंने ढूँढ़ लिए। साहित्यिक षड्यन्त्रों के स्थान पर वे दफ़्तरी षड्यन्त्रों में उलझ गये। इसके अतिरिक्त महाशय धर्मचन्द के पत्र की सफलता को देखकर दो-चार और साप्ताहिक निकल आये। न केवल यह, बल्कि दैनिक पत्रों ने भी अपने साप्ताहिक संस्करण निकालने आरम्भ कर दिये और इस मुकाबिले में महाशय धर्मचन्द के पत्र का हाल पतला हो गया। स्वयं वे लगभग अपढ़ थे, इतनी क्षमता कहाँ से लाते कि पत्र के ऊँचे स्तर को बनाये रखते। इतनी ख्याति पाने के बाद पुनर्मूषक बनना उन्हें स्वीकार न था। इसलिए अब वे प्रसिद्ध 'ब्लैक-मेलर' हो गये थे। रियासतों के पक्ष अथवा विपक्ष में लिखकर, बड़े-बड़े सेठों को उनके भेद खोल देने की धमकी देकर और फ़िल्मों के पक्ष अथवा विपक्ष में प्रचार करके, वे अपने पत्र की गाड़ी को किसी-न-किसी प्रकार ठेले जा रहे थे। उनका पत्र तीन-चार सौ ही छपता था, पर उसके मुख-पृष्ठ पर वे अब भी, "उत्तरी भारत का सर्वोत्कृष्ट बहु-संख्यक" छापे जा रहे थे।

उनके बराबर ही अपने पतले-दुबले शरीर पर पतलून के साथ शेरवानी पहने, अपने दिन-प्रतिदिन गंजे होते सिर पर रूमी टोपी टिकाये एक

साहब खड़े थे। ये महाशय कभी जालन्धर में टोपियाँ बनाया करते थे, पर अपने सुन्दर कंठ तथा प्रखर बुद्धि की बदौलत अब एक प्रसिद्ध कवि थे। कई रियासतों से उन्हें मासिक रुपया मिलता था और बड़ी सुन्दरता से उन्होंने कला और जीवन में समझौता कर लिया था। खाँ साहब हो गये थे। यह और बात है कि अब वे कला की उलझनों के बदले दिन-प्रति-दिन जीवन की पेचीदगियों में उलझते जाते थे। उन दिनों वे इस्लाम के इतिहास को कला की अमर बेड़ियाँ पहना रहे थे और मुसलमान श्रद्धालुओं ने उनके नाम के साथ मौलाना का शब्द भी लगा दिया था। वे शिमले में बड़े-बड़े राजा नव्वाबों को अपनी नयी कृति गा-गाकर सुनाते, प्रशंसा के साथ धन पाते और शिमले की सैर का आनन्द उठाते हुए घूम रहे थे।

उनके निकट एक लँगड़ा युवक सूट हैट में आवृत्त खड़ा था। वह प्रति वर्ष शिमले आता था, एक बड़े मुशायरे का आयोजन करता था और साहित्य सेवा का पुण्य लूटने के साथ-साथ शेष आठ-दस महीनों के पैसे कमाकर घर चला जाता था।

ये तीनों व्यक्ति न जाने वहाँ महज़ तमाशा देखने के लिए आ खड़े हुए थे, अपने मित्रों की प्रतीक्षा कर रहे थे अथवा नीचे की भीड़ को देख-कर इस बात का अन्दाज़ा लगा रहे थे कि उनके शिकारों में से कौन-कौन इस बार शिमले आये हैं।

बादल तनिक और ऊपर उठ गये थे। जाकू की सौम्यता बढ़ गयी थी। दुकानों के कँगूरे सुरमई उजेले की धुँधली पृष्ठ-भूमि में चित्रित-से दिखायी देते थे और उनकी रोशनियाँ माल पर लम्बी-लम्बी छायाएँ बना रही थीं। नन्हीं-नन्हीं बूँदें गिरने लगी थीं और माल की काली-गीली सड़क पर ये छायाएँ थिरकती, नाचती बड़ी सुन्दर दिखायी दे रही

थीं। भारत के हर प्रान्त की वेष-भूषा जैसे एक प्रदर्शनी के रूप में नीचे से गुज़र रही थी। लोग प्रसन्न थे, उल्लसित थे, तमाशा देखने अथवा दिखाने का आनन्द लूट रहे थे।

जँगले पर कुहनी टिकाये चेतन किसी सोये-खोये-से व्यक्ति-सा यह सब वैभव, उल्लास, मुखरता, सजीवता, स्फूर्ति, आकर्षण निरख रहा था। वह स्वयं इन सब से परे था। वह न तमाशा था न तमाशाई। वह हीन-भाव जो कविराज की सफलता और अमीचन्द की अवहेलना ने उसके मन में उत्पन्न कर दिया था, वहाँ से निकलकर जैसे उसके सारे अस्तित्व पर छाया जा रहा था। उसके पास एक गर्म सूट—गर्म सूट दूर रहा—एक स्वेटर तक नहीं, कमीज़ और पायजामे के ऊपर उसने वर्षों पुराना, मैला, खुरदरा, ओवरकोट पहन रखा है और वह इन सफल व्यक्तियों के मध्य खड़ा है! कौन जाने अमीचन्द ही की तरह सुन्दर सूट पहने उसके सहपाठियों में से कोई दूसरा उसके पास आ खड़ा हो और उसे अपने अभाव पर लज्जित होना पड़े। यह सोचकर और एक भीत-सी दृष्टि अपने दोनों ओर खड़े व्यक्तियों पर डालकर, ओवरकोट के कालरों को अपनी छाती पर कसता हुआ, वह स्कैंडल-प्वाइंट से हट गया।

उसका जी चाहता था कि चुपचाप घर चला जाय और जाकर सो रहे। लेकिन उसने अभी तक खाना न खाया था। दुख और अवसाद की गहराइयों से ऊपर उठती हुई भूख धीरे-धीरे उसके मन से सफलता, सम्पन्नता, ख्याति आदि की सभी भावनाओं को भगाकर वहाँ अपना आधिपत्य जमा रही थी। वह दुखी था; व्यथित था; थका हुआ था और पग भर आगे चलने को उसका मन न था। चाहता था कि जितनी जल्दी हो अपने कमरे में चला जाये, जाकर बिस्तर में सिर छिपाकर विफलता के भार को आँखों के रास्ते निकाल दे। पर वह भूखा था और वह जानता था कि यदि

वह बिना कुछ खाये-पिये वापस चला जायेगा तो भूख के मारे उसे सारी रात नींद न आयेगी।

भूख...यदि कहीं यह भूख न होती! पेट भरने की यह बेबसी न होती! तब उसे समाचार-पत्रों की, कविराज ऐसे शोषकों की गुलामी न करनी पड़ती! वह संसार के विशाल प्रांगण में स्वच्छन्द, स्वतन्त्र घूमता। बला से उसके तन पर कपड़े न होते, बला से उसके पाँवों में जूते न होते, वह निरन्तर भ्रमण करता। पहाड़ों में जाकर हिम-मंडित शिखरों की रजत-छटा निरखता। कल-कल, छल-छल बहते झरनों के पास बैठकर घंटों उनका मधुर संगीत सुनता। ऊषा और संध्या के बदलते हुए रंगों को देखता। अनवरत बहती हुई नदियों के साथ बहकर उनकी अमर खोज का पता लगाता। निरन्तर करवटें लेते, उनींदे, उद्विग्न उदधि की बेचैनी का भेद पाता। सूर्य और चन्द्र की अथक आकुलता; उमड़-घुमड़कर छाते, बरसते, उड़ते मेघों का उन्माद; आकाश की गहराइयों में विचरने वाले पक्षियों की जिज्ञासा—सब की थाह पा लेता और उस महान् सौन्दर्य, उस महा-गान, महा-परिवर्तन, उस महती आकुलता में डूबकर, तन्मय होकर अमर गीतों की सृष्टि करता......किंतु यह भूख......मानव के पाँव में सब से पहली, सब से कड़ी बेड़ी, यह न होती तो कदाचित् मानव खिलौना न होकर खिलाड़ी बन जाता, सृजनहार के आसन पर जा बैठता।

और चेतन उन नन्हीं-नन्हीं बूँदों में भीगता और सड़क के किनारे-किनारे चलता हुआ, मिडल और लोअर बाज़ार पारकर, चोर बाज़ार के अपने उस घटिया से ढाबे पर जा पहुँचा, जहाँ से वह पेट के तंदूर को ईंधन दिया करता था।

५१

यद्यपि कविराज उसे अपने साथ सैर को ले गये थे और चेतन की मन:स्थिति को समझकर, उसका क्लेश दूर करने के लिए, जीवन-दर्शन की शिक्षा देते हुए उन्होंने उसे यह भी समझाया था कि सफलता के शिखर पर पहुँचने के लिए इन परिस्थितियों से गुज़रना अनिवार्य है, पर चेतन के क्षोभ और उसकी पीड़ा का अन्त न हुआ था। क्षोभ, क्रोध और ग्लानि से उसका मन विक्षिप्त-सा हो उठा था। वह कुछ भी कर न पा रहा था। निरन्तर कई दिन तक वह बेपतवार की नौका-सा डोलता रहा था। लेटा रहता तो अन्यमनस्क-सा दिन-दिन भर लेटा रहता और घूमता तो दिन भर उद्देश्यहीन, उत्साहहीन घूमा करता—

'मुझे क्या हो गया है?' बार-बार यह प्रश्न उसके सामने आता, पर पीड़ा इतनी अज्ञात थी कि उसका केन्द्र ढूँढ़ पाना उसके लिए कठिन था।

जब वह सोचता तो पाता कि जीवन की कटुता से यह उसका पहला ही साक्षातकार नहीं। वह तो जीवन की कटुता ही में उत्पन्न होकर पला और

युवा हुआ। यद्यपि अपने जन्म के सम्बन्ध में उसे कुछ ज़्यादा मालूम न था, पर उसने माँ से सुना था कि उनके पुराने खंडहर से मकान में बरसात की एक रात उसका जन्म हुआ था। निरन्तर कई दिन से पानी बरस रहा था, उनका मकान कई जगह से टप-टप चू रहा था और कच्चे फ़र्श पर गढ़े बन गये थे। परदादी गंगादेई कई बार वर्षा के कोप को शांत करने के लिए जले हुए कोयले आँगन में फेंक चुकी थी, और वे (माँ और परदादी) मकान के गिर जाने के भय से रात-रात भर जागती रहती थीं। धाय को देने के लिए घर में पैसे न थे। परदादी कहीं से (धर्मशांति अथवा शुद्ध में) आये हुए बर्तन बेचकर कुछ रुपये जुटा लायी थी और प्रसव के पश्चात् माँ को सोंठ और गुड़ मिले सँठोले के अतिरिक्त पँजीरी अथवा अछवानी आदि शक्तिवर्द्धक कोई भी चीज़ न मिली थी। वह तो पूरे चालीस दिन आराम भी न कर पायी थी। परदादी अपनी अन्धी आँखों से चूल्हा झोंकती थी और दो-तीन बार जलते-जलते बची थी, इसलिए ग्यारहवें दिन का स्नान करके ही माँ घर के काम-काज में जुट गयी थी।

चिन्ता, भय, पुष्टिकारक भोजन के अभाव और काम के आधिक्य के कारण माँ की छातियाँ शीघ्र ही सूख गयी थीं और वह चेतन को छः महीने भी अपने स्तनों का दूध न पिला सकी थी। उसके लिए वह बकरी का दूध लेती, पर न जाने क्यों, चेतन को बकरी के दूध से घृणा थी। बकरी ही का नहीं, गाय का हो अथवा भैंस का, उसे सब प्रकार के उपरे दूध से घृणा थी। माँ की छातियों से दूध पीने के लिए वह लालायित रहा करता। न पाने पर रोता, पिटता, पिटने पर और अधिक रोता, (यहाँ तक कि उसकी परदादी ने उसका नाम चेतन के बदले चिनकदास रख दिया था) किंतु माँ दूध कहाँ से लाती? उसकी छातियाँ तो एकदम सूख गयी थीं।

वह बहुत छोटा था जब उसके पिता हिसार के स्टेशन पर तार बाबू होकर गये। तब एक बार परदादी को जमुना स्नान कराने वे दिल्ली

ले गये थे। माँ भी साथ थी और चेतन भी। वहाँ से माँ ने नन्हीं-नन्हीं कटोरियाँ ख़रीदी थीं। उसका विचार था कि उनके लोभ से चेतन दूध पी लिया करेगा। एक दो बार चेतन ने पी भी लिया, परन्तु फिर जब कटोरियाँ बाहरी दूध का स्वाद न बदल सकीं तो वह कटोरी देखते ही रोने लगता। माँ उसे कान से पकड़ लेती और बरबस लिटाकर दूध पिलाती। वह रोता चीख़ता, हाथ पैर पटकता और इस प्रकार अपने शैशव ही में वह मरियल, चिड़चिड़ा और रोना हो गया था।

चेतन को बचपन ही में अपने वातावरण की कटुता का आभास मिल गया था। एक दिन जब वह दूध न पी रहा था और माँ भरी कटोरी हाथ में लिये उसे मना रही थी कि उसके पिता आ गये। एक बार प्यार से, दूसरी बार तनिक कर्कश स्वर में और तीसरी बार गरजकर उन्होंने उसे दूध पीने को कहा। जब इस पर भी उसने कटोरी को मुँह न लगाया तो तड़ से दो थप्पड़ चेतन के पिता ने उसके गालों पर जड़ दिये और क्रोध के आवेश में उसे टाँग से पकड़कर उल्टा लटका दिया। वे उसे इसी प्रकार पकड़कर दो-एक चक्कर देते, यदि माँ लगभग रोते हुए इतना न कहती, "लाइए, अब पी लेगा।"

पिता ने उसे फिर सीधा खड़ा कर दिया। उनकी आँखों से चिन-गारियाँ निकल रही थीं। चेतन रोया न था। वह सहम गया था। जब माँ ने कटोरी उसके मुँह से लगायी तो उसने बरबस विष के घूँट की तरह दूध पी लिया; पर दूसरे ही क्षण उसे कै हो गयी। तब उसका मुँह धुलाते हुए, उसकी पीठ पर अतीव दुःख से हल्का-सा थपेड़ा जमाते हुए माँ ने आर्द्र कंठ से कहा था, "जा कम्बख़्त! तेरे भाग्य में दूध है ही नहीं।"

यह हल्का-सा थपेड़ा जैसे अपने में एक प्रबल प्रचालन-शक्ति रखता था। उसे आगे ही धकेले जाता था। पीठ पर माँ का थपेड़ा खाकर वह चला तो उसने पीछे फिरकर न देखा था। वह धीरे-धीरे आगे ही बढ़ता

गया। उस क्रूर पिता के नैकटच से दूर होता गया।

सारा दिन वह निरर्थक, निरुद्देश्य इधर-उधर भटकता रहा। गालों से लेकर कनपटियों तक उसे सारी जगह सुलगती हुई प्रतीत होती थी। किंतु बाह्य पीड़ा के अतिरिक्त उसके नन्हें, अपरिपक्व अन्तर के किसी अज्ञात स्तर में भी कुछ-न-कुछ सुलग रहा था—बिलकुल इसी तरह, जैसे अब अपने उस कमरे में वैठे, उसके अन्तर में कहीं कुछ सुलग रहा था और वह उस स्थान को निर्दिष्ट न कर पा रहा था।

वह पिटते समय रोया न था, पर ज्योंही आँगन से बाहर हुआ था उसकी आँखों से अनायास अविरल आँसू बहने लगे थे। दिन भर ऐसा होता रहा था। जब-जब वह अपना हाथ अपने सुलगते गालों पर ले जाता, उसकी आँखों में आँसू आ जाते।

पिटे हुए पिल्ले-सा वह सारा दिन इधर-से-उधर दुबका फिरता रहा था। दोपहर भर भुस की कोठरी में पड़ा रोता रहा था और साँझ समय जब माँ को उसकी याद आयी थी तो वह पानी वाले के सूने क्वार्टर में पीढ़े पर भूखा सोया पड़ा था।

बाहर वर्षा हो रही थी और चेतन अपने कमरे में चुपचाप बिस्तर पर लेटा हुआ था। अपने बचपन की इस घटना की याद आने पर उसकी आँखें भर आयीं। अनायास उसका हाथ अपने गाल पर चला गया। धीरे-धीरे वह उसे सहलाता रहा। वहीं लेटे-लेटे, गाल को सहलाते-सहलाते उसके सामने अपने पिता की क्रूर-आकृति घूम गयी और फिर बचपन की वे समस्त घटनाएँ जब वह अपने उस क्रूर पिता के हाथों बुरी तरह पिटा था।

वह पाँच वर्ष का रहा होगा जब उसके पिता 'सैला-खुर्द' स्टेशन

पर नये-नये नियुक्त हुए थे। तब उन्होंने उसे अँग्रेज़ी सिखाना आरम्भ किया था। वे अपने जीवन के आरम्भिक दिनों में एक स्कूल में अँग्रेज़ी के अध्यापक रहे थे और अध्यापकों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जीवन के आरम्भ में, सौभाग्य या दुर्भाग्य से, जो एक बार अध्यापक बनकर छात्रों पर शासन जमाता है, वह जीवन भर अध्यापक बना रहता है और उसके अधीन रहने वालों को इस या उस विषय पर निरन्तर उसके भाषण सुनने पड़ते हैं। चेतन के पिता का विचार था कि उन दिनों स्कूलों में जिस रीति से शिक्षा दी जा रही थी, वह सर्वथा ग़लत थी। शिक्षा देने का ढंग तो उनके अपने समय ही का उत्तम था। स्कूल ही में छात्र को इस ढंग से पढ़ाया जाता था कि घर जाकर पढ़ने अथवा रटने की उसे आवश्यकता ही न रहती थी। तभी उन्होंने उसी अनूठे ढंग से चेतन को शिक्षा देने का निश्चय किया। उनका दावा था कि छः महीने ही में अपने विशेष ढंग से शिक्षा देकर वे चेतन को मैट्रिक में पढ़ने वालों के बराबर ले जायँगे।

चेतन की माँ को जब उनके इस निश्चय का पता चला तो वह डर से सहम गयी। अपना यह ढंग पंडित शादीराम ने अपने बड़े लड़के पर भी आज़माया था और फल यह हुआ था कि माँ को विवश होकर उसे अपने मायके भेजना पड़ा था। उसने एक दो बार डरते-डरते कहा भी कि चेतन अभी बच्चा है, उसमें जान तो है नहीं, वह पढ़ेगा क्या? पर उसके पिता 'सैला खुर्द' के स्टेशन पर नये-नये गये थे और उन्हें पीने-पिलाने वाले मित्रों का पता न था। इसलिए उनके पास अवकाश काफ़ी था। इस अवकाश को उन्होंने सार्थक बनाना ही श्रेयस्कर समझा। गाड़ी के स्टेशन से चले जाने के बाद वे घर आ जाते और चेतन को अपने उस विशेष ढंग से पढ़ाने का प्रयत्न करते।

सब से पहले उन्होंने चेतन को गीता के कुछ श्लोक रटाये "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि"...कर्मण्येवाधिकारस्ते...आदि आदि। और जब

चेतन ने उन श्लोकों को कंठस्थ करने में असाधारण मेधा का परिचय दिया तो चेतन के पिता ने सिर, नाक, आँख, कान, मुँह, टाँग, पैर आदि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों की अँग्रेज़ी बतायी। इसके बाद उन्होंने उसे कुछ अँग्रेज़ी शब्दों के हिज्जे सिखाने शुरू किये। धीरे-धीरे वे उसे ऐसे शब्दों के हिज्जों पर ले आये जिनमें कुछ अक्षर लिखे तो जाते हैं पर बोले नहीं जाते जैसे White, Write, Night, Might आदि। चेतन को यह सब समझ में न आता। जब अक्षर लिखे जाते हैं तो बोले क्यों नहीं जाते? पर पिता से पूछने का साहस उसे न होता। वह चुपचाप उन्हें रट लेता। पिता ने उसे जितने शब्द और जितने हिज्जे बताये, चेतन ने उन्हें तत्काल रट लिया। पंडित शादीराम ने फ़तवा दिया कि बड़ा होकर वह अवश्य डिप्टी कमिश्नर बनेगा। और अपने इस मेधावी पुत्र को डिप्टी कमिश्नर के योग्य बनाने में उन्होंने अपना कर्तव्य भी शीघ्रातिशीघ्र पूरा कर देना उचित समझा।

पढ़ने में बच्चे के उल्लास और पढ़ाने में पिता की तत्परता देखकर माँ का हृदय काँपा करता। किंतु चेतन अपनी बाल-सुलभ-जिज्ञासा के कारण हर शब्द की अँग्रेज़ी पूछता और पिता सोल्लास उसे बताते।

शब्दों और उनके हिज्जों के बाद उन्होंने चेतन को अँग्रेज़ी के छोटे-छोटे वाक्य बताने आरम्भ किये।

वह जाता है—He goes.

वह स्कूल को जाता है—He goes to school.

वह राम और श्याम के साथ स्कूल को जाता है—He goes to school with Ram & Shyam.

वह राम और श्याम के साथ ताँगे में स्कूल को जाता है—He goes to school with Ram & Shyam in a tonga.

जब उसने ये वाक्य याद कर लिये और यह भी सीख लिया कि क्रिया के साथ s अथवा es कहाँ लगता है; I, we, you, they के साथ

निरा go और he तथा she के साथ goes क्यों आता है तो चेतन के पिता ने उसे भूत और भविष्यकालिक वाक्य बताये। जब गाड़ी स्टेशन पर आती तो वे अपने इस मेधावी पुत्र को बुला लेते और बड़े गर्व-स्फीत स्वर में गार्डों के सामने उससे अँग्रेज़ी के वाक्य पूछते। जब वह ठीक-ठीक बता देता और गार्ड आश्चर्य-चकित-से उस नन्हें से बालक की ओर ताकते रह जाते तो चेतन के पिता उसे उठाकर चूम लेते। उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें, पतली पैनी दूब की भाँति चेतन के कोमल गालों में चुभ जातीं, उसका साँवला रंग और भी साँवला हो जाता और जब पिता उसे नीचे उतारते तो वह भाग जाता और माँ को जाकर अपनी सारी कारगुज़ारी सुनाता। सुनते-सुनते माँ के ओठों पर गर्वीली मुस्कान आ जाती, फिर सहसा वह मुस्कान विषाद की गहरी रेखाओं में परिणत हो जाती। माँ चुपचाप शून्य में देखने लगती और विषाद-रेखाएँ उसके ओठों से फैलकर उसके सारे मुख-मंडल पर छा जातीं।

तभी एक दिन पंडित शादीराम ने चेतन को उस समय बुलाया जब गाड़ी जा चुकी थी। बात यह थी कि उनका एक मित्र अपने दसवीं श्रेणी में पढ़ने वाले लड़के के साथ 'राहो' जा रहा था। चेतन के पिता ने उसे गाड़ी से उतार लिया था और खाने की दावत भी दे दी थी और देसी शराब का एक अद्धा भी ठेके से लाने के लिए पानी वाले को भेज दिया था। चेतन जब पहुँचा तो उसके पिता ने पहले बड़े अत्युक्तिपूर्ण शब्दों में उसकी स्मरण-शक्ति और उसकी बुद्धि के चमत्कार का उल्लेख किया और फिर उन्होंने अचानक अपने उस मित्र के लड़के से दो-चार शब्दों के हिज्जे पूछे। कुछ उनकी सूरत, कुछ उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें, कुछ उनकी लाल-लाल आँखें, कुछ उनके स्वर की कर्कशता—उस बच्चे ने कई बार उनकी ओर देखा, पर कुछ उत्तर देने के बदले सहमा-सा चुप बना रहा। तब जैसे विजेता के उल्लास से उन्होंने चेतन की ओर देखा और मूँछों को बल देते हुए कहा,

"इधर आओ।" चेतन का विचार था शायद वे उसके, सिर पर प्यार से हाथ फेरेंगे या उसे उठाकर अपनी जाँघ पर बैठा लेंगे। पर जब उससे केवल इतना ही कहा गया, "इधर आओ!" और वह भी कुछ कर्कश स्वर में तो वह मन-ही-मन किंचित डर गया, पर प्रकट साहस बनाये हुए पिता के पास चला आया।

तभी पानी वाला शराब की बोतल ले आया। बोतल को देखते ही चेतन के पिता की आँखों में लाली के डोरे कुछ और गहरे हो गये और उनमें एक पाशविक-सी चमक झलक उठी। कॉर्क को खोलते हुए उन्होंने चेतन से पूछा :

"सफ़ेद की अँग्रेज़ी क्या है?"

"ह्वाइट"

"यह तुम खड़े कैसे हो, सीधे खड़े रहो!"

चेतन सीधा खड़ा हो गया।

पानी वाले ने मेज़ पर दो कटोरियाँ रख दीं। कॉर्क खोलकर थोड़ी-थोड़ी मदिरा दोनों कटोरियों में उँडेलते हुए चेतन के पिता ने चेतन को हुक्म दिया।

"हिज्जे करो।"

"डब्लयू...डब्लयू...आई...टी, ई।"

"क्या?" चेतन के पिता बोतल को रखते हुए कड़के और सड़ से एक तमाचा चेतन के गाल पर पड़ा और कनपटी तक खाल सुलग उठी। उसने हकलाते और काँपते स्वर में गाल पर हाथ रखते हुए कहा, "नहीं जी, नहीं जी, डब्लयू, एच, आई, टी, ई।"

"पहले क्यों नहीं बताया? मादर...!" और एक थप्पड़ उसके दूसरे गाल पर पड़ा, और एक मुक्का उसकी पीठ पर।

चेतन डर से काँपने लगा। मुक्का इस ज़ोर से उसकी पीठ पर पड़ा

था कि उसकी पीठ दोहरी हो गयी थी। चेतन के पिता ने कटोरी में पड़ी हुई शराब को एक ही घूँट में खाली करके मुँह बनाकर कुल्ला किया और पानी वाले को गाली दी कि वह अचार क्यों नहीं लाया। पानी वाला अचार लेने के लिए भागा और चेतन के पिता चेतन की ओर मुड़े। पर चेतन को इसके बाद कुछ भी याद नहीं। उसे कुछ ऐसा आभास है कि उसकी आँखों के आगे पर्दा-सा छा गया था—उसकी उस चेतना के आगे भी, जो उसके मस्तिष्क में बैठी उसे हिज्जे, शब्द और वाक्य सुझाया करती थी। उससे दूसरे शब्दों के हिज्जे पूछे गये थे (वाक्य पूछने की नौबत ही न आयी थी) और न जाने कैसे, उसने काँपते-काँपते जो हिज्जे किये थे, वे सब-के-सब ग़लत थे। उसके पिता उसे उन्मादी की तरह पीटने लगे थे और उस गार्ड ने बड़ी कठिनाई से उसे उनके चंगुल से छुड़ाकर दरवाज़े के बाहर किया था।

चेतन स्टेशन के कमरे से निकला तो लज्जा, क्रोध और ग्लानि से उसका नन्हा-सा हृदय भरा आ रहा था। आँसू अनायास उसकी आँखों से वहे जा रहे थे। वह किधर जा रहा है, कहाँ जा रहा है, उसे कुछ बोध न था। वह रोता जा रहा था, हाथ की उल्टी तरफ़ से आँसू पोंछता जा रहा था और भर आने के कारण बार-बार नाक को ऊपर सुड़कता जा रहा था।

वह घर की ओर न गया था। न जाने क्यों माँ के सामने यों रोते जाने में उसे लज्जा आ रही थी, शायद उसके नन्हें से हृदय में कहीं नन्हा-सा अहं आ बैठा था और उसके अहं को माँ के सामने यों रोते जाना स्वीकार न था।

वह सीधा माल गोदाम में गया और गेहूँ की बोरियों में मुँह छिपाकर रोता रहा। पके हुए अनाज की सोंधी-सोंधी गन्ध उसके नथुनों में प्रवेश करके एक विचित्र तन्द्रा-सी उत्पन्न कर रही थी। वह सो गया, किंतु नींद ने उसके मन से उस लज्जा और ग्लानि के बोझ को हल्का न किया।

वहीं सोते-सोते उसके सामने कुछ वैसा ही भयानक दृश्य आ गया और उसने स्वप्न में अपने पिता को डाँटते सुना। वह डरकर उठ बैठा। उसने सुना, उसके पिता माल गोदाम की ओर आ रहे हैं। वह चुपचाप बोरियों से उतरकर खिसक गया।

माल गोदाम से निकलकर वह खेतों, खलिहानों में घूमता रहा। उसे खाने-पीने की चिन्ता न थी। खो जाने का भय न था। वह घूमता रहा—निरर्थक, निरुद्देश्य, निरुत्साह!

......वह रहँट पर गया और कुएँ की जगत पर बैठकर चुपचाप रहँट की रूँ-रूँ...रीं-रीं...सुनता रहा; किसान-बच्चे को बड़े मज़े से गाधी[1] पर बैठे, कभी-कभी टिटकारी भरते, बैलों को लगातार उसी चक्कर में घूमते, रहँट की टिंडों[2] को भर-भरकर ख़ाली होते देखता रहा।

......वह खेतों में गया और कितनी ही देर तक वहाँ गेहूँ की बालियों को बैलों के खुरों के नीचे पिसकर दानों को छोड़ते; छाज की सहायता से भुस और दानों को अलग-अलग होते; साँवे और तंगली की मदद से दानों के ढेर बनते और बोरियों में अनाज को भरे जाते तकता रहा।

......वह चरसे पर भी गया। कितनी ही देर तक वह मन्त्र-मुग्ध-सा वहाँ खड़ा चरसे की 'लाओ'[3] को बैलों द्वारा खींचे जाते देखता रहा। जब बैल लाओ को लेकर नीचे को जाते तो हाँकने वाला तनी हुई लाओ

---

[1]गाधी=बैलों के पीछे उन्हें हाँकने वाले के बैठने की जगह।

[2]रहँट के कोहिरे पर आज-कल टीन के डिब्बे लगे होते हैं, जिनमें पानी भरकर नीचे से आता है। पहले उस पर मिट्टी के कूज़े लगे होते थे, इन्हें पंजाबी भाषा में टिंडे कहते थे।

[3]लाओ=रस्सा।

पर बैठ जाता। उधर बैल ढलवान में पहुँचते इधर चरसा ऊपर आ जाता और किसान उसे थामते हुए ज़ोर से संगीत भरे स्वर में हाँक लगाता—"बेली रब्ब ओ!"[1] और चरसे से पानी की नहर बहने लगती। चरसे को खाली कर वह कुएँ में फेंकता। बैल फिर ऊपर को चल पड़ते; चर्ख़ी पर से लाओ घिसटती जाती। अर्से तक वहाँ खड़ा चेतन निरन्तर यही क्रम देखता रहा।

किंतु प्रकट ये दृश्य देखते हुए भी वह उन्हें न देख रहा था। उद्भ्रान्त-सा वह घूमता रहा था। उसकी आँखें तो इन सुखद दृश्यों के स्थान पर कोई दूसरा ही दृश्य देखती रही थीं, अनायास भर-भर आती रही थीं और वह उस हाथ से जो उड़ती हुई मिट्टी के कारण मैला हो चुका था, अपने आँसू पोंछता रहा था। उसके नन्हें से हृदय में बवंडर-सा उठता-मिटता रहा था। उसे भारी दुख था। पर वह दुख निर्दोष पीटे जाने का था, सोचने का अवसर दिये बिना पीटे जाने का था, अथवा दूसरे लड़के के सामने पीटे जाने का, इसका विश्लेषण उसका नन्हा-सा मस्तिष्क न कर पा रहा था। उसके गालों की टीस मिट गयी थी, पर उसके नन्हें से हृदय में जो घाव बन गया था, उसमें असह्य पीड़ा हो रही थी।

•

वहीं लेटे-लेटे चेतन को लगा कि वह घाव तो अब भी वहाँ है और उसमें पीड़ा उतनी ही तीव्र है। वह आज तक इस पीड़ा को कैसे भूला रहा? उसके सामने उसका अपना नन्हा उद्भ्रान्त रूप अपनी समस्त व्यथा के साथ आ गया। अपने क्रूर पिता का चित्र भी उसके सामने आया और उसके शैशव का वह दुखद अध्याय जैसे नये सिरे से उसके सामने खुल गया—

---

[1] भगवान ही मित्र है।

साँझ को जब वह थककर और तनिक आश्वस्त होकर घर आया था तो उसके घुटनों तक मिट्टी चढ़ी हुई थी, बाल बिखरे हुए थे, आँखें रोने के कारण उबल आयी थीं और मैले हाथों से बार-बार पोंछने से उसके चेहरे पर धब्बे बन गये थे। माँ उस समय गाय का दूध दुहकर उसे चूल्हे पर गर्म करने जा रही थी, चेतन को इस अवस्था में देखकर उसने उसे छाती से लगा लिया। चेतन चाहता था उसके आँसू न निकलें, पर सहसा उसे रोना आ गया। किंतु जब उसने देखा कि उसकी माँ भी रो रही है (कदाचित् पानी वाले से उसे सब बात का पता चल गया था) तो वह आप-से-आप चुप हो गया। तब उसे चुप होते देखकर अथवा अपनी व्यावहारिक बुद्धि के कारण माँ ने भी जैसे अपने आँसुओं को बरबस रोक लिया। उसे अपनी छाती से अलग किया और भड़ोली[1] में उपलों[1] की आग पर सुबह से चढ़े हुए गाढ़े दूध की मलाई उतारकर उसके साथ चेतन को रोटी दी। जब वह खाने लगा तो माँ ने धीरे-धीरे, रसोई का काम करते-करते चेतन से हिन्दी शब्दों का अँग्रेज़ी अनुवाद, उनके हिज्जे और उन समस्त वाक्यों की अँग्रेज़ी सुनी जो चेतन के पिता ने उसे बताये थे। खाना खाते-खाते चेतन ने अपनी माँ को वे सब शब्द, हिज्जे और वाक्य ठीक-ठीक सुना दिये। वह न कहीं अटका, न भूला। किंतु जब रात को पिता ने उसे सोते हुए झकझोरकर उठाया और शराब के नशे में उसे अत्यन्त अश्लील गालियाँ देते हुए डाँटा कि वह इतनी जल्दी क्यों सो गया है और कुछ कठिन शब्दों के हिज्जे पूछे तो चेतन बिना अटके न बता सका। वह अटका कि उसके थप्पड़ पड़ा, थप्पड़ पड़ा कि उसे सब कुछ भूल गया। इसके बाद उसे इतना स्मरण है कि वह भूलता गया और पिटता गया। हुक्के की नै से पिता ने

---

[1] **भड़ोली = गुरसी = मिट्टी की बनी गहरी सिगड़ी जिसमें कंडों की आग पर दूध पकता है।**

उसे पीटा और एक बार जब पिटता-पिटता वह दीवार तक आ गया और नै वरामदे के खम्भे में लगने से टूट गयी तो पिता ने अपने नशे और क्रोध के आवेश में चूल्हे में से अधजली लकड़ी उठा ली। तब रोते-रोते माँ बीच में आ गयी। तीन-चार लकड़ियाँ उसके लगीं, एक वार चेतन के घुटने पर पड़ा। घुटने का मांस उड़ गया। पिटते-पिटते उसका पेशाब निकल गया। वह न जाने कितना पिटता यदि परदादी गंगादेई अपनी अन्धी आँखों और कमान-सी कमर को लठिया के सहारे सम्हाले, चेतन के पिता को गालियाँ देती हुई, उनके बीच न आ जाती और चेतन पर खींचकर मारी हुई लकड़ी उसकी पीठ पर न जा लगती और अपनी दादी को पीटने के पाप का ख़याल करके चेतन के पिता का नशा न टूट जाता।

शैशव की धुँधली गुफाओं से निकलकर ऐसी कई घटनाएँ चेतन के सामने आ गयीं जिनके फल-स्वरूप वह आज ही की तरह खिन्न, क्लान्त, दुखी और व्यथित हुआ था। वह तो सदा ही पिटे हुए पिल्ले की तरह छिपता, डरता और दुबकता रहा है, वह सोचने लगा, "कभी अपने समवयस्क लड़कों से वह नहीं मिल पाया, उनके खेलों में शामिल नहीं हो सका। बड़े भाई की तरह ताश, शतरंज, चौपड़, कनकौएबाजी और छोटे भाइयों की तरह गिल्ली-डंडा, कबड्डी, जंग-पलंगा, लम्बी-लम्बी-टीलो और दूसरे ऐसे खेलों में भाग नहीं ले सका। वह सदा एकाकी बना रहा। पिता ने दोनों टाँगों से पकड़कर शून्य में उसे इस तरह झकझोरा था कि उसकी आँतें सदा के लिए निर्बल हो गयी थीं। उसका पेट दर्द किया करता था और कई बार ऐसी असह्य पीड़ा उसके सिर या पेट में होती कि वह रात-रात भर रोया करता था। किंतु इन सब बातों के बावजूद क्यों उसके मन में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं हुई? क्यों आज की तरह उसका मन प्रतिहिंसा से नहीं

भर उठा ? क्यों वह कभी खिन्न मलीन होकर नहीं बैठा ? वह तो सदैव चलता रहा। क्यों......?

वह उठकर बेचैनी से कमरे में घूमने लगा।

बचपन ही से अपने पिता के प्रति उसके मन में (अज्ञात रूप से) सदैव के लिए एक आतंक, एक डर, एक तीव्र घृणा का भाव आ बैठा था। जिन दिनों उसके पिता मकेरियाँ के स्टेशन पर थे, उन्हें आय ख़ूब होती थी। गार्ड और टिकट-चेकर उनसे सदैव कुछ-न-कुछ पाते रहने अथवा उनकी महफ़िलों में दो चार पैग (मुफ्त में) चढ़ाते रहने के कारण उनके अधीन थे। इसलिए चेतन के सब भाई शनिवार के दिन, बिला-टिकट, मकेरियाँ जा पहुँचते और इतवार को जब वापस आते तो उनकी जेबें पैसों से भरी होतीं। वे उसे दिखा-दिखाकर, चिढ़ा-चिढ़ाकर खाते, खेल और खिलौने लाते, पर चेतन अन्यमनस्क-सा बना रहता। उसे अपने भाइयों के भाग्य से तनिक भी स्पर्धा, तनिक भी ईर्ष्या न होती। उस योगी ऐसा सन्तोष उसे प्राप्त रहता जिसने गहरे सोच-विचार के बाद इस असार संसार के नश्वर सुखों से मुँह मोड़ लिया हो और मानवों की सुख-सम्पदा से जिसे किसी प्रकार की ईर्ष्या अथवा डाह न होता हो। किसी लोभ पर भी उसे मकेरियाँ जाना स्वीकार न होता और फिर बिला-टिकट! इसे वह अपने पिता का (अज्ञात रूप से अपना) अपमान समझता था।

एक बार उसे विवश हो अपने पिता के पास जाना पड़ा था। घर में तेल खतम हो गया था और वहाँ से तेल का कनस्तर लाना था। इस काम में किसी तरह के पैसे मिलने की आशा तो थी नहीं और इतना भारी कनस्तर सिर पर उठाकर स्टेशन से घर तक, मील-डेढ़-मील, लाने की बात थी। इसलिए उसका कोई भाई वहाँ जाने को तैयार न था। और लकड़ियाँ गीली होने के कारण आग जलाने में उसके दादा को (जो उन

दिनों रसोई का काम देखते थे) बड़ी दिक्क़त होती थी। जब पढ़ने-पढ़ाने के लिए ही तेल न था तो आग जलाने के लिए कहाँ से आता? इसलिए चेतन जाने को तैयार हो गया था।

चेतन का इरादा था कि वह टिकट लेकर ही सवार होगा, किंतु पिता के डर से उसने न लिया था। पर गार्ड से भी वह कुछ न कह पाया था। पिता का आदेश था कि गाड़ी पर सवार होने से पहले गार्ड को यह बता दिया जाय कि मैं (या हम) पंडित शादीराम स्टेशन मास्टर मकेरियाँ का पुत्र हूँ (या हैं) और उनसे मिलने जा रहा हूँ (या जा रहे हैं) और यदि गार्ड परिचित न हो तो यह भी कहा जाय कि जल्दी में टिकट नहीं मिल सका—गार्ड से कुछ कहने का समय न हो, यह बात न थी। उसे यह सब कहने में बड़ा संकोच हुआ था। वह कुछ कह ही न पाया था और चुपचाप जाकर डिब्बे में बैठ गया था। जब टिकट-चेकर डिब्बे में आया तो उसे यह सब बताना चेतन को अपना अपमान लगा। उसने बिना कुछ कहे जुर्माने-सहित किराया टिकट-चेकर को दे दिया और रसीद ले ली। किंतु जब चार स्टेशन बाद वह मकेरियाँ पहुँचा और पंडित शादीराम ने उसी टिकट-चेकर को उसका परिचय दिया (पंडित जी हर टिकट-चेकर और गार्ड को अपने पुत्रों से परिचित करा देते थे ताकि उन्हें सफ़र करने में दिक्क़त न हो) तो टिकट-चेकर ने खेद के स्वर में उन्हें बताया कि वह तो उसे बिला-टिकट यात्रा करने के अपराध में पहले ही चार्ज कर चुका है। तब दो थप्पड़ पंडित जी ने चेतन के गाल पर जमाये कि उसके मुँह से क्यों न कुछ फूटा और क्यों उसने यह न बताया कि वह पंडित शादीराम स्टेशन मास्टर मकेरियाँ का लड़का है और उनसे मिलने जा रहा है।

चेतन कहना चाहता था, 'मैं बे-टिकट यात्रा करने को गुनाह समझता हूँ!' पर वह केवल अपने पिता की ओर टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप हो रहा।

घर पहुँचकर पंडित जी ने पत्नी से इसी बात का उल्लेख करते हुए

कहा कि चेतन अत्यन्त कायर और भीरु है—"मैं इन साले गार्डों और चेकरों को इतना खिलाता-पिलाता हूँ," उन्होंने सरोष कहा, "और इस साले से इतना भी नहीं कहा गया कि यह मेरा बेटा है और मुझसे मिलने आ रहा है। अब तो वे सब मुझे जानते हैं, न भी जानते हों तो किसी साले की मजाल है कि मेरे बेटे को चार्ज कर ले।" और मूँछों पर ताव देते हुए उन्होंने कहा, "मलावा राम—टिकट-चेकर—अफ़सोस कर रहा था, कह रहा था कि वह मेरे सब दूसरे बेटों को जानता है, इसी को उसने नहीं देखा। देखता वह क्या ख़ाक?" पंडित जी ने अपनी ओर से कहा "इस साले को तो यहाँ आते मौत आती है। यह दो शब्द भी कह देता तो वह इसे चार्ज न करता।"

और चेतन को गर्दन से पकड़कर झकझोरते और दो चार 'मधुर वचन' सुनाते हुए पंडित जी ने उसे आदेश दिया था कि वह अपने दिल में कुछ साहस पैदा करे—मरियल-सा न बना रहे। यदि उसे कभी टिकट-चेकर मिल जाय तो निडर हो उससे कह दिया करे कि वह अमुक स्टेशन मास्टर का लड़का है और उनसे मिलने जा रहा है। टिकट-चेकर उसे खा न जायगा। और उन्होंने उसे पुनः समझाया था कि यदि कोई ऐसा टिकट-चेकर मिल जाय जो उन्हें न जानता हो तो बेधड़क कह दिया करे कि गाड़ी चलने वाली थी, टिकट लेने का समय न था, इसलिए वह बैठ गय। । मकेरियाँ जाकर वह उतरेगा और वहीं जुर्माना या किराया अदा करेगा, इससे पहले नहीं।

संध्या को जब चेतन तेल का कनस्तर लेकर लौटा था तो अपने पिता के प्रति उसके मन में घृणा की एक और तह चढ़ गयी थी। वह समझ न पाता था कि माता और पिता में से किसकी बात माने। माँ उसे सदैव सत्य बोलने, धर्म और पुण्य के काम करने की प्रेरणा देती थी और पिता सदैव उसे उलटी बात सुझाते थे। क्यों उन्होंने उसे सत्य बोलने पर पीटा, क्यों गालियाँ दीं?

साँझ की गोधूलि रात की कालिमा में परिणत हो चुकी थी। रेलवे रोड की सड़क उजड़ी और सुनसान पड़ी थी। (उन दिनों उस पर इतनी दुकानें और सिनेमा हाऊस न बने थे और वहाँ इतनी रौनक़ न होती थी।) वह सिर पर तेल का भरा कनस्तर उठाये सड़क की निस्तब्धता से भयभीत, कनस्तर के बोझ से दबा, धीरे-धीरे चला जा रहा था। उसकी गर्दन ऐंठ गयी थी, कमर दुखने लगी थी और निर्दोष पीटे जाने का ध्यान आ जाने से रोष के कारण आँखों से आँसू वह रहे थे। उसी तरह चलते-चलते उसने एक जगह रुककर कुर्त्ते की बाँह से अपनी आँखों को पोंछा और प्रतिज्ञा की कि चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह कभी उस क्रूर, अन्यायी पिता के पास न जायगा—कभी न जायगा वह।

किंतु उसे फिर वहाँ जाना पड़ा और वह भी एक लम्बे अर्से के लिए। वह आठवीं में पढ़ता था कि उसे मलेरिया ने आ दबाया, और जब निरन्तर कई महीनों तक ज्वर से पीड़ित रहने पर उसे कुछ आराम आया तो डाक्टर ने परामर्श दिया कि उसे तत्काल उस कल्लोवानी मुहल्ले के गन्दे वातावरण से निकालकर खुली हवा में ले जाया जाय। तब पिता ने उसे आदेश दिया कि वह बिना विलम्ब किये मकेरियाँ चला आये; जलवायु बदल जायगी और फिर मकेरियाँ के अस्पताल का डाक्टर उनका मित्र है, किसी प्रकार का कष्ट होगा तो उपचार आसानी से किया जा सकेगा। और उसे विवश हो अपने पिता के पास जाना पड़ा था।

वह महीना भर वहाँ रहा, किंतु इस अर्से में कभी अपने पिता के सामने न हुआ। वे घर आते तो वह स्टेशन पर चला जाता, स्टेशन पर जाते तो माल गोदाम की ओर खिसक जाता। माल गोदाम जाते तो घर आ जाता अथवा खेतों-खलिहानों की ओर निकल जाता या फिर किसी रहँट की जगत पर बैठा चुपचाप रहँट का मधुर मदिर स्वर सुनता। यहाँ तक कि

एक दिन उसके पिता ने उसकी माँ से पूछ ही लिया, "चेतन इतने दिनों से आया हुआ है पर मैंने उसकी सूरत तक नहीं देखी। वह मेरे सामने आता क्यों नहीं ?"

जब चेतन घर आया तो माँ ने हँसते-हँसते यही बात उससे पूछी।

"मुझे उनसे डर लगता है" चेतन ने कहा।

जब उसके पिता ने यह बात सुनी तो वे गरजे—"वह हरामज़ादा मेरा बेटा नहीं, कायर और नपुंसक !"

चेतन ने उनका यह गर्जन सुन लिया। एक बगूला-सा उसके अन्तर में उठा। दूसरे ही दिन वह चुपचाप गाड़ी पर सवार होकर जालन्धर आ गया और यद्यपि उसने माँ से कहा था कि वह शीघ्र ही लौट आयगा, किंतु वह फिर मकेरियाँ नहीं गया।

सारी-की-सारी घटना चेतन के सम्मुख घूम गयी और तभी उसे अपनी शंका का समाधान भी मिल गया। वह सोचता था कि उसके मन में इस अन्याय, क्रूरता तथा अत्याचार के प्रति कभी प्रतिक्रिया क्यों नहीं हुई ? अब उसे अचानक मालूम हुआ कि प्रतिक्रिया तो उसके मन में अज्ञात-रूप से होती थी, किंतु उसका पता उसे न चलता था। वह उसके अर्ध-चेतन मन में होती थी; अपने उन अवसादमय क्षणों में उस प्रतिक्रिया का रूप ज्ञेय होकर उसके सम्मुख आ गया। पिटकर खेतों-खलिहानों में उसका भटकना; प्रकृति के दृश्यों में निमग्न होकर अपने मन की पीड़ा को भुलाना; बीमार रहकर अपने पिता की चिन्ता का कारण बनना; मकेरियाँ से भागकर फिर वहाँ कभी न जाना—यह सब उस प्रतिक्रिया ही का तो अज्ञात-रूप था।

बात वास्तव में यह थी कि उस प्रतिक्रिया को उसकी आँखों से छिपा लेने वाली, उस कटु-वातावरण में रहते हुए भी, उसे उससे ऊपर उठाने वाली एक प्रबल शक्ति उसके अपने अन्तर में अनजाने ही में संचित होती

रही थी। वह जब भी कटुताओं की चट्टानों से टकराया तो टुकड़े-टुकड़े होने के बदले, सदा उसी शक्ति के बल पर उभरता रहा। उसी के बल पर खिन्न होकर भी उसने खिन्नता अनुभव नहीं की। दुखी होकर भी दुख को भूलता रहा। निराशा की गहन-निविड़ता में आशान्वित रहा। उसका वह सन्तोष प्रतिक्रिया के अभाव के कारण न था, वरन इस आन्तरिक-शक्ति के संचय के कारण था।

किंतु अब वह शक्ति उसकी सहायक क्यों नहीं होती? वह झुँझलाता, 'कविराज की धूर्त्तता को देखकर और यह जानकर कि वह शोषित है, वह इतना खिन्न, इतना अन्यमनस्क क्यों हो बैठा? क्यों पहले ही की तरह इस खिन्नता को झटककर, स्वस्थ होकर नहीं उठ बैठा?'

साँझ का अंधकार प्रतिक्षण गहरा होता जा रहा था। बाहर अनवरत वर्षा हो रही थी। मकानों की छतें मुखर हो उठी थीं। रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। परनालों का पानी शोर मचाता हुआ नालों में मिल रहा था और नालों का पानी उन्मत्त हो उछलता-कूदता नीचे खड्ड में चला जा रहा था। इस समस्त कोलाहल में, बिजली जलाये बिना, अँधेरे ही में चेतन अपने बिस्तर पर अन्यमनस्क पड़ा था। उस सारे कोलाहल में उसे ऐसी नीरवता का आभास हो रहा था जो उसे निगले जा रही थी। पुरानी स्मृतियाँ नयी बन-बनकर उसके सामने आ रही थीं और वह हर बार रो-सा उठता था। उसे लगता था जैसे सारी दुनिया में वह अकेला है और सारी दुनिया उसका शोषण करने पर तुली हुई है।

यद्यपि वह आज भी दोपहर को बाज़ार न गया था और भूखा ही पड़ रहा था तो भी महज़ खाना खाने के लिए मिडिल बाज़ार जाने की इच्छा उसे बिलकुल न थी। दूध पीकर ही वह सो जायगा, उसने सोच रखा

था और वहीं लेटा वह करवटें बदलता, उठता-बैठता, कमरे में चक्कर लगाता अपने मन की गुत्थियों को सुलझाने-उलझाने में निमग्न रहा था।

बाह्य कटुता के निरन्तर प्रहारों ने उसके अन्तर में जिस शक्ति का उद्रेक किया था वह थी उसकी कल्पना-शक्ति। जब भी वह दुखी होता, पिटता तो इस दुख और कष्ट के संसार से निकलकर वह कल्पना के सुखद सुरम्य लोक में जा पहुँचता।

जब वह बहुत छोटा था, तब भी जब दिन के दुख से खिन्न क्लांत हो वह रात को लेटता तो सोने से पहले उसकी कल्पना उसके सम्मुख राम और सीता की मूर्तियों को ला खड़ा करती। राम उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरते, सीता जी उसे अपनी गोद में लेकर प्यार करतीं और वह पिता की मार-पीट, झिड़कियों और गालियों का दुख भूल जाता। उसके शरीर की समस्त पीड़ा एक मदिर मीठी सिहरन में बदल जाती।

उसने माँ से उस गिलहरी की कहानी सुनी थी, जो रावण के विरुद्ध राम की सहायता को तैयार हो गयी थी। राम ने प्रसन्न होकर प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरा था, जिससे गिलहरी की पीठ पर पाँच धारियाँ बन गयी थीं। अपने सपनों में उस प्यार भरे हाथ के नीचे वह उस गिलहरी ही की तरह दोहरा-सा हो जाता :

कभी वह वृन्दावन के काल्पनिक कुंजों में कान्ह के ग्वाल-बालों में जा मिलता और सुन्दर सुकोमल गोपियों के संग रास रचाता। उसकी माँ अथवा परदादी दिन में उसे जो कहानियाँ सुनातीं, रात को वह उन्हीं का नायक बन जाता। उसके अन्तर के किसी गुप्त स्तर में अपने पिता के दुर्व्यवहार के प्रति घोर प्रतिक्रिया हो रही है, अपने इन सुख-स्वप्नों में यह बात उसे कभी ज्ञात भी न होती। हो भी न सकती।

ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया उसकी कल्पना-शक्ति उसके सामने नित्य नये संसार बसाती रही। बाह्य-संसार में प्रेम से वंचित रहकर भी

वह कल्पना-संसार में जी भरकर प्रेम पाता रहा; बाह्य-संसार में उतना सफल न होते हुए भी स्वप्न-संसार में सदैव सफल-मनोरथ होता रहा। शैशव से लेकर युवावस्था तक यही आन्तरिक कल्पना-शक्ति उसकी सहायक रही, उसकी समस्त कटुताओं को भुलाये रही। चंगड़ मुहल्ले का कलुषित वातावरण, समाचार-पत्र की घुटी-घुटी, संकुचित, दम घोटने वाली फ़िज़ा उसकी कल्पना के पारस को छूकर प्रशस्त, विशाल, सुखद, सुरम्य, स्वर्णिम हो जाती। वह सोचता—इस वातावरण से वह एक दिन अवश्य ऊपर उठ जायगा; सम्पन्न, सुखी और सफल होगा। अपने अदम्य आशावाद के सामने वह घोर-से-घोर निराशा को भी परास्त कर देता।

उसकी कल्पना के सम्मुख जीवन का महासागर अपनी विशालता के साथ हिलोरें लेता था। अपने-आपको वह सदैव उसके तट पर खड़े, चंचल-चपल ऊर्मियों को सोल्लास तकते पाता और सोचता—वह नौका लेकर इन उत्ताल तरंगों के वक्ष पर खेलता हुआ दूसरे किनारे जायगा; दूसरे किनारे—जहाँ सफलता है, सम्पन्नता है, सुख है। उसे अभी उपयुक्त नौका नहीं मिली और वह किनारे ही पर भाग-दौड़ कर रहा है। पर वह अवश्य ही उपयुक्त नौका पा लेगा, इस बात का उसे विश्वास था। उसकी कल्पना उसके इस विश्वास की नींव को दिन-प्रतिदिन पक्का करती रहती थी।

लेकिन रुल्दू भट्टे के उस अंधकार भरे कमरे में लेटे, अपने उन अवसाद के क्षणों में, उसे अपना यह आशावाद मूर्खता से अधिक कुछ न लगा। पीछे मुड़कर जो वह देखता तो उसे लगता कि वह तो सदैव ठगा जाता रहा है, उसकी कल्पना उसे सदैव धोखा देती रही है। उसके काल्पनिक प्रासादों की दीवारें सदैव ढहती रही हैं। तट के जिस-जिस भाग पर वह जाकर खड़ा हुआ, वह गिरता रहा है। उसके पाँवों के नीचे से मिट्टी सदैव

खिसकती रही है और वह उछलकर दूसरी जगह जा खड़ा होता रहा है। कुन्ती के साथ सुखी जीवन बिताने के हौसले; नीला के साथ सुख के संसार की कल्पना; कविराज की सहृदयता का सहारा पाकर असफलता के उदधि को लाँघकर सफलता को प्राप्त करने के स्वप्न—सब मिथ्या! सब झूठ!! मरीचिका की तरह निकट रहकर भी दूर!!! कविराज ने उसे जो अवसर दिया था, उसे वह नौका ही तो समझा था। किंतु जिसे वह नौका समझा था वह तो ग्राह निकला। और तभी उस शक्ति का झूठ जो आज तक उसे दुख, दैन्य, निराशा और असफलता से ऊपर उठाती आयी थी, उसके उन अवसाद के क्षणों में कई गुना बड़ा होकर, उसके सामने आ गया। उसका वह सम्बल ही छिन गया। यही कारण था कि जो शक्ति उसे बचपन से लेकर अब तक दुख में सुखी होना सिखाती आयी थी, आज ऐसा करने में नितान्त असमर्थ थी। आज वह अपनी खिन्नता, दुख, अवसाद और निराशा पर विजय पाने में सर्वथा असफल था।

उन निराश क्षणों में जब उसकी आँखों से कल्पना का पर्दा हट गया, उसने सारे संसार को उसके यथार्थ रूप में देखा। उसने पाया कि उसके इर्द-गिर्द जो संसार है उसमें दो वर्ग हैं—एक में अत्याचारी हैं, शोषक हैं; दूसरे में पीड़ित हैं, शोषित हैं! यह ज्ञान कि वह पीड़ित और शोषित है, उसे खिन्न किये दे रहा था।

उसे लगता था जैसे वाटिका की वीथियों में घूमते-घूमते उसने एक सुन्दर, पर विषैले पौधे का पत्ता तोड़कर मुँह में रख लिया है और उसकी जीभ और ओठ ही नहीं, उसका सीना तक जल उठा है। यदि सफलता के लिए केवल श्रम दरकार होता तो वह जान लड़ा देता किंतु छल छिद्र, धोखा-कपट—क्या वह धोखे का धोखे, कपट का कपट से मुकाबिला कर सकेगा? और यही उसके दुख का दूसरा कारण था।

उसकी सरलता को पहली बार जग की धूर्त्तता का सामना करना

पड़ा था। माँ ने पाप-पुण्य, भलाई-बुराई के जो विचार उसे घुट्टी के साथ पिलाये थे, वे उसे हवा होते दिखायी देते थे। जिस बुराई के साथ वह अन्तर में लड़ता था, वह तो उसे सर्वव्यापी दिखायी देती थी। सत्य, शिव, सुन्दर में विश्वास करने वाले उसके विश्वासी, आदर्शप्रिय, भावुक हृदय पर पहली बार जग की व्यावहारिकता का प्रहार हुआ था और उसका दिमाग़ इतना कच्चा था, चोट इतनी अज्ञात थी कि वह उसके स्थल को न जान पा रहा था। उसे लगता था, जैसे वह अपने विश्वासों की चोटी से गिरता जा रहा है और सहारा पाने के लिए शून्य में हाथ-पाँव मार रहा है।

कविराज तथा उनकी पत्नी की 'सहृदयता', सहृदयता तो दूर, उनकी दयानतदारी के सम्बन्ध में भी वह अपना पहला विश्वास खो बैठा था। अनन्त को शिमला आने से पहले लिखे हुए पत्र की एक-एक पंक्ति उसके सामने घूम रही थी। अपने इस विश्वास को खो देने का भी उसे दुख था। कविराज के वास्तविक रूप को जानने के साथ ही पहली बार उसे अपनी सरलता अथवा मूर्खता का बोध हुआ था और अपने-आपको मूर्ख मानना उसके अहं को स्वीकार न था।

अंधकार और भी गहरा हो गया था। वर्षा उसी प्रकार हो रही थी, वह उसी प्रकार खिन्न-मलीन लेटा हुआ था कि उसे कविराज के जूतों की परिचित ध्वनि सुनायी दी। वह हिला तक नहीं। पूर्ववत् लेटा रहा। तब उसके कमरे की बिजली जली और वाटरप्रूफ़ कोट उतारते हुए कविराज जी ने चिन्तित स्वर में पूछा कि बात क्या है, वह इस प्रकार क्यों लेटा हुआ है?

चेतन चुपचाप लेटा रहा।

कविराज उसकी चारपाई पर आ बैठे। कुछ क्षण तक उसकी कलाई थामे नाड़ी देखते रहे। फिर उन्होंने कहा, "तुमने कसरत आज कुछ ज़्यादा

कर ली है शायद, तुम्हें सिर्फ़ आराम ही करना चाहिए। गर्म-गर्म शरीर से तुमने स्नान कर लिया होगा, और क्या ?" और जैसे उन्होंने उसकी नित्य स्नान करने की सनक को लक्ष्य करके बेज़ारी से सिर हिलाया। उसे हर काम में मध्य मार्ग ग्रहण करने पर एक छोटा-सा लेक्चर दिया और अन्त में परामर्श दिया कि उसे उबलते हुए दूध में अंडे हल करके सेवन करने चाहिएँ। "मैं अभी स्वयं बनाकर तुम्हारे लिए ले आता हूँ।" वे व्यस्त होते हुए बोले। "गर्म-गर्म पीकर रज़ाई ओढ़कर सो जाओ। भगवान ने चाहा तो सुबह तक तुम स्वस्थ हो जाओगे।"

यह कहकर वे बरसाती लिये हुए अन्दर चले गये।

"पाजी !" चेतन ने मन-ही-मन कहा। वह ओठों में उपेक्षा से हँसा। फिर उसने करवट बदल ली और पेट के बल हो, बाँहों में सिर देकर अन्यमनस्क लेटा रहा।

५२

तीन दिन तक कविराज चेतन को दूध और अंडे मिलाकर पिलाते रहे और चौथे दिन (इतवार होने के कारण) उन्होंने उसे 'चैडविक प्रपात' दिखा लाने का प्रस्ताव किया।

बर्फीले पहाड़ों के हिम-मंडित धवल-शिखर जैसे प्रातःकालीन धुन्ध से ढककर मलिन दिखायी देते हैं, किंतु सूरज के उदित होते ही धुन्ध के छट जाने पर फिर चमक उठते हैं, उसी प्रकार चेतन के हृदय की उज्ज्वल चोटियाँ क्षणिक दुर्बलता की धुन्ध से ढक गयी थीं। उसकी कल्पना के चिर-प्रकाश और उसके हृदय के (आशावाद रूपी) धवल शिखरों के मध्य दुर्बलता-जनित निराशा की धुँधियाली-सी छा गयी थी, किंतु धीरे-धीरे सूरज की किरणें धुँधियाली को बेध रही थीं, क्षत-विक्षत हो धुन्ध छट रही थी और उसके हृदय-शिखर पुनः अपनी धवलता, उज्ज्वलता, निर्मलता और अपनी समस्त चमक-दमक पा रहे थे।

वह सोचता—यदि आज वह दुर्बल है तो क्या कभी सबल न होगा?

हताश होकर वह क्यों बैठ गया है? सृष्टि में चारों ओर वह दृष्टि दौड़ाता तो उसके अपरिपक्व मन को सब जगह जंगल का नियम (निर्बलों पर बलवान की विजय) क्रियाशील दिखायी देता। यदि इस संसार में बलवान ही को जीत प्राप्त होती है तो वह बल का संचय क्यों न करे? क्या हुआ यदि उसके शारीरिक बल को उसकी कटु परिस्थितियों ने शैशव ही में पंगु बना दिया है, क्या हुआ यदि उसे धन का बल भी प्राप्त नहीं, उसे बुद्धि का बल तो प्राप्त हो सकता है। चाणक्य ने इसी बल के द्वारा नन्द से अपने अपमान का बदला लिया था। उसका राज्य उलटकर चन्द्रगुप्त को न केवल सिंहासन पर बैठाया, बल्कि उसको अपने इंगित पर चलाया; धनिक तो दूर रहे, बड़े-बड़े राजा महाराजाओं के मान मर्दन किये और महान कहलाये। तो फिर वह भी बुद्धि का ही बल क्यों न ग्रहण करे? . . . . . और उसी अंधकारमय कमरे में खिन्न-मन बैठे-बैठे उसे लगा जैसे चाणक्य की आत्मा उसके अन्तर में प्रवेश कर गयी है, उसे लगा जैसे वह स्वयं उस बुद्धिशाली का वंशज है। कल्पना-ही-कल्पना में उसने अपने-आपको चाणक्य के रूप में देखा और पाया कि धन और बल की सत्ता उसके सामने अकिंचन होकर रह गयी है। अपने-आप में उसने अपार बल का अनुभव किया। उसका क्रोध धीरे-धीरे शांत हो गया। और जब कविराज चैडविक प्रपात दिखा लाने का प्रस्ताव लेकर आये तो आँधी का वेग समाप्त हो चुका था और वातावरण पर हल्की-सी ठंडी-ठंडी बयार डोल रही थी।

अपने उस नये आत्मबल के प्रभाव में चेतन ने कविराज की ओर इस प्रकार देखा जैसे कोई बलशाली पुरुष किसी अकिंचन बौने की ओर देखता है। उसने चैडविक की बड़ी प्रशंसा सुनी थी, किंतु उसे देखने का अवसर उसे न मिला था। कई दिन से अन्यमनस्क लेटा-लेटा वह उकता भी गया था, इसलिए प्रस्ताव उसने स्वीकार कर लिया।

कविराज ने अपनी सहृदय पत्नी से अवश्य ही कोई-न-कोई बहाना

किया होगा, क्योंकि यदि वे उसको बताकर चलत तो उनके पास थर्मास में चाय अथवा दूध और रूमाल में मठरियाँ अथवा बेसन आदि कोई-न-कोई घर ही में तैयार की हुई मिठाई अवश्य होती, किंतु जब चले तो वे बिलकुल खाली हाथ थे। लोअर बाज़ार पहुँचकर उन्होंने एक रुपये की मिठाई ख़रीदी और चेतन के बार-बार अनुरोध करने पर भी वे उसे स्वयं उठाये रहे।

मार्ग में कविराज ने उससे अपनी पुस्तक के बारे में दो-तीन विज्ञापन बनवा लिये। वे अपनी वाणी में इतनी मिठास भर लेते थे और फिर इतनी सावधानी से बातें करते थे कि आदमी अनायास ही उनके जाल में फँस जाता था। अपने समस्त नये आत्मबल के बावजूद चेतन अभी उनके सामने बच्चा था। न जाने उन्होंने किस प्रकार बातों का सिलसिला शुरू किया, किंतु धीरे-धीरे वे उसे विज्ञापनबाज़ी पर ले आये। आधुनिक युग में विज्ञापनबाज़ी के महत्व पर उन्होंने छोटा-सा भाषण दे डाला :

"आज का युग विज्ञापनबाज़ी का युग है," उन्होंने कहा, "आज विनम्रता से, गुण के पारखियों की गुणग्राहकता पर विश्वास करके, काम नहीं चलता, बल्कि छत पर खड़े होकर डंके की चोट अपनी चीज़ का, अपने आविष्कार का, अपनी कला का, अपनी कृति का, अपने चरित्र और उसके गुणों का ढिंढोरा पीटने ही से जनता में सुनवाई होती है। सफल व्यक्ति के लिए बुद्धिमान होना, किसी उपयोगी चीज़ का आविष्कार करना, अथवा किसी कला-कृति का सृजन करना ही यथेष्ट नहीं, सफल विज्ञापनबाज़ होना भी आवश्यक है। विनम्र व्यक्ति आज की दुनिया में मरु का फूल होकर रह जायगा, जनता के गले का हार बनना उसके भाग्य में नहीं।"

और कविराज जी अपने प्रिय विषय 'मैं' तक पहुँच गये और बोले "मेरी सफलता का भेद दूसरी बातों के अतिरिक्त इसमें भी निहित है कि मैंने अपनी औषधियों का, अपनी पुस्तकों का बड़ी चतुराई से विज्ञापन किया है। जनता को पता भी नहीं चला और पुस्तकें और दवाइयाँ उसके

दिल में घर कर गयीं। अवकाश का समय मैंने सदैव नयी स्कीमें बनाने अथवा नये विज्ञापन सोचने में लगाया है।" और सहसा अपने मन्तव्य पर आते हुए उन्होंने कहा, "मैंने अभी कल दो विज्ञापन बनाये हैं। मैं शिमले में पहली बार आया हूँ, रोगी अभी उतने आते नहीं। आयें भी कैसे ? उन्हें पता भी हो कि मैं यहाँ आ गया हूँ। लेकिन मैं कोशिश कर रहा हूँ कि शिमला और दूसरे निकटवर्ती स्थानों के लोग मेरे नाम से अच्छी तरह परिचित हो जायँ। दवाखाना अपने में स्वयं एक बड़ा विज्ञापन है। मैं जब भी किसी पहाड़ पर जाता हूँ, वहाँ अपने निजी मकान के अतिरिक्त दवाखाने के लिए अवश्य स्थान लेता हूँ। बेकार बैठे सेहत बनाना मुझ पसन्द नहीं और घर में काम हो नहीं सकता। दवाखाना, एक तरह से न केवल मेरे आफ़िस का काम देता है, बल्कि विज्ञापन का भी। देश के विभिन्न प्रान्तों से सैर को आने वाले बाज़ार से गुज़रते समय मेरे नाम से परिचित हो जाते हैं। शिमले में भी जब से आया हूँ, कुछ-न-कुछ कर ही रहा हूँ। मिडिल बाज़ार की समस्त दुकानों, लोअर बाज़ार के समस्त होटलों और तंदूरों के अन्दर मैंने अपनी पुस्तक 'विवाह के भेद' के विज्ञापन लगवाये हैं। म्यूनिसिपेल कमेटी अपनी सीमा के अन्दर विज्ञापन लगाने अथवा विज्ञापन बाँटने की आज्ञा नहीं देती। इसलिए मैं जयदेव को साथ लेकर भराड़ी, संजोली, छोटे शिमले आदि निकटवर्ती बस्तियों में (जो पहाड़ी रियासतों के अन्तर्गत हैं) बड़ी-बड़ी चट्टानों और दीवारों पर अपनी पुस्तकों के नाम लिखवा आया हूँ। और तो और सोलन को जाने वाली सड़क पर (कमेटी की सीमा के बाहर) दूर तक मैंने चट्टानों और पत्थरों पर अपनी पुस्तकों के नाम लिखवा दिये हैं। लाभ यह होगा कि मोटरों से आने-जाने वाले उनसे परिचित हो जायँगे। एक ही नाम जब बार-बार आँखों के आगे आता है तो वह मानसपट पर अंकित हो जाता है। और इस बहाने सैर भी हो जाती है और काम भी।"

अपनी इस कारगुज़ारी पर वे हँसे और फिर उन्होंने अपनी बात जारी रखते हुए कहा––

"मैं जिस पहाड़ पर जाता हूँ, वहाँ के निवास-काल में अपनी पुस्तकों का पूरा-पूरा प्रचार करता हूँ, ताकि यदि फिर कभी मुझे वहाँ जाना पड़े तो किसी प्रकार का कष्ट न हो। पुस्तकें मैंने इस ढंग से लिखी हैं कि उन्हें जो पढ़ लेता है वह इलाज-उपचार के लिए सीधा मेरे पास आता है।" अनायास उनका हाथ अपनी मूँछों पर चला गया। और आत्म-तुष्टि की अनुभूति से उनके ओठों की मुस्कान उनके सारे मुख पर फैल गयी। कुछ क्षण चुप चलते रहने के बाद वे बोले––

"मैं विज्ञापनबाज़ी के नित्य नये ढंग सोचता हूँ। चाहता हूँ कि एक विज्ञापन दूसरे से न मिले। उसमें नवीनता हो, उपज हो, मौलिकता हो।"......और सहसा उन्होंने दो एक विज्ञापन चेतन को दिखाये।

चेतन चुपचाप उनकी बातें सुनता चला आया था। एक-दो बार मन-ही-मन उन्हें गालियाँ भी दे चुका था और जब कविराज जी ने विज्ञापन दिखाये तो उसने बड़ी अन्यमनस्कता से उन्हें देखना शुरू किया, किंतु पढ़ते-पढ़ते उसके अन्तर का कलाकार सजग हो उठा। "इनमें बारीकी नहीं," उसने कहा, "ये विज्ञापन स्पष्ट और अनगढ़ दिखायी देते हैं। तत्काल पता चल जाता है कि विज्ञापन है। विज्ञापन होना चाहिए जैसे संक्षिप्त कहानी। उसकी पहली पंक्ति ही पाठक के ध्यान को ऐसा बाँध ले कि वह अन्त तक बँधा चला जाय। अन्त पर पहुँचकर ही उसे मालूम हो कि वह तो एक विज्ञापन पढ़ रहा था।"

और चलते-चलते उसने कविराज की पुस्तक 'विवाह के भेद' का विज्ञापन बनाया।

ट्रंक गुम हो गया

मैं इंग्लिस्तान से एस० एस० जहाँगीर पर आ रहा था।

रास्ते में मेरा एक क़ीमती ट्रंक खो गया। वैवाहिक जीवन की समस्याओं पर लिखी और योरुप से ख़रीदी हुई बीसियों उत्कृष्ट और बहुमूल्य पुस्तकें उसमें बन्द थीं। बम्बई पहुँचकर मैंने इस बात की घोषणा पत्र-पत्रिकाओं में की थी कि जो व्यक्ति उस ट्रंक को मुझ तक पहुँचा देगा उसे मैं ५०० रुपया पुरस्कार-स्वरूप दूँगा। अब इस सूचना द्वारा मैं अपनी वह विज्ञप्ति वापस लेता हूँ। जो भाई ट्रंक की खोज में लगे हों, वे अब कष्ट न करें, क्योंकि उन सब पुस्तकों का निचोड़ मुझे एक ही पुस्तक में मिल गया है, जिसे लाहौर के प्रख्यात वैद्य कविराज रामदास जी ने लिखा है और जिसका नाम सत्य ही उन्होंने "विवाह के भेद" रखा है।

—डी० आर० टैक्नाइट, गोरखपुर

पत्थर की गगनचुम्बी दीवार ऐसे पहाड़ में बहुत ऊपर, एक छिद्र में से पिघली हुई चाँदी की तरह बीसियों पेड़-पौधों को नहलाता, फुहारें उड़ाता, चैडविक प्रपात एक विशाल रजत-पट की भाँति लहराता हुआ नीचे गिर रहा था। वह फुहार जैसे बिना स्पर्श मन की सब खिन्नता, सारी थकन, समस्त क्लान्ति को धो रही थी।

प्रपात के नीचे पहुँचकर कविराज उसके पास ही एक चट्टान पर बैठ गये। चेतन उनसे कुछ अंतर पर बैठा। यद्यपि प्रपात उनसे तनिक दूर गिरता था तो भी उसकी फुहार का कोई-कोई कण उड़कर उन तक आ जाता था। कुछ देर तक दोनों चुपचाप प्रकृति के इस अनुपम सौन्दर्य को देखते रहे। फिर उन्होंने लोअर बाज़ार से ली हुई मिठाई खाकर ठंडा पानी पिया। और फिर न जाने कुछ उमंग में आकर अथवा चेतन को कुछ उदास देखकर कविराज ने एक गाना सुनाया :

लंघ आ जा पत्तन झनाँ दा,
ओ यार,
आ जा पत्तन झनाँ दा ![1]

उनके स्वर में इतनी मधुरता, इतनी आर्द्रता और इतनी लय थी कि चेतन चकित-सा, मुग्ध-सा उनका गाना सुनता रहा।

ठंडी वायु से हिलते हुए पेड़ों की मर्मर और प्रपात की मादक छर्र-छहर कविराज के गाने के लिए वाद्य-यन्त्रों का काम दे रही थी और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों से घिरे उस नीरव स्थान में उनका स्वर झरने के कलकल नाद से मिलकर सारे वातावरण को एक विचित्र आर्द्रता से भर रहा था।

कविराज गा रहे थे और चेतन सोचता था—यह व्यक्ति, जिसे वह केवल एक चतुर व्यापारी, एक हृदयहीन शोषक समझता था, अपने वक्ष में हृदय भी रखता है ! इसने अवश्य ही कभी-न-कभी प्रेम भी किया है। चाहे अब उस प्रेम की चिनगारी दुनियादारी की राख के नीचे दब गयी हो, लेकिन वह एकदम बुझ नहीं गयी, कहीं उस व्यावहारिकता, चतुराई, व्यापार, प्रवंचना, छल-कपट के नीचे दबी पड़ी है। और चेतन ने सोचा—मनुष्य क्यों अपने-आप पर एक ख़ौल चढ़ाने को विवश है, क्या कोई ऐसी व्यवस्था नहीं जिसमें वह जैसा है वैसा रह सके; उसे छल-कपट, धोखे-धड़ी, शोषण और उत्पीड़न की आवश्यकता न पड़े। वह अपने गुणों को जिला दे, चमकाये, मन्द न पड़ने दे, इस प्रकार क़ैद न करे, दबाकर न रखे !—कितना दर्द है इस कंठ में, कितना सुन्दर है यह गीत, कितना गीला, कैसी मनुहार है इसमें !

---

[1] ऐ मेरे प्रिय चनाब (नदी) को पार करके मुझसे आ मिल—ओ मेरे प्रिय मुझसे आ मिल।

तेरी डाची दे गल विच टल्लियाँ,
वे मैं पीर मनावन चल्लियाँ,
चाहे बुरी आँ, ते चाहे भली आँ
ओ यार,
आ जा पत्तन झनाँ दा ![1]

चेतन ने सोचा कि आयुर्वेदाचार्य के स्थान पर वे गायनाचार्य क्यों न बनें ? उसके ऐसा गला होता तो वह अवश्य ही एक प्रसिद्ध गायक बनता। इतना अमृत, इतनी मिठास ! यह कहीं बन्द करके रखने की चीज़ है ? वह तो उन्मत्त गाता फिरता, अपनी तानों से अपने वातावरण को गुँजाता फिरता, रस की धारें बहाता फिरता। और कविराज गा रहे थे :

साडे यार दी एहो निशानी आँ,
लक्क पतला ते गल विच गानी आँ,[2]
तेरा नां दिन रात ध्यानी आँ,
ओ यार,
आ जा पत्तन झनाँ दा ![3]

सुनते-सुनते नयी श्रद्धा से उसका मन प्लावित हो उठा। वह भूल गया कि कविराज शोषक हैं, व्यापारी हैं, दुनियादार हैं। उसके सामने रह गया केवल उनका कलाकार जो अनायास अपने आवरण को उतारकर गा

---

[1] तेरी ऊँटनी के गले में टल्लियाँ (घंटियाँ) हैं—तेरी खातिर मैं पीर की मन्नत मनाने चली हूँ। चाहे बुरी हूँ चाहे भली हूँ ऐ मेरे प्रिय, चनाब को पार कर आ जा।

[2] मेरे प्रिय की यही निशानी है। कमर पतली और कंठ में कवच है।

[3] ओ प्रिय, मैं तेरे नाम का ध्यान करती हूँ। चनाब घाट पार कर आजा।

उठा था; रह गया केवल मानव, जो उस स्वच्छन्द स्थान में अपने स्वाभाविक वन्धनों से मुक्त होने के लिए तड़फड़ा उठा था; एक गायक, जो अनायास रस के सागर उँडेल रहा था ! और कविराज ने गीत समाप्त कर दिया।

"बहुत कम लोग हैं," कविराज जी ने गीत खतम कर किंचित हँसते हुए कहा, "जिनको इस बात का पता है कि मैं गा भी लेता हूँ।" और अपनी रौ में उन्होंने एक बीस वर्ष पहले गाया जाने वाला गीत चेतन को सुनाया।

दिन चढ़िया ते पै गयी जुदाई, वे नहीं कोई गल्ल पुच्छ लई
सस्सी चोरी चोरी प्रीत लगायी, वे नहीं कोई गल्ल पुच्छ लई
रात अँधेरी, वेले-कुवेले
मांएँ नी ढूँढा जंगल, वेले
दिस्सदा नहीं मरा माही, वे नहीं कोई गल्ल पुच्छ लई
डूंघी नदी आ, तल्ला वे पुराना
मैं अनतारू तरन न जाना
कंढे ते खड़ा मेरा माही, वे नहीं कोई गल्ल पुच्छ लई
दिन चढ़िया ते पै गयी जुदाई, वे नहीं कोई गल्ल पुच्छ लई[1]

---

[1] दिन चढ़ते ही जुदाई हो गयी। कोई बात भी न कर सकी मैं।

सस्सी ने चोरी-चोरी प्रीत लगायी, उसे बात करने का अवसर न मिला।

अँधेरी रात में समय-कुसमय ओ माँ, मैं बेले वीराने ढूँढ़ती हूँ, लेकिन मेरा प्रिय कहीं दिखायी नहीं देता।

गहरी नदी है, नाव का तला पुराना है और मैं तैरना जानती नहीं और किनारे पर माही खड़ा है। (भगवान ही नौका को बचाये और उससे मिलाये)।

दिन चढ़ते ही जुदाई हो गयी, कोई बात भी न कर सकी मैं।

शाम होने को आयी थी और चैडविक प्रपात को आने वाला मार्ग बहुत ऊबड़खाबड़ था। इसलिए जब कविराज ने दूसरा गीत समाप्त किया तो वे उठ खड़े हुए। एक लम्बी साँस लेकर उन्होंने कहा, "चलो भाई! इन गीतों का अन्त कहाँ, लेकिन दिन का अन्त तो आ पहुँचा है।"

वापसी पर कविराज ने अपने जीवन की कहानी छेड़ दी और जाने अथवा अनजाने में वे उसे कितनी ही ऐसी बातें बता गये जो वे शायद किसी और को न बताते।

चेतन जान गया कि चार वर्ष के बदले उन्होंने केवल एक ही वर्ष आयुर्वैदिक कॉलेज में शिक्षा पायी है और जब उन्होंने प्रेक्टिस आरम्भ की थी तो उन्हें आयुर्वेद का उतना ज्ञान न था। पर अपने परिश्रम, अध्यवसाय, निष्ठा और व्यवहार-कुशलता के बल पर उन्होंने इतनी सफलता, धन, वैभव और ख्याति पायी।

चेतन यह भी जान गया कि उन्होंने प्रेक्टिस का आरम्भ न केवल हर तरह की पूँजी के अभाव में किया, बल्कि जब उन्होंने प्रेक्टिस आरम्भ की तो उनके सिर पर नौ हज़ार रुपया कर्ज़ था। कुछ रिश्तेदारों के साथ मिलकर उन्होंने ठेकेदारी आरम्भ की थी और उसमें घाटा आ गया था। पास तो कुछ था नहीं जो दे देते, पर मन-ही-मन उन्होंने उस रक़म को अपने ऊपर एक ऋण मान लिया।

"तब मेरे एक मित्र ने जिसे मैं बचपन में प्यार करता था मेरी सहायता की।" उन्होंने बताया, "आयुर्वैदिक कॉलेज में तब एक ही वर्ष में डिग्री मिल जाती थी। घर वालों से मेरी बनती न थी, इसलिए पत्नी को भी लाहौर ले आया और मेरा वह मित्र हम दोनों का खर्च भेजता रहा। फिर वह समय भी आया कि मुझे जिन लोगों का कर्ज़ देना था उनको मैंने पाई-पाई चुका दी। यही नहीं, बल्कि वे मेरे ऋणी हो गये।"

चेतन की उत्सुकता उनकी जीवन-गाथा सुनने के बदले उनके मित्र के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहती थी। उसने उनकी बात काटकर पूछा, "फिर वह मित्र आप से नहीं मिला।"

कविराज जी की वाणी गद्गद् हो गयी। उहोंने कहा, "एक बार वह दवाखाने आया था। तब मैंने उससे कहा, "मैं तुम्हारी क्या ख़ातिर करूँ ? किसी चीज़ के लिए पूछते हुए भी मुझे शर्म आती है, क्योंकि सब कुछ तो तुम्हारा ही है।"

और उन्होंने उसे बताया कि किस प्रकार वे चंगड़ मुहल्ले में रहते रहे और उन्होंने स्वयं अत्यन्त विपन्नता के दिन देखे।......और अपनी रौ में वे एक अभिन्न मित्र की तरह संगत-असंगत, कथनीय-अकथनीय सब बातें उसे बता गये। और संध्या समय जब चेतन अपने कमरे में पहुँचा तो उसे लगा जैसे कविराज के प्रति उसके मन में जितना क्रोध था, वह सब पिघल चुका है। तब यद्यपि उन्होंने उससे दो-तीन विज्ञापन बनवाकर सप्ताह भर के पैसे वसूल कर लिए थे, और चेतन यह समझता था तो भी उसने वहीं शिमले में ठहरकर उनकी पुस्तक समाप्त कर देने का निश्चय कर लिया।

जीवन की धूर्तता से उसकी भावुकता का यह पहला समझौता था।

५३

दोपहर को जब बाबू लोग दफ़्तरों में होते और गृहिणियाँ घर के काम-काज से निबटकर सैर या सामान ख़रीदने को निकल जातीं या सो जातीं तो रल्दू भट्टे में एक तरह की नीरवता छा जाती। ऐसे समय में मन्नी प्राय: चेतन के कमरे की चौखट पर आ बैठती।

मन्नी का आना कुछ निश्चित न था। वह रोज़ आती हो, यह बात भी न थी। जब बीबी जी सो जातीं अथवा बाहर जाते समय उसे साथ न ले जातीं और छोटे काका रिरियाना भूलकर निद्रा में मग्न हो जाते तो वह अन्दर के दरवाज़े की चौखट पर आ बैठती। किंतु इतने ही से शिमले में चेतन का प्रवास सह्य हो जाता। अपनी शोषित और हीनावस्था पर विचार करता हुआ जब वह खिन्न-मन होता तो मन्नी के सामने सब बातें रखकर वह हल्का हो जाता और पुस्तक को आगे बढ़ाने के लिए नव-स्फूर्ति पा जाता।

मन्नी के प्रति चेतन का आकर्षण आरम्भ में कुछ शारीरिक ही था। शिमले को आते हुए, उस ऊमस और गर्मी की रात में जागते हुए, अपने

उस आन्तरिक उल्लास के प्रकाश में, मन्नी उसे सुन्दर लगी थी। लम्बे-तगड़े, बर्बर और बलिष्ठ यादराम के मुकाबिले में वह उसे एक चिड़िया-सी दीखी थी। जब शिमले में आकर दोपहर को कभी-कभी वह उसकी चौखट पर बैठने लगी तो चेतन को वह किसी हिंस्र पशु की बर्बरता से भयभीत मृगी के समान लगी थी। उसे महसूस हुआ जैसे वह उसके अपेक्षाकृत संस्कृत रूप ही की ओर आर्कर्षित हुई है। शुरू-शुरू में जब वह आती तो चेतन का हाथ अनायास अपने बालों पर चला जाता और उसकी अँगुलियाँ धीरे-धीरे बिखरी, उलझी लटों को सुलझाने लगतीं। वह उठकर कमरे में चक्कर लगाता-लगाता, मन्नी से बातें करता-करता, मैंटलपीस पर पड़े हुये शीशे के टुकड़े में अपना चेहरा देखकर आश्वस्त हो जाता कि वह मन्नी के बर्बर पति से चाहे सुन्दर और बलिष्ठ न हो, पर उससे कहीं अधिक संस्कृत दिखायी देता है। किंतु इस बीच में मन्नी ने तनिक भी आगे क़दम नहीं बढ़ाया, कोई ऐसी बात नहीं की जिससे चेतन को आगे बढ़ने का साहस होता। वह आती, चौखट पर बैठ जाती, उसके सुख-दुख की बातें सुनती, अपने सुख-दुख की बातें कहती और जब नीचे सीढ़ियों में, अथवा दूसरे कमरे में बीवी जी की पद-चाप सुनायी देती, या छोटे काका जागकर रिरियाने का क्रम शुरू कर देते तो वह धीरे से किवाड़ लगाकर खिसक जाती।

मन्नी का पति यादराम छः फुट लम्बा, हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर व्यक्ति था। कविराज जी के दवाखाने में औषधियाँ कूटने का काम करता था। इस काम के लिए तब उन्होंने मशीन न लगायी थी और यादराम ही मशीन का काम देता था। वह सचमुच मशीन था। उसमें अपार, अथक बल था। किंतु इन सारी बातों के होते, यद्यपि उनके विवाह को तीन वर्ष हो चुके थे, मन्नी की गोद पुत्र-रत्न से खाली थी और कविराज जी अपनी प्रसिद्ध औषधि 'पुत्र दाता' से अपनी इस नौकरानी को कुछ भी लाभ न पहुँचा सके

थे। मन्नी के शरीर में, उसकी आकृति में, उसकी आँखों में, उसके लटके-लटके, मीठे-मीठे, भीगे-भीगे स्वर में एक तरह की भूख छिपी रहती थी। उसी ने चेतन को बहुत देर तक भ्रम में डाले रखा, किंतु धीरे-धीरे उसकी वास्तविकता चेतन पर खुल गयी।

मन्नी कविराज जी के छोटे बच्चे की देख-रेख करने पर नियुक्त थी। तेरह-चौदह वर्ष के बाद कविराज जी के यह दूसरा पुत्र हुआ था। पहले और दूसरे पुत्र के जन्म में इतने वर्षों का अंतर आत्म-निग्रह का फल था अथवा पहले बच्चे के जन्म के बाद उनकी पत्नी के रोग ग्रसित होने का, यह तो नहीं कहा जा सकता, किंतु कविराज उसे अपने आयुर्वैदिक-परिज्ञान का ही फल बताया करते थे। जब उनके मित्र, इस अंतर का ज़िक्र करते हुए, इतने वर्षों बाद पुत्र का सुख देखने पर उन्हें बधाई देते तो कविराज उनका धन्यवाद देने के साथ बातों-बातों में बड़े गर्व से इस बात का उल्लेख कर देते कि बच्चा और वह भी नर बच्चा पैदा करना तो उनके आयुर्वैदिक ज्ञान का एक साधारण-सा चमत्कार है। उनकी प्रसिद्ध औषधि 'पुत्र दाता' यदि सावधानी से, आदेशानुसार, सेवन करायी जाय तो निश्चय ही बालक उत्पन्न होता है। रही इतने वर्षों के अंतर की बात, सो उनकी दूसरी प्रसिद्ध औषधि 'निरोध' का सेवन, जितने अर्से के लिए कोई चाहे, सन्तान-उत्पत्ति को रोक सकता है। प्रति वर्ष बच्चे पैदा करते जाने में उनका विश्वास नहीं। उनके विचार में तो पहले और दूसरे बच्चे में तेरह-चौदह वर्ष का अंतर अवश्य रहना चाहिए...और अपनी इस धारणा के लिए वे अजीबोग़रीब युक्तियाँ देते।

चेतन यह सब सुनता तो उस महान् प्रवंचक के प्रति अत्यन्त क्रोध से उसका तन-मन जल उठता; कभी इतना झूठ इतनी सफ़ाई से, निस्संकोच बोल सकने की क्षमता के समक्ष उसका मस्तक नत हो जाता; कभी एक विषाद-मयी मुस्कान उसके ओठों पर फैल जाती और कभी वह झुँझला उठता।

वह अच्छी तरह जानता था कि कविराज के घनिष्ठ मित्र डा० मेला राम मलहोत्रा पुत्र-सुख की आकांक्षा मन में लिये हुए परलोक सिधार गये, किंतु एक बार छोड़, तीन बार अपनी पत्नी को 'पुत्र-दाता' का विधिवत, सेवन कराने के बावजूद, उन्हें वह सुख प्राप्त न हुआ। उनके घर पाँच लड़कियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जब उन्होंने कविराज जी से परामर्श लिया। जब दो बार 'पुत्र दाता' के सेवन कराने का फल भी विपरीत ही हुआ और उन्होंने कविराज जी से शिकायत की तो उन्होंने कहा, "आप कदाचित् विधिवत सेवन नहीं कराते, ज़रूर असावधानी से काम लेते हैं, पूरा परहेज़ नहीं कराते। नहीं तो यह कैसे सम्भव है कि 'पुत्र दाता' का फल न हो। लिखित आदेश में जो दिन अथवा समय दवाई देने के लिए निश्चित है, उसी दिन और समय दवाई खिलाइए, अनुपात और परहेज़ का ध्यान रखिए। मेरे पास हज़ारों सर्टिफ़िकेट हैं कि 'पुत्र दाता' अचूक औषधि है। तब आठवीं बार डा० महोदय ने फिर दाँव लगाया। दाँव को सफल बनाने के लिए पूरे ध्यान से दिन और समय का ख़याल रखते हुए 'पुत्र दाता' का सेवन कराया। स्वयं भी पूरा-पूरा परहेज़ रखा। पर इस बार उनके यहाँ जुड़वाँ लड़कियाँ पैदा हुईं और सम्भावित पुत्र संतति के साथ-साथ डा० महोदय की पत्नी भी चली गयीं। इसी ग़म में दो वर्ष बाद उन्होंने स्वयं प्राण त्याग दिये।

....

कविराज जी का यह दूसरा पुत्र अपनी माँ को अतीव पीड़ा देने के पश्चात् उत्पन्न हुआ था। यद्यपि कविराज शैशव ही से उसे प्रतिभा-सम्पन्न और कुशाग्र-बुद्धि समझते थे, किंतु उसकी माँ उसके हाथों बड़ी दुखी थी। जन्म के अवसर पर होने वाले कष्ट के अतिरिक्त उसके जन्म के बाद बीबी जी की आँतों में निरन्तर पीड़ा रहने लगी थी। फिर यह कुशाग्र-बुद्धि शिशु अपनी माँ के दुख को न समझकर निरन्तर रिरियाया

करता जिससे बीवी जी की चिड़चिड़ाहट बढ़कर हिस्टीरिया बन जाती थी और उनके मस्तक की लकीरों में वृद्धि हो जाती थी और उन लकीरों और उस चिड़चिड़ाहट के कारण कविराज जी की शांति भंग हो जाती थी।

उन्हीं दिनों यादराम ने बच्चे के जन्म की खुशी में अपनी पगार बढ़ाने की माँग की, "मेरी मेहरिया गाँव से आ गयी है सरकार, इत्ते पैसे से हम दो की गुजरान नहीं हो सकती," उसने एक दिन कविराज जी का रुख पाकर कहा, "भगवान ने आपके घर लाल दिया है। कुछ हम ग़रीबों पर भी दया करें।"

कोई हाजतमन्द अपनी हाजत प्रकट करे, और कविराज पूरा न करें, यह भला कैसे सम्भव था। उन्होंने उसकी सहायता करने की सूरत सोच निकाली, बड़ी चतुराई से (उस पर कृतज्ञता का बोझ लादते हुए) उन्होंने उसे इस बात के लिए राज़ी कर लिया कि वह मन्नी को उनके बच्चे को खिलाने और घर का छोटा-मोटा काम करने के लिए तैयार कर दे। उन्होंन उसे समझाया कि इस प्रकार खाने-कपड़े की बचत हो जायगी और तीन रुपये वे उसे जेब ख़र्च के लिए दे दिया करेंगे। "अरे भई तुम दवाखाने में काम करते हो तो वह घर में बैठी उदास हो जाती होगी।" उन्होंने उससे कहा, "घर के काम-काज और बच्चे को खिलाने-पिलाने में उसका दिल भी लगा रहेगा, तुम्हें पैसे भी ज़्यादा मिल जायँगे! ......और तुम्हें क्या चाहिए? ......मैं तो तुम्हारे हित के लिए कह रहा हूँ, नहीं मेरा क्या है, मैं कोई आया रख लूँगा।"

यादराम ने उनका यह परामर्श कृतज्ञता के साथ मान लिया था और उनके एहसान के बोझ तले दबकर सोलहो आने मशीन बन गया था।

किंतु मन्नी उतनी खुश न थी। उसके हृदय में एक इच्छा धीरे-धीरे उद्विग्न होकर आकांक्षा का रूप धारण करने लगी। कविराज जी के इस

बच्चे को खिलाते-पिलाते, हँसाते-खेलात, उसका हृदय अपन बच्चे—अपने रक्त-मांस के बच्चे को अपनी बाँहों में भरने, हँसाने-खेलाने, हवा में उछालने को आतुर हो उठता था। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उसकी यह आकांक्षा दबी रहकर भी ऊपर उठती गयी। लेकिन वह शायद वन्ध्या थी और जैसा कि चेतन को बाद में मालूम हुआ आपरेशन के बिना उसके बच्चा न हो सकता था।

वह तो शायद आपरेशन के लिए तैयार हो जाती और शायद यादराम भी तैयार हो जाता, किंतु कविराज तैयार न थे। वे इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि उनका बच्चा इतना बड़ा हो जाय कि उसे मन्नी की आवश्यकता न रहे। वह मन्नी से हिल गया था और इतने सस्ते में दिन भर के लिए नौकरानी न मिल सकती थी। इसलिए वे मन्नी को आशा बँधाये रखते थे कि आपरेशन के बिना ही वे उसका इलाज कर देंगे। मन्नी इसी आशा पर न केवल और भी ध्यान से उनके बच्चे की देख-रेख़ करती, बल्कि ज़रूरत पड़ने पर रसोई के कई छोटे-मोटे काम भी कर देती।

और शायद मन्नी के इसी अभाव के कारण चेतन के प्रति उसके आकर्षण में मातृत्व की भावना भी मिली हुई थी। हो सकता है कि जिस प्रकार चेतन उसे अपने मन की बातें सुनाकर हल्का हो जाना चाहता था उसी प्रकार मन्नी भी उसमें एक हमदर्द को पाकर उसकी चौखट पर आ बैठती हो, किंतु चेतन को मन्नी से जो सहानुभूति थी, उसकी अपेक्षा उसके प्रति मन्नी की समवेदना कहीं अधिक तरल, कहीं अधिक स्निग्ध थी। उस रात गाड़ी के डिब्बे में बैठे-बैठे जो मन्नी सहसा उसके निकट आ गयी थी तो उसे भ्रम हुआ था कि शायद उसके प्रति मन्नी का आकर्षण भी शारीरिक ही है और उसने इसी भ्रम में एक दो हरकतें भी की थीं, किंतु शिमले में आकर मन्नी के व्यवहार से चेतन को भली-भाँति ज्ञात हो

गया कि वह तब भी ऐसा न था। उसमें वासना से कहीं अधिक समवेदना और सहानुभूति थी। चेतन के उस अस्वस्थ शरीर, उसके पीले ज़र्द मुख, उसके लम्बे, रूखे बाल और मैल से सने पाँव देखकर क्षण भर के लिए अनायास ही शायद उसके हृदय की माता सजग हो उठी थी और उसके मुँह से निकल गया था—"नींद नहीं आती बाबू जी!" उसके इस आदर और संकोच का कारण शायद वर्ग-विषमता, अजनबीपन और वयस की बराबरी थी। यदि कहीं वह आयु में बड़ी होती तो कहती "तुम्हें नींद नहीं आती बेटा!" और वह उसके ओठों की मुस्कान! चेतन ने उसका जो अर्थ लगाया था, वह शायद उसके अपने हृदय की मुस्कान का प्रतिरूप था। नहीं तो मन्नी के ओठों पर शायद वह संकोच ही की परिचायक थी। शिमले में आकर जब वह संकोच दूर हो गया तो भी उसकी उस मुस्कान में कभी वासना का रंग नहीं आया। हाँ चेतन के प्रति उसकी सहानुभूति अधिक स्निग्ध, करुण और तरल होती गयी। वह जब बाहर गया होता, मन्नी बिना कहे उसका कमरा झाड़ देती; उसकी पुस्तकें करीने से लगा देती और चेतन—जिसे कभी न पूरे तौर पर माँ का प्यार मिला था और न बहन का—धीरे-धीरे इस प्यार की महत्ता समझने लगा था। उसे अपने भ्रम का पता चल गया था और क्योंकि मन्नी आयु में उसके आयु के बराबर थी इसलिए वह उसे बड़ी बहन की तरह मानने लगा था।

मन्नी उसकी बातों को कुछ अधिक समझ न पाती थी। उसे उचित सान्त्वना भी न दे पाती थी। बस सुन भर लेती थी। किंतु इतने ही से चेतन के हृदय का बोझ हल्का हो जाता, उसकी खिन्नता मिट जाती और वह स्वस्थ होकर काम में जुट जाता।

लेकिन मन्नी का आना कुछ निश्चित न था। वह उस समय आती

जब उसे आने की सुविधा होती, न कि उस समय जब चेतन चाहता, और कई बार चेतन अपने एकाकीपन से उकता जाता। वह चाहता मन्नी आ जाये, उससे दो बातें करके वह हल्का हो जाय, पर वह न आती और उसका यह एकाकीपन उसके लिए असह्य हो उठता।

चेतन वास्तव में एक घरेलू व्यक्ति था। अपने पास माँ, भाई, बीवी, अथवा किसी घनिष्ठ मित्र की उपस्थिति उसे अनिवार्य-सी लगती थी। अपने बड़े भाई से वह इस तरह प्यार करता आया था जैसे वे उसके छोटे भाई हों। उसके साथ निरन्तर रहने के कारण वे उसके जीवन का अंग बन गये थे। बचपन के कुछ वर्षों को छोड़कर वह सदा उनके संग रहा था। उनके दोष छिपाता रहा था। उन्हें हर प्रकार की सहायता देता रहा था। किंतु उसने यह कभी न सोचा था कि उसके इस निकम्मे बड़े भाई का अस्तित्व उसके लिए कितना ज़रूरी है। वह जब कभी उद्विग्न होता था, अपने उन्हीं बड़े भाई के पास जाता। अपनी सब उद्विग्नता उनके सामने रख देता। कई बार वे उसे सलाह देते, कई बार न भी दे पाते, किंतु उनको सुनाकर ही वह अपने दुख के भार से हल्का हो जाया करता था। फिर जब वह प्रसन्न होता, महत्वाकांक्षाओं के पंखों पर उड़ रहा होता और अपनी सब स्कीमें, अपने सब इरादे किसी के सामने रखने को आतुर होता, वह अपने उन्हीं भाई साहब के पास जाता और अपनी महत्वाकांक्षाएँ उनके सामने रखकर आत्म-विश्वास, साहस और जीवन संघर्ष में जूझने की शक्ति, पा लेता। वे सदा उसका साहस बढ़ाते, सदा उसे प्रोत्साहन देते, उसकी महत्वाकांक्षा का समर्थन करते। शिमले के अपने प्रवास से पहले चेतन ने कभी यह न जाना था कि उसके बड़े भाई की सहानुभूति, समवेदना, प्रोत्साहन और परामर्श उसके लिए कितने मूल्यवान हैं।

अपने इस एकाकीपन से कई बार वह इतना ऊब उठता कि अनन्त को पत्र लिखने की सोचता। पहले भी जब भाई साहब पास न होते या

किसी कारण वश वह उनसे बात न कर पाता था तो वह अनन्त ही के पास जाता था। वह निकट न होता तो उसे पत्र लिखता। किंतु शिमला आकर चेतन ने अनन्त को कोई पत्र न लिखा था। उसे कई बार इच्छा भी हुई, कई बार उसने संकल्प भी किया, किंतु सदैव एक भारी संकोच उसके मार्ग की दीवार बन गया। एक बार अपने पत्र में कविराज जी की अत्यधिक प्रशंसा करने के बाद अब सच्ची बात वह किस तरह लिखे ? वह अपने-आपको मूर्ख न सिद्ध करना चाहता था। ऐसा करने में कदाचित् उसके अहं को ठेस पहुँचती थी।

वह चन्दा को पत्र लिख सकता था, लिखता भी था। किंतु चन्दा उत्तर देने में बड़ी सुस्त थी। स्वभाव के इस लक्षण में वह भाई साहब से मिलती थी। चेतन जब कभी भाई साहब को पत्र लिखता तो उत्तर की प्रतीक्षा करते-करते थक जाता। उत्तर न पाने पर चिढ़कर वह दूसरा पत्र लिखता और क्रोध में दो एक कटु बातें भी लिख देता और आशा करता कि अब तो बस लौटती डाक से उनका पत्र आ जायगा; किंतु कई-कई दिन और कई-कई सप्ताह बीत जाते जब उनकी ओर से उत्तर मिलता। वह भी एकदम नीरस और व्यावहारिक। सिर्फ़ काम की दो एक बातों के सम्बन्ध में चंद वाक्य होते—जल्दी-जल्दी घसीटे हुए। उनके पत्र को देखकर ऐसा मालूम होता जैसे लिखने वाले को बड़ी जल्दी है, उसकी गाड़ी छूटी जा रही है और उसे शीघ्रातिशीघ्र पत्र लिखकर गाड़ी पकड़नी है। कई बार चेतन इतना खीझ उठता कि पत्र पढ़ते ही उसे फाड़कर, उसके टुकड़े-टुकड़े करके खिड़की के बाहर फेंक देता।

चन्दा उत्तर में इतनी देर तो न करती, किंतु उसके पत्रों को पढ़कर भी उसे कम खीझ न आती। भाई साहब के पत्रों की तरह उनमें भी चंद गिनी चुनी सतरें होतीं और बस! भाई साहब के पत्र में लिखावट तो सुन्दर होती, चन्दा के पत्र में वह भी नहीं। शुरू-शुरू में यद्यपि उसे निराशा

होती, पर वह इस हद तक खीझता न था। कई बार जब बड़ी प्रतीक्षा के बाद उसका पत्र पाता तो उसे रख छोड़ता। पढ़ चुकने के बाद भी कई बार पढ़ता। चन्दा के किसी ऐसे ही पत्र के बारे में किसी भावुक क्षण में उसने एक छोटी-सी कविता भी लिखी थी :—

कुछ उल्टे-सीधे ख़त में
ये चार पंक्तियाँ प्यारी
हैं भाव न जिनमें विकसित
जिन पर लज्जा-सी तारी

जिनका हर शब्द अधूरा
टेढ़े मेढ़े से अक्षर
सिमटे फीकी स्याही में
जो रूखे से काग़ज़ पर
मैं फूल उठा हूँ सहसा
जाने क्यों इनको पाकर
पढ़ता हूँ, फिर पढ़ता हूँ
पढ़ चुकता हूँ जब जी भर

किंतु अब वह ऐसे पत्र पाकर एकदम जल उठता था। सोचता—चन्दा अब पढ़-लिख गयी है, उसे पत्र लिखने की, अपने भावों को व्यक्त करने की तमीज होनी चाहिए। और जब वह उसका रूखा-फीका पत्र पाता, तोड़-मरोड़कर फेंक देता और खिन्न-सा होकर बैठ रहता।

और नीला! उसका ध्यान आ जाने पर एक लम्बी साँस अनायास उसके अन्तर की गहराई से निकल जाती। उसे पत्र लिखने की प्रबल इच्छा कई बार उसके मन में होती, उसका हाल-चाल जानने को उसका मन आतुर हो उठता। कई बार जब वह चन्दा को पत्र लिख रहा होता तो

चाहता कि नीला के सम्बन्ध में कुछ पूछे। किंतु वह क्या पूछे? किस मुँह से पूछे? उधर का मार्ग तो वह स्वयं बन्द कर आया है। उस मार्ग पर उसने अपने-आप जो पत्थर रख दिया, उसे कैसे उठाये। उसके लिए साहस की आवश्यकता है, कुछ ढीठ बनने की आवश्यकता है। वह ढीठ-पना चेतन कहाँ से लाये? यदि वह उस पत्थर को न हटा सका तो उसे कितनी लज्जा आयगी? और वह नीला को पत्र लिखने की अथवा चन्दा के पत्र में उसका हाल-चाल पूछने की इच्छा को दबा जाता। वह बैठा रहता, अपने उसी अँधेरे कमरे में और उसके सामने अगणित चित्र बन-बनकर मिटते रहते। उसे लगता जैसे एकाकीपन अपने ईसपाती घेरे को उसके गिर्द क्षण-प्रतिक्षण कसता जा रहा है और किसी दिन यह क्षण-क्षण परिमित होता हुआ घेरा उसका दम घोट देगा। और वह चाहता कि पुस्तक को ले जाकर कविराज के सामने पटक दे और उसी क्षण लाहौर भाग जाय। लाहौर! जो अपने कूड़े-करकट, गर्द-गुबार, धुएँ और धुन्ध के बावजूद जिन्दा है; ज़िन्दगी के स्पंदन से क्षण-क्षण धड़कता है। जहाँ इतनी सफ़ाई चाहे न हो, पर इतना शून्य भी नहीं। इतनी नीरवता और निस्तब्धता भी नहीं। जहाँ कमरे के मौन में बैठे हुए भी इस अनुभूति से मन सन्तुष्ट रहता है कि पास ही कहीं मित्र हैं, चाहे फिर उनसे महीनों न मिला जाय; पास ही कहीं भाई हैं; शोरोगुल है; गाली-गलौज है; कारों की पों-पों और ताँगों की खट-खट है; पास ही कहीं जलूस निकल रहे हैं; जल्से हो रहे हैं, धर्म चर्चा हो रही है; दंगा-फ़िसाद हो रहा है। कहीं कुरूपता पास है तो निकट ही कहीं सौन्दर्य और सुघड़ता भी है; मन और आँखों को व्यस्त रखने के लिए यथेष्ट साधन हैं। शिमले ऐसी नीरवता और मौन तो नहीं। माना शिमले में माल है और माल पर संध्याएँ रंगीन, मादक, मदिर होती हैं; सुन्दर स्वरों का कल-हास सुनने को, सुन्दर आकृतियों की बनावट निरखने को मिलती है; किंतु माल पर

एक दो बार जाकर ही चेतन को उसके परायेपन का आभास मिल गया था। उसमें अनारकली का-सा अपनाव कहाँ ? वह इस अजनबीपन से एकदम भाग जाना चाहता था। न भाग सकता था तो उन्मन और उदास अपने कमरे में बैठा रहता था। और कुछ बस न चलता तो चुपके-चुपके रो दिया करता था।

किंतु एक ही महीने बाद राजकुमार आ गया—कविराज जी का बड़ा लड़का। और यद्यपि चेतन ने उसे एक क्षण के लिए भी पसन्द नहीं किया, किंतु उसके आने की घड़ी अपनी समस्त कटुता के बावजूद चेतन के लिए एक नया जीवन ले आयी। उसे परिचित मिल गये, मित्र मिल गये, कई व्यक्ति आप-से-आप उसके जीवन में चले आये। शिमले में वह परायापन न रहा, माल में वह बेगानगी न रही और उसके ठहाके माल और लोअर बाजार में गूँजने लगे।

५४

कई दिनों से चेतन राजकुमार के आगमन की चर्चा सुन रहा था। कविराज जी जिस समय अपने इस पुत्र का उल्लेख करते, उनकी आँखों में चमक आ जाती। जब भी उनका कोई मित्र उनके सामने अपने लड़के की बात चलाता तो कविराज जी उसकी बात पूरी तरह सुने बिना—'हमारे राजकुमार का तो यह विचार है कि'......'हमारे राजकुमार के सम्बन्ध में अध्यापक कहते हैं कि'......'हमारा राजकुमार तो ऐसा नहीं करता कि'......'हमारा राजकुमार तो यही पसन्द करता है कि' ..... किसी ऐसे ही वाक्य से आरम्भ करके अपने राजकुमार का ज़िक्र छेड़ देते और फिर उसकी बुद्धि, उसके ज्ञान, उसके साहस, बल-पराक्रम, अध्यवसाय, निष्ठा और परिश्रम की इतनी बातें सुनाते कि मित्र बेचारा मुँह तकता रह जाता। उनके भाग्य से उसे ईर्ष्या होने लगती जिनकी सन्तान ऐसी नेक, समझदार, साहसी और बुद्धिमान थी।

राजकुमार के आने से बहुत दिन पहले कविराज जी ने उसके रहने-सहने, खाने-पीने, पढ़ने-लिखने के बारे में प्रोग्राम बनाने शुरू कर दिये थे।

आते ही उसे अपने उपयुक्त मित्र मिल जायँ, इस विचार से उन्होंने अपने पड़ोस के लोगों और उनके बच्चों से मेल-जोल पैदा कर लिया था। उनके घर के सामने पूरब की ओर मि० चावला रहते थे। उनका लड़का एफ़० ए० में और लड़की 'भूषण' में पढ़ती थी। स्वयं वे सेक्रेटेरियेट में हेड-क्लर्क थे। कविराज जी ने उनको उनके बीवी बच्चों सहित खाने पर बुलाकर उन पर अपने लड़के की योग्यता का सिक्का बैठा दिया था। बायीं ओर दक्षिण की तरफ़ लाला मुकन्द लाल एसिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट अपने लड़के और दो लड़कियों के साथ रहते थे। लड़का उनका मैट्रिक में पढ़ता था। पत्नी मर चुकी थी। उनके घर खाने पर निमन्त्रित होकर वे अपने लड़के के लिए वहाँ उपयुक्त वातावरण पैदा कर आये। इसी प्रकार रुल्दू भट्टे की नीचे की गली में रहने वालों के साथ भी, जहाँ-जहाँ राजकुमार के समवयस्क लड़के थे, कविराज जी ने मेल-जोल बढ़ा लिया। चेतन पर भी उनका कृपा-भाव उन दिनों कुछ बढ़ गया। रात को सोते समय मन्नी के हाथ भेजने के बदले वे स्वयं चेतन के लिए दूध ले आते; उसके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछते; उसके भाई की प्रेक्टिस का हाल-चाल जानते; उसके उपन्यास की गति-विधि के सम्बन्ध में एक-आध प्रश्न करते कि कितना लिखा गया है और क्या-क्या वह उसमें लिखना चाहता है। कभी-कभी उससे कोई परिच्छेद सुनाने की फ़रमाइश भी करते। इन समस्त कृपाओं के बदले में उन्होंने चेतन से वादा ले लिया था कि वह एक दो घंटे राजकुमार को अँग्रेज़ी पढ़ा दिया करेगा। जयदेव को उन्होंने उसे गणित पढ़ाने के लिए पहले ही राज़ी कर लिया था।

"हमारा राजकुमार बेहद सीधी-साधी तबीयत का लड़का है," उसके आने से कुछ ही दिन पहले उन्होंने चेतन को अच्छे मूड में पाकर कहा। "मैं वास्तव में उसे ब्रह्मचारी बनाना चाहता हूँ। शुरू ही से मैं उसे प्रातः उठने की, ठंडे पानी से स्नान करने की और धरती पर सोने की आदत

डालना चाहता हूँ।" और फिर चेतन का रुख़ पाकर मूँछों में हँसते हुए उन्होंने प्रस्ताव किया, "मेरा विचार है कि वह यहाँ तुम्हारे पास ही धरती पर सोये। अपने कॉलेज की मैगज़ीन में वह नियमित रूप से लेख और कहानियाँ लिखता है। गत वर्ष उसे सब से अच्छी कहानी लिखने पर प्रथम पुरस्कार मिला था।" और फिर उन्होंने बड़े प्यार के स्वर में चेतन से पूछा, "तुम्हें तो कोई आपत्ति नहीं ?"

चेतन को भला और क्या चाहिए था। वह अपने-आपको बुरी तरह एकाकी अनुभव कर रहा था। राजकुमार के आने से न केवल उसका यह एकाकीपन दूर हो जायगा, बल्कि वह अपने इरादे, अपनी स्कीमें, अपनी कहानियों के प्लाट, अपने उपन्यास के परिच्छेद, भविष्य के अपने स्वप्न उसे सुना सकेगा। यह सोचकर उसने बड़े हुलास के साथ कहा, "नहीं जी, मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ? मैं स्वयं धरती पर सोने का आदी हूँ। कॉलेज के चार बरस मैंने धरती पर सोकर ही गुज़ारे हैं। मैं भी धरती पर सो रहा करूँगा।"

कविराज जी इस समस्या का हल करके सन्तुष्ट हो, चले गये और चेतन राजकुमार के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। कॉलेज से निकलते ही वह छः महीने के लिए अपने ही स्कूल में अध्यापक रहा था और यद्यपि स्कूल के घटिया वातावरण से उकताकर वह लाहौर भाग गया था तो भी पढ़ाने का उसका शौक़ खतम न हुआ था। यह जानकर कि वह राजकुमार को पढ़ायेगा, उसे एक तरह का सुख मिला। फिर इतनी-सी आयु में उसका अपना एक शिष्य होगा, जिसे वह लेख अथवा कहानी लिखना सिखायेगा, इस बात की कल्पना कर, अपने गुरुत्व के महत्व का ख़याल करके, उसके अहं को तुष्टि का आभास मिला और उसका हीन-भाव कुछ अर्से के लिए मिट गया। शायद उन दिनों वह कविराज जी से भी अधिक राजकुमार की प्रतीक्षा कर रहा था।

एक सुबह जब चेतन कविराज जी की पुस्तक के लिए एक परिच्छेद का ख़ाका तैयार कर रहा था, यादराम ने आकर ख़ुशी से झूमते हुए सूचना दी, "बड़े काका आ रहे हैं।"

चेतन उठकर खिड़की में खड़ा हो गया। तब जिस लड़के को उसने सीढ़ियों पर चढ़ते हुए देखा, उसकी आकृति से किसी प्रकार भी उन गुणों का आभास न मिलता था जिनका बखान बड़े गर्व से कविराज इतने दिनों से कर रहे थे।

आनेवाला लड़का मँझोले क़द का था। उसका शरीर यद्यपि स्थूल न था, किंतु स्थूलता की ओर उसका निश्चित झुकाव था। छोटी ठोड़ी, भरे-भरे गाल और चौड़ा मस्तक! नाक ज़रूरत से ज़्यादा लम्बी और मोटी। न आँखों में कोई गहराई थी न चमक। न ओठों पर मन की सरलता का प्रतिबिम्ब था और न भवों पर अध्यवसायी, परिश्रमी और निष्ठावान होने का चिह्न! उसे देखकर चेतन को भली-भाँति पले हुए दुम्बे की याद हो आयी।

"मूर्ख, भरा-पुरा दुम्बा!" चेतन ने मन-ही-मन हँसकर व्यंग्य से सिर हिलाया। राजकुमार अन्दर कमरे में जा चुका था। वह फिर बैठ गया और पुस्तकों को पढ़कर अपने परिच्छेद के लिए नोट लेने लगा।

वह पंजाब पब्लिक लायब्रेरी से पाँच पुस्तकें चुन लाया था। उन सब को पढ़कर उसने पुस्तक के पहले परिच्छेदों का ख़ाका तैयार किया था। पहला अध्याय वह लिख चुका था। उसमें उसने प्राक्कथन के रूप में अन्य देशों की अपेक्षा भारत में बच्चों के स्वास्थ्य, उनकी असामयिक मृत्यु, उनका मरे हुए उत्पन्न होना, जन्म लेने के बाद मर जाना या जीना तो सदा रोगी रहना और ऐसी ही दूसरी बातों का उल्लेख किया था। यौन-सम्बन्ध में माता-पिता की अज्ञता पर भी उसने प्रकाश डाला

था। लिखने की शैली यद्यपि वह 'विवाह के भेद' जैसी सस्ती, घटिया और भावुकतापूर्ण न रख सका था तो भी उद्देश्य उसका भी वही था जो 'विवाह के भेद' का—पुस्तक पढ़ते ही बच्चों के माता-पिता ज़रा-सी बीमारी पर कविराज जी के दवाखाने भागे आयें अथवा 'रोग परीक्षा पत्र' भर के डाक से उनकी औषधियाँ मँगायें। वह इस प्रवंचना के विरुद्ध था, पर कविराज ऐसा चाहते थे। इसी उद्देश्य से उन्होंने उसे 'विवाह के भेद' पढ़ने को दी थी और जिस शैली का नमूना उसे दिखाया वह कुछ यों थी :

..."प्यारो! जवानी में एक प्रकार का मद है, इसमें एक अद्भुत उमंग है। परन्तु जिन्होंने उसके नैकट्य का आभास पाने से पहले ही उसे नष्ट कर दिया हो, वे इन बातों को क्या जानें?

मैं क्या जानूँ चमन कहते हैं किसको आशयाँ कैसा
खुली आँखें तो मेरी खाना-ए-सय्याद में आकर

"मेरे पास जब ऐसे युवक आते हैं जो जवानी का सम्पर्क पाते ही उसे गँवाकर अपने पाँवों पर कुल्हाड़ा मार चुके होते हैं तो मेरा मन बड़ा दुखी होता है। रोगी बड़ी आतुरता से हाथ जोड़ता है, पाँव पकड़ता है, ठंडी साँस भरता है और कहता है—वैद्य जी अब अधिक संताप नहीं सहा जाता। मेरी जवानी...मुझे दिला दो। उसके वियोग में मैं दीवाना हो रहा हूँ—जवानी...जवानी...जवानी! अपनी चमक-दमक और मधुर-मदिर आभा के साथ तुम कहाँ हो? मुझसे क्यों रूठ गयी हो? एक भूल तो परमात्मा भी क्षमा कर देता है। आओ, आओ, आओ! मैं शपथ लेकर कहता हूँ कि फिर तुम्हारा निरादर न करूँगा। मुझ पर दया करो।

"प्यारो! इन युवकों की दशा को देखकर सावधान हो जाओ।

अपनी जवानी को बर्बाद न करो ! यदि भूल भी कर बैठे हो तो बीती बात पर मत आँसू बहाओ। मैं आपकी जवानी आप से मिला देने का पूरा यत्न करूँगा। परन्तु प्रतिज्ञा करो कि फिर वह अनर्थ न करोगे।"

'विवाह के भेद' की (जिसे कविराज वैज्ञानिक पुस्तक बताते थे और जिसके सम्बन्ध में चेतन ने 'ट्रंक गुम हो गया' का विज्ञापन लिखा था) इस लेखन-शैली को पढ़कर चेतन को एक साथ हँसी और क्रोध आता था। किंतु चेतन को मालूम था कि इन्हीं पंक्तियों को पढ़ने वाले युवक दूसरे ही दिन उनके पास पहुँच जाते थे। और कविराज पहले रक्त साफ़ करने और फिर गयी जवानी को वापस ला देने के बहाने उनसे चालीस-पचास रुपये झटक लेते थे।

कविराज ने चेतन से इस पुस्तक में भी इसी सीधी-साधी शैली का अनुकरण करने के लिए कहा था और उस पर ज़ोर दिया था कि जहाँ तहाँ उर्दू 'शेरों' के नगीने भी जड़ दे, परन्तु चेतन को इस शैली से सख़्त नफ़रत थी। उसने अपने प्राक्कथन में कोई शेर आदि न लिखा था। शैली को गम्भीर कर दिया था, यद्यपि उसकी इबारत का मतलब भी वही था।

अध्याय के अन्त में उसने लिखा था :

"मेरे पास सहस्रों माता-पिता दुर्बल और कंकाल-मात्र बच्चों को लेकर आते हैं। (चेतन दिल-ही-दिल में हँसा था। वह भली-भाँति जानता था कि आज तक कविराज महज़ गुप्त रोगों के चिकित्सक रहे हैं—बच्चों की बीमारियों का उन्होंने कभी उपचार नहीं किया।) गिड़गिड़ाते हैं कि उनके लाल को किसी तरह भी स्वस्थ कर दिया जाय। धनी माता-पिता अपने खज़ानों के मुँह खोल देना चाहते हैं और निर्धन मेरे बच्चों की जान को दुआएँ देते हैं। मैं यथाशक्ति उनके बच्चों का उपचार करता हूँ।

किंतु मुझे दुख से कहना पड़ता है कि अधिकांश बीमारियाँ माता-पिता की असावधानी, अनुचित लाड और अज्ञानता का फल होती है और कई उनकी अपनी बदचलनी का। कुचरित्रता का बुरा प्रभाव उसी पर नहीं पड़ता जो उसका अपराधी होता है, बल्कि कुचरित्र पिता के पापों का दंड प्राय: उसके बच्चों को भोगना पड़ता है। माता-पिता के दुर्व्यसनों के कारण कई बार शिशु माँ के गर्भ ही में भयानक व्याधियों का शिकार हो जाता है..."

चेतन ने इस अध्याय को फिर से पढ़ा और कविराज जी की लेखनी से उसकी तुलना करके स्वयं अपनी पीठ ठोंकी और दूसरे परिच्छेद का खाका बनाने लगा।

इस परिच्छेद में वह माता-पिता के असंयम, चरित्र-हीनता और गर्भ में बच्चे पर उसके प्रभाव आदि विषयों पर प्रकाश डालना चाहता था। परिच्छेद का शीर्षक तो बना बनाया ही था—'माता-पिता का असंयम और उसका परिणाम!' उपशीर्षकों में उसने मदपान—अफीम, भाँग, चरस का प्रयोग, सिगरेट अथवा तम्बाकू-पान—सम्भोग में असंयम; तमाशबीनी; मुख्य-मुख्य विषय रखे। यह खाका बनाकर वह परिच्छेद लिखने में व्यस्त हो गया। उसे राजकुमार के आगमन का जो चाव था, वह उसे एक नज़र देखकर ही उतर चुका था, इसलिए दूसरे कमरे में कितना शोर मच रहा है, राजकुमार की क्या खातिरें हो रही हैं, उस ओर से अन्यमनस्क होकर वह अपने काम में डूबा रहा।

किंतु वह अधिक लिख नहीं पाया। उस परिच्छेद के लिए उसने जो पुस्तकें चुनी थीं उन्हें पढ़ने ही में व्यस्त रहा। उन सब को पढ़ते-पढ़ते पहली बार उसे कई ऐसी बातें मालूम हुईं जिनके सम्बन्ध में बचपन से अब तक उसकी जिज्ञासा बनी हुई थी.....सड़क के किनारे बैठे

हुए, अत्यन्त दयनीय दशा में अपने कोढ़ से गलित अंगों को हिला-हिला-कर भीख माँगने वाले भिखारियों को देखकर उसका मन एक दुर्निवार दुख और दया से भर आया करता था। माँ से पूछता तो वह उनके कोढ़-जनित दुख को उनके पिछले कर्मों का फल बताती, उसे समझाती कि भगवान अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा देता है। ये जो राजे-महाराजे, धनी-मानी लोग हैं, ये पिछले जन्म में अच्छे कर्म करके आये हैं और अब स्वर्ग भोग रहे हैं और ये कोढ़ी अपने पिछले जन्म के पापों का फल यह नरक पा रहे हैं! माँ उसे समझाती कि इस जन्म में अच्छे कर्म करो कि दूसरे जन्म में अच्छा फल मिले. . . . .,

लेकिन चेतन की समझ में यह बात न आती थी कि कौन-सा दुख पिछले जन्म का फल है और कौन-सा इस जन्म का? फिर यह भी कैसे पता चले कि इस हद पर पिछले जन्म के कर्म खतम हुए और अब इस जन्म के कर्म आरम्भ होंगे—एक आदमी दूसरे की हत्या करता है और फाँसी पाता है। हो सकता है कि मृत ने हत्या करने वाले का वध गत जन्म में किया हो, जिसका बदला उसे इस जन्म में मिला हो—फिर फाँसी कैसी? . . . . . .और उसके विचार उलझ जाते। माँ उसे कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे पाती। वह जब उन कोढ़ियों को देखता, धर्म-कर्म की समस्या अपने समस्त उलझाव के साथ उसके सम्मुख आ जाती। . . .

प्रायः जब मुहल्ले में कोई बच्चा मरा हुआ जन्मता अथवा जन्मते समय उसके शरीर पर फोड़े आदि होते तो अपनी उसी जिज्ञासा के कारण वह माँ से उसका कारण पूछता। मैं उन्हें 'घोर पातकी' बताती और समझाती कि हमारे शास्त्रों में लोहू और पीब की जिन नदियों का उल्लेख है, वे यही तो हैं। इनमें घोर पातकी अपने गत जन्म के पापों का फल भोगते हैं—नौ महीने लोहू-पीब में रहकर जन्म पाते ही मर जाते हैं और फिर किसी अन्य क़ोख में जा पड़ते हैं और यह क्रम उस समय तक रहता है

जब तक उनके दंड की अवधि समाप्त नहीं हो जाती......लेकिन चेतन सन्तुष्ट न होता। माँ की कोख में अचेतावस्था में बच्चा आराम से पड़ा रहता होगा, वह सोचता, इसके विपरीत रोज़-रोज़ भूख बेकारी और भीख का अपमान सहने वाले कोढ़ी उसकी अपेक्षा उसे कहीं ज़्यादा कष्ट पाते दिखायी देते। 'माँ को मालूम नहीं,' वह सोचा करता, 'ये कोढ़ी उन बच्चों की अपेक्षा कहीं बड़े गुनहगार हैं।'

इन पुस्तकों को पढ़कर चेतन को ज्ञात हुआ कि जहाँ उन कोढ़ियों में से कुछ स्वयं अपने कर्मों का फल भोगते हैं, अधिकांश अपने माता-पिता के कर्मों का फल भुगतने को विवश हैं। प्रकृति अपने विरुद्ध किये गये अनाचरों का बेतरह प्रतिशोध लेती है। उसने पढ़ा कि उपदंश और प्रमेह आदि रोग कई पीढ़ियों तक असर करते हैं और जो बच्चे मरे हुए अथवा लुंजे, लँगड़े, कोढ़ी पैदा होते हैं, उनमें से अधिकांश अपने माता-पिता के किसी-न-किसी व्यसन के फल-स्वरूप ऐसे पैदा होते हैं। उपदंश और प्रमेह ऐसे रोग हैं जो देश की आगामी नस्लों को घुन की तरह खोखला किये जा रहे हैं।

और चेतन के सामने सहसा अपने मुहल्ले का चित्र घूम गया। उन पुस्तकों को पढ़ते-पढ़ते उसका सारे का सारा मुहल्ला अपनी समस्त ग़रीबी, गन्दगी, रोग शोक दुश्चरित्रता, अपढ़ता, मूर्खता, संकीर्णता के साथ उसकी आँखों के सामने आ गया। उसके मुहल्ले में कोई ही ऐसा भाग्य वाला घर होगा, जिसमें कोई-न-कोई व्यक्ति किसी-न-किसी मैथुन-सम्बन्धी या संक्रामक या किसी और गुप्त रोग से ग्रसित न हो। यद्यपि बीसवीं सदी अपने आधुनिक विचारों के साथ उन्नति के पथ पर त्वरित गति से अग्रसर थी, पर कल्लोवानी मुहल्ले के वासी अपनी पुरानी लीक पर अपनी उसी चिर-मन्थर गति से चले जा रहे थे। कुछेक व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब अपढ़ थे। मिडिल से आगे कभी ही कोई जाता। जो मैट्रिक पास

कर लेता, वह बाहर नौकरी पर चला जाता। शिक्षित होने के साथ जो लोग सम्पन्न और सुसंस्कृत भी हो जाते, वे बाहर कोठियों में चले जाते। शेष मुहल्ला अपनी उसी अशिक्षा, ग़रीबी और गन्दगी में पड़ा किलबिलाया करता।

चेतन के घर के सामने, मुहल्ले के चौक की दूसरी ओर जो घर था, उसमें माई जीवाँ रहती थी। बड़ी धर्मात्मा और नेक-बख़्त। प्रातः चार बजे उठकर कुएँ को धोती; सर्दी हो या गर्मी, वहीं नहाती और फिर वहीं बैठकर बड़ी देर तक पूजा-पाठ में रत रहती। सत्संग उसके यहाँ सदा लगता। 'गुरु बिना (क्योंकि) गति नहीं' इसलिए युवावस्था ही से एक महात्मा को उसने गुरु बना रक्खा था। (मुहल्ले में जितनी विधवा अथवा सधवाएँ थीं, उनमें अधिकांश के कोई-न-कोई गुरु था) इसके अतिरिक्त सदैव उसके यहाँ कोई-न-कोई साधु-संत आया रहता। उसका इकलौता लड़का था और जायदाद काफ़ी थी। जब युवा हुआ तो माँ के इस आचरण पर उसने आपत्ति की। जीवाँ ने परमार्थ के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाले इस पुत्र का विवाह कर दिया और उसे पुत्र-वधू के साथ अलग कर एकनिष्ठ होकर अपना परलोक सुधारने में निमग्न हो गयी। पड़ोसियों में बड़ी निन्दा होती और जब कोई जवान हट्टा-कट्टा साधू बड़ी मस्ती से जटाएँ चेहरे पर बखेरे, अपने ब्रह्मचर्य्य का तेज चारों ओर फैलाता हुआ माई जीवाँ के घर को पवित्र करता तो ये काना-फूसियाँ बढ़ जातीं। लोगों में क्योंकि बड़ी निन्दा होती थी, इसलिए पुत्र ने एक दो बार फिर झगड़ा किया। किंतु वह भला लोक के डर से अपना परलोक बिगाड़ लेती! जब यह धर्मपरायण माई जीवाँ मरी थी तो सात दिन तक मुहल्ले में कोई पूरी नींद सो न सका था। इतना चीखती-चिल्लाती थी वह। चेतन तब स्कूल में पढ़ता था। वह स्वयं भी एक रात जागता रहा था। अपनी माँ से उसने पूछा था, "माँ इसे क्या कष्ट है!"

"गर्मी का रोग था बेटा, वही बिगड़ गया है शायद?"

तब उसने समझा था कि गर्मी का रोग भी लू लगने की तरह का कोई रोग होगा—आदमी को लू लग जाती होगी और वह मर जाता होगा। किंतु अब उसे मालूम हुआ कि यह क्या व्याधि है। माँ ने उसे बताया था कि उसके पति की मृत्यु भी इसी रोग से हुई थी। बीमारी दूर करने के लिए उसने किसी महात्मा की दवाई खायी थी। बीमारी तो क्या दूर होती, उल्टा अधरंग हो गया और जीवन ही से मुक्ति मिल गयी।

और चेतन समझ गया कि क्यों माई जीवाँ के पोते, पिता के किसी प्रकार के दुराचार के बिना, मरे हुए पैदा होते थे या होकर मर जाते थे और बड़े इलाज-उपचार के बाद बचने शुरू हुए थे।

माई जीवाँ के घर के बराबर उधर को एक सुनार रहता था। अच्छे दिनों में उसके यहाँ शादी-विवाह पर वेश्याएँ आती थीं और मुहल्ले के चौक में बड़े सुन्दर वितान के नीचे उनका संगीत अथवा नृत्य हुआ करता था। उसके यहाँ बड़ी कठिनाई से एक लड़का बचा था। लड़के होते थे, पर बीमार पैदा होते थे, अथवा रोग का प्रतिरोध करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में अपने अन्दर न रखने के कारण शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाते थे। और उस समय जब उसके पति को कुछ इंजेक्शनों की आवश्यकता थी, गृहिणी दुनियाँ भर के देवी-देवता, पीरों-फ़कीरों को पूजती फिरती, मज़ारों पर न्याज़ें चढ़ाती और टोने टोटके करती।

चौक के दूसरी ओर चेतन के मकान के ऐन सामने, एक खत्री (क्षत्री) घराना रहता था। इसमें कुछ बुज़ुर्ग सम्पन्न तथा सुसंस्कृत हो गये थे और इस गन्दगी से बाहर निकलकर कोठियों में जा बसे थे। उनके प्रायः खंडहर मकान में घराने के अवशेष मात्र जो वंशज रह गये थे, उनमें एक की विधवा ने अपने छोटे देवर से रिश्ता जोड़ लिया था और फल-स्वरूप एक पुत्र-रत्न की प्राप्ति की थी, अन्त में देवर को अपना पति भी बना लिया था और

उसी अपने देवर पति की बदौलत अपने समस्त शरीर को उपदंश के घातक विष से भर लिया था। उन दिनों भी उसकी दायीं जाँघ पर एक बड़ा घाव-सा फोड़ा था जो भरने ही में न आता था। पिछली बार जब चेतन गया था तो उसे मालूम हुआ था कि माई जीवाँ का स्थान अब उसने सम्हाल लिया है। बड़े तड़के उठकर वह कुएँ की सफ़ाई करती है और उसके यहाँ अब नियमित रूप से सत्संग होने लगा है।

चौक के बायें कोने में जो गली अन्दर को गयी थी, उसमें क्षत्रियों का एक और ब्राह्मणों के दो घर थे। क्षत्री महोदय बिसाती की दुकान करते थे, बीवी मर चुकी थी, पुत्र भी थोड़ा-बहुत पढ़-पढ़ाकर नौकर हो गया था और वे अधिकतर दुकान ही पर रहते थे। सदा एक न एक सुन्दर छोकरा अपने साथ रखते थे। कभी वे उसे अपना शिष्य और कभी अपना नौकर बताते और मुहल्ले भर के माता-पिता अपने लड़कों को उनके यहाँ कोई चीज़ लाने के लिए भेजने में संकोच करते थे। ब्राह्मणों के दोनों घरों में केवल दो व्यक्ति मैट्रिक तक पढ़ पाये थे। एक दिल्ली के ऑडिट आफ़िस में नौकर हो गया था और दूसरा कुसंगति में पड़कर क्षीण से क्षीणतर होता तपेदिक का शिकार हो गया था। दोनों घरों में कुल मिलाकर छः कुटुम्ब रहते थे जिनमें से दो में उपदंश और प्रमेह ने अपना घर कर लिया था, तीन में यक्ष्मा का आधिपत्य था और जो छठा था उसमें इन रोगों के ग्रास बड़े पैमाने पर तैयार हो रहे थे। इस कुटुम्ब के ज्येष्ठ पुत्र पंडित रामधन जी अपनी पैंतीस वर्ष की आयु में आठ सन्तानें पैदा कर चुके थे और आय के नाम पर बीस-पच्चीस रुपये महीने से अधिक न कमाते थे!

इनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग मुहल्ले में रहते थे उनकी दशा भी इनसे अच्छी न थी।

और ये तमाम लोग शिक्षा के विरोधी; मज़ारों, कब्रों और समाधियों को पूजने वाले; कुओं की जगतों और मन्दिरों के चबूतरों को सुबह-शाम

नियमित रूप से धोने वाले; गीता, रामायण, महाभारत तथा भागवत का पाठ (बिना उनके अर्थों को समझे) प्रतिदिन करने वाले और इस जन्म के समस्त कष्टों को पिछले जन्म के कुकर्मों का फल मानकर अगला जन्म सुधारने के लिए इस जन्म में कष्ट पाने वाले थे। इन्हीं लोगों और उनकी अशिक्षित सन्तान ही के कारण यह सम्भव था कि मुन्शी गिरिजाशंकर और कविराज जी जैसे सहस्रों वैद्य, हकीम और डाक्टर अपने-आपको पुरुष और स्त्रियों के गुप्त रोगों का विशेषज्ञ बताकर उन्हें और उनके साथ ही आगामी नस्लों को खराब किये जा रहे थे।

सोचते-सोचते क्रोध का एक बवंडर-सा चेतन के मन में उठा। उसका ज़ी चाहा कि यदि कहीं उसे अधिकार हो तो वह सारे-के-सारे मुहल्ले को धराशायी करा दे। उसकी नींवें तक खुदवा डाले जिनमें सदियों से बीमारियों के कीड़े पल रहे हैं। नये सिरे से स्वस्थ लोगों का मुहल्ला बसाये। किंतु दूसरे क्षण उसे खयाल आया कि एक मुहल्ला खोदने से क्या होगा। अशिक्षा, ग़रीबी, बेकारी ने तो ग़रीबों का प्रत्येक मुहल्ला ऐसा बना रखा है। सारे देश की जीर्ण-पुरातन दीवारों को गिराकर नये देश, नये समाज, नयी नस्ल का आविर्भाव करना होगा।

पुस्तक उसके सामने खुली पड़ी थी और वह अपने विचारों में कहीं का कहीं भटक गया था। तभी कविराज जी ने अन्दर का दरवाज़ा खोला। उनके पीछे-पीछे राजकुमार ने प्रवेश किया। उसे अपनी बाँह में भरकर अपनी मुस्कराहट को तनिक और फैलाते हुए उन्होंने दोनों को एक दूसरे का परिचय दिया। फिर राजकुमार के सामने चेतन की बड़ी प्रशंसा की और उससे कहा, "आज से तुम यहीं सोना। समय निकाल, घंटा-दो-घंटा इनसे अँग्रेज़ी पढ़ लिया करना।" और यादराम को बुलाकर उन्होंने कहा, "बड़े काका का बिस्तर इधर इनके कमरे में फ़र्श पर लगा दो।"

तब चेतन उछलकर उठा। उसने यादराम से कहा कि उसकी चारपाई उठाकर बाहर सीढ़ियों में रख दे और उसका बिस्तर भी वहीं फ़र्श पर बिछा दे।

कविराज जी ने उसको शाबाशी दी। धरती पर सोने के लाभ पर एक छोटा-सा भाषण दिया और चले गये।

जब बिस्तर धरती पर बिछ गया, चेतन ने अपनी पुस्तकों को फ़र्श ही पर एक ओर क़रीने से चुन लिया और बैठकर फिर काम करने लगा तो उसे लकड़ी के उस फ़र्श पर बैठने में दिक्क़त हुई। खिड़की से बहुत नीचे होने के कारण प्रकाश की और भी कमी हो गयी। किंतु जब यादराम निकट ही फ़र्श पर राजकुमार का बिस्तर बिछा रहा था तो वह शिकायत कैसे करता।

उस रात चेतन ने राजकुमार को कुछ अधिक नहीं पढ़ाया। बातें भी बहुत नहीं हो सकीं। ट्रेन में आने के कारण राजकुमार थका हुआ था, इसलिए वह सो गया।

चेतन दिन भर पूरा काम न कर सका था, वह लिखने की अपेक्षा सोचता अधिक रहा था। फिर कमरे की व्यवस्था बदलनी पड़ी थी, इसलिए खाना खाकर आने के बाद वह काम पर बैठ गया और राजकुमार के सो जाने और कविराज जी के अपने प्रिय पुत्र को आराम से सोया हुआ देख जाने के बाद, बड़ी रात तक काम करता रहा।

सुबह वह ज़रा देर से जागा और बिना लिहाफ़ से मुँह निकाले दोनों हाथ अपने चेहरे पर फेरते हुए उसने राजकुमार को 'नमस्ते' कही। जब उसे कुछ उत्तर न मिला तो उसने लिहाफ़ से मुँह निकाला कि देखें राजकुमार अभी सोया पड़ा है या जाग रहा है। किंतु वह चकित रह गया। न वहाँ राजकुमार था न उसका बिस्तर। यह भी न मालूम होता

था कि वहाँ कभी किसी का बिस्तर बिछा भी है।

क्षण भर वह उसी रीती जगह की ओर देखता रहा। फिर उसने सोचा—कविराज दुकान को जायँगे तो उनसे पूछेगा कि राजकुमार चला क्यों गया। किंतु कविराज जाते समय उससे नहीं मिले। वे तेज़ी से निकले और जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर गये। कदाचित् उन्हें जल्दी थी।

तब चेतन ने सोचा कि शायद राजकुमार वहाँ न सोयेगा, शायद ब्रह्मचर्य्य-व्रत उसके लिए उतना आकर्षण नहीं रखता। उसे भी अपनी चारपाई वापस ले आनी चाहिए। उस अँधेरे में काम कर आँखें फोड़ने की क्या ज़रूरत है। वह सीढ़ियों की ओर बढ़ा, लेकिन चारपाई वहाँ से ग़ायब थी।

वह दिन भर असमंजस में पड़ा रहा। उससे काम न हो रहा था। उसे ऐसा लगता था जैसे वह फिर ठगा गया है। तभी मन्नी उधर से गुज़री। चेतन ने उससे पूछा :

"मेरी चारपाई कल यादराम ने वहाँ रखी थी, कहाँ गयी ?"

"रात को बड़े काका के लिए वैद्य जी ले गये।"

"पर उन ब्रह्मचारी जी को तो धरती पर सोना था," क्रोध से जलते हुए चेतन ने कहा।

मन्नी हँस दी, "एक ही रात में बिलबिला उठे पिस्सुओं के मारे। उठकर भाग आये आधी रात को। चारपाई तो और घर में थी नहीं, वही लाकर वैद्य जी ने उनके नीचे बिछा दी।"

चेतन ने चाहा ऐसी फुफकार मारे कि सामने का कमरा जलकर राख हो जाय। किंतु वह केवल विष घोलकर रह गया।

सारा दिन वह कोई काम न कर सका। बेचैनी के मारे लेटता, उठता, बैठता कमरे में चक्कर लगाता रहा।

५५

ब्रह्मचारी जी का धरती पर सोना तो चेतन से चारपाई लेने का बहाना-मात्र था। सोचने पर चेतन अच्छी तरह समझ गया। चारपाइयाँ शिमले में महँगी थीं। फिर सीज़न के खतम हो जाने पर उन्हें बेचकर, नीलाम करके अथवा किसी मित्र को देकर जाना पड़ता था। इसलिए शायद कविराज जी ने सोचा कि जब घर में एक नयी चारपाई है तो दूसरी बाज़ार से क्यों लायी जाय। और क्योंकि वे दवाखाने से चेतन को इसी चारपाई का लालच देकर लाये थे, इसलिए अब उसे लेने के लिए उन्होंने यह आडम्बर रचा था।

कविराज जी का यह क़ायदा था कि वे कटु-से-कटु बात को भी मीठे से-मीठे ढंग से करने का प्रयास करते थे। चेतन को शिमले लाने से पहले यदि वे उससे कहते, 'मैं बच्चों के सम्बन्ध में एक पुस्तक चाहता हूँ, तुम उसे मेरे नाम से लिख दो' तो चेतन शायद कभी तैयार न होता। किंतु उन्होंने बड़े मीठे, प्यारे ढंग से अपना वाँछित काम भी करा लिया और खर्च भी कम-से-कम किया था। और वह भी काम करने वाले पर एहसान का बोझ

लादते हुए, क्योंकि प्रकट चेतन को उनके विरुद्ध किसी प्रकार की उचित शिकायत न हो सकती थी।

कविराज जी इस कला में सिद्धहस्त थे। दूसरे पर एहसान करते हुए (अथवा उसे इस बात का आभास दिलाते हुए कि उस पर एहसान किया जा रहा है) अपना काम कराने अथवा अपनी इच्छा के अनुसार किसी समस्या को सुलझाने में कविराज को अपूर्व सिद्धि प्राप्त थी।

छः वर्ष से उनके यहाँ औषधियाँ कूटने पर एक व्यक्ति नौकर था। यादराम को पाने पर कविराज ने उसे निकालने का फ़ैसला कर लिया। बात यह थी कि एक तो वह बूढ़ा था, उतना काम न कर पाता था, दूसरे पुराना नौकर होने के कारण उसे वेतन अधिक देना पड़ता था। किंतु यह निश्चय करने के बाद उन्होंने उसे तत्काल छुट्टी नहीं दी। कई दिन पहले वे उससे कहते रहे कि उसका स्वास्थ्य ख़राब दिखायी देता है, वह दिन-प्रतिदिन दुबला होता जा रहा है, उसे कुछ दिन के लिए आराम करना चाहिए। जब उसे अपने स्वास्थ्य की ख़राबी के सम्बन्ध में विश्वास हो गया तो उसे उन्होंने वेतन सहित पन्द्रह दिनों की छुट्टी दे दी। वह चला गया तो उन्होंने यादराम को अस्थाई रूप से उसकी जगह लगा लिया। जब पन्द्रह दिन बाद वह लौटा तो कविराज जी ने उससे कहा कि बाबा तुममें अब इतना कठिन काम करने की हिम्मत नहीं, तुम्हें तो अब कोई ऐसा काम करना चाहिए जिसमें कम जान खपानी पड़े। मैंने एक मित्र से तुम्हारी सिफ़ारिश कर रखी है, तुम वहाँ जाओ। रुपये तो शायद दो एक कम मिलें, पर काम आराम का होगा। मैं तुम्हें सिफ़ारिशी चिट्ठी लिख देता हूँ। और उन्होंने अपने मित्र को लिखा :

"तुम कोई बात कहो और हम न मानें यह कैसे हो सकता है। नौकर भेज रहा हूँ। मेरे यहाँ छै वर्ष से काम कर रहा है। दयानतदार और परिश्रमी है। मुझे कष्ट तो होगा, पर मैं जानता हूँ, तुम्हारा कष्ट मुझसे

ज़्यादा है । एक बार काम सिखा दो, फिर तुम इसे बड़ा उपयुक्त पाओगे।"

और यह सिफ़ारिशी चिट्ठी देकर उन्होंने उसके हाथ पर दो रुपये इनाम रखा और उसे विदा किया।

कविराज जी नौकरों ही से छल करते हों, यह बात न थी । छल-कपट (जिसे वे जीवन को सुख से व्यतीत करने का एक अत्यावश्यक साधन मानते थे) उनकी प्रकृति का एक अंग बन चुका था। अपने नौकरों से, ग्राहकों से, मित्रों से, बच्चों से, बेवी से, यहाँ तक कि वे अपने-आप से छल करते थे। दिन रात झूठ बोलते हुए, जनता को ठगते हुए वे साथ-साथ अपने परलोक सुधारने की भी चिन्ता में निरत रहते थे । आर्य-समाज के प्रसिद्ध उपदेशक स्वामी शुद्धदेव उनके घर नियमित रूप से वर्ष में एक बार गीता की कथा करते थे, हर महीने हवन-यज्ञ होता था । इसके साथ ही वे कई सभा-सोसाइटियों को दान देते थे और कई धर्मार्थ संस्थाओं के संचालन का बोझ अपने कन्धों पर उठाये हुए थे और समझते थे कि इह लोक के साथ वे अपना परलोक भी सुधार रहे हैं। किंतु चेतन ने भली-भाँति देखा था कि चाहे प्रकट रूप से ये सब कार्य वे परमार्थ के हेतु ही करते हों, किंतु अर्ध-चेतन में उनका व्यापारी अपने समस्त परोपकार का हिसाब रखता था। कथा कराते समय अथवा चंदा देते समय वे सदा इस बात का ध्यान रखते थे कि बदले में उन्हें क्या मिलता है—कितनी सभा-सोसाइटियों के वे प्रधान अथवा उप-प्रधान चुने जाते हैं, उनके कितने मित्रों अथवा रिश्तेदारों का काम बनता है, उन्हें कितनी ख्याति मिलती है। कई सभाओं की ओर से उनको (आयुर्वेद सम्बन्धी सेवाओं के सिलसिले में) स्वर्ण-पदक मिले थे (जिनका विज्ञापन वे अपनी पुस्तक 'विवाह के भेद' के सम्बन्ध में निरन्तर करते) कितनी सोसाइटियों के कोष पर उनका अधिकार था। उन्हें देख-कर चेतन को कभी-कभी पंजाबी भाषा की एक लोकोक्ति याद आ जाती थी :

अहरन दी कीती चोरी सुई दा कीता दान
कोठे ते चढ़ वेखन लग्गा औह आये विमान

लेकिन चेतन को कविराज जी के इस ढंग, उनकी इस व्यवहार-कुशलता से सख़्त नफ़रत थी। वह स्पष्ट-वादी था। साफ़ बात पसन्द करता था। इस घुमाव-फिराव में उसे छल की गन्ध आती थी। यदि कविराज उससे साफ़ कह देते—'राजकुमार आ रहा है भाई, चारपाई अब उसके लिए चाहिए'—तो वह तत्काल दे देता। उसे तनिक भी दुख न होता क्योंकि कविराज जी ने शिमला आने से पहले उससे कह दिया था कि वे सोने के लिए उसे दुकान या मकान का कोई कोना दे देंगे। यह भी उन्होंने उससे कह दिया था कि शायद उसे धरती पर सोना पड़े और चेतन इस बात के लिए तैयार भी होकर आया था। किंतु उसे इस झूठ और फ़रेब से चिढ़ थी। हर बार नया झूठ। उस झूठ को छिपाने के लिए फिर झूठ और इस प्रकार झूठ का यह सारे का सारा जीवन उसके लिए असह्य था। स्पष्ट बात सुनने पर पहले धक्का ज़रूर लगता है, किंतु आदमी उसे शीघ्र ही भूल जाता है, अथवा उसे यथार्थ जानकर उससे समझौता कर लेता है। लेकिन यह कपट! यह ऊपर से उतना कटु मालूम नहीं होता, पर जो व्यक्ति इस कपट का शिकार बनता है, जब उस पर इसकी यथार्थता खुलती है तो उससे जो झटका लगता है, छले जाने का जो खेद उसे होता है, वह हृदय में घाव बना देता है और वह घाव समय पाकर नासूर बन जाता है और कपटी के क्षमा माँग लेने पर भी, उससे बदला ले लेने पर भी, नहीं मिटता।

और चाहे उसने उनके लिए पुस्तक लिखने का निर्णय कर लिया था और वह पूरे श्रम से पुस्तक लिख रहा था, लेकिन उस समस्त छल-कपट के लिए उसने उन्हें क्षमा न किया था और वह उस घाव को धीरे-धीरे पाल रहा था।

चेतन के जीवन की ट्रेजेडी उसकी यही बढ़ी हुई भाव-प्रवणता और

उससे जनित क्षोभ था। यदि अनजाने में उससे स्वयं छल बन आता तो दूसरे ही क्षण अपने छल को जानकर आत्म ग्लानि से उसका हृदय भर जाता। प्रतिक्रिया उसे दूसरे किनारे ले जा फेंकती। निम्न-मध्य-वर्ग में जो 'मोटी खाल' पैदा होती है—जो मान-अपमान को सह जाती है और बिना महसूस किये झूठ बोलती है, खुशामद करती है, रिश्वत लेती-देती है और धोखा-फ़रेब करती है, वह चेतन के पास न थी। उसकी खाल बड़ी पतली थी। मस्तिष्क की नसें उसकी बड़ी नाज़ुक थीं। छोटी-सी बात भी उन्हें बेतरह झनझना देती थी।

उसे चारपाई के इस तरह छीने जाने का बहुत दुख हुआ था। कुछ क्षण के लिए क्रोध का लावा उसके अन्तस्तल में पूरे वेग से खौल उठा था और लगता था कि वह एकदम फट पड़ेगा। उसने चाहा था कि उसी क्षण कविराज जी के पास जाय। उनसे कहे—"मुझे अभी चारपाई ले दीजिए! इसी क्षण! रुपये आप मेरे वेतन से काट लीजिए। क्या मेरे सहयोग का मूल्य एक चारपाई भी नहीं? क्या आप ने मुझे यादराम या जयदेव समझ लिया है?"

यद्यपि वह भली-भाँति जान गया था कि कविराज की दृष्टि में उसका महत्व यादराम या जयदेव से अधिक नहीं, उसने अपनी इस स्थिति से समझौता भी कर लिया था, किंतु बार-बार इसकी याद दिलाये जाने पर उसे, उसकी वर्ग-चेतना को, उसके अहं को दुख पहुँचता था। उस क्रोध के क्षण में उसने यह भी सोचा था कि उसी समय कहीं से तीन-चार रुपयों का प्रबन्ध करके एक चारपाई ले आये। किंतु ज्यों-ज्यों वह सोचता गया, उसके क्रोध का वेग शांत होता गया। कविराज जी से और कुछ चाहे उसने न सीखा हो लेकिन क्रोध में सोचना अवश्य सीख लिया था। 'कोई भी बात क्रोध में न करो'—यह उनका मॉटो था। एक बार भाई साहब की ओर से एक कटु पत्र आया था और वह उसी समय उसका उत्तर देना चाहता था,

लेकिन कविराज जी ने उसे सलाह दी थी कि ग़ुस्से में कभी पत्र न लिखो। यदि लिखे बिना कुछ और काम न हो सके तो लिखकर रख लो और दो दिन बाद डालो। निश्चय ही तुम उसे फाड़ दोगे। यदि न फाड़ सको तो दोबारा पढ़ने पर तुम उसे ज़रूर बदल दोगे। चेतन बहुतेरा चाहता था कि अपनी पुरानी आदत के अनुसार वह दनदनाता हुआ कविराज जी के पास जाय, किंतु अज्ञात रूप से उस पर उनका प्रभाव हो गया था। उनकी बहुत-सी बातों से घृणा करने, मन में उनका मज़ाक उड़ाने के बावजूद, उसने उनके स्वभाव का यह गुण अपना लिया था। क्रोध के होते भी, एक ओर अपने वाँछित भावी कृत्य और दूसरी ओर उसके औचित्य-अनौचित्य पर वह अपने मन में विचार करता जा रहा था। उसे लगता था कि अभी कविराज जी के पास जाना तो उसकी मूर्खता होगी। वह जायगा, शोर मचायेगा, कविराज उलटा उसे लज्जित करेंगे और एहसान का बोझ लादते हुए चारपाई ले देंगे। न, वह इस प्रकार चारपाई न लेगा। उसे और किस बात का आराम है जो वह चारपाई लेकर कृतज्ञ हो? वह अभी तक नौकरों की बे-छत की टट्टी में शौचादि से निवृत्त होने के लिए जाता है, उस सर्दी में कमेटी के नल से नहाता है, ब्राह्मण होता हुआ भी, उनके घर में रहता हुआ भी अछूत-सा बना हुआ है तो फिर यदि धरती पर सो लेगा तो उसका कौन-सा अपमान हो जायगा? जब असत्य उनके जीवन का स्वभाव बन गया है, जब उस असत्य को अच्छी तरह पहचानकर, समझकर वह उनके लिए पुस्तक लिखने को तैयार हो गया है, तब उसी असत्य का एक दूसरा रूप सामने आने पर इतनी आकुलता क्यों? क्यों न सदा के लिए उसी रूप को उनका यथार्थ रूप मान ले। जिस काल्पनिक व्यक्ति के नाम उसने भावुकता-वश पुस्तक समर्पित की थी, उसे क्यों न भूल जाय। उन कविराज को उसकी भावुकतामय कल्पना ने देखा था, इनको उसके अनुभव ने। तो फ़िर अपने अनुभव को ही पथ-प्रदर्शक क्यों न माने, क्यों

कल्पना का भुलावा खाये और बार-बार उसके मिथ्या होने पर दुख पाये ?

और यह सब सोचकर चेतन स्वस्थ हो गया था। उसका क्रोध तूफ़ान नहीं बना, बवंडर नहीं बना, एक घुमड़न-सी बनकर अन्दर-ही-अन्दर मिट गया। लेकिन वह घाव जो चेतन के मन में इस कपट के कारण हो गया था, नहीं मिटा, इस घटना से वह कुछ और गहरा ही हुआ।

कविराज जी सुबह उससे आँखें मिलाये बिना गुज़र गये थे, लेकिन शाम को जब वे आये तो सीढ़ियों की खिड़की में से झाँककर उन्होंने पूछा कि वह मज़े में तो है और उसे पिस्सुओं ने तो नहीं काटा। "राजकुमार तो भाग आया उठकर," उन्होंने कहा, "बच्चा है न आखिर!" और वे हँसे।

तब चेतन ने कहा कि वह बड़े मज़े में है, उसके रक्त में इतना विष भरा है कि पिस्सू उसे काटें तो मर जायँ।

इस पर कविराज जी ने खीसें निपोर दीं और अन्दर चले गये।

५६

राजकुमार उसके कमरे में सोया न था, लेकिन दूसरे दिन समय पर उसके पास पढ़ने के लिए आ गया। चेतन चाहता था उससे कह दे कि वह पुस्तक लिख रहा है, उसके पास समय नहीं पर वह कुछ भी न कह सका और चुपचाप उसे पढ़ाने लगा।

बात वास्तव में यह थी कि उस नीम-अँधेरे कमरे में, सारा दिन पढ़ते, नोट लेते, और लिखते-लिखते वह इतना थक जाता था कि किसी की सूरत देखने को, किसी से दो बातें करने को उसका जी तरस उठता था।

कविराज जी के यहाँ उसकी स्थिति नौकरों की सी थी, इसलिए पड़ोसियों से वह कभी खुल न पाया था। वह सदा उनसे खिंचा-खिंचा-सा रहा। यद्यपि वह कविराज जी के लिए पुस्तक लिख रहा था, लेकिन उसने किसी पड़ोसी को यह बात न बतायी थी। यदि किसी ने पूछा भी तो उसने यही बताया कि पुस्तक लिखने में वह कविराज की सहायता कर रहा है। कविराज भी उसका ज़िक्र चलने पर यही कहते कि 'बच्चा बीमार रहता

था। मैं उसे ले आया हूँ, इसका स्वास्थ्य सुधर जाय।' और यह कहते हुए वे कुछ ऐसे सरपरस्ताना ढंग से बात करते थे कि चेतन को वे ही नहीं, उनके सभी मित्र अपने सरपरस्त दिखायी देते।

उन्हीं दिनों सामन के मकान में रहने वाले बाबू चरणदास से इसकी झपट हो गयी, जिस कारण वह और भी अपनी कोठरी में बन्द रहने लगा था।

ये बाबू चरणदास मिलिट्री एकाउंट्स में हेड-क्लर्क थे। उनके दो लड़कियाँ थीं। और यद्यपि बाबू जी का अपना रंग कुछ ऐसा काला न था, पर उनकी इन सुपुत्रियों का रंग तो तवे की स्याही को मात करता था। बड़ी लड़की के दायें गाल के ऐन मध्य एक बड़ा-सा गोल, कदाचित् लाहौरी फोड़े का चमकता-सा दाग़ भी था। उसके इस रंग और उस पर घुँघराले बालों को देखकर चेतन ने पहले उन्हें मद्रासी समझा था, लेकिन बाद में जब उसे मालूम हुआ कि वे मद्रासी नहीं, पंजाबी ही हैं तो उसे ख़याल आया था कि उनके माता-पिता अवश्य ईसाई होंगे—ईसाई जो भंगी चमारों में से ईसाई हो जाते हैं और पढ़-लिखकर बड़े पदों पर नियुक्त हो जाते हैं। उसके आश्चर्य की सीमा न रही थी, ज़ब उसे पता चला था कि यह बाबू साहब न केवल पंजाबी हैं, बल्कि उसी के ज़िले ही के रहने वाले हैं। चेतन के मन में उनकी उन दोनों लड़कियों को देखकर घृणा-सी पैदा हो उठती थी। जब उनकी बड़ी लड़की अपने काले रंग, मोटे घुंघराले बालों और गाल के उस बदनुमा दाग़ को यथेष्ट न समझकर नीले-पीले रंगीन कपड़े पहन लेती थी तो चेतन के लिए उसकी उपस्थिति असह्य हो जाती थी। इस पर बाबू चरणदास साँप बनकर उस सौन्दर्य-धन की रखवाली करते थे। बरामदे में उन्होंने मोटी चिकें लगवा रखी थीं, चिकों के पीछे पर्दे थे और वे स्वयं आठों पहर चौकस रहते थे।

उनकी इस सन्देहशीलता को देखते हुए चेतन जब व्यायाम करता

था तो अपने कमरे के किवाड़ लगा लेता था। लेकिन कमरे में कोई वातायन नहीं था (और खिड़की भी क्योंकि उनके बरामदे के सामने खुलती थी, इसलिए वह उसे भी बन्द कर लेता था) इस कारण कई बार उसका दम घुटने लगता था और वह कभी-कभी किवाड़ खोल लेता था। एक दिन वह लँगोट बाँधे मालिश करके व्यायाम कर रहा था कि उसका दम घुटने लगा। उसने किवाड़ खोल दिये। बाबू चरणदास चिक के बाहर मुँह किये दातौन कर रहे थे। क्रुद्ध होकर बोले :

"Why are you making an ostentation of your thighs ?"

चेतन ने कुछ उत्तर दिया, लेकिन शब्द उसके ओठों ही में रह गये थे। स्तम्भित-सा वह पीछे हट गया। उसने जल्दी से किवाड़ फिर लगा लिये। किंतु किवाड़ लगाते ही उसका सारा क्रोध उसके हृदय में खौल उठा। पड़ोसी का वह अयाचित व्यंग्य तीर की तरह उसके हृदय में लगा था। तब बदन पोंछकर स्नान किये बिना उसने कपड़े पहन लिये और आक्सफ़र्ड का शब्द-कोष लेकर 'Ostentation' शब्द के अर्थ देखे। जब उसे तसल्ली हो गयी कि अर्थ वही हैं जो उसने समझे हैं तो उसने बड़े परिश्रम से, बार-बार शब्द-कोष की सहायता लेकर, अँग्रेजी ही में पत्र लिखा—

Dear Sir,

You have just accused me of making an ostentation of my thighs. The accusation is wrong, unjust, sinister and unwarrented. It has injured my feelings to a great extent, as it is totally wrong and baseless.

The word ostentation (as given in the oxford Dictionary) means a display, a showing off. This presupposes an intention of doing so, which, in my case, was cons-

picuous by its absence. I always take my exercise, in a closed room (which I close because of your convenience only.) To-day also the room was closed, but it became so stuffy that I was forced to open it to have a breath of fresh air and when I was just opening the door, you made that sinister remark of yours.

I am perfectly sure that you never meant what you uttered. You probably meant that I should not come in the open, with only a loincloth on my body. I will try to do so in future. In the meanwhile I would expect you to take your remarks unreservedly back.

Yours truly

CHETAN ANAND

यह पत्र उसने अत्यन्त साफ़ अक्षरों में लिखकर पड़ोस के एक लड़के के हाथ बाबू चरणदास को भिजवा दिया और अपनी इस नुक्ता-रसी पर बड़ा प्रसन्न हुआ।

बाबू साहब ने उससे माफ़ी माँग ली थी, लेकिन उन्होंने कविराज जी से शिकायत कर दी थी और कविराज जी ने कहीं से एक पर्दा लाकर दरवाज़े पर लटका दिया था।

यह घटना प्रकट में बड़ी साधारण थी, पर चेतन के अति-भाव-प्रवण और हस्सास मन पर इसका बड़ा प्रभाव हुआ था। इसके बाद उसका एकाकीपन और भी गहन हो गया था। इसलिए यह जान लेने पर भी कि राजकुमार के जिन गुणों की प्रशंसा कविराज नित्य-प्रति किया करते थे, वे उनकी वाणी में हैं, राजकुमार के अस्तित्व में नहीं! चेतन ने उसका स्वागत किया था। वे पुरस्कार और पदक जो राजकुमार को अपने स्कूल

की पत्रिका में सुन्दर लेख लिखने पर मिले थे, शायद उन स्वर्ण-पदकों की ही तरह थे जो स्वयं कविराज जी को उनके आयुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान के सिलसिले में प्रदान किये गये थे। राजकुमार एकदम असाहित्यिक था और बुद्धि की कुशाग्रता उसे छू तक न पायी थी। कुछ ही दिनों में चेतन को इस बात का पता चल गया। तो भी वह उसे नियमित रूप से पढ़ाने लगा था। कहानी लिखनी सीखने वाला न सही इतिहास अँग्रेज़ी सीखने वाला ही सही, शिष्य तो उसे मिल गया था। वह उसी को पाकर सन्तुष्ट था। उसके आगमन से, उससे बातें करके उसका थोड़ा बहुत विनोद हो जाता था और उस स्थिति में चेतन के लिए वही यथेष्ट था।

अपने आने के बाद तीसरे दिन ही जब राजकुमार पढ़ने आया तो अपने साथ आबनूस की एक सुन्दर बाँसुरी भी लाया। जब वह पढ़ चुका तो उसने चेतन को बाँसुरी बजाकर सुनायी। चेतन बड़ा प्रसन्न हुआ। पढ़ाई खतमकर वह राजकुमार के साथ ईदगाह गया और दोनों बड़ी देर तक वहाँ बाँसुरी की धुनों में मस्त रहे।

चेतन को स्वयं बाँसुरी बजाने का बड़ा शौक़ था। जब वह बहुत छोटा था तो हरलाल पंसारी की दुकान पर एक रँगरेज़ आया करता था। वह इतनी सुन्दर बाँसुरी बजाता था कि चेतन, जहाँ कहीं भी हो, उसकी बाँसुरी का स्वर सुनते ही भाग आता था। पहले-पहल शायद उसी की बाँसुरी सुनकर चेतन के मन में बाँसुरी बजाने का शौक़ पैदा हुआ था। वह मेले से एक अढ़ाई आने की बाँसुरी लाया भी था, किंतु उससे फूँक ही न देते बनी थी। हारकर बाँसुरी छोड़ वह अपने दूसरे मशग़लों में व्यस्त हो गया था। फिर भी जब कभी कोई मदारी मुहल्ले में आता और एक हाथ से डुगडुगी और दूसरे से बाँसुरी बजाता हुआ तमाशा देखने वालों के घेरे में

घूमता तो चेतन का शौक़ फिर दुगने वेग से उमड़ उठता। वह फिर पैसा-पैसा जोड़कर बाँसुरी ख़रीद लाता और तब तक उसमें फूँकता रहता जब तक उसका सिर दर्द न करने लगता। धीरे-धीरे उसे बाँसुरी में फूँक देना आ गया। तब वह महावीर दल में भरती हो गया ताकि दल के बैंड वालों से बाँसुरी की ट्यूनें सीख ले। बैंड वालों की बाँसुरियों को देखकर उसे स्वयं आबनूस की एक बाँसुरी ख़रीदने की इच्छा हुई थी। लेकिन जालन्धर में तब ऐसी कोई दुकान न थी जहाँ से सब तरह के वाद्य-यंत्र ख़रीदे जा सकें। इसलिए यह इच्छा कई वर्ष तक उसके अन्तर में दबी रही थी। लेकिन पहला अवसर पाते ही उसने बाँसुरी ख़रीदी।

१९२९ की बात है। मैट्रिक करने के बाद कॉलेज में प्रवश किये उसे कुछ ही महीने हुए थे कि लाहौर काँग्रेस का अधिवेशन आ गया। अनन्त के साथ चेतन भी उसे देखने गया। वे तो कदाचित् कभी जा न पाते। लाहौर जाने, वहाँ रहने, खाने, पीने और काँग्रेस का अधिवेशन देखने की व्यवस्था वे कैसे करते? इतना धन कहाँ से पाते? पर उनके साथ ही, उन्हीं की श्रेणी में, जालन्धर की काँग्रेस कमेटी के प्रधान का पुत्र पढ़ता था। उसने उनको राह सुझा दी। स्थानीय काँग्रेस कमेटी ने काँग्रेस के अवसर पर स्वयं-सेवक भेजने का निश्चय किया था और कुछ स्वयं-सेवकों की वर्दियों तथा एक ओर के किराये का प्रबन्ध अपने ज़िम्मे ले लिया था। प्रधान का लड़का ख़ास तौर पर लाहौर के ट्रेनिंग कैम्प से ट्रेनिंग लेकर आया था और उसने जालन्धर में ट्रेनिंग कैम्प खोला था। उसी की सहायता और सिफ़ारिश पर वे दोनों यह सुविधा पा गय। चंद दिन उन्होंने ट्रेनिंग ली और बड़े धड़ल्ले से लाहौर काँग्रेस का अधिवेशन देखने चले गये।

अनन्त के पिता तो क़ानूनगो थे, दूसरे वह अपने पिता का इकलौता लड़का था, इसलिए उसके पास तो पर्याप्त कपड़े और जेब ख़र्च के लिए काफ़ी रक़म थी। किंतु चेतन के पास केवल पाँच रुपये थे (जो उसने बड़े

अनुनय-विनय के बाद माँ से लिये थे या यों कहिए कि उसके अनुनय-विनय पर माँ ने किसी से लाकर दिये थे) और वर्दी के कपड़ों के अतिरिक्त केवल वही ओवरकोट था। वास्तव में उस समय वह भाई साहब के पास था और चेतन ने उनसे माँग लिया था।

दिसम्बर का महीना था। कड़ा जाड़ा पड़ रहा था। प्रधान के जलूस से तीन-चार दिन पहले वे वहाँ पहुँचे। उन्हें खेमे में उतारा गया जिसमें नीचे पुआल बिछी हुई थी। चेतन को पहली रात सर्दी लगती रही, लेकिन काँग्रेस नगर पहुँचकर महज़ ख़ुशी से ही वे पहली रात न सोये थे। दूसरी सुबह जब प्रातः ही उन्हें परेड के लिए जाना पड़ा और सर्दी के मारे उनके हाथ-पाँव सन्न हो गये, तब उन्हें पता चला कि काँग्रेस अधिवेशन में 'देखना' और 'मौज उड़ाना' ही नहीं, कुछ करना भी है। सर्दी के मारे एक लड़का परेड ग्राउँड ही में बेहोश हो गया था। अनन्त तो पहले दिन ही ख़िसक गया। चेतन दो दिन परेड करने जाता रहा, किंतु यह सब उसके बस का रोग न था। उसमें इतनी शक्ति ही न थी कि ठंडी वर्दी में वह इतनी सर्दी में निकल सके। इसलिए तीसरे दिन वह भी कन्नी काट गया। प्रधान के जलूस में वे दोनों शामिल हुए। जलूस काँग्रेस नगर (अथवा लाजपत राय नगर) से (जो रावी के तट पर बनाया गया था।) पैदल स्टेशन तक गया और पंडित जवाहरलाल नेहरू के आने पर फिर बाज़ारों में से होता हुआ चला।

जलूस से एक दिन पहले वर्षा भी हुई थी। बाज़ारों में बड़ा कीचड़ था। चेतन कभी इतना पैदल न चला था। फिर तीन दिन से (अपने नये-नये जोश में) वह लगातार ड्युटी दे रहा था। उसके जूते पुराने और खुले थे। इन सब कारणों से खड़े-खड़े उसकी पिंडलियाँ दुखने लगी थीं, चलते-चलते तलुवे दर्द करने लगे थे और नारे लगाते-लगाते उसका गला बैठ गया था। निरन्तर अपने आगे के वालेंटियर की गर्दन के भोंडे खरखरे बालों को देखते रहना, कभी चल पड़ना, कभी खड़े हो जाना और कभी नारा लगा

देना ! कई घंटे से यही करते-करते वह बुरी तरह ऊब गया था। वह उस बहिया की एक लहर की तरह बहाव में बढ़े जाना न चाहता था। किनारे होकर उस वेग की बहार देखना चाहता था। जब वे एक अपेक्षाकृत तंग बाज़ार में पहुँचे, जहाँ सहस्रों लोगों के चलने से कीचड़ ऐसी चिकनी मिट्टी-सा हो गया था कि जूते चिपकने लगे थे तो वहाँ एक बार चेतन का जूता ऐसा चिपका कि उतर गया। तब इस अवसर को उपयुक्त जान वह धारा से अलग हो गया। मार्च करते हुए स्वयं-सेवकों के पैरों के नीचे से उसने बड़ी कठिनाई से जूते को निकाला। उसके एक पाँव का मोजा कीचड़ से लथपथ हो गया। इसलिए पहले जूते को हाथ ही में थामे उसने बराबर की एक दुकान के तख़्ते पर खड़े होकर सारा जलूस देखा। फिर उसने दोनों मोजे उतारे और पट्टियों को वैसे ही नंगी टाँगों पर कसकर बिना मोजों के जूते पहन वह धीरे-धीरे सजे हुए बाज़ारों की बहार देखता हुआ चल पड़ा।

अनारकली में एक दुकान पर उसे हारमोनियम और दूसरे साज़ रखे हुए दिखायी दिये। एक शीशे की आलमारी में आबनूस की बाँसुरियाँ भी थीं। चेतन वहाँ रुक गया। सब कुछ भूलकर वह दुकान में दाख़िल हो गया। उसने भिन्न-भिन्न बाँसुरियों की क़ीमतें पूछीं। उसे जो सब से अच्छी लगी, उसकी क़ीमत पाँच रुपये थी। वह दो हिस्सों में विभक्त हो जाती थी और उसमें एक कुंजी भी थी। वह यही ख़रीदेगा, इस बात का निश्चय करके वह दुकान से उतर गया।

इसके बाद ५ दिन तक वह और वहाँ रहा। अगणित चीज़ें वहाँ देखने की थीं—प्रदर्शनियाँ, तमाशे, विषय-निर्धारिणी समिति की बैठकें, अखिल भारतीय काँग्रेस का अधिवेशन और काँग्रेस से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी कई संस्थाओं के जलसे; हज़ारों चीज़ें ख़रीदने की थीं; सहस्रों खाने की थीं। कई ऐसी भी थीं जो उसने कभी पहले न चक्खी थीं, न देखी ! कई बार उसका हाथ अपनी जेब की ओर जाता, पर उसकी आँखों के सामने

आबनूस की वही सुन्दर बाँसुरी घूम जाती और वह अपने मन तथा जीभ की लालसा दबा देता।

टिकट के दाम ख़र्च किये बिना वह काँग्रेस की बैठकों तथा दूसरी नुमाइशों को देख सके, इस विचार से उसने बड़ी कड़ी डयुटियाँ दीं। रात-रात भर वह डयुटी देता रहा। और उसने बिना पैसा ख़र्च किये सब देखने वाली चीज़ें देखीं। खाना वह (स्वयं-सेवक होने के कारण) काँग्रेस के लंगर से खाता रहा और 'अप अप विद माश की दाल,' 'डाउन डाउन विद मूँग की दाल' और ऐसे ही दूसरे नारों का आनन्द (जो मन पसन्द चीज़ों के मिलने अथवा न मिलने पर लगाये जाते थे) मुफ़्त में लेता रहा। नहाने-धोने के लिए साबुन-तेल काँग्रेस के स्नान-गृहों में मिल जाता था। इस तरह उसने अपने पाँच के पाँच रुपये बचा लिये थे। वापस जाने का किराया उसने अनन्त से उधार ले लिया और जब वे वहाँ से चले तो उसने जाते-जाते ताँगे से पाँच मिनट के लिए उतरकर वही बाँसुरी ख़रीद ली।

बाँसुरी पाकर उसे इतनी ख़ुशी हुई कि उसका जी चाहा कि वह स्टेशन तक उसे बजाता ही चले। किंतु सामान के अधिक होने के कारण ताँगे में इस बात की सुविधा न थी। इसलिए उसने रास्ते में बाँसुरी बजाने का लोभ संवरण किया और उसे अपने ओवरकोट के अन्दर की जेब में रख लिया।

स्टेशन पर भीड़ इतनी थी कि टिकट लेना चेतन के बस की बात न थी, इसलिए यह भार अनन्त ने अपने कन्धों पर लिया और चेतन सामान की रखवाली करने लगा। जब अनन्त उस बेपनाह भीड़ में घुस गया और सामान उतारकर चेतन ने गिन लिया तो वह बिस्तर पर मज़े से बैठकर बाँसुरी के दोनों हिस्सों को जोड़कर मस्त हो उसे बजाने लगा। वह भूल गया कि वह स्टेशन के मुसाफ़िरख़ाने में बैठा है, भूल गया कि स्टेशन पर बेपनाह भीड़ है, टिकट मिलेगा या नहीं, उन्हें रात उसी मुसाफ़िरख़ाने में **तो न** बितानी पड़ेगी—वह सब कुछ भूल गया और अपने चिर-परिचित

गीत एक-एक करके बजाने लगा। कितनी सुरीली थी वह आबनूस की बाँसुरी !

वह उसकी स्वर लहरी में गुम था कि अनन्त टिकट लेकर घबराया हुआ आया। साँस उसकी फूली हुई थी, कपड़े अस्त-व्यस्त थे, "तुम यहाँ बैठे हो और वहाँ गाड़ी चलने ही वाली है!" उसने चीखकर कहा और गेट की ओर लपका।

चेतन ने घबराहट में बाँसुरी दो हिस्सों में किये बिना, उसी तरह कोट के अन्दर की जेब में रखी और कुली के सिर पर सामान उठवाकर वह भी उसके पीछे भागा। जब बड़ी कठिनाई के बाद वह गाड़ी में सवार हुए और उन्हें अपने बिस्तरों को रखने और उन्हीं पर बैठने की जगह मिल गयी तो चेतन ने अपने बिस्तर पर बैठकर, डिब्बे की दीवार के साथ अपनी पीठ लगा, इस बात का खयाल किये बिना कि वह शौचालय के दरवाज़े से पीठ लगाये बैठा है, बाँसुरी निकालने के लिए ओवरकोट के अन्दर की जेब में हाथ डाला। उसका दिल धक से रह गया। बाँसुरी ग़ायब थी शायद सामान उठाते समय झुकने के कारण जल्दी में गिर गयी थी। या भीड़ में किसी ने खींच ली थी। गाड़ी चलने ही वाली थी। अनन्त ने कहा भी कि बैठे रहो और ख़रीद लेना; पर चेतन अंधाधुंध लाइनें फलाँगता हुआ वापस वहाँ गया जहाँ वे बैठे थे। लेकिन बाँसुरी वहाँ होती तो भी उस जल्दी में उसे न मिलती और फिर इतनी भीड़ में वह धरती पर पड़ी ही कैसे रह पाती। चेतन की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। उद्भ्रान्त-सा वह वापस पलटा।

वह इस तरह पागलों की तरह इधर-उधर भटक रहा था कि अनन्त यदि बाहर खिड़की में न खड़ा होता तो चेतन अपना डिब्बा कभी न ढूँढ़ पाता। रात के एक बजे जब गाड़ी जालन्धर पहुँची और किसी-न-किसी तरह रेलवे रोड, पंजपीर और चौरस्ती अटारी पार कर वह घर के

दरवाज़े पर पहुँचा तो अन्दर प्रवेश करते ही माँ के पैर छूते-छूते आँसू अनायास उसकी आँखों से बहने लगे।

"क्या बात है बेटा?" माँ ने दुश्चिन्ता से पूछा।

'माँ मेरी बाँसुरी खो गयी।' वह इतना ही कह सका। उसके आँसू मुखर हो उठे और माँ के सीने से लगा, वह फफक-फफककर रो पड़ा।

राजकुमार की बाँसुरी को देखकर चेतन के हृदय में एक टीस-सी उठी थी। काँग्रेस अधिवेशन के उन सात दिनों का कठिन संयम और उस संयम के बाद का वह क्षणिक उल्लास और लम्बी निराशा उसके सामने घूम गयी। किंतु समय ने उस घाव को काफ़ी हद तक भर दिया था! आबनूस की बाँसुरी तो वह फिर ख़रीद न सका था, पर बाँस की पोरी उसके ट्रंक में अब भी पड़ी थी, जिससे वह कुछ बीबी जी के भ्रू-भंग, कुछ पड़ोसियों के ग़ुस्से और कुछ बाबू चरणदास की सन्देहशीलता के कारण बाहर न निकाल पाया था। राजकुमार के साथ बाँसुरी बजाने का अधिकार पाकर उसने सोल्लास वह बाँस की पोरी फिर निकाल ली थी।

कुछ दिनों के लिए चेतन अपने एकान्त को बिलकुल भूल गया। अपने अवकाश के समय वह राजकुमार के साथ नीचे घाटियों में उतर जाता और वे दोनों इकट्ठे मिलकर बाँसुरी बजाते।

५७

चेतन का यह नया स्वर्ग चंद दिन ही रहा। उन चंद दिनों में उसके अवकाश का सारा समय राजकुमार के साथ बाँसुरी बजाने और घूमने-फिरने में बीतता।

बाँसुरी बजाने में राजकुमार कोई विशेषज्ञ न था। स्कूल में वह अपने स्काउट बैंड का साधारण सदस्य था। इसलिए उसे मार्च की दो-एक तर्ज़ें ही आती थीं। उनके अतिरिक्त वह एक पंजाबी गीत बाँसुरी पर बजा लिया करता था।

ओह तां जान करन कुरबान, जिन्हां ने दर्शन पा लये ने

ये सब तर्ज़ें उसने चेतन को सिखा दीं। स्वयं चेतन को भी बहुत से गीत न आते थे और जो आते भी थे वे कई वर्ष पुराने थे। एक गीत था—

मेरे मौला बुला लो मदीने मुझे

इसकी तर्ज़ पर महावीर दल ने दो गीत बनाये थे—

१. कृष्ण, मुरली की टेर सुना दे मुझे
२. मुरली वाले बुला ले मथुरा मुझे

मथुरा में एक मात्रा कम हो जाती थी पर वे अपने जोश में लम्बी तान खींचकर और कभी मथुरा के साथ जी लगाकर इसे पूरा कर लिया करते थे। इसे बजाते-बजाते चेतन तन्मय हो जाया करता था।

दूसरा गीत था :

तूम्बा वजदा ना
तार बिना
रेंहदी ना
यार बिना
बाबा वे
कला मरोड़
पोतरिए
है नईं ज़ोर
नाले बाबा रात रह गया
नाले दे गया दवानी खोटी
तूम्बा वजदा ना...

न जाने इस गीत का रचयिता कौन था? न जाने पहले-पहल इसे किसी मीरासिन, किसी किस्सा-गो अथवा कर्तारपुर की बेसाखी में आये हुए किसी नव वय के जाट न गाया था। लेकिन जब यह गीत शुरू हुआ तो अपनी यथार्थता, मौलिकता और सेक्स-अपील के कारण कुछ दिनों ही में प्रान्त भर में फैल गया था। नगरों से लेकर गाँवों और दूरस्थ पहाड़ी प्रदेशों तक (कुछ संशोधन अथवा परिवर्धन के साथ) गाया जाने लगा था। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोगों ने इसकी तर्ज़ पर सहस्रों बोलियाँ

रच डालीं। इनमें अश्लील बोलियों की संख्या ही अधिक थी। तब इस अश्लीलता और अनैतिकता के प्रचार को देखकर प्रान्त के आचार-विचार के ठेकेदार जैसे गहरी नींद से चौंके और उन्होंने सभ्य घरों में इसके गाये जाने का एकदम निषेध कर दिया। नैतिक कवियों ने इसके विरुद्ध कविताएँ लिखीं। अमृतसर के एक कवि ने यह गीत गाने वाली स्त्रियों पर इन पंक्तियों के रूप में व्यंग्य किया :

हत्थ विच लैके कैंसरील बाजा
आखे धी, "झाई गाउँदी चज्जदा नहीं,
मैं ते पयी गंर्धवां नूँ मात कर दी
गाँवाँ कोल वाँगों तूम्बा वजदा नहीं!"[1]

और तब महावीर दलों, सेवा समितियों, आर्य-समाजों और खिलाफ़त कमेटियों ने इस तर्ज़ पर अपने-अपने मतों के अनुसार गीत ईजाद किये। कुछ काल के लिए लोगों ने उन्हें गाया, लेकिन उन गीतों में वह मौलिकता, वह यथार्थता, वह बेबाकी, मानव की भावनाओं का वह नैसर्गिक प्रस्फुटन न था—थोथी नकल थी—इसलिए वे शीघ्र ही भुला दिये गये और उनके साथ ही यह गीत भी विस्मृति के महागर्त में जा पड़ा।

चेतन इन दोनों गीतों को बाँसुरी पर अच्छी तरह बजा लेता था। इनके अतिरिक्त जो गीत वह बजाता था (जैसे 'बाज़ार विकेंदी तर वे' अथवा 'बल्लिए, नी रोवेंगी चपेड़ खावेंगी') वे बाँसुरी के छिद्रों के बदले मुँह की फूँकों ही से निकालता था। उसने सहर्ष राजकुमार को सभी की

---

[1] हाथ में कैसरील पर्दों वाला हारमोनियम बाजा लेकर लड़की कहती है कि माँ अच्छा नहीं गाती, मैं तो जब कोयल ऐसे स्वर में 'तूम्बा' गाती हूँ तो गंधर्व मात खा जाते हैं।

टयूनें सिखा दीं और चूँकि इन गीतों को गाने की मनाही थी, विशेषकर कविराज जी के सुपुत्र के लिए, जो ब्रह्मचारी होने जा रहा था, इसलिए चेतन ने उनकी तर्ज़ पर उसे समाजी गीत भी लिख दिये ताकि यदि कभी कविराज पूछें, "यह क्या गा रहे हो ?" तो वह तत्काल बता सके—जी मैं 'मौला बुला लो मदीने मुझे' नहीं गा रहा, मैं तो ऋषि दयानन्द से यह प्रार्थना कर रहा हूँ कि—

दयानन्द बना ब्रह्मचारी मुझे
पालन करना है कर्तव्य भारी मुझे
वासनाओं ने ठगा है आज हिन्दुस्तान को
कर दिया है खोखला बल-वीर्य की इस खान को
यह चोट लगी ऋषि कारी मुझे
दयानन्द बना . . . . . .

'तूम्बा वजदा ना' की तर्ज़ पर चेतन ने जो गीत लिखा वह यों था—

सिद्धी मिलदी नाँ
ज्ञान बिना !
धार कदों
सान बिना !
बन्दिया ओए
वक्त न रोहड़
ज्ञान दियां
कलां मरोड़ !
असां शिष्य दयानन्द दे
तुसीं सुन लओ जमाने वालो
सिद्धी मिलदी नां . . . . . .

न केवल उसने ये गीत राजकुमार को लिखवा दिये, बल्कि उसे याद भी करवा दिये। राजकुमार ने शीघ्र ही सब टच्यूनें और उनके गाने सीख लिये और कुछ दिन तक दोनों बड़े प्रसन्न रहे। नीचे खड्ड के किसी पत्थर पर, ईदगाह के जँगले पर या रिज के हवा घर में बैठकर दोनों मस्त हो एक दूसरे से सीखी हुई टच्यूनें बजाते रहे। इस हद तक कि उनमें कोई नयापन न रहा और बाँसुरी बजाते-बजाते उनके सिर दर्द करने लगे। तब दोनों का उन्माद कुछ कम हुआ और किसी दूसरी ओर मन लगाने को जी चाहने लगा। राजकुमार इस बीच में अपने नये मित्रों से भली प्रकार खुल गया और चेतन ने फिर अपने साहित्य की शरण ली।

कुछ दिन तक उसने अवकाश के समय में उपन्यास लिखने का प्रयास किया, लेकिन जाने क्यों हज़ार कोशिश करने पर भी उपन्यास आगे न चला। उसने अधिक उपन्यास न पढ़े थे, उपन्यासों के सम्बन्ध में उसका ज्ञान प्रेमचन्द के कुछ उपन्यासों, बंगाली से अनूदित कुछ उपन्यासों अथवा उन दो एक अँग्रेज़ी उपन्यासों तक ही सीमित था जो उसने पाठ्च-पुस्तकों के रूप में पढ़े थे और इतनी पूँजी के साथ अच्छा उपन्यास लिखना उसके बस की बात न थी। पर इस यथार्थता को समझे बिना वह लिखे जा रहा था। अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की प्रबल इच्छा उसके अन्तर में निरन्तर अँगड़ाइयाँ लिया करती थी और वह लिखे जाता था, पर उपन्यास-कला पर क्योंकि उसका कोई अधिकार न था, इसलिए उसका उपन्यास बार-बार अटक जाता। अड़ियल टट्टू की तरह आगे बढ़ने से इन्कार कर देता। जब बीसियों स्लिपें काली करने पर भी उपन्यास ने सन्तोषजनक प्रगति न की तो एक दिन हारकर उसने सब-की-सब स्लिपें उठाकर एक ओर रखीं और फ़ैसला किया कि वह पहाड़ी लोगों के जीवन पर कहानियाँ लिखेगा।

लेकिन पहाड़ी लोगों के जीवन का उसे कुछ भी ज्ञान न था। कल्पना

की सहायता से उसने जो कहानी लिखी, वह उसे एकदम बोगस और असम्भव लगी।

तब कहानी छोड़, उसने कविताएँ लिखने का प्रयास किया, किंतु न जाने उसकी कविता के सोते को क्या हो गया था? यत्न करने पर भी कोई कविता उससे न बन पड़ी। कॉलेज के दिनों में जब वह कुन्ती के घर के नीचे से होकर गुज़रता था या उससे भी पहले जब उसका एक नया सहपाठी ब्रज उसे बहुत सुन्दर लगा करता था, न जाने कहाँ से कविताएँ उड़ती-सी, बहती-सी उसके मस्तिष्क में आ जाती थीं। चलता-चलता जब वह गुनगुनाता तो किसी-न-किसी कविता की पंक्ति बन जाती। लेकिन अब वह यदि कुन्ती का ध्यान करता (ब्रज के ध्यान से अपनी उस आसक्ति पर उसे हँसी आ जाती थी) तो कविता के स्थान पर स्मृति के भूले-बिसरे क्षणों से कई सुखद-दुखद दृश्य उसके सामने एक-एक करके आने लगते...जब वह परीक्षा के दिनों में पढ़ता-पढ़ता न जाने क्यों, पुस्तक को मेज़ पर खुली छोड़कर पुरियाँ मुहल्ले का चक्कर लगा आता और आकर नये उत्साह और नव-स्फूर्ति से पढ़ाई में निमग्ग हो जाता। ......जब उसे नीचे गुज़रते देखकर कुन्ती छत से उतर आती और उसके पीछे-पीछे अथवा उससे आगे-आगे सहेलियों से चुहलें करती हुई उसे सुनाकर फ़बतियाँ कसती हुई उसे गली के मोड़ पर छोड़ आती...... जब वह कुएँ पर पानी भर रही होती और चर्खी से घड़ा या गागर खींचते हुए उसके वक्ष का उभार अपने समस्त आकर्षण के साथ आँखों को मोह लेता अथवा उसके गालों को गुलाब बनाती हुई उसकी लजीली मुस्कान दिल में समा जाती......जब वह अपने विवाह के दिन उस ओर गया था और उसे मालूम हुआ था कि कुन्ती तो विधवा हो गयी है और वह उसके पति की अर्थी के साथ गया था और श्मशान में उसने उसकी मूक मर्माहत व्यथा को देखा था और जब उसकी वे चंचल आँखें अपनी

तमाम चौकड़ियाँ भूलकर बेबसी से बैठ गयी थीं।......उसके मूक प्रेम की वेदनामयी, पीड़ामयी घड़ियों के ऐसे कई दृश्य उसके सामने घूमने लगते और कविता की पंक्तियाँ न जाने पंख लगाकर किन दुर्गम घाटियों में उड़ जातीं।

सिर को झटककर उन दृश्यों को फिर विस्मृति के महागर्त में ढकेल-कर वह नीला का ध्यान करता और चाहता कि कोई सुन्दर-सी कविता लिखे। लेकिन इस बार पहले दृश्यों से भी कटु-मधु दृश्य उसकी आँखों के सामने घूमने लगते (भूत के दृश्यों की अपेक्षा भविष्य के कल्पना-जनित दृश्य) जिनमें वह देखता कि नीला तनी बैठी है......देखता कि वह उसे मना रहा है......देखता कि उसके पिता ने तत्काल उसका विवाह कर दिया है और वह कहीं सुदूर प्रदेश को जा रही है......उसके हृदय को प्रबल आघात-सा लगता। वह सिहर उठता, चौंक उठता और कविता की पंक्तियाँ उसकी पहुँच से कहीं दूर—कहीं बहुत दूर उड़ जातीं।

और वह सोचने लगता कि आखिर नीला के विवाह की बात सुन-कर उसे दुख क्यों होता है? वह स्वयं विवाहित है, अपनी पत्नी से घृणा भी नहीं करता। स्वयं ही उसने पंडित वेणी प्रसाद से नीला का विवाह कर देने को कहा है! फिर यह पीड़ा कैसी? और वह अपने मन में लड़ता-झगड़ता कविता लिखने का विचार छोड़ देता। कभी कविराज जी की पुस्तक लिखने में मग्न हो जाता और कभी माल रोड को चल देता।

५८

जब चेतन बार-बार उपन्यास या कहानी या कविता लिखने का विफल प्रयास कर थक गया और माल, मिडिल या लोअर बाज़ार अथवा जाकू के चक्कर उसकी उदासी और एकाकीपन को कम करने के बदले बढ़ाने लगे तो एक दिन सहसा उसे पता चला कि वह साहित्य के पीछे योंही लट्ठ लेकर पड़ा हुआ है। वह तो संगीतज्ञ बनने के लिए पैदा हुआ है।

वह पाँच नम्बर की सीढ़ियों से होकर खाना खाने जा रहा था कि मिडिल बाज़ार के कोने के एक रेस्तोराँ से उसे गाने की मधुर ध्वनि सुनायी दी।

कौन देस गया पिया मोरा बालम रे
मैं तो वाहु देस की बलिहारी

वहीं सीढ़ियों पर मन्त्र-मुग्ध-सा वह खड़ा रह गया। इतना तरल, मधुर, करुण संगीत था कि उसके पाँव वहीं जमे रह गये। जब वह ध्वनि बन्द हुई तो वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरने लगा, पर उसे महसूस हुआ जैसे वह करुण-मधुर-ध्वनि बराबर उसका पीछा कर रही है।

गाना पक्का था और जैसा कि उसे बाद में मालूम हुआ 'ख़याल मुलतानी' में गाया जा रहा था। न जाने रागिनी ही सुन्दर थी अथवा गाने वाले के स्वर में जादू था, उस समय जब वह फिर अपने-आपको एकाकी महसूस कर रहा था, इस गाने ने उसके एकाकीपन को मिटा दिया, उसकी कल्पना को फिर पंख लग गये और वह फिर नयी बस्तियों में घूमने लगा और घर जाकर जब वह लेटा तो उसके कानों में वही ध्वनि गूँजती रही।

दूसरे दिन दोपहर को फिर वह उसी गली से होकर खाना खाने गया। उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने रेस्तोराँ के बाहर एक ओर पूरी की पूरी दीवार को अपनी लम्बाई में लिये एक बड़ा भारी बोर्ड लगा हुआ देखा जिस पर बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा था—

PROFESSOR G. SINGH'S
MUSIC COLLEGE

इस कॉलेज का दरवाज़ा शायद अन्दर की ओर था। बाहर की ओर सिर्फ़ एक खिड़की दिखायी देती थी, जिस पर बड़ा सुन्दर पर्दा पड़ा हुआ था। चेतन का जी चाहा कि अन्दर जाकर देखे, पर उसे साहस न हुआ। उस समय भी अन्दर कोई गा रहा था, किंतु स्वर वह न था जो उसने पहले दिन सुना था। चेतन कुछ पल खड़ा रहा। फिर जैसे अपनी ग़रीबी की विवशता से बेचैन होकर वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर गया।

उस दिन के बाद चेतन का नियम हो गया कि वह खाने के लिए दोनों समय माल के ऊपर से होकर उसी गली से नीचे उतरकर जाता। नीचे सुरंग को पार करके जाना उसने छोड़ दिया। दोपहर और शाम दोनों समय उसे उस रहस्यमय कमरे के अन्दर से कभी हारमोनियम के मन्द और कभी मध्यम सप्तक के साथ उठता हुआ मीठा मादक स्वर सुनायी देता। कभी तबला भी बजता। यों तो उसके अन्दर से कई आवाज़ें आतीं, लेकिन

एक स्वर चेतन को बड़ा मनमोहक लगता। उसके हृदय को कुछ होने-सा लगता। जी चाहता कि उसे अनवरत सुनता जाय। जब तक वह स्वर आता, वहीं सीढ़ियों पर खड़ा वह मुग्ध सुनता रहता। उसे विश्वास हो गया कि यह गाने वाला प्रो० जी० सिंह के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं, किंतु स्वर किसी बड़े युवा कंठ का मीठा मदभरा था। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते जाते थे, उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती थी।

एक दिन जब वर्षा हो रही थी और वह अपना वही पुराना ओवर-कोट छाती से कसे खाना खाने के लिए जा रहा था, उसे फिर रेस्तोराँ के उस कमरे से वही मादक स्वर सुनायी दिया। चेतन चलना भूल गया। नन्हीं-नन्हीं बूँदों में निरन्तर भीगता सीढ़ियों के एक ओर खड़ा गाना सुनता रहा। जब गाना समाप्त हो गया तो एक लम्बी साँस भरकर वह चल पड़ा। ध्यान उसका उधर ही था और कल्पना में वह उस म्युज़िक कॉलेज के उस रहस्यमय कमरे का भेद जानने का प्रयास कर रहा था कि उसका पाँव फिसला और वह कई सीढ़ियाँ फिसलता हुआ नीचे लोअर बाज़ार में आ रहा।

तभी सामने के हलवाई की दुकान में गर्म-गर्म इमरतियाँ खाते हुए चंद महानुभावों ने ठहाका लगाया। किसी ने कहा—

"कोई बात नहीं बाबू जी, किसी ने देखा नहीं" और वे फिर हँसे।

चेतन खिन्नता से दाँत निपोरता हुआ उठा और कपड़े झाड़कर जल्दी-जल्दी उस दुकान के सामने से निकल गया। यदि उसने ओवरकोट न पहना होता तो निश्चय ही उसकी कमर छिल जाती। ओवरकोट के कारण यद्यपि उसकी कमर तो न छिली, पर उसके चोट काफ़ी आयी। किंतु उस समय अपनी चोट को भूलकर उन इमरतियाँ खाने वालों की उपहास-मयी दृष्टि से शीघ्रातिशीघ्र ओझल हो जाना ही उसने श्रेयस्कर समझा।

चेतन ढाबे की ओर चला। उसके मस्तिष्क से क्षण भर के लिए

प्रो० जी० सिंह का मादक संगीत और उसकी स्वर लहरी सब हवा हो गयी। उन हँसने वालों पर उसे बड़ा क्रोध आया। लेकिन जब दूसरे क्षण ज़रा ठंडे दिल से उसने सारी घटना पर पुनः विचार किया तो उसके सामने कई घटनाएँ आ गयीं जब अपने मित्रों के साथ मिलकर वह स्वयं गिरने वालों पर हँसा था—साइकिल से गिरने वालों पर, साइकिल से बचने की कोशिश में गिरने वालों पर, बाज़ार के कीचड़ में फिसलकर गिरने वालों पर! 'मानव का यह कैसा स्वभाव है?' उसने सोचा 'दूसरों को दुख में देखकर उसे ख़ुशी क्यों होती है, गिरतों पर हँसने की अपेक्षा वह उन्हें उठा क्यों नहीं लेता?'

खाना खाने के बाद चेतन जब लौटा तो उसने कनखियों से हलवाई की दुकान की ओर देखा। न जाने क्यों उन लोगों के सामने जाने में उसे झिझक-सी हो रही थी। खाना खाने में भी उसने रोज़ की अपेक्षा अधिक समय लगाया था।

वे लोग जा चुके थे। वर्षा वन्द हो चुकी थी और बादल कहीं जाकू की ओर उड़ गये थे। चेतन तनिक स्वस्थ होकर फिर चल पड़ा।

म्युज़िक कॉलेज में फिर कोई गा रहा था—कौन देस गया पिया मोरा बालम रे? गीत वही था, पर स्वर में वह मादकता कहाँ? चेतन कुछ क्षण तक खड़ा सुनता रहा। फिर साहस बटोरकर अन्दर चला गया। शायद सीढ़ियों से गिरने में जहाँ एक ओर उसके मन में संकोच पैदा हो गया था वहाँ दूसरी ओर साहस का भी उद्रेक हुआ था।

प्रो० जी० सिंह का म्युज़िक कॉलेज लखनऊ के म्युज़िक कॉलेज जैसा शानदार न था, यद्यपि बोर्ड उस पर बहुत लम्बा और अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से लिखा हुआ लगा था। लाहौर में किसी बाज़ार के चौबारे अथवा किसी मकान के एक ही कमरे में सीमित 'संगीत महाविद्यालयों' की तरह यह कॉलेज भी, रेस्तोराँ के एक ही कमरे की परिधि में सीमित था और वह

कमरा भी जैसा कि चेतन को अन्दर जाने पर ज्ञात हुआ, लम्बाई में बाहर लगे हुए बोर्ड से कम ही था।

सारे-के-सारे मकान में तीन कमरे थे। इनमें से पहला किचन का काम देता था। इसमें रेस्तोराँ के ग्राहकों के लिए चाय आदि बनती थी और चूँकि खाना खाने की इच्छा रखने वालों के लिए खाना भी पकता था, इसलिए ऊँची बनी हुई अँगीठियों पर सदैव क़ोर्मा, कोफ़्ता, रोग़नजोश, मछली आदि पकती रहती थी। इसके साथ (अर्थात् बीच के कमरे में) प्रो० सिंह कॉलेज के विद्यार्थियों को संगीत की शिक्षा देते थे। तीसरे कमरे में रेस्तोराँ के ग्राहक चाय आदि पीते या खाना आदि खाते। यहाँ तीन चार तिपाइयाँ लगी थीं, एक बड़ा-सा मेज़ भी था, जिसके इर्द-गिर्द कुर्सियाँ लगी थीं। तिपाइयाँ और मेज़ कैसे थे, इसका अनुमान मेज़पोशों पर पड़े हुए सालन आदि के बड़े-बड़े धब्बों को देखकर ही लगाया जा सकता था। लेकिन यह सब बाहर से दिखायी न देता था। बाहर से तो इन तीनों कमरों की खिड़कियों पर लगे हुए पर्दे ही दिखायी देते थे जो इनको विचित्र रहस्यमयता प्रदान कर रहे थे। इन तीनों कमरों के दरवाज़े एक छोटी और अपेक्षाकृत अँधेरी गैलरी में खुलते थे जो रेस्तोराँ के किचन के बराबर से शुरू होकर डाइनिंग रूम में समाप्त हो जाती थी। सिर्फ़ इसी गैलरी का दरवाज़ा बाहर से दिखायी देता था।

चेतन इसी दरवाज़े से अन्दर दाख़िल हुआ। किचन से उठने वाली घटिया घी और प्याज़ की दुर्गन्ध से उसका दिमाग़ भन्ना उठा। नाक पर रूमाल रखे किचन के सामने से घूमकर वह म्युज़िक कॉलेज के दरवाज़े के सामने आ खड़ा हुआ।

चिक को थामे-थामे उसने देखा—एक छोटा लेकिन साफ़-सुथरा कमरा है, फ़र्श पर दरी बिछी हुई है जिस पर एक हारमोनियम और तबले की जोड़ी पड़ी है। मेंटलपीस पर कमरे की दीवारों के रंग से मेल खाता

हुआ एक कपड़ा बिछा है जिस पर एक कैलेंडर, चीनी के फूलदान और दो चीनी ही के चूहे क़रीने से रखे हैं। तबले और हारमोनियम के अतिरिक्त कमरे में कोई साज़ नहीं।

उस कमरे के मध्य एक बारह-चौदह वर्ष का लड़का वही हारमोनियम लिये बैठा था। शायद वही मुल्तानी का खयाल गा रहा था, और यद्यपि वह खादी का एक धुला साफ़ पायजामा, छपी हुई खादी ही की अचकन और सिर पर रागियों जैसा साफ़ा पहने था, पर सूरत-शक्ल से वह झीवर मालूम होता था। (और चेतन का अनुमान ग़लत नहीं था क्योंकि बाद में उसे मालूम हुआ कि झीवर ही था) उसे बैठे हुए देखकर चेतन आश्वस्त-सा हो अन्दर दाखिल हुआ।

"आइए!" किवाड़ के पीछे से आवाज़ आयी। मतलब था कि कहिए कैसे कृपा की?

चेतन ने चौंककर देखा। दरवाज़े की ओट में दीवार के साथ तीन लोहे की कुर्सियाँ रखी थीं। उनमें से एक पर क़ीमती और नफ़ीस सूट पहने एक सुन्दर सिख युवक शर्माये हुए मेहमान-सा बैठा था।

"बैठिए!"

चेतन को यह आवाज़ बड़ी मीठी लगी—दोपहर की निस्तब्धता में सहसा बज उठने वाली किसी बैल के गले में बँधी घंटी के स्वर-सी! चेतन कुर्सी पर बैठ गया।

"फ़रमाइए!" उस युवक ने फिर कहा।

"प्रो० साहब कब आयेंगे?" कुछ और कह सकने में अपने-आपको अशक्त-सा पाकर चेतन ने पूछा।

"फ़रमाइए!"

उस स्वर में मिठास के साथ कुछ ऐसा आत्मविश्वास था कि चेतन ने पूछा, "आप ही प्रो० सिंह हैं?"

उस युवक ने सिर हिलाकर उत्तर दिया कि 'हाँ'। तब चेतन निमिष भर के लिए चकित-सा उसे देखता रहा। उसका विचार था कि प्रो० सिंह कोई ईसाई होंगे अथवा कोई केश रहित सिख। उम्र भी प्रो० साहब की उसने चालीस-पचास के ऊपर ही लगायी थी और रागियों जैसी बड़ी-सी पगड़ी की भी उसने कल्पना की थी। किंतु उस काल्पनिक व्यक्ति के स्थान पर इस चौबीस-पच्चीस वर्ष के कोमल कान्त सिख युवक को देखकर वह चकित रह गया। इन प्रोफ़ेसर महोदय का क़द न बहुत लम्बा था न बहुत छोटा (पाँच फुट पाँच-छः इंच होगा) शरीर छरहरा और रंग गेहुँआँ था। मिसें अभी भीग रही थीं। ओठ पतले और गुलाबी थे। जबड़ों की हड्डियाँ हल्की-सी उभरी हुई थीं जिनसे कल्लों में हल्के-हल्के सुन्दर गढ़े बन गये थे। आँखें बड़ी-बड़ी, हैरान और रौशन थीं। मस्तक चौड़ा और प्रशस्त। सिर पर उन्होंने बड़े श्रम और सफ़ाई से दस्तार सजा रखी थी। सुन्दर कंठ में सूट से मेल खाती टाई थी और कुल मिलाकर उनके मुख पर हल्की-सी स्त्रैणता की झलक थी। जब वे मुस्कराते थे तो उनकी मुस्कान संकोच के पर्दे में लिपटी हुई बड़ी भली लगती थी। चेतन को विश्वास हो गया कि जो मादक स्वर लहरी वह सीढ़ियों पर खड़ा नित्य सुनता रहा है, वह इसी सुन्दर कंठ से निकली होगी। उसका जी चाहा कि किसी प्रकार सामने बैठकर उनका गाना सुने, किंतु उसके मुँह से तो शब्द भी न निकल रहा था। आख़िर प्रोफ़ेसर साहब ने उसकी मुश्किल हल कर दी, "कहिए कैसे आये?"

"इधर खाना खाने आया करता हूँ।" चेतन ने साहस बटोरकर कहा। "आपका बोर्ड पढ़ा। आप से मिलने का शौक़ पैदा हुआ। गाना सुनने और सीखने का मुझे शौक़ है, इसलिए चला आया।"

प्रोफ़ेसर साहब खुश हुए, क्योंकि वे मुस्कराये। चेतन भी खुश हुआ, क्योंकि उसे उनकी मुस्कान बड़ी भली लगी। कुछ और साहस पाकर उसने

पूछा, "आप यहीं गाना सिखाते हैं?"

प्रश्न कुछ निरर्थक-सा था, इसलिए प्रोफ़ेसर साहब सिर्फ़ मुस्कराये।

वे इतना अच्छा मुस्कराते थे कि चेतन शायद फिर कोई ऐसा ही निरर्थक प्रश्न करता, लेकिन उसी समय प्रो० साहब ने अपनी टाई की गिरह को ठीक किया और चेतन को उनके और अपने कपड़ों के अंतर का ध्यान आ गया। वह ज़रा घबरा भी गया। हकलाते हुए उसने पूछा।

"यहाँ सिखाने की फ़ीस आप क्या लेते हैं?"

"पाँच रुपये।"

चेतन पूछने वाला था कि घर पर सिखाने की फ़ीस आप क्या लेते हैं, लेकिन उसे यह प्रश्न निहायत बेमानी लगा। वह घर पर कहाँ सीख सकता है? कुछ सोचकर उसने पूछा, "आप किस समय सिखाते हैं?"

"सुबह दस से एक बजे तक, फिर शाम को चार बजे से छः बजे तक।"

चेतन जानना चाहता था कि जो गाना वह सुना करता था वह किसका है? निश्चय ही वह उस झीवर लड़के का तो नहीं हो सकता। वह चाहता था कि वह किसी तरह प्रोफ़ेसर साहब का गाना सुने। लेकिन प्रोफ़ेसर साहब चुप थे। बस प्रोफ़ेसर बने बैठे थे। तब चेतन कुछ और न कह सका। वह उठा। चलते-चलते उसने केवल इतना और पूछा कि फ़ीस तो वे पहले ही लेते होंगे। जब उत्तर में प्रोफ़ेसर साहब फिर मुस्कराये तो चेतन ने इतना और कहा कि वह शिमले में कविराज रामदास के साथ आया हुआ है, उन्हीं के साथ काम कर रहा है। पहली को वेतन मिलेगा तो वह उनकी सेवा में उपस्थित होगा।

प्रोफ़ेसर साहब की मुस्कान ज़रा देर तक फैली रही। चेतन स्वभावानुसार 'नमस्ते' और फिर ज़रा घबराकर सत श्री अकाल, कहकर चला आया।

५९

चेतन म्युज़िक कॉलेज से चला तो अकेला न था, बल्कि अगनित राग-रागनियाँ उसके साथ थीं। उसे बचपन से संगीत का शौक़ था। बचपन में जब वह 'हरबल्लब' के प्रसिद्ध मेले में भारत के बड़े-बड़े संगीताचार्यों के गाने सुनता था तो यद्यपि वह उनके तान-पलटे और अलाप-विलाप न समझ पाता, लेकिन उसके मन में सहस्रों पुलक जाग उठते और वह चाहा करता कि स्वर और लय की इस दुनिया पर उसका अधिकार हो जाय। किंतु संगीत-शिक्षा पर आज के सभ्य संसार में फ़ीस लग गयी है। या तो बतहाशा रुपया खर्च किया जाय, या घर-घाट छोड़कर चौबीसों घंटे उस्तादों की शागिर्दी की जाय, और रात-दिन उनकी चिरौरी करके कला के समुद्र से दो चुल्लू पानी पिया जाय—दो चुल्लू ही। पूरी प्यास वे बुझा सकेंगे इसकी आशा आज के गुरुओं से नहीं।

चेतन के पास न पहली बात के लिए पैसे थे न दूसरी के लिए समय। घर के कामों और पढ़ाई-लिखाई के बाद उसके पास बहुत समय न बचता था। फिर उसे एक ही साथ कई बातों का शौक़ था। वह एक साथ ही

अच्छा कवि, लेखक, चित्रकार, संगीतज्ञ, अभिनेता, वक्ता, सम्पादक और न जाने क्या-क्या बनना चाहता था।

वास्तव में घर के घुटे-घुटे वातावरण और अत्यधिक दबाव के कारण बचपन ही से उसके अन्तर में कुछ जमाव-सा जो था, वह तनिक उन्मुक्त होने पर, सहसा पिघलकर सहस्र धाराओं में वह निकलना चाहता था।

जब माँ उन्हें जालन्धर ले आयी थी और पिता का उतना डर न रहा था तो चेतन के सहमे डरे बचपन ने नव-जात मृग शावक की भाँति जैसे पहली बार आँखें खोलकर अपने इर्द-गिर्द देखा था। पर उसकी दशा उस मृग शावक की-सी थी, जिसकी टाँगें जन्म ही से निर्बल हों और जो अपने मन की समस्त चंचलता के बावजूद दुनिया की रँगीनी को मुटर-मुटर तकता और कुलाँचें भरने की इच्छा को मन-ही-मन दबाकर रह जाय!

मुहल्ले में बेशुमार लड़के नंगे सिर, नंगे शरीर, चंचल-चपल बन्दरों की तरह दिन भर हुड़दंग मचाते थे; गिल्ली-डंडा, तंग-गोली, ठैया-टापू गेंद-बल्ला, कबड्डी आदि खेलते रहते थे, लेकिन चेतन अपने इन समवयस्कों के खेलों में कभी भाग न ले सका। वह हृष्ट-पुष्ट न था। यदि उसे कोई पीट देता अथवा साथ न खेलाता तो उसका प्रतिकार उससे न होता। 'खिलाओ नहीं तो खेलने न देंगे?' या 'न खेलेंगे न खेलने देंगे'—इन स्वर्ण सिद्धान्तों पर दूसरे लड़कों की तरह वह अमल न कर सकता। वह तो बस अलग हो जाता। आहत होकर उसका अहं उनसे परे खिंच जाता। जब कभी लड़के उसे न खेलाते तो वह अपने पुराने मकान की कच्ची छत पर जा बैठता और सामने डिप्टी साहब के मकान की खिड़कियों पर बने हुए मोर और तोते देखकर उन्हें अँगुली से कच्ची छत पर बनाया करता। कभी-कभी आटे में भिन्न रंग मिलाकर वह उससे उन खाकों में रंग भी भर

देता। वह इस चित्रकारी में इतना मग्न हो जाता कि उसे लड़कों का खेल, अपना अपमान, मुहल्ले का शोर सब कुछ भूल जाता।

उन्हीं दिनो उसकी मित्रता बराबर की गली के एक अपने ऐसे कलाकार बालक से हो गयी।

यह कलाकार उनके मुहल्ले में पानी भरने वाले दलाराम कहार का लड़का महंगा राम था। ऊँची जात के हिन्दू राम के पवित्र नाम को उन नीचों के नाम के साथ लगाना पाप समझकर बाप को केवल दला और उसके लड़के को केवल महंगा कहकर पुकारते थे। यह महंगा यद्यपि चेतन से डेढ़ एक वर्ष छोटा था, लेकिन बड़े ऊँचे दर्जे का कलाकार था। मिट्टी के ऐसे सुन्दर खिलौने बनाता कि चेतन उसकी कारीगरी को देखकर मन्त्र-मुग्ध रह जाता। शीघ्र ही उसने उससे मित्रता पैदा कर ली। खाना-खेलना छोड़कर चेतन उसके साथ घूमता रहता। उसके छोटे-मोटे काम करता ताकि प्रसन्न होकर वह कला के कुछ अमूल्य भेद उसे बता दे। धीरे-धीरे उसने चिड़ियाँ, तोते, कुत्ता, बिल्ली आदि बनाना सीख लिया। और छोटे-छोटे सुन्दर खिलौने बनाकर ऊपर चौबारे को उनसे पाट दिया।

जब वह कुछ और बड़ा हुआ तो इन्हीं कुत्ते बिल्लियों को रेखाओं में अंकित करने लगा। उसकी तख़ती-स्लेट और बाद में उसकी कापियाँ इन्हीं चित्रों से भरी रहतीं। आज-कल निचले-मध्य-वर्ग की स्त्रियाँ बालों में जहाँ सूइयाँ या क्लिप लगाती हैं, वहाँ उस ज़माने में सोने की चिड़ियाँ या तोते लगाये जाते थे और बाजियाँ वाले बाज़ार के काने सुनार धर्मनाथ को चिड़ियाँ और तोते बनाने में अपूर्व दक्षता प्राप्त थी। चेतन चचा धर्मनाथ की मिन्नत-समाजत करके उससे नयी-नयी तरह के तोते और चिड़ियों के ख़ाके काग़ज़ पर बनवा लाता और फिर बुरजी काग़ज़ लेकर कापी पर उनकी नकल कर लेता और फिर उनमें रंग भरा करता। उसे भूगोल ज़रा भी न रुचता, विभिन्न जिलों, प्रान्तों, प्रदेशों की सीमाओं, प्राकृतिक विभागों,

बनावटों और दूसरी ऐसी बातों को याद करना उसे एकदम विरस लगता, किंतु नदियों, रेलों, समुद्रों, बन्दरगाहों, जन-संख्या आदि के मानचित्र बनाना, उनमें भिन्न-भिन्न रंग भरना, उसे बड़ा रुचता था। विज्ञान में उसे ज़रा भी दिलचस्पी न थी, लेकिन विभिन्न प्रयोगों के चित्र वह बड़े चाव से बनाता।

बचपन ही से उसे कविता का भी शौक़ था। उसकी पाठ्य-पुस्तकों में जो कविताएँ होती थीं, उन्हे वह कंठस्थ कर लेता था। 'आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना,' 'अरे प्यारे लड़को बहादुर बनो तुम!' 'तॉरीफ़ उस ख़ुदा की जिसने जहाँ बनाया' और दूसरी कई ऐसी कविताएँ उसे ज़बानी याद थीं। वह घर में अपने दादा, माँ, भाभी अथवा भाई के सामने अभिनय के साथ उन्हें सुनाया करता था।

वह पाँचवीं जमात में पढ़ता था जब पहली बार 'आर्य भजन पुष्पांजलि' प्रकाशित हुई। स्कूल के वार्षिकोत्सव पर चेतन ने उसे भजन-मंडली के मुखिया के हाथ में देखा और फिर किसी-न-किसी तरह पैसे जोड़कर वह एक प्रति ख़रीद लाया। वह भजन पुष्पांजलि उसे इतनी अच्छी लगी कि उसके प्रसिद्ध भजन उसने एक दूसरी कापी में बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखे। इसके बाद प्रति वर्ष भजन पुष्पांजलि का परिर्वधित संस्करण निकलता रहा और प्रति वर्ष वह उसे ख़रीदकर अपनी उस कापी में सुन्दर-सुन्दर भजनों की वृद्धि करता रहा। वह उन्हें कंठस्थ करता रहा और बिना इस बात की चिन्ता किये कि उसका स्वर अच्छा है या नहीं, उन्हें गाता भी रहा।

धीरे-धीरे वह उन भजनों की तर्ज़ पर अपने भजन लिखने लगा। उसे मात्राओं अथ ा छन्दों का ज्ञान न था। बस गाकर ही वह देख लेता था और तुक के साथ तुक मिला लेता था।

वह कभी भजन रचने का प्रयास न करता, केवल उन्हें नक़ल करने पर ही सन्तुष्ट रहता, यदि उनके मुहल्ले में एक महत्वपूर्ण घटना न घटती।......

बाज़ार में सुर्खे (लाल मुनिये) और बिजड़े (बये) बिकने आये थे। उनके सामने जो सुनार रहता था, उसने आठ-दस सुर्खे खरीदकर एक छोटे से पिंजरे में बन्द कर दिये थे। यह पिंजरा वह रोज़ शाम को दुकान से लाकर खिड़की में लटका देता था। अपनी बैठक में बिस्तर पर लेटा-लेटा चेतन अनवरत उन्हें तकता रहता और उन नन्हीं-नन्हीं बन्दी चिड़ियों को देखकर उसका मन दुख से भर आता। वह कई दिन तक ऊँचे स्वर से—"आता है याद मुझको गुज़रा हुआ ज़माना, वह झाड़ियाँ चमन की वह मेरा आशयाना!" गाता रहा। लेकिन जब इससे भी उसके मन को शांति न मिली तो उसने पुष्पांजलि के एक भजन—'हे दयामय हम सबों को शुद्धताई दीजिए!' की तर्ज़ पर एक भजन लिखा और अपनी ओर से उसने इस भजन में अपने पड़ोसी सुनार को सम्बोधित किया।

हे महाशय बन्द चिड़ियों को रिहाई दीजिए
मन पै उनके बीतती जो ध्यान उसका कीजिए

भजन लम्बा था और इसी रंग में उसने उस क्रूर सुनार से कहा था कि यदि तुम्हें कोई दूसरा क़ैद कर ले तो तुम्हारे दिल पर क्या बीतेगी। उस अपनी दशा का खयाल करके इन बन्दी चिड़ियों को छोड़ दो। यदि तुम इन्हें न छोड़ोगे तो अगले जन्म में तुम चिड़िया बनोगे और ये चिड़ियाँ व्याध बनकर तुम्हें बन्दी बनायेंगी।

इस भजन को वह बड़े ऊँचे स्वर से गाता। नीचे बैठक की खिड़की में, (उनके पुराने मकान की जगह अब नया मकान बन गया था) ऊपर छत की शहनशीन पर, मुहल्ले के कुएँ की जगत पर बैठकर, वह यही भजन गाता। तभी सहसा एक दिन जब सुनार आया तो उसका पिंजरा खाली था। सुर्खों को उसने एक दूसरे व्यक्ति के हाथ कुछ लाभ पर बेच दिया था। चेतन ने यही समझा कि उसके गीत से प्रभावित होकर उस सुनार ने सुर्खों को मुक्त कर दिया है और इस विचार से जहाँ उस सहृदय सुनार के प्रति

उसकी सब घृणा एक तरह की श्रद्धा में परिणत हो गयी, वहाँ अपनी सृजन-शक्ति के प्रति उसके मन में आत्मविश्वास भी पैदा हो गया और इस घटना से प्रोत्साहित होकर उसने कई और भजन लिखे।

जब वह ज़रा बड़ा हुआ तो कविता के साथ-साथ उसके मन में संगीत का भी शौक़ पैदा हो गया। वास्तव में जालन्धर के हर लड़के को किसी-न-किसी हद तक संगीत का शौक़ अवश्य होता है। चेतन संगीतज्ञ तो क्या बनता (दोआबा के दूसरे तरुणों की तरह) बैंतबाज़ बन गया और पंजाबी बैंत[1] लिखने लगा। जालन्धर के लड़कों में कविता और संगीत का शौक़ वास्तव में वहाँ प्रति वर्ष होने वाले 'हरबल्लब'[2] के संगीत-सम्मेलन के कारण होता है। हरबल्लब के संगीत-सम्मेलन में गाये जाने वाले पक्के गाने उसके अन्तर को झंकृत करने पर भी उसकी समझ से बाहर की चीज़ थे। इसलिए वह दूसरे बेगिनती युवकों की तरह संगीतज्ञों के मंडप को छोड़ 'पोने' के बैंतबाज़ों में जा शामिल होता। बैंत सुनते-सुनते वह स्वयं बैंत कहने लगा।

हरबल्लब का मेला बड़े दिनों की छुट्टियों में लगातार तीन दिन तक जालन्धर के देवी तालाब पर लगता है। भारत भर में यह अपनी तरह का एक ही आयोजन है। देश के दूरस्थ प्रदेशों से संगीतज्ञ आते हैं और वर्ष भर से सोयी देवी तालाब की लहरें जैसे उनके स्वर्गिक संगीत से जागकर, मनोमुग्धकारी तानों को स्मृतियों में भर, फिर वर्ष भर के लिए सो जाती हैं।

उन दिनों मेले के आयोजनकर्ता हरबल्लब के शागिर्द पंडित तोलोराम थे। वे स्वयं गुणी व्यक्ति थे। जिस लगन, जिस निष्ठा से मेले का प्रबन्ध

---

[1] बैंत पंजाबी भाषा में चार पंक्तियों की कविता को कहते हैं। यह हिन्दी के चौपदों की भाँति होती है।

[2] जालन्धर का प्रसिद्ध संगीतज्ञ जिसकी याद में मेला लगता है।

वे करते वैसा कोई न कर पाता। उनके समय में संगीत-सम्मेलन पर टिकट भी न लगता। मेले से कई दिन पहले वे खाने की सुध-बुध भुलाकर गवैयों को ठहरा , उनके लिए तम्बू लगवाने, उनके खाने-पीने और दूसरी सुविधाओं का प्रबन्ध करने में तल्लीन हो जाते। हरबल्लब की एक कमेटी भी थी, किंतु उसकी जान वही थे। दूर-दूर से लोग इस संगीत समारोह को देखने के लिए आते। प्रात: से लेकर रात के एक बजे तक देवी तालाब पर रौनक़ रहती। रात के समय बड़े-बड़े संगीताचार्यों का गाना होता जो दिन की भीड़ में गाना पसन्द न करते। लोग गाना सुनते, किनारों पर लगी हुई दुकानों से खाते-पीते, सफरी थियेटरों, जादूगरों, मदारियों के करतब देखते और नहीं तो पोने में जाकर बैतबाज़ों के बैत सुनते।

चेतन के पास खाने-पीने अथवा थियेटर आदि देखने के लिए तो पैसे न होते—हाँ वह पोने की बैतबाज़ी का आनन्द प्रति वर्ष लूटता।

पोना वास्तव में एक पर्दे का स्थान है और देवी तालाब में स्त्रियों के स्नानार्थ बनाया गया है। तालाब के दक्षिण की ओर काफ़ी जगह बड़ी ऊँची दीवारों ने घेर रखी है। दो दरवाज़े हैं। एक छोटा-सा बरामदा है ताकि वर्षा हो तो उसके नीचे आश्रय ग्रहण किया जा सके। उसके सामने खुली जगह है, फिर सीढ़ियाँ हैं और फिर पानी। तीन ओर दीवारें हैं और इन दीवारों के साथ ऊपर की पहली सीढ़ी की सतह पर एक मेंड़-सी बनी हुई है। वास्तव में पोने की दीवार पानी के नीचे चौहरी और ऊपर केवल दोहरी ईंटों से बनी है। इसी से यह मेंड़-सी बन गयी है। इससे लाभ भी है। इस पर बैठकर पानी के झरनों को साफ़ किया जाता है और तालाब की कीचड़ निकाली जाती है। यह मेंड़ इतनी चौड़ी है कि इस पर आदमी बड़ी आसानी से खड़ा हो सकता है अथवा टाँगें नीचे लटकाकर बैठ सकता है।

हरबल्लब के दिनों में वहाँ स्त्रियों के जाने की मनाही होती है। सर्दियों में तालाब का पानी काफ़ी उतर चुका होता है। सीढ़ियों पर बैठने के लिए

काफ़ी स्थान होता है और दिन भर में पंजाबी बैतबाज़ों की कई मज़लिसें वहाँ लग जाया करती हैं।

दोआबा के पंजाबी बैतबाज़ उन दिनों (और बहुत हद पाकिस्तान बनने तक) अधिकतर नेचेबन्द, रँगरेज़, मोटर-ड्राइवर, खोंचे वाले और इसी वर्ग के आदमी थे। यह 'अब्र' साहब हैं—'अब्र' का काम पानी बरसाना है और ये भी कम्पनी बाग के फूलों पर पानी बरसाते हैं—भिस्ती हैं, इसी नाते इन्होंने अपना उपनाम 'अब्र' रख लिया है। कई सी-हर्फ़ियाँ लिख चुके हैं। यद्यपि इनमें से किसी के छपने की नौबत नहीं आयी, किंतु उस्ताद माने जाते हैं और इनके शिष्यों की संख्या सब से अधिक है। यह रहमत साहब हैं—पतले-दुबले शरीर पर उटुँग पायजामा, गबरून की कमीज़ और ख़ाकी ज़ीन का कोट पहने और सिर पर बिजली-रँगा साफ़ा बाँधे। पेट और कल्ले अन्दर को धँसे हुए हैं; जबड़ों की हड्डियाँ उभरी हुई हैं; दाढ़ी बढ़ी हुई है; हाथ-पाँव इतने रंगों में डूब चुके हैं कि उनका असली रंग बताना कठिन है। रँगरेज़ हैं। पहुँचे हुए कवि हैं और जालन्धर की नयी पौध के उस्ताद माने जाते हैं। यह वज़ीर साहब हैं—तहमद लगाये, कुर्ता पहने और सिर पर उल्टी-सीधी पगड़ी बाँधे। कपड़े मले और काले, हाथ-मुँह उनसे भी मैले और काले, कोयले बेचते हैं और बैत कहते हैं। आशु कवि हैं और अखाड़ों में बड़े-बड़ों को सामने नहीं बैठने देते। यह फेरू साहब हैं—जालन्धर से अमृतसर जाने वाली एक लारी के क्लीनर। अश्लील बैत कहने और उनके फल-स्वरूप सिर फोड़ने फोड़वाने में कोई इनका सानी नहीं। यह शौकत साहब हैं—इश्किया बैत कहते हैं, जिसका आलम्बन (मुख़ातिब) स्कूलों के हसीन छोकरे होते हैं। बेकार हैं। स्कूल को आने-जाने वाले लड़कों को तंग करते हैं और इसके फल-स्वरूप कई बार जूते खा चुके हैं। यह शाम साहब हैं—किस्से बनाते, छपवाते और बेचते हैं। जब पैसे खतम होते हैं तो एक किस्सा बना लेते हैं। उधार छपवा लेते हैं और

इमाम नासरुद्दीन के चौक अथवा लाल बाज़ार या बाज़ार शेखाँ के मोड़ पर खड़े होकर गाना शुरू कर देते हैं। फिर वहाँ से गाते, किस्से बेचते भीड़ के आगे-आगे सब बाज़ारों में घूमते हैं। शाम तक किस्सा बेच देते हैं। प्रेस की छपवाई देते हैं और जब तक पैसे रहते हैं, लौंडों को लिये कम्पनी बाग में घूमते रहते हैं। बड़े फक्कड़ शायर हैं। कई बार अपने किस्सों में ऐसे नश्तर लगाते हैं कि लोग तिलमिलाकर रह जाते हैं। बुरके वालियों के विरुद्ध उनका एक प्रसिद्ध किस्सा है जो इन पंक्तियों से आरम्भ होता है :

इह बुरका ऐवें चट्टी ऐ।
इस बुरके दुनिया पट्टी ऐ !

और फिर बुरके की बुराइयों को दिखाते हुए उस किस्से में वे ऐसी भेद भरी बातें कह गये कि पुरान खयाल के मुसलमान बिगड़ गये लेकिन लट्ठमार शायर हैं, मुसलमान हैं, किसी की हिम्मत न हुई कुछ कहने की। यह हरदयाल हैं—थियेटरों, सरकसों और सफ़री सिनेमा कम्पनियों के विज्ञापन बाँटते हैं। जब जोश में आते हैं तो आशु कविता करते हैं और हर बैत की अन्तिम पंक्ति में 'हरदयाल ने बैत तैयार कीती' कहना नहीं भूलते हैं; इसलिए भी कि कवि हरदयाल की प्रतिभा का पता चल जाय और इसलिए भी कि इससे कविता को पूरा करना सुगम हो जाता है जैसे :—

समझन अक़ल दी गल्ल ओह कदों यारो
साले यार होवन जेहड़े छित्तरां दे
गल्लां नाल ना मन्नदे कदीं वी ओह
भूत होन जेहड़े यारो लितरां दे
मारो दो मुक्के, ओहना पओ पुट्ठे
जुत्ते सौ मारो नाले चित्तड़ां दे

हरदयाल ने बैत तयार कीती
विच्च बैठ के यारां ते मित्तरां दे[1]

यह सब कवि समुदाय हरबल्लब के इस मेले के लिए साल भर बैत तैयार करता रहता है। सुबह ही ये लोग अपने चेले चाँटों को लेकर पोने में इकट्ठे होना शुरू हो जाते हैं। कविगण दीवार की मेंड़ पर बैठ जाते हैं और श्रोता सीढ़ियों पर जमा होने लगते हैं। मुकाबिला सदैव दो व्यक्तियों में ही होता है। कवियों को ज़रा सुस्ताने का अवसर देने के लिए कभी-कभी उनका उस्ताद या उनका कोई उस्ताद भाई भी एक-आध बैत कह देता है।

आरम्भ में सदैव मुसलमान कवि रसूले-पाक और हिन्दू दुर्गा माता की स्तुति में बैत कहते हैं, लेकिन जल्दी ही वे इश्किया बैतों पर आ जाते हैं। यहाँ खूब डटकर मुकाबिला होता है। दोनों अपनी-अपनी कला के चमत्कार दिखाते हैं। जब यह मैदान भी तंग होना शुरू हो जाता है तो वे गालियों पर उतर आते हैं। दूसरे शब्दों में जब किसी के बैतों का कोष समाप्त होने लगता तो वह बैत ही में दूसरे पक्ष को कोई गाली दे देता है और विवश हो दूसरे को गाली ही में उत्तर देना अथवा चुप हो जाना पड़ता है। चेतन को ऐसी एक बैत सदैव याद रही थी—गाली इतनी पूर्ण और अलंकार इतना सुन्दर था कि वह सुनते ही उसे याद हो गयी थी:—

खोता अक़्ल दा अलिफ़, बे, ते पढ़ के
करन लगा बराबरी क़ारियाँ दी

---

[1] यारो वे साले अकल की बात कब समझें, जो जूतों के यार हों। बातों से वे कभी नहीं मानते जो लातों के भूत हों। दो घूँसे इनको जमाओ, उलटे ज़मीन पर दे मारो और चूतड़ों पर सौ जूते लगाओ। हरदयाल ने यह बैत तैयार की है (अभी-अभी) दोस्तों और मित्रों में बैठकर।

गंजी चूही चँबेली दा तेल ला के
महफ़िल पुच्छदी फिरे कुँवारियाँ दी
बैठ गया बन के बैंतल बाज़ भारा
धूड़ फक्कदा फक्कदा लारियाँ दी
इक सुँढ़ दी गंढी लम्भी ऐस बान्दर
हट्ट पा बैठा एह पँसारियाँ दी[1]

और क्रमशः यह गालियाँ इतनी तीव्र, इतनी कटु, इतनी स्पष्ट और अश्लील हो जाती हैं कि दोनों में से कोई, अथवा दोनों में से किसी का सहायक, गाली देने वाले पर जूता उतार फेंकता है। तब फिर कविगण अपनी कला के चमत्कार दिखाने के बदले अपने भुज-बल के चमत्कार दिखाने लगते हैं, हो-हल्ला मच जाता है। किसी की पगड़ी उतर जाती है, किसी की टोपी उछल जाती है। श्रोता बीच-बचाव करते हैं और सभा भंग हो जाती है। दो तीन घंटे तक कवि भी और तमाशाई भी दोनों मेला देखने अथवा पक्के गाने सुनने की कोशिश करते हैं। किंतु जिस प्रकार छत्ते के हिल जाने अथवा टूट जाने पर मधु-मक्खियां इधर-उधर उड़कर फिर उसी

---

[1] यह गधा (सम्बोधन सामने मुकाबिले में बैठे कवि की ओर है) अलिफ़-बे पढ़कर हम जैसे क़ारियों (कारी कुरान पढ़ने वाले आलिमों को कहते हैं यहाँ अभिप्राय सिर्फ़ आलिमों, बुद्धिमानों से है) के मुकाबिले का दम भरता है। बिलकुल वैसे ही जैसे गंजी चूही चमेली का तेल लगाकर कुमारियों की सभा में जाने का प्रयास करे। लारियों की धूल फाँकता-फाँकता (प्रतिपक्षी, कदाचित् मोटर क्लीनर था) यह बड़ा बैंतबाज़ बन गया है। इस बन्दर को एक सोंठ की गट्ठी मिली तो यह पंसारी की दुकान ही सजा बैठा।

जगह आ बैठती हैं, श्रोता और बैतबाज़ वहीं इकट्ठा होना शुरू हो जाते हैं और किसी दूसरी पार्टी में मुकाबिला शुरू हो जाता है।

चेतन पक्के गाने न समझ सकता था, न गा सकता था; किंतु बैत उसके लिए ज्ञेय भी थे और एक भजन को देखकर दूसरा भजन लिखते-लिखते वह एक बैत की तर्ज़ पर दूसरा बैत लिखने लगा था। वह आठवीं श्रेणी में पढ़ता था जब उसने पहली बार पंजाबी में एक लम्बी कविता लिखकर पब्लिक में सुनायी। जन्माष्टमी का अवसर था और महावीर दल की ओर से एक सम्मेलन का आयोजन किया गया था और समस्या भी दी गयी थी। चेतन एक लम्बी कविता लिखकर ले गया और यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से उसमें कई त्रुटियाँ थीं, लेकिन उसकी कम वयस के ख़याल से उसे एक विशेष पुरस्कार मिला था। उस सम्मेलन में प्रथम पुरस्कार 'अब्र' साहब ने पाया था। उन भिश्ती महोदय को कृष्ण से कोई श्रद्धा हो, यह बात न थी। बैत कहना और कवि-सम्मेलनों में पढ़कर इनाम पाना पानी छिड़कने के स्थान पर धीरे-धीरे उनका व्यवसाय बनता जा रहा था। उन्होंने चेतन की बड़ी प्रशंसा की और उसे कविता लिखते रहने का आदेश दिया।

जब प्रथम पुरस्कार पाने वाले, दोआबा पंजाबी कवि सम्मेलन के प्रधान, उस्ताद 'अब्र' ने उसकी प्रशंसा की तो चेतन के उल्लास और उत्साह की सीमा न रही। वह कई महीने लगातार बैत लिखता रहा था। यहाँ तक कि माया और मोक्ष पर उसने एक 'सी हरफ़ी'[1] लिख डाली और महावीर दल के कवि-सम्मेलनों में पढ़ता रहा।

वह ज़रा बड़ा हुआ तो उसका झुकाव उर्दू कविता की ओर हो गया

---

[1] सी हरफी=बैंतों की ऐसी पुस्तक जिसका हर बैत क्रमशः उर्दू वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ होता है।

(हिन्दी कविता तब दोआबा में कोई न जानता था। उर्दू पहली श्रेणी से पढ़ायी जाती थी और उर्दू कविता का रिवाज था) बात यह थी कि कविता का शौक़ मन में उत्पन्न होते ही वह कवि सम्मेलनों में जाने लगा और जालन्धर में पंजाबी के कवि-सम्मेलनों के साथ उर्दू मुशायरे भी होते थे। वह उधर भी कभी-कभी चक्कर लगाने लगा। वहाँ का अपेक्षाकृत सभ्य तथा सुसंस्कृत वातावरण उसे अच्छा लगा और उसके मन में उर्दू में शेर कहने का शौक़ पैदा हुआ और वह धड़ाधड़ ग़ज़लें लिखने लगा। इस प्रकार उसका संगीत प्रेम जो हरबल्लब के मेले में शुरू हुआ था, उसी के कारण काव्य-प्रेम में परिणत हो गया।

लेकिन उसका यह शौक़ मरा न था। इसी शौक़ के आधीन वह तंगदस्ती में भी ३५ रुपये का बाजा ख़रीद लाया था और न केवल उसने चन्दा को गाने सिखाये थे, वरन् स्वयं भी उसने दो-एक महीने पंडित नत्थूराम से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी और संगीत विद्या पर दो-चार पुस्तकें ख़रीदकर पढ़ डाली थीं। अब प्रो० सिंह से मिलने पर उसे लगा कि बस अब वह अपनी चिर-अभिलाषा पूरी कर सकेगा। उसके पास हारमोनियम था। उसे थोड़ा-बहुत स्वर-ज्ञान भी था। राग और रागनियों के नाम भी उसे आते थे। कौन सम्पूर्ण है और कौन अपूर्ण; किसमें कौन-कौन से स्वर शुद्ध और कौन से कोमल और कौन से तीव्र लगते हैं; किस राग का क्या प्रभाव मन पर पड़ता है; कौन-सा राग सुबह, कौन-सा दोपहर, कौन-सा शाम और कौन-सा रात को गाया जाता है; राग रागनियों के रूप क्या हैं और किस ऋतु में गाये जाते हैं? यह सब किताबी ज्ञान उसे था, किंतु अभ्यास का अवसर उसे न मिला था। और वास्तव में वह पुस्तकें ख़रीदने से पहले जहाँ था, वहीं अब भी था।

प्रो० सिंह से मिलने पर उसने सोचा कि यहाँ से वह यथेष्ट निपुणता

प्राप्त करके जायगा। लाहौर जाकर गन्धर्व-महाविद्यालय में दाख़िल हो जायगा। पहले स्वयं निपुणता प्राप्त करेगा फिर चन्दा को निपुण बनायगा......बस और क्या चाहिए! वह गीत लिखेगा, वह गायेगी। जीवन का सब कलुष, सारी मलिनता, समस्त कटुता, आत्मा की निर्मल निर्झरनी में शराबोर होकर धुल जायगी। बला से उन्हें धन प्राप्त न हो, संगीत की अमूल्य निधि तो उन्हें प्राप्त होगी। वे नदी पर जाया करेंगे, रावी के तट पर घूमा करेंगे। लहरों की कल-कल छल-छल वाद्य यन्त्रों का काम देगी और वे देश, काल और सुधि के बन्धनों को भूलकर विसुध और तन्मय होकर स्वरों के पंख लगाकर संगीत की दुनिया के विशाल, विस्तीर्ण, अनन्त प्रसार में उड़ते फिरेंगे।

६०

वेतन मिलने में अभी देर थी और चेतन कविराज जी से २० रुपये के लगभग पेशगी ले चुका था—दस उसने भाई साहब को भेज दिये थे; पाँच ढाबे वाले को भेंट किये थे और पाँच इधर-उधर ख़र्च हो गये थे—अब और रुपये माँगने में उसे संकोच हो रहा था। किसी-न-किसी तरह साहस बटोरकर वह माँग भी लेता, लेकिन उसके मन के किसी अज्ञात कोने में यह डर भी बैठा हुआ था कि कविराज जी कहीं मितव्ययता पर छोटा-मोटा भाषण झाड़कर संगीत-सम्बन्धी उसके उत्साह को ठंडा न कर दें।

दूसरे दिन जब वह फिर म्युज़िक कॉलेज के पास से गुज़रा और संगीत की मीठी-मादक ध्वनि उसके कानों में पड़ी तो गाना सीखने और प्रो० सिंह से गाना सुन सकने की प्रबल आकांक्षा उसके मन में पुनः उद्वेलित हो उठी। खाना खाने के लिए जाते, खाते और वहाँ से आते समय वह इस समस्या का हल सोचता रहा और इसमें सफल भी हो गया।

उसने दो-तीन दिन निरन्तर राजकुमार के सामने प्रो० सिंह के कॉलेज

का उल्लेख किया, उनके सिखाने के ढंग की, उनके कंठ के माधुर्य, उनके स्वर की मिठास की प्रशंसा की और राजकुमार से कहा कि उसे तो अवश्य बाजा सीखना चाहिए ।

"बाँसुरी तो गले को ख़राब कर देती है," चेतन ने कहा, "तुम्हारा स्वर इतना सुन्दर है कि तुम्हें फ़ौरन बाँसुरी छोड़ देनी चाहिए। मैंने स्वयं फ़ैसला कर लिया है कि अब बाँसुरी को हाथ न लगाऊँगा ।" इस तरह उसने राजकुमार को तैयार कर लिया कि प्रो० जी० सिंह से बाजा सीखने की आज्ञा वह जितनी जल्दी हो, अपने पिता से माँग ले ।

गाना सीखने के लिए अपने प्रिय पुत्र के अनुरोध पर जब कविराज जी ने चेतन से पूछा तो उनके सामने भी उसने प्रो० सिंह की प्रशंसा की और अवसर को उपयुक्त जानकर उसने यह भी कह दिया कि वह स्वयं उनसे गाना सीखना चाहता है और दोपहर को खाना खाने के लिए जाते समय एक-डेढ़ घंटा वह संगीत की शिक्षा लिया करेगा। कविराज जी ने उसे आज्ञा दे दी और राजकुमार से कहा कि वह भी चेतन ही के साथ दोपहर को जाकर गाना सीख आया करे और उसकी फ़ीस के पाँच रुपये भी उन्होंने चेतन के हाथ में दे दिये ।

प्रो० सिंह के पास राजकुमार को ले जाने से पहले, वह स्वयं उनके पास गया और उसने उनसे कहा कि वह उनका बड़ा प्रचार कर रहा है। कविराज जी से उसने उनकी बड़ी प्रशंसा की है और उनके लड़के को लाने का वह प्रयास कर रहा है।

प्रो० सिंह ने मुस्कराकर उसे धन्यवाद दिया और कुर्सी से उतरकर नीचे आ बैठे और उन्होंने जैसे उमंग में आकर बाजा सामने खींच लिया और इक़बाल की एक ग़ज़ल धीरे-धीरे गुनगुनाने लगे ।

कुशादा दस्ते करम जब वह बेन्याज़ करे
न्याज़मन्द न क्यों आजिज़ी पै नाज़ करे ।

धीरे-धीरे उनकी आवाज़ ऊँची होती गयी और वे तन्मय होकर गाने लगे। उनके स्वर की मिठास और उनके उच्चारण की शुद्धता ने चेतन को मुग्ध कर दिया। मुशायरों में उर्दू की कविताएँ सुनने और स्वयं रचने के कारण उसे उच्चारण आदि का बड़ा ध्यान रहता था। यदि उच्चारण शुद्ध न हो, तो गाने वाले ने कितना ही सुन्दर गला क्यों न पाया हो, चेतन उकता जाता था......

......वह कॉलेज ही में पढ़ता था और उसके अवकाश का अधिकांश समय शेर कहने और मुशायरों में ग़ज़लें पढ़ने में व्यतीत होता था, जब हरबल्लब के आकाश में एक नये सितारे का उदय हुआ और इस बात की चर्चा नगर भर में होने लगी। 'इतना सुन्दर गला पाया है उसने......' 'इतना अच्छा गाता है वह......' 'इस उम्र में तान और लय का इतना ज्ञान है उसे......'आदि-आदि बातें चेतन ने सुनी थीं और यद्यपि उसे अब भी पोने के पंजाबी कवियों के बैत सुनने में अधिक आनन्द आता था, किंतु जब उसने सुना कि यह नया संगीतज्ञ ग़ज़ल बहुत अच्छी गाता है, यहाँ तक सुना कि ग़ज़ल गाने में उसका कोई सानी नहीं तो वह भी सुनने का लोभ सम्वरण न कर सका।

तेरह-चौदह वर्ष का सलोना-सा लड़का, चुस्त काली अचकन और चूड़ीदार पायजामा पहने स्टेज पर बैठा था। इर्द-गिर्द उसके प्रशंसकों का जमघट था। भीड़ इतनी थी कि चेतन बड़ी कठिनाई से मंच के पास पहुँच पाया। उस भीड़ में बैठने से उसका दम घुटा जा रहा था, किंतु उस लड़के का गाना सुनने के लिए वह घुटा-दबा बैठा रहा। गाने से पहले गुनगुनाते हुए तरुण गायक ने जो तान खींची तो चेतन के हृदय के तार झंकृत हो उठे। कितना सुन्दर गला पाया है इस लड़के ने—उसने सोचा, लेकिन जब उसने पहला ही शेर पढ़ा तो चेतन का दिल बैठ गया। दूसरे मिसरे में एक शब्द

ही वह खा गया था। दाग़ की ग़ज़ल थी :

शमशीर खिंच के पंजा-ए-क़ातिल में रह गयी
बिस्मिल की आर्ज़ू दिले-बिस्मिल में रह गयी

और वह उसके मिसरे को यों गाता था।

बिस्मिल की आर्ज़ू-ए-बिस्मिल में रह गयी

चेतन ने पहले समझा था कि शायद दिल शब्द वह जल्दी में भूल गया है, लेकिन जब वह बार-बार—बिस्मिल की अर्ज़ू-ए-बिस्मिल में रह गयी—बिस्मिल की आर्ज़ू-ए-बिस्मिल में रह गयी—गाता हुआ सिर मारने लगा और लोग भी 'वाह-वा!' करते हुए झूमने लगे तो उन अरसिकों में बैठना उसे अपना अपमान लगा। वह पहला शेर ही सुनकर उठ आया था।

लेकिन प्रो० सिंह के सुन्दर कंठ के साथ उनका शुद्ध उच्चारण सोने में सुगन्ध भर रहा था। उनकी ग़ज़ल सुनने पर यद्यपि चेतन को इस बात का पता चल गया था कि पहले दिन उसने जो आवाज़ सुनी थी वह किसी और की आवाज़ थी, किंतु प्रोफ़ेसर साहब का स्वर उससे कम मीठा न था। चेतन उनका गाना सुनकर इतना प्रसन्न हुआ कि वह उसी समय जाकर राजकुमार को साथ ले आया और फ़ीस के पाँच रुपये पेशगी दिलाकर उसने एक महा-कर्त्तव्य से छुट्टी पा ली।

इसके बाद राजकुमार तो दो ही चार दिन में स रे ग, रे ग म, ग म प से ऊबकर अपने मित्रों में जा मिला, किंतु चेतन बराबर दोपहर और शाम दोनों समय आता रहा।

शाम के समय प्रोफ़ेसर साहब प्रायः रोज़ ही गाया करते, क्योंकि उस समय कुछ-न-कुछ सुनने वाले ज़रूर ही वहाँ आ उपस्थित होते। एक दिन ऐसे ही वक्त चेतन ने प्रोफ़ेसर साहब को जो दाद दी, उससे वे बड़े प्रसन्न हुए और श्रोताओं पर उनका दुगना प्रभाव पड़ा। प्रोफ़ेसर साहब

प्राय: ग़ालिब और इक़बाल की ग़ज़लें गाते। एक तो उन महाकवियों की ग़ज़लें, दूसरे इतना सुन्दर गला और शुद्ध उच्चारण! चेतन झूम उठता और शेर का क़ाफ़िया प्रोफ़ेसर साहब से तनिक पहले ही इस अन्दाज़ में बोलता कि श्रोताओं पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ता। प्रोफ़ेसर साहब गाते :

भरी बज़्म में राज़ की बात कह दी
बड़ा बे अदब हूँ ......

और चेतन झूमता हुआ प्रोफ़ेसर साहब के ओठों पर मुस्कान के फैलने के साथ ही कहता—सज़ा चाहता हूँ—और श्रोता 'वाह-वा!' कर उठते। इस प्रकार चेतन बिना फ़ीस दिये प्रो० सिंह के शागिर्दों में शामिल हो गया और प्रो० सिंह उसे मन से सिखाने भी लगे।

चेतन जो कुछ वहाँ से सीखता उसका अभ्यास करने में उसे बड़ी कठिनाई होती और इसलिए वह प्रयास करता कि कॉलेज ही में प्रो० साहब के बाजे पर उसका अभ्यास भी कर लिया करे। किंतु यद्यपि वे चेतन पर प्रसन्न थे और वह चाहे जितनी देर वहाँ बैठे, जितनी बार वहाँ जाय, बुरा न मानते थे, पर चेतन को जल्दी ही इस बात का आभास मिल गया कि जब-जब वह उनके बाजे पर अभ्यास करना चाहता, उनके मस्तक पर हल्की-सी लकीर बन जाती। चेतन परेशान था कि वह क्या करे। तभी एक दिन अचानक उसे इस समस्या का भी हल सूझ गया।

दोपहर के समय वह कॉलेज पहुँचा तो प्रोफ़ेसर साहब कमरे में न थे। पूछने पर मालूम हुआ कि साथ के कमरे में हैं। उसने समझा कि शायद चाय आदि पी रहे हैं, किंतु जब पर्दा हटाकर वह अन्दर पहुँचा तो उसने देखा कि वे एक तिपाई पर बैठे कुर्सी पर पाँव रखे एक दिलरुबा बजा रहे हैं। चेतन को उनके बजाने के ढंग से ऐसा लगा जैसे वे दिलरुबा बजाना सीख रहे हैं अथवा उसका अभ्यास कर रहे हैं। पर जब उसने पूछा कि दिलरुबा वे किससे सीख रहे हैं तो उन्होंने उसे बताया कि वे लखनऊ के

म्युज़िक कॉलेज में शिक्षा पाये हुए हैं और सभी वाद्य यंत्र एक-सी निपुणता से बजा सकते हैं। दिलरुबा बिकाऊ है और वे चाहते हैं कि कॉलेज के लिए उसे ख़रीद लें।

"कैसा है?" चेतन ने पूछा।

बड़े विशेषज्ञों के अन्दाज़ में माथे को तनिक सिकोड़ते हुए प्रोफ़ेसर साहब ने कहा, "उतना सुरीला नहीं, मैं उससे दूसरा बनाने को कहूँगा।"

"यहाँ कोई साज़ बनाने वाला भी है?" चेतन ने चकित होकर पूछा।

"हाँ मिडिल बाज़ार में एक आदमी है। बनाकर लाया था कि मैं ख़रीद लूँ, पर उतना सुरीला नहीं।"

चेतन को ऐसा आभास मिला कि वे खरीदना तो चाहते हैं, पर किसी कारण वश ख़रीद नहीं सकते। उसका जी चाहा कि उसी समय दिलरुबा ख़रीदकर उनके चरणों में रख दे कि लीजिए इसे मेरी ओर से कॉलेज के लिए रख लीजिए। कुछ क्षण चुप रहकर उसने पूछा,

"लेकिन आपके पास तो साज़ होंगे।"

"यहाँ नहीं घर पड़े हैं," उन्होंने बड़ी बेपरवाही से कहा, "बात यह है कि मैं यहाँ पहली बार आया हूँ। मैं तो सदा कश्मीर जाया करता था पर मेरे कुछ शागिर्द इस बार शिमले आये हैं और मुझे भी साथ घसीट लाये हैं।"

"यदि आप कहें तो मैं यह दिलरुबा ख़रीद लूँ!" चेतन ने झिझकते हुए कहा। "आख़िर मुझे ये सब साज़ ख़रीदने तो हैं ही, दो-अढ़ाई महीने मैं अभी और यहाँ रहूँगा, उतने दिन आप इसे काम में लाइए।"

प्रोफ़ेसर साहब के मस्तक की भृकुटी ढीली होकर फैली और मुस्कान बनती हुई ओठों पर आ गयी।

"अभी तो तुम्हें हारमोनियम ही सीखना चाहिए," वे बोले, "जब

स्वर पर तुम्हें पूरा अधिकार प्राप्त हो जायगा और राग-रागनियों की समझ आ जायगी तो फिर बेला क्या, दिलरुबा क्या और सितार क्या, जो साज़ चाहे सीख लेना।"

हतोत्साह हुए बिना चेतन ने कहा, "तो क्या हर्ज है, पड़ा रहेगा, मेरी पत्नी सीख लेगी।"

प्रोफ़ेसर साहब जैसे अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पा गये। तनिक और मुस्कराकर उन्होंने कहा, "ख़रीद लो! लेकिन उसकी दुकान पर एक दूसरा है। मेरे विचार में वह ले लो तुम। यह उतना अच्छा नहीं।"

उस दिन चेतन ने जब उन्हीं के बाजे पर अभ्यास किया तो प्रो० सिंह की भृकुटी नहीं तनी, बल्कि पास बैठकर उन्होंने एक दो बार उसका सुधार भी किया।

६१

संध्या का समय था और पश्चिम में अस्त होता हुआ सूरज तेज़ आग में चमकते हुए पिघले सोने के से रंग का हो रहा था। लगता था जैसे किसी अदृश्य आतप ने साँझ के उस सोने को पिघला दिया है और उसका पीला रंग लाल होता-होता आँच की तीव्रता में उन्नाबी लग रहा है। जाकू के ऊपर बादल गुलानारी हो रहे थे और माल की दुकानों के कँगरों पर उस जलते हुए सोने का अन्तिम प्रतिबिम्ब झलक रहा था। बग़ल में अपनी नयी ख़रीदी सितार दबाये चेतन रिज पर से होता हुआ माल की ओर जा रहा था। सितार पर गहरे नीले रंग की खादी का ग़िलाफ़ चढ़ा हुआ था। जिसके सिरे पर लाल रंग का फूल बना था। ग़िलाफ़ का नेफ़ा और डोरी भी फूल ही के रंग की थी। अपने तीसरे महीने के वेतन से चेतन ने सितार ख़रीदी थी और जो पैसे बचे थे उनसे ग़िलाफ़ बनवा लिया था। सारा महीना कैसे बसर होगा, इस बात की उसे चिन्ता न थी। कलाकार के गर्व से सिर उठाये वह चला जा रहा था। उसे लग रहा था जैसे उसके पाँव धरती पर नहीं पड़ रहे, हवा में पड़ रहे हैं। उस काली कठोर सड़क

से वह ऊपर उठ गया है और राग-भीनी साँझ के उस रँगीले सौन्दर्य में उड़ा जा रहा है।

उस समय ही क्यों प्रायः महीने भर से, प्रायः उसी क्षण से जब उसने पाँच नम्बर की सीढ़ियों पर खड़े होकर सुना था—कौन देस गया पिया मोरा बालम रे—वह धरती से ऊपर उठ गया था। उसके क्षण उन्मन और एकाकी न रहे थे। उसके स्वप्न उसे मिल गये थे।

उसे सपनों ही की आवश्यकता थी—सदा सपनों ही की आवश्यकता रही थी—फिर वे स्वप्न चाहे नीला का प्रेम पाने के हों; चन्दा के साथ सफल-सुखद जीवन व्यतीत के हों, महान् चित्रकार, वक्ता, अथवा लेखक बनने के हों या फिर एक बार पुनः कॉलेज में दाखिल होकर लाहौर के विद्यार्थी जीवन का आनन्द लूटने के हों। वे स्वप्न ही उसका जीवन थे, जीवन की स्फूर्ति थे। उसी के क्यों, शायद मानव-मात्र के जीवन की स्फूर्ति यही स्वप्न हैं। शास्त्र कहते हैं—जीवन सपना है, किंतु जीवन शायद सपना नहीं। जीवन तो सड़क है—काली और कठोर! और स्वप्न वह स्फूर्ति है जो मानव को इस सड़क की कठोरता, इसकी कालिमा, इसकी तपिश अथवा ठंडक भुलाकर इससे ऊपर उठा देते हैं और मानव हवा में तैरता हुआ-सा अनुभव करता है। ये स्वप्न जितने रंगीन होते हैं, उतनी ही लगन से वह इस कठोर काली सड़क पर भागा जाता है।

चेतन के सपने भी उन दिनों असाढ़ के बादलों की तरह उमड़े आते थे और चेतन की गति भी उनके साथ तीव्र हो रही थी। काम करने में अब उसका जी लगता था। इस एक डेढ़ महीने से वह प्रायः रोज़ पुस्तक का एक परिच्छेद लिखता और उसका संशोधन करता आ रहा था। वह इतनी तेज़ी से काम कर रहा था कि पुस्तक तीन चौथाई लिखी जा चुकी थी। इसी तेज़ी से वह संगीत की शिक्षा भी ग्रहण कर रहा था स्वर-अध्याय को पार करके और विभिन्न सरगमों को पकाने के बाद अब

उसने एक दो रागनियों के बोल भी सीख लिए थे। किंतु उसके स्वप्न सदा की तरह उससे कहीं आगे भाग रहे थे। कारण था कि यद्यपि उसका संगीत सम्बन्धी ज्ञान अभी न होने के बराबर था और यद्यपि उसका हाथ अभी ठीक ढंग से हारमोनियम के पर्दों पर चला भी न था, पर उसने दिलरुबा और सितार ख़रीद लिये थे और तबला लेने की चिन्ता में था। उसके पास धन का अभाव था, नहीं उसका बस चलता तो वह सारे-के-सारे बाजे एक ही बार ख़रीद लेता।

दोनों बाजे खरीद लेने पर चेतन ने बस नहीं की। दिलरुबा के लिए प्लाईवुड का खोल और सितार के लिए यह ग़िलाफ़ उसने बनवाया। दिलरुबा तो ख़ैर कॉलेज ही में पड़ा रहता था; किंतु यद्यपि उसे सितार लेकर बैठना भी न आता था, वह प्रतिदिन संध्या के समय सितार लेकर कॉलेज जाता और जाते अथवा आते समय सितार को बग़ल में दबाये माल अथवा लोअर बाज़ार का एक चक्कर लगाना न भूलता। इसके अतिरिक्त वह सारा दिन मिज़राब पहने रहता और जब किसी से बात करता तो अनजाने ही में मिज़राब वाली अँगुली एक दो बार ज़रूर दिखाता।

यह मिज़राब छोटी थी, अथवा क्योंकि उसने पहले कभी न पहनी थी, इसलिए इससे चेतन की अँगुली पर निशान बन गया था, पीड़ा होने लगी थी और अब वह मिडिल बाज़ार के साज़वाले की दुकान पर जा रहा था कि अपेक्षाकृत कुछ बड़ी मिज़राब ले आये।

माल और लोअर बाज़ार की तरह मिडिल बाज़ार एक-सा लम्बा नहीं। माल से लोअर बाज़ार को निरन्तर उतरने वाली सीढ़ियों के कारण कटा-छँटा—दो बहुत मोटे व्यक्तियों में दबे हुए दुबले-पतले आदमी-सा है। न उतना विशाल, न आबाद। न उतनी दुकानें, न वह रौनक़। बस एक कटी-फटी, कहीं-कहीं गन्दी और कहीं-कहीं साफ़, पर संकीर्ण गली-सी है।

नम्बर पाँच की सीढ़ियों से आरम्भ होकर नम्बर नौ की सीढ़ियों पर खतम हो जाती है। माल में और इसमें मकानों की एक पंक्ति का अंतर है जिनकी दुकानें माल पर हैं और तहख़ाने अथवा गोदाम इस गली में। यदि जड़ पदार्थों का भी कोई व्यक्तित्व है तो शिमले के ये मकान सत्य ही भवनों में जनक हैं। उनका मस्तिष्क माल की ऊँचाइयों पर उड़ता है और पाँव इस गली की गन्दगी में पड़े सड़ते हैं और उस राजर्षि की भाँति अडिग, अडोल, अविचल वीतरागी से ये खड़े हैं।

माल पर खुलने वाले इन मकानों की पाँच-पाँच मंज़िले कहीं-कहीं मिडिल बाज़ार की संकीर्णता को उसी प्रकार प्रकट करती हैं जिस प्रकार बायीं और छोटे-छोटे मकानों की एक ही मंज़िल इस बाज़ार की अकिंचनता को। माल की ओर के मकानों की निचली मंज़िलें प्रायः बन्द ही रहती हैं, दरवाज़ों और खिड़कियों के शीशों पर धूल की बड़ी मोटी परत जमी रहती है और यदि किसी खिड़की का कोई शीशा टूट जाता है तो वह उसी प्रकार अपनी क़ानी आँख से तारा देवी के टीले की ओर ताकता रहता है। गोदामों और तहखानों के अतिरिक्त इस पंक्ति में जो कमरे हैं, वे भी या तो बन्द ही रहते हैं और यदि कहीं-कहीं खुले भी हैं तो उन्हें किसी क़लई-गर, ढाबे वाले, अथवा किसी चाय फ़रोश ने दूसरों से भी बदतर बना दिया है। बायीं ओर जो एक-मंज़िले छोटे-छोटे मकान हैं, वे नीचे लोअर बाज़ार तक चले जाने वाले मकानों के ऊपर के भाग हैं। जर्जरता और अपरूपता में वे अपने सामने के पड़ोसियों से किसी दर्जे कम नहीं, शायद कुछ बढ़े हुए ही हैं। इनमें सफ़ेदी कराने का कष्ट वर्षों से किसी ने नहीं किया। दरवाज़ों और खिड़कियों का रोग़न भी, जो कभी मकानों के निर्माण के समय हुआ होगा, निरन्तर वर्षातप सहने के कारण फीका पड़ चुका है। छतों पर टीन के परनाले हैं जिनका टीन इतना गल गया है कि पानी कई धाराओं में होकर बहता है। इन दुकानों के जँगले बूढ़े

आदमी के दाँत बने हुए हैं।

मिडिल बाज़ार के रहने वालों का इन मकानों और दुकानों के साथ गहरा साम्य है। दुकानों में अधिकांश रँगरेज़ों, नानबाइयों, क़लईगरों, धोबियों, दर्ज़ियों की हैं। इन दुकानों के ग्राहकों में मज़दूरों, कश्मीरी कुलियों, होटलों के बैरों और इसी ढंग के लोगों का बाहुल्य है। अधिकांश दुकानदार मुसलमान हैं। यों एक दो हिन्दू होटल भी हैं और एक शिवालय भी है। शिवालय की कुल परिधि एक ही तंग अँधेरे कमरे तक सीमित है। इसी में शिव लिंग, नान्दी, घंटे, घंटियाँ, चन्दन की सिल और चनाठी धरी है। एक वातायन भी है जिससे आने वाले प्रकाश में वृद्ध पुजारी पुस्तक खोले अनवरत कुछ-न-कुछ गुनगुनाता रहता है।

शिवालय के पास से होकर चेतन मिडिल बाज़ार में दाखिल हुआ। नानबाइयों की दुकानों से धुआँ उठ रह था। साँझ के धूमिल प्रकाश की ओर भी धूमिल बनाने वाले उस धुएँ में कुछ हातो अपने मैले गन्दे शरीरों पर कीचड़ से चीथड़े लपेटे खाना खा रहे थे। चेतन अपने ध्यान में मग्न पथरीली गली में चलता-चलता साज़ों की दुकान पर पहुँचा और उसने एक मिज़राब माँगी।

उस समय वहाँ एक और व्यक्ति चेतन ही की तरह पुराना ओवर-कोट पहने खड़ा था। चेतन के सामने उसने भी मिज़राब खरीदी। चेतन ने उस व्यक्ति को एक नज़र देखा। उसके सिर पर एक तुर्की टोपी थी, किन्तु गंजेपन की हद को पहुँचे हुए उसके मस्तक को छिपाने में वह सर्वथा अशक्त थी। उसके गले में मोटी मलमल की चुन्नटदार कमीज़ और टाँगों में मैला-सा पायजामा था। 'कोई पहुँचा हुआ कलाकार है'—चेतन ने मन-ही-मन सोचा। प्रो० सिंह सितार के उतने विशेषज्ञ न थे, यह उसने सितार खरीदते ही जान लिया था और यद्यपि चेतन का दिल-

रूबा भी उन्होंने बड़ी शान से अपने कॉलेज में रख छोड़ा था, पर उसे बजाने का अवसर न आता था। धीरे-धीरे चेतन को यह भी मालूम हो गया था कि प्रोफ़ेसर साहब की ग़ज़लों और गीतों का कोष भी अपरिमित नहीं है और लखनऊ कॉलेज में उनके पाँच साल लगाने का किस्सा भी शायद कल्पित ही है। उनके गले में रस था और हारमोनियम वे बड़ी निपुणता से बजा लेते थे, बस इससे अधिक वे कुछ न जानते थे। इसलिए चेतन बहुत दिनों से किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में था जो उसे सितार की शिक्षा दे सके। इस कलाकार को देखते ही उसने तत्काल फ़ैसला कर लिया कि वह अवश्य ही उससे सितार बजाना सीखेगा। जब वह व्यक्ति मिज़राब लेकर चलने लगा तो चेतन ने उसके साथ चलते हुए पूछा, "आप भी सितार का शौक़ रखते हैं ?"

कलाकार के ओठों पर एक थकी-सी मुस्कान फैल गयी, "जी योंही कुछ बजा लेता हूँ !"

चेतन ने समझा अजनबी कलाकार-सुलभ-विनम्रता से काम ले रहा है। उसने अपना परिचय दिया, प्रो० सिंह से अपने सम्बन्ध का उल्लेख किया और फिर प्रार्थना की कि यदि वे अपना निवास-स्थान दिखा दें तो वह कभी-कभी आ जाया करेगा। और जब उस अपरिचित कलाकार ने किसी प्रकार की आपत्ति प्रकट न की तो चेतन उसी तरह बग़ल में सितार लिये उसके साथ चल पड़ा।

मिडिल बाज़ार को पार करके वे माल पर चढ़े और वहाँ से स्टेशन को जाने वाली सड़क की ओर मुड़ गये। सूरज कब का छिप गया था। अंधकार में बिजली के लैम्प किसी ग़रीब की आशाओं से द्युतिमान थे। कलाकार चुप था। चेतन भी चुप था। वातावरण भी चुप था। उस बढ़ते हुए अंधकार में चेतन को दिशा अथवा मार्ग का कोई ज्ञान न रहा। उसे लगा जैसे वे कई मील चले आये हों, जैसे उन्हें चलते घंटो बीत गये

हों। उसका जी वापस होने को व्यग्र हो उठा। यदि उसे मालूम होता, अपरिचित कलाकार इतनी दूर रहता है तो कभी न आता। उसे तो दस बजे घर पहुँच जाना चाहिए। पर अब इतनी दूर आकर वापस लौटने को उसका मन न हुआ। वह चुपचाप चलता गया।

सीधी सड़क से हटकर कई दूसरी सड़कों और टेड़ी-मेढ़ी पगडंडियों को पार करके वह अपरिचित उसे जिस कमरे में ले गया वह किसी कोठी का किचन था—अत्यन्त गन्दा और दुर्गन्ध भरा। पत्थर के कोयले की दुर्गन्ध, अँगीठी के जल चुकने के बाद भी, अभी तक कमरे में बसी हुई थी। चेतन का दम घुटने-सा लगा। कुछ क्षण बाद उसे लगा कि रसोई-घर में केवल पत्थर के कोयले की दुर्गन्ध ही नहीं, बल्कि न जाने कितने प्रकार के माँस मछली की दुर्गन्ध भी मिली है—इस तरह कि उसका विश्लेषण करना कठिन है। चेतन को म्युज़िक कॉलेज के बराबर वाले रेस्तोराँ की याद हो आयी। उसके पास से गुज़रने पर भी उसके किचन से ऐसी ही बू नाक में प्रवेश कर दम घोंटने लगती थी। किचन की दशा देखने पर चेतन को लगा जैसे साहब को कभी स्वप्न में भी ख़याल नहीं आता कि जो खाने धुली-धुलायी प्लेटों में लगकर, अत्यन्त स्वादिष्ट होकर उसके सामने पहुँचते हैं, वे अपने पीछे कितनी दुर्गन्ध छोड़ आते हैं। चेतन का अपना बचपन अत्यन्त स्वच्छ वातावरण में बीता था। उनका रसोई-घर निहायत साफ़-सुथरा था। फ़र्श धुला, चूल्हा-चौका पुता और बर्तन टोकरे में पड़े चमचमाते रहते थे। स्वच्छता की सुगन्धि-सी वहाँ से आया करती थी। वह क्षण भर भी उस किचन में रहना न चाहता था, किंतु जब उस कलाकार ने एक कोने में पड़े हुए मैले से सन्दूक़ की ओर संकेत किया तो वह बिना कुछ कहे विमूढ़-सा उस पर बैठ गया।

तब वह कलाकार वहीं एक खूँटी पर टँगा हुआ एक छोटा-सा धुआँसा कछुआ उठा लाया जिसकी चिनगारियाँ टूटी हुई थीं और जिसके तूम्बे

पर धुएँ की इतनी मैल जमी हुई थी कि असली रंग ही लुप्त हो गया था। तब वहीं एक मैले से स्टूल पर बैठकर उस कलाकार ने चेतन को सितार का पहला पाठ पढ़ाया।

दिर दा रा, दा रा, दा दा रा

चेतन की समझ में कुछ न आया। उसने पूछा, "आप क्या बजा रहे हैं?"

"मेरी भैंस के डंडा क्यों मारा!"—कलाकार ने सितार बजाते हुए कहा।

चेतन स्तम्भित-सा उसके मुँह की ओर देखने लगा।

"हमारे उस्ताद ने हमें पहले यही सिखाया था," पहुँचे हुए कलाकार ने कहा, "ज़रा अपनी सितार निकालो।"

चेतन का जी वहाँ से भाग जाने को हो रहा था। पर उसने अपनी सितार निकाली। तब कलाकार ने चेतन को बताया कि तार पर मिज़राब की चोट से 'दा' कब बजता है 'रा' कब और 'दिर' कब और उसने बजाया।

दिर दा रा, दा रा, दा दा रा

और गाया

मेरी भैंस के डंडा क्यों मारा।

चेतन ने यह पाठ काग़ज़ पर लिख लिया, एक-दो बार सितार पर बजा भी लिया, किंतु उसे लगा कि यदि वह कुछ और देर उस बावर्चीख़ाने में बैठा तो उसके सिर में असह्य पीड़ा होने लगेगी। उसकी कनपटियों में दर्द होने लगा था और जी घबरा रहा था, इसलिए उसने जाने की आज्ञा माँगी।

किंतु उस समय वह कलाकार, जो न जाने साहब का बैरा था, जमादार था या धोबी, तन्मय होकर सितार बजाने में लीन था। ख़ानसामा,

फ्राइंग पैन में न जाने किस चीज़ को छौंक रहा था कि धुएँ से चेतन की आँखों में पानी निकल आया और वह खाँसने लगा। बेबसी की नज़रों से उसने उस कलाकार की ओर देखा—आँखें बन्द थीं और मिज़राब तारों पर चल रही थी।

आख़िर जब उस कलाकार ने गाना खतम करके आँखें खोलीं तो चेतन ने भरे हुए गले से फिर जाने की आज्ञा चाही। कलाकार अपने उस कछुए को साथ ही लिये हुए उस किचन से बाहर निकल आया और चेतन को अपने निवास-स्थान पर ले गया, जो अत्यन्त अँधेरी, सील भरी, दिये की लौ से प्रकाशित, उस कोठी के सर्वेण्ट्स क्वार्टर्ज़ की एक कोठरी थी—नौकरों के ये क्वार्टर एक दो मंज़िले छप्पर की सूरत में थे। इस छप्पर में तीन-चार कोठरियाँ नीचे और तीन-चार ऊपर थीं। लकड़ी की एक हिलती-सी सीढ़ी से चढ़कर उस कलाकार के पीछे-पीछे चेतन ऊपर उसकी कोठरी में पहुँचा। और चूँकि उसे वापस जाने का मार्ग मालूम न था और उस कलाकार को उस जैसे प्रशंसक के आगे अपनी कला के प्रदर्शन का शायद पहला ही मौका मिला था, इसलिए उस सील भरे कमरे के मद्धिम प्रकाश में एक पुरानी-सी चटाई पर बैठकर चेतन को दो-चार गतें और सुननी पड़ीं। उसके हृदय में उस समस्त वातावरण के प्रति कुछ ऐसी खीझ और घृणा उत्पन्न हो रही थी कि उस कलाकार ने क्या गाया, उसने कुछ भी नहीं सुना। उसका जी तो उस समय उस कलाकार को एक दो बार झकझोर, उसके कछुए को उसके सिर पर पटक, उस कोठरी, उस किचन, उस घुटन, उस अंधकार से एकदम भागकर बाहर की स्वच्छ, स्वच्छन्द वायु में साँस लेने को व्यग्र हो रहा था।

लेकिन जब उसे वह स्वच्छ वायु साँस लेने को मिली तो न जाने क्या बजा था। सड़क पर दूर-निकट एक भी व्यक्ति दिखायी न देता था।

आकाश पर से चाँद की एक फाँक धूमिल प्रकाश फेंक रही थी। चेतन को लगा जैसे वह उसकी विवशता पर वक्र हँसी हँस रही है और समस्त तारे उस हँसी में सहयोग दे रहे हैं। उसकी आँखों में आँसू छलक आये और उसके जी में आया कि सितार को पूरे ज़ोर से किनारे के पत्थर पर पटककर टुकड़े-टुकड़े कर दे, घुमाकर खड्ड में फेंक दे, ज़ोर-ज़ोर से उस पहुँचे हुए कलाकार को गालियाँ दे और सरपट घर की ओर भागे। लेकिन उस समय उसके सामने छः महीने पहले की एक घटना घूम गयी जब उसने स्वयं उस कलाकार का-सा व्यवहार किया था।

वह चंगड़ मुहल्ले में रहता था और उसकी कुछ कहानियाँ उसके दैनिक पत्र में छपी थीं। तभी एक दिन प्रातः एक युवक उससे मिलने आया। चेतन उस समय कमरे की सफ़ाई करके दातौन मुँह में दबाये मेज़ के काग़ज़ ठीक कर रहा था। जब उसे पता चला कि आगंतुक उनके समाचार-पत्र का प्रतिनिधि है, उसे कविता और कहानी लिखने का शौक़ है और चेतन की नयी कहानी उसने पढ़ी है जो उसे बहुत अच्छी लगी है तो चेतन ने अपनी पुरानी कहानियों का उल्लेख किया। वह अपनी फ़ाइल उठा लाया, दातौन उसने एक ओर रख दी और एक कहानी सुनाने लगा। इसके बाद बिना अपने सुनने वाले के भावों को जाने, वह एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी कहानी सुनाता गया था। जब उसकी सब लिखी हुई कहानियाँ खतम हो गयीं तो दो बजे थे और बेचारे पत्र-प्रतिनिधि के ओठों पर भूख-प्यास के कारण पपड़ियाँ जम गयी थीं। उस प्रतिनिधि की आकृति चेतन की आँखों में घूम गयी और उसके आँसू एक हल्की-सी मुस्कान में बदल गये। फिर वह ज़रा हँसा और फिर उस सड़क पर खड़े-खड़े उसने अपनी और उस कलाकार दोनों की मूर्खता पर और भी ज़ोर से ठहाका लगाया और सितार को उसी प्रकार बग़ल में लिये हुए चल पड़ा।

जब वह घर पहुँचा तो रात बहुत बीत चुकी थी। वह इतना थक गया था कि वहीं सीढ़ियों पर बैठ गया। चारों ओर शांति थी। चेतन ने चाहा किवाड़ खटखटाये, किंतु उसे साहस न हुआ। कल्पना-ही-कल्पना में बीबी जी के मस्तक के तेवर उसकी आँखों के सामने घूम गये। वह कई बार उठा और कई बार बैठा, पर उसे किवाड़ खटखटाने का हौसला न हुआ। फिर न जाने कब नींद उस पर ग़ालिब आ गयी और सीढ़ियों के कोने में, दरवाज़े और दीवार का सहारा लिये, टाँगों को सिकोड़कर ओवर-कोट में छिपाये वह सो गया।

६२

यद्यपि वह सारी रात बाहर शीत में पड़ा ठिठुरता रहा था, किंतु इससे उसके संगीत प्रेम में किसी प्रकार की कमी न आयी थी। कलाकारों को प्राय: ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, उसने मन में सोचा था और संगीत में निपुण होने का निश्चय उसके हृदय में दृढ़ से दृढ़तर हो गया था।

स्वर का यह जादू भी कैसा जादू है? लय और तान में बँधा हुआ, सुन्दर कंठ से निकला स्वर न जाने कैसा मन्त्र फूँक देता है कि आदमी तन्मय होकर सुध-बुध बिसराकर, मन्त्र-मुग्ध-सा हो जाता है। चेतन चाहता था, उसके स्वर में भी ऐसी ही मोहिनी उत्पन्न हो जाय और वह भी अपने स्वर की सरसता से श्रोताओं को मुग्ध कर सके। कैसा होगा वह दिन जब वह तन्मय होकर गायेगा और श्रोता उस स्वर के सम्मोहन से विमुग्ध सुनेंगे। उस दिन को निकट लाने के लिए वह कटिबद्ध हो गया।

उसकी इस सनक में सहयोग देने और उसके उत्साह को दुगना करने के लिए एक साथी भी उसे मिल गया—दुर्गादास।

एक दिन चेतन इतना उदास और विक्षुब्ध था कि कमरे में बैठना उसके लिए दुष्कर हो रहा था। बात कुछ भी न थी। सुबह दुकान को जाते समय कविराज ने चेतन से कहा था कि वह बाहर सीढ़ियों पर बैठकर काम न किया करे। बीवी जी को बाहर आने-जाने में असुविधा होती है और फिर सामने कोने की फ़्लैट में रहने वाले हिन्दुस्तानी बाबू साहब को भी कुछ आपत्ति है।

चेतन के कमरे की सीढ़ियों पर इतना स्थान था कि एक चारपाई बड़ी सुगमता से वहाँ बिछायी जा सकती थी। कमरे में अपेक्षाकृत अँधेरा होने के कारण वह बाहर आ बैठा करता था। उसके वहाँ बैठने से बीवी जी को असुविधा हो या न हो, पर उन बाबू साहब को अवश्य थी। उनकी एक बहन थी। चेतन से तीन-चार वर्ष बड़ी ही होगी। विवाहिता भी थी। शायद मेरठ अथवा मथुरा में उसका पति क्लर्क था। गर्मियों में अपने भाई के पास शिमले चली आयी थी। मुख पर हल्के-हल्के शीतला के दाग़ थे, पर इससे उसके सौन्दर्य में कुछ अधिक अंतर न पड़ा था। उसकी आँखों में चंचलता और ओठों पर मुस्कान की एक अस्पष्ट-सी लकीर सदैव बनी रहती थी। यद्यपि उसने स्वयं कभी कुछ न कहा था, चेतन ने उसे कभी कुछ बोलते भी न सुना था, किंतु चांचल्य और स्मिति की उन क्षीण-सी रेखाओं से उसे पता चल गया था कि बाह्य सौम्यता के बावजूद उसके अन्तर में कहीं एक अतृप्त प्यास अवश्य विद्यमान है। अपने इस प्रवास-काल में चेतन उसका नाम भी जान न पाया था, किंतु जब भी वह बाहर आकर बैठता, वह अपने बारजे की रेलिंग के साथ आ खड़ी होती। चेतन जब अन्दर कमरे में खिड़की के आगे बैठा होता तो भी वह कभी-कभी उसे अपनी ओर देखते हुए पाता। वह क्षणिक-दृष्टि-विनिमय चेतन को अपने वातावरण की समस्त विरसता भुला देता। किसी सुन्दर युवती की स्निग्ध-दृष्टि उस फूल की सुवासित मुस्कान-सी है जो अनायास ही मन को हर लेती है और

जिसकी सुगन्धि आप-से-आप दर्शक की धमनियों में रक्त के प्रवाह की गति कुछ और तीव्र कर देती है। लेकिन फूल तो अब बाग़ों, वाटिकाओं में ऊँची-ऊँची प्राचीरों के अन्दर खिलते हैं, उन्हें तोड़ने की मनाही है, तोड़ना तो दूर रहा, कई जगह तो उन्हें देखने तक की मनाही है। चेतन जब कभी उसे देखता, उसके हृदय से समवेदना की एक उसाँस-सी निकल जाती—बेचारे फूल, इस बन्धन में वे क्या खिल पाते होंगे? खिलने से पहले ही कई तो मुरझा जाते होंगे? कविराज जी का संकेत शायद उन बाबू साहब की इसी बहन की ओर था, क्योंकि उन्होंने कहा था कि उन महाशय के घर मेहमान आये हुए हैं और उसके वहाँ बैठने के कारण उन्हें अन्दर बाहर आने-जाने में असुविधा होती है।

चेतन मन-ही-मन हँस दिया था, क्योंकि असुविधा मेहमान को न थी, बल्कि मेज़बान को थी। कविराज जी की निचली मंज़िल में एक ड्रगिस्ट का परिवार रहता था। उनकी एक लड़की थी—मँझले क़द और गदराये शरीर वाली। उसकी जवानी जैसे बढ़िया की तरह उमड़ उठी थी। वे बाबू महाशय उससे ताक-झाँक किया करते थे। उनके अपनी पत्नी थी जो सुन्दर भी थी। किंतु ऊँची प्राचीरों में बन्द, स्वच्छ जल-वायु के अभाव में, फूल मुरझा गया था। चेतन ने उसके ओठों पर कभी मुस्कान न देखी थी। उसके मस्तक पर सदैव तेवर चढ़े रहते थे और उसके ओठों की सिकुड़न से एक विचित्र प्रकार का असन्तोष झलकता रहता था। जब उनकी पत्नी अन्दर काम में निमग्न होती, वे महाशय उस यौवन माती से ताक-झाँक किया करते थे। वे सुन्दर थे, हृष्ट-पुष्ट थे, उनकी वय भी अधिक न थी, और उनकी आँखों में उस कुटिल चातुर्य की झलक थी जो दफ़्तरों के षड्यन्त्रों में निरन्तर भाग लेने वाले क्लर्कों की आँखों में अनायास आ जाता है। चेतन ने कई बार उन्हें उस लड़की से इशारेबाज़ी करते देखा था और इस बात का उन्हें पता भी चल गया था।

अपनी बहन का बरामदे में आना उन्हें शायद उतना न अखरता था जितना चेतन का वहाँ बैठकर उनकी भाव-भंगियों को देखने का अवसर पाना। इसीलिए बहन का बहाना लेकर उन्होंने कविराज जी से शिकायत कर दी थी।

चेतन को अपनी हीनता का एक बार फिर आभास मिला। लेकिन इस बार उसके पाँव नहीं उखड़े। कविराज जी ने जब मीठे शब्दों में उससे अन्दर बैठने के लिए कहा और उसे दिन भर बत्ती जलाने की आज्ञा दे दी तो वह मन-ही-मन हँस दिया।

परिस्थितियों को उनके यथार्थ रूप में लेना उसने सीख लिया था। वह अन्दर उठ आया था और इस घटना को उस परिस्थिति में घटने वाली एक अति साधारण घटना समझकर उसने पूर्ववत् काम भी करना आरम्भ कर दिया था।

आरम्भ तो कर दिया था, लेकिन कोशिश करने पर भी वह उसे आगे न बढ़ा सका था। जब वह चारपाई उठाकर अन्दर ला रहा था तो क्षण भर को वे पड़ोसी महाशय बरामदे में आये थे और चेतन की निगाहें उनसे चार हुई थीं। उस कुटिल चातुर्य के साथ विजय के उल्लास की एक हल्की-सी रेखा उनकी आँखों से निकलकर चेतन को उनके ओठों पर फैलती हुई दिखायी दी थी। यही रेखा काम करते-करते अनजाने ही उसके सामने आ जाती। एक बेबस क्रोध से पीड़ित होकर वह मन-ही-मन घायल साँप की तरह बल खाने लगता। सिर को झटककर, उस आकृति को मस्तिष्क के पर्दे से हटाकर, वह काम बढ़ाने का प्रयास करता, पर घूम-फिरकर वही विजय के उल्लास से खिली पड़ती उनकी आकृति उसके सामने उभरने लगती—वही कुंचित, कुटिल, हास-व्यंग्य-युक्त आकृति! और एक तीव्र आक्रोश से भरकर वह चाहता कि उस प्रसन्न मुख पर तेज़ छुरे से ऐसी

गहरी लकीर खींच दे कि वह प्रसन्नता एक झुलसे हुए फूल की तरह मुरझाकर स्याह पड़ जाय। कल्पना-ही-कल्पना में चेतन के आक्रोश ने कई बार वह गहरा घाव वहाँ बनाया, पर वह आकृति रक्त-स्राव के कारण श्वेत और फिर काली पड़ने के बदले और भी प्रसन्न, और भी उत्फुल्ल बन-बन उसके सामने आयी।

तब सिर को एक ज़ोर का झटका दे और काग़ज़ कलम-दवात पटक-कर चेतन उठा, उसने किवाड़ लगाये और चल पड़ा। किधर जाय? वह निश्चय न कर सका। निरर्थक और निरुद्देश्य माल पर घूमने को उसका मन न हुआ। वह चुपचाप कमेटी के नल के निकट, नीचे को जाने वाले मार्ग के जँगले पर जा खड़ा हुआ। कितनी देर तक वहीं कुहनी टिकाये अन्यमनस्क खड़ा रहा। नीचे घाटी में चीड़ के वृक्षों को अनिमेष तकता रहा। ऊपर से आने वाला नाला सूखा पड़ा था। उसे देखकर सहसा उसे विचार आया कि नीचे, कहीं बहुत नीचे, उपत्यका में जहाँ पहाड़ों से रिस-रिस आने वाली पानी की धाराएँ मिलकर कल-कल बहती सरि का रूप धर लेती होंगी, वह ज़रूर बह रहा होगा। 'तो क्यों न आज वह नीचे खड्ड में जाय,' उसने सोचा, कुछ क्षण के लिए नीचे द्रोणी की गोद में लेटे किसी एकाकी झरने के किनारे किसी पत्थर या चट्टान पर जा बैठे; प्रकृति के विशाल सुख भरे अंक में क्षण भर के लिए अपने-आपको विसर्जित कर दे; पत्तों की 'मर-मर' और पानी की 'कल-कल' अपने संगीत से उसके मन का समस्त कलुष, सारा क्रोध, सब आक्रोश हर दे; उसके दुख को, हीन-भाव को मिटा दे; एक स्वप्निल तन्द्रा, एक तन्द्रिल व्यामोह, शीतल ठंडे लेप सरीखा उसके शरीर को परिलुप्त कर, उसके समस्त घावों को भर दे!..... और वह नीचे की ओर चल पड़ा।

इतने दिन उसे यहाँ आये हो गये थे, लेकिन वह कभी नीचे की ओर न उतरा था। उसे उधर जाने का कभी ध्यान न आया था। उत्साह से भरे

उसके पग जब भी उठे थे, ऊपर ही की ओर उठे थे। नीचे की ओर भी कुछ है, उसने कभी न जाना था। चलते-चलते चेतन को मालूम हुआ कि रुल्दू भट्टा उतना ही नहीं जितना वह समझता था। आठ-दस मकान और उनसे घिरा हुआ एक चौक—उस स्थान की कुल परिधि को वह इतने तक ही सीमित समझता था। लेकिन उस निचले मार्ग पर चलते हुए उसने देखा—मकानों की दो पंक्तियाँ उस मार्ग के दोनों ओर भी बनी हुई हैं। दायीं ओर की पंक्ति कुछ ऊपर को है और बायीं ओर की कुछ नीचे को। चेतन अपन ध्यान में मग्न चला जा रहा था कि उसे एक बड़ा मँडुवा दिखायी दिया—बिलकुल ऐसा ही जैसा पुराने ज़माने में सफ़री थियेटरों के लिए बनाया जाता था। अंतर केवल इतना था कि यह पक्का था। उस मँडुवे के परे मकानों की पंक्तियाँ खतम हो गयी थीं और मार्ग नीचे खड्ड को उतर जाता था। मँडुवे को देखकर चेतन को बड़ा कुतूहल हुआ और नीचे की ओर जाने के बदले वह उसके अन्दर चला गया। उसने देखा कि नीचे एक बहुत बड़ा हाल है और वह उसकी बालकनी में खड़ा है।

उस हाल का नाम (जैसा कि चेतन को बाद में मालूम हुआ) 'विश्वकर्मा हाल' था। उसके बनाने वाले अपने-आपको देवराज इन्द्र के उस प्रवीण शिल्पी के वंशज बताते थे, जिसने भक्त सुदामा के घर पहुँचने से पहले भगवान् कृष्ण की इच्छानुसार उसके झोंपड़े की जगह एक अपूर्व भव्य प्रासाद निर्मित कर दिया था। यह और बात है कि विश्वकर्मा के ये वंशज इस कलि काल में निरे बढ़ई होकर रह गये थे। किंतु फ़ार्सी भाषा में किसी ने कहा है 'हर कमाले रा ज़वाले' शायद इस लोकोक्ति का उल्टा भी सत्य है। अवनति के बाद उन्नति भी निश्चित है। १९१४ के महायुद्ध में जब बढ़इयों में से कुछेक को सरकारी ठेके मिल गये और उन्होंने राशि-राशि धन संचित किया और धन के साथ-साथ उनकी जाति-चेतना भी बढ़ी तो वे विश्वकर्मा के वंशज बन गये। अपनी जाति को संगठित करके उन्होंने एक समाज की नींव रख दी! फिर उस समाज के मिल बैठने के लिए एक भवन का भी निर्माण हो गया।

हाल में जाने का मार्ग नीचे से था। ऊपर का मार्ग तो एक छोटी-सी

बालकनी में खुलता था जो चारों ओर बनी हुई थी। इसी ऊपर के मार्ग से होकर चेतन बालकनी में पहुँचा था। यह मार्ग साधारणत: महिलाओं के लिए था जो वार्षिक अधिवेशन पर बालकनी में बैठकर तमाशा देखती थीं। लेकिन वह तमाशा तो साल में एक बार होता था, इसलिए बालकनी ख़ाली पड़ी थी, उसमें एक ओर को दो टूटी चारपाइयाँ खड़ी थीं और कुछ लकड़ी का टूटा-फूटा फ़र्नीचर पड़ा था। इस बालकनो के साथ दक्खिन की ओर दो कमरे बने हुए थे। उत्सुकता चेतन को वहाँ ले गयी। एक कमरे में केवल एक साफ़ा बाँधे, नंगे शरीर एक महाशय चूल्हे में फूंकें मार रहे थे। चेतन के पाँवों की चाप सुनकर उन्होंने सिर उठाया—मँझला क़द, छरहरा शरीर, गोरा रंग, पीठ और वक्ष पर हल्के-हल्के बाल, उम्र शायद कम, लेकिन देखने पर बत्तीस-पैंतीस की, कल्ले धँसे, चुँधी आँखों के गिर्द गढ़े और उन पर चश्मा—चेतन को देखकर नमस्कार के रूप में ज़रा से हँसते हुए वे उसके पास आये तो चेतन ने देखा कि उनके मुख पर अभी से झुर्रियाँ पड़ने लगी हैं और इस हँसी में एक विचित्र प्रकार का नम्र-भाव है।

"बैठिए, बैठिए!" उन महाशय ने चारपाई की ओर संकेत करते हुए कहा।

चेतन वहाँ बैठ गया और फिर दो घंटे तक बैठा रहा। जब वह उन महाशय के खाना पकाने, नहाने, खाने, गाना सुनने-सुनाने, कपड़े पहनने, किवाड़ वन्द करके दफ़्तर चलने तक साथ-साथ बातें करने के बाद कमेटी के नल पर उनका साथ छोड़कर घर आया तो वह अपना प्रातः का अपमान और उसके फल-स्वरूप प्रकृति के अंक में जा सोने की बात सर्वथा भूल चुका था। एक नये उत्साह, एक नयी स्फूर्ति से उसके पाँव जैसे धरती पर न पड़ रहे थे।

इन्हीं महाशय का नाम दुर्गादास था।

———————

६३

दुर्गादास जन्म से बढ़ई थे, किंतु अपने जन्मजात कर्म को छोड़कर, मैट्रिक पास करके, वे शिमले के बड़े डाकखाने में क्लर्क हो गये थे। चूँकि वे अपने साथियों से अधिक पढ़े-लिखे थे, इसलिए उस सभा के अवैतनिक उप-मन्त्री भी बन गये थे और सभा ने उनके रहने के लिए बालकनी के साथ बने हुए दो कमरे दे रखे थे।

वे अपना खाना स्वयं पकाते थे और विचारों से आर्य-समाजी होने के कारण प्रातः-सायं संध्या-वन्दन भी करते थे। चेतन को उनसे यह भी ज्ञात हुआ कि उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका है, उन्हें उससे बहुत प्यार था और उसकी ख़ातिर उन्होंने अपना आध सेर रक्त दिया था।

अपनी वयस से जो वे कुछ अधिक लगते थे तो उसका कारण दूसरी बातों के अतिरिक्त उनकी वेश-भूषा भी थी। सिर पर पगड़ी, गले में गबरून की कमीज और कोट और टाँगों में उटुंग पायजामा। यह लिबास उनकी आँखों और कल्लों के गढ़ों और उनके गालों पर पड़ने वाली झुर्रियों के साथ मिलकर उनकी वयस को बढ़ा देता था। जब भी उनके स्वास्थ्य की चर्चा

चलती, वे अपनी पत्नी के मर्मान्तिक रोग और उसके हेतु किय गये अपने रक्तदान का सविस्तार बखान करते। उस ज़माने में अस्पतालों में ब्लड-बैंक नहीं थे। जब डाक्टर ने कहा कि उनकी पत्नी के शरीर में रक्त बेहद कम हो गया है। यदि कोई रक्त देने को तैयार हो जाय तो उसकी जान बच सकती है तो उन्होंने झट अपने-आपको पेश कर दिया। हर बार जब वे अपने उस त्याग का उल्लख करते तो रक्त की मात्रा को कुछ-न-कुछ बढ़ा देते। उनके स्वर में अपने-आपको सन्तोष देने का कुछ ऐसा प्रयास था कि चेतन को कभी-कभी लगता, मानो उन्हें अपने इस त्याग पर पश्चात्ताप है और मानो बार-बार उसका बखान वे अपने-आपको उस त्याग की महिमा जताने के लिए ही करते हैं। चेतन को लगता था जैसे उनके अन्तर में सदैव कोई कहता रहता है—"तुम मूर्ख हो, निरे गधे! भला एक मरने वाली नारी के लिए कोई यों प्राण देता है?" और जैसे उस आवाज़ को झुठलाने के लिए वे सदा दुगने उत्साह से इस घटना का बखान करते हुए अपने त्याग की महिमा को सिद्ध करते थे।

जब भी चेतन उनके त्याग का यह बखान सुनता, उसे एक बुड्ढे मियाँ की याद आ जाती—

एक बार वह बड़े डाकखाने में टिकट लेने गया। भीड़ अधिक थी। टिकट देने वाला युवक कुछ खोया-खोया-सा काम कर रहा था। न जाने उसके घर में कोई मृत्यु हो गयी थी अथवा किसी युवती ने उसके अकुंचित, छल-रहित प्रेम को ठुकरा दिया था या फिर कोई दूसरी बात थी—कुछ भी हो उसका ध्यान अपने काम में न था। खोया-खोया-सा वह दाम ले लेता और टिकट आदि खिड़की से बढ़ा देता। उन मियाँ जी को उसने बारह आने के टिकट ज़्यादा दे दिये थे। मियाँ जी ने जब उन्हें गिना तो निमिष भर के लिए उनके मन में द्वन्द्व हुआ—बारह आने! वे ग़रीब थे और बारह आने उनके लिए कम महत्व न रखते थे। हो सकता है यदि वे कुछ

अधिक सोचते तो बारह आने रख ही लेते, लेकिन उन्होंने सोचा नहीं और उस बाबू से पूछा कि उसने हिसाब ठीक कर लिया है कि नहीं। जब उसने अन्यमनस्कता से 'हाँ' कहा तो वे हँसे और उन्होंने फिर एक बार (सब को सुनाकर) उससे हिसाब जोड़ने को कहा। उनका स्वर जैसे कह रहा था—'मियाँ साहबज़ादे, इस बेपरवाही से काम करोगे तो कै दिन चलेगा? कुछ मन लगाकर काम किया करो, नहीं नौकरी से हाथ धो बैठोगे या सारा वेतन घाटे में भर दोगे!' पर जब इस पर भी उस युवक ने उनकी ओर ध्यान न दिया तो कुछ खिन्नता और कुछ क्रोध से हँसते हुए उन्होंने उसे बताया कि बारह आने के टिकट बाबू साहब तुमने ज़्यादह दे दिये हैं। इस पर जब उस युवक ने अनमनी-सी मुस्कान के साथ ओठों ही में उन्हें धन्यवाद देकर टिकट वापस ले लिये तो उन मियाँ जी को लगा कि उन्होंने बेकार ही उस एहसान-फ़रामोश को बारह आने के टिकट लौटाये। बारह आने से उनकी एक दिन की रोटी चल जाती। लेकिन फिर शायद उन्होंने अपने-आपको समझाया कि उनका मज़हब तो दयानतदारी है, कोई शुक्रगुज़ार हो या न हो। और वे बाक़ी लोगों को सुनाकर अपनी ईमानदारी का बखान करने लगे कि बेईमानी की सारी से ईमानदारी की आधी भली। इस तरह बददयानती से क्या बरकत होती है? बरकत तो उसी में है, जो मौला देता है! आदि-आदि......।

नेकी कर और दरिया में डाल—जिसने भी मानवों को यह परामर्श दिया उसे मानव मन का ज्ञान शायद लेश-मात्र भी नहीं था। मानव अपने किये का प्रतिकार चाहता है, पुरस्कार चाहता है। यह प्रतिकार वैसे ही किसी काम के रूप में हो अथवा कृतज्ञता के दो मधुर शब्दों के रूप में, यह प्रतिकार ही उसके कृतित्व को स्फूर्ति प्रदान करता है। जहाँ नेकी करके दरिया में डाली जाती है, या जहाँ बदला नहीं मिलता, वहाँ धीरे-धीरे वह लुप्त हो जाती है, या फिर नेकी करने वाले जीवन भर अपने मन को, अपने

मित्रों को, उसकी महत्ता बताते रहते हैं और इस प्रकार स्वयं ही उस अभाव की पूर्ति कर लेते हैं। अपनी पत्नी के लिए दुर्गादास ने जो रक्त दिया था, उसके लिए कृतज्ञ होने वाली इस संसार में रही ही नहीं थी और शायद इसीलिए उस कृतज्ञता की भूख भी उनमें प्रवल थी।

पत्नी के देहावसान के बाद दुर्गादास ने अभी तक दूसरा विवाह न किया था। जिस दिन चेतन पहले-पहल उनसे मिला, उसे मालूम हुआ था कि विवाह की ओर से वे वीतराग से हो गये हैं। उन्हें इच्छा ही नहीं होती। लेकिन धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों चेतन की घनिष्ठता उनसे बढ़ती गयी, उसे लगा कि प्रकट विवाह के प्रति वे जितनी उदासीनता दिखाते हैं, परोक्ष में वे उसके लिए उतने ही लालायित हैं। जब भी उनकी बिरादरी के लोग आते तो किसी-न-किसी तरह अपनी स्वर्गीया पत्नी की बात चलाकर उस समस्त सेवा तथा त्याग का वर्णन वे बड़े उत्साह से करते ताकि लड़की वालों को आभास मिल जाय कि उनकी लड़कियों के लिए उनसे अच्छा वर मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। अपनी पत्नी की इतनी सेवा, उसके लिए इतना त्याग कोई विरला ही कर सकता है! लेकिन न जाने उनकी आकृति में, उनके पहनावे में, उनके समस्त व्यवहार में क्या बात थी कि लड़कियों वाले मतलब की बात पर मौन साध जाते। वे सहर्ष उनका आतिथ्य ग्रहण कर लेते, उनसे उनकी जमा-पूँजी उधार लेने में भी संकोच न करते; उनके घर ठहरकर उनके हाथों पकायी हुई खीर, दलिया, खिचड़ी या पराँठे स्वाद ले-लेकर खाते, लेकिन जब मतलब की बात आती तो ऐसे उड़ा जाते मानो जिस लड़की की ओर दुर्गादास संकेत करते, वह उनकी नहीं किसी दूसरे की रिश्तेदार हो।

और दुर्गादास अभी विधुर बने हुए थे। उनकी स्वर्गीया पत्नी के

गुणों में दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो रही थी और उसके लिए उन्होंने जो रक्त दिया था उसकी मात्रा भी उत्तरोत्तर बढ़ रही थी।

अपने एकान्त का समय दुर्गादास रोटी पकाने अथवा बाजा बजाने में बिताते थे। आठ वर्ष पहले उनके विवाह पर एक साधारण-सा हारमोनियम बाजा भी दहेज़ में आया था। एक दो आर्य-समाजी गीत उनकी पत्नी जानती थी, वही उससे उन्होंने सीख लिये थे। जब उनका मन उदास होता तो वे चारपाई के नीचे से हारमोनियम निकालकर गाया करते।

तुम हो प्रभु चाँद मैं हूँ चकोरा

या

प्रभु प्रीतम जिसने बिसारा

गाते-गाते वे तन्मय हो जाते। भूल जाते कि उनका स्वर बाजे के स्वर से मिलता है या नहीं। वे आँखें बन्द किये, तन्मय होकर झूमते हुए, भक्ति भाव से गाते। उन्होंने भजन पुष्पांजलि से स्वयं भी कुछ गीत सीखे थे, यद्यपि पत्नी से सीखे हुए ये दो गीत उनको अत्यन्त प्रिय थे। जब चेतन से उन्होंने सुना कि वह प्रो० सिंह के कॉलेज में गाना सीखता है तो उन्होंने उसे अपने सारे गीत सुनाये—

दयानन्द के आवाहन का गीत—

वेदां वालिया ऋषिया ओ तेरे आवन दी लोड़ !

महाराणा प्रताप के त्याग का गीत—

आया जब अकबर का क़ासिद वक्त था वह शाम का !

मांसाहार के निषेध का गीत—

है भला तेरा इसी में माँस खाना छोड़ दे

ये सब और ऐसे ही और एक दो गाने सुनाकर उन्होंने चेतन से भी कुछ सुनाने को कहा।

"मैं तो पक्के गाने ही पसन्द करता हूँ," उन आर्य-समाजी भजनों पर नाक-भौं चढ़ाते हुए चेतन ने कहा, बड़ी शान से बाजा अपने सामने खींचा और यह कहकर कि अब दस बजे हैं इसलिए वह भैरव के बोल ही सुनायेगा, उसने—

स ध, प ध, मप, गम, गा रे गम, ग रे स स

बजाया और जब दुर्गादास ने पूछा कि भाई गीत के बोल भी सुनाओ तो एक वेत्ता की सी मुस्कान के साथ 'प्रसिद्ध गाना है' की भूमिका देते हुए चेतन ने गाया—

जागियो गोपाल लाल, जागियो गोपाल लाल !

चेतन को तान और पलटों का अभ्यास न था, लय और ताल का भी उतना ज्ञान न था, इसलिए उसने एक दो बार अस्थायी और अन्तरा और बीच में केवल सरगम गाकर बाजा रख दिया, लेकिन इतने ही से दुर्गादास पर उसका रौब जम गया और वहीं यह तय हो गया कि चेतन प्रो० सिंह से जो सीखेगा, उसका अभ्यास दुर्गादास के यहाँ आकर करेगा। दुर्गादास ने यह प्रस्ताव भी किया कि वह चाहे तो काम भी वहीं किया करे—एकान्त जगह है, शोर-गुल किसी तरह का है नहीं और दूनी एकाग्रता से काम हो सकता है। और चेतन ने यह प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया।

धीरे-धीरे दुर्गादास ने भी वे सब रागिनियाँ सीख लीं जो चेतन को आती थीं और सुबह शाम दोनों तन्मय होकर उन्हें गाने लगे। पहले वे अकेले-अकेले गाया करते। एक दिन भैरवी की एक रागिनी उन्होंने मिलकर जो गायी तो दोनों चौंक पड़े, अपना सम्मिलित स्वर उन्हें बड़ा मधुर लगा। इसके बाद वे प्रायः इकट्ठे ही गाने लगे।

मोरी बैय्याँ पकर झकझोरी
श्याम ! तू तो निपट अनारी
मानत नहीं मोरी

भैरवी की यह रागिनी उन्हें बड़ी प्रिय थी और वे प्रायः इसे गाया करते थे। ज्ञेय काव्य के रचयिताओं ने गोकुल के उस अमर ग्वाले के नाम पर न जाने कितनी तृष्णा, अतृप्ति, वासना, प्रेम इन अगणित छोटे-छोटे गीतों में समो दिया है कि गाने वाला या कान्ह बन जाता है या राधा और अपने यथार्थ, कटु वातावरण को भूलकर उस काल्पनिक आनन्द भरे वातावरण में साँस लेने लगता है। चेतन और दुर्गादास भी इस गीत को गाते हुए अपनी समस्त विषमताओं और कटुताओं को भूल जाते। प्रत्यूष वेला के उस शांत स्निग्ध वातावरण में इस सुकोमल रागिनी को गाते हुए तन्मय होकर वे व्यामोहावस्था को पहुँच जाते।

श्याम ! तू तो निपट अनारी

इस पंक्ति को बार-बार गाते हुए चेतन को लगता जैसे वृन्दावन की किसी सँकरी वीथी में उसने किसी गोरी की दोनों बाहें बरबस पकड़कर झकझोर दी हैं और वह उसके इस अनाड़ीपन पर उसे निहोरा दे रही है—

श्याम ! तू तो निपट अनारी

संध्या को वह कभी-कभी दुर्गादास को म्युज़िक कॉलेज ले जाता। दोनों वहाँ प्रो० सिंह का गाना सुनते, कोई छोटी-मोटी रागिनी सीखते, पर अभ्यास दोनों घर पर ही करते।

उन्हीं दिनों आर्य-समाज का वार्षिक अधिवेशन आ गया और उसके उपलक्ष में संगीत-सम्मेलन के आयोजन की भी घोषणा की गयी। म्युज़िक कॉलेज में चेतन को पता चल गया कि प्रो० सिंह अपने छात्रों को लेकर इस अवसर पर अवश्य जायँगे और उसने मन-ही-मन निश्चय भी कर लिया कि वह इस अवसर पर गाने का सुयोग अवश्य प्राप्त करेगा।

अकेले गाने का साहस अभी चेतन में नहीं था, इसलिए उसने सोचा कि वह और दुर्गादास इकट्ठे गायेंगे। अधिवेशन पर कवि-सम्मेलन भी हो रहा था और यद्यपि चेतन ने उसके लिये भी कविता लिखी थी—शिमले

आने से पहले वह कई कवि-सम्मेलनों में भाग ले चुका था, पर किसी संगीत-सम्मेलन में उसने आज तक भाग न लिया था। इसलिए इस अवसर पर एक संगीतज्ञ के रूप में प्रकट होने की प्रबल लालसा उसके मन में थी। घर पहुँचते ही उसने यह समाचार दुर्गादास को सुनाया, अपने निश्चय की बात भी बतायी और यह भी कहा कि हम दोनों इकट्ठे गायेंगे। सुन-कर दुर्गादास की गढ़ों में धँसी हुई आँखें एक अपूर्व ज्योति से जगमगा उठीं। उसी दिन से दोनों मित्र इकट्ठे मिलकर अपने प्रिय गीतों के अभ्यास में संलग्न हो गये।

कवि-सम्मेलन हो या संगीत-सम्मेलन—इनका महत्व आज के समाज में वही रह गया है जो रूखी-फीकी दाल के साथ अचार अथवा चटनी का। कोई वार्षिकोत्सव हो—धार्मिक अथवा सामाजिक, उसके साथ संगीत अथवा कवि-सम्मेलन का आयोजन अवश्य किया जायगा। आर्य-समाज को तो (उसके मतानुयाइयों के कथनानुसार) इसका विशेष अधिकार प्राप्त है। कविता और संगीत वैदिक काल की विभूतियाँ हैं, आर्य-समाजी इस बीसवीं शताब्दी में उस वैदिक काल को प्रस्तुत करने के स्वप्न देख रहे हैं। तब यदि वे वैदिक काल की इन दो कलाओं पर अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं तो कुछ बुरा नहीं करते। यह और बात है कि अगनित शताब्दियों के अंतर ने इन क़लाओं के स्वरूप में महान् परिवर्तन कर दिया। वैदिक काल की भाषा आज की भाषा नहीं रही और इन कलाओं पर आर्य-समाजियों की पकड़ नहीं के बराबर है; इससे भी गरज़ नहीं कि उनकी जटिल सामाजिक पद्धति में इन ललित-कलाओं का अधिक स्थान नहीं, लेकिन जिस तरह वे मोटरों, गाड़ियों, सिनेमा, थियेटरों की इस दुनिया में गुरुकुल स्थापित करके प्राचीन ब्रह्मचारी तैयार करने के प्रयत्न में संलग्न हैं, उसी प्रकार अपनी सामाजिक पद्धति में इन दोनों कलाओं

के लिए कोई स्थान न रह जाने पर भी, इनके पुनरुद्धार का बीड़ा उठाये हुए हैं।

संगीत-सम्मेलन से पहली रात कवि-सम्मेलन के लिए नियत थी। प्रधान थे कविराज रामदास। चेतन ने उन्हें बीस वर्ष पुराने गीत गाते तो सुना था पर कविता से उन्हें कुछ दिलचस्पी है, यह बात उसके लिए नयी थी। किंतु वे कविराज थे—कवियों के राजा—और इसीलिए शायद उन्होंने अपने-आपको अथवा आयोजकों ने उन्हें इस पद के योग्य समझा था। चेतन समझ न पाता था कि वैद्यों को कविराज की उपाधि क्यों प्रदान की जाती है? लेकिन शायद कविराज के प्रधान बनने में उनकी इस कविराज की डिग्री के बदले उस चन्दे का अधिक हाथ था जो वे आर्य-समाज को दान देते थे।

नियत समय पर अधिवेशन आरम्भ हुआ। चेतन ने एक बार कोट के अन्दर की जेब में टटोलकर देख लिया कि उसकी कविता वहाँ सुरक्षित पड़ी है—न घर भूली है, न कहीं गिरी है—और यों आश्वस्त होकर मन-ही-मन उसने एक दो बार उसकी आवृत्ति भी कर ली। तभी मन्त्री के प्रस्ताव पर कविराज सभापति की कुर्सी पर जा बैठे और उन्होंने पहले कवि का नाम पुकारा, "बंसीलाल मतवाला!"

एक फक्कड़-सा युवक स्टेज पर आ खड़ा हुआ। एक अत्यन्त असंगत-सा भाषण उसने भारत की दुर्दशा पर दिया, जिसमें लड़कियों की आज़ादी से लेकर लड़कों के लड़कियाँ बनने तक पर घोर शोक प्रकट किया और इस दुर्दशा से भारत को उबारने के लिए भगवान कृष्ण को अपना प्रण—यदा यदा हि धर्मस्य......याद दिलाते हुए बड़ी सुरीली ऊँची आवाज़ में कविता पढ़नी आरम्भ की :

आज लो भगवान फिर अवतार!

किंतु अभी उसने पहली पंक्ति ही पढ़ी थी कि रुद्र-रूप धारण किये

एक युवक स्टेज पर चढ़ आया। (चेतन को बाद में पता चला कि वे महाशय लाहौर आर्य-समाज के युवक उप-मन्त्री, दयानन्द वैदिक कॉलेज के ग्रेजुएट और किसी आर्य ग़ज़ट के यशस्वी सम्पादक थे।) आवेश में, बिना प्रधान की आज्ञा लिये, वे गरजे कि आर्य-समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध वे किसी कविता को सहन न करेंगे। कृष्ण को भगवान कहना और उन्हें अवतार मानना आर्य-समाज के सिद्धान्तों की घोर अवमानना है।

कवि भी थे 'मतवाला'। शायद कुछ पिये हुए भी थे। उन्होंने आर्य-समाजियों की असहिष्णुता पर आक्रोश प्रकट किया और कहा कि सच्चे कलाकारों का कोई धर्म नहीं। वे तो मानव-धर्म में विश्वास रखते हैं और अन्त में ललकारा कि जो सच्चा कलाकार होगा उस मंच से कविता न पढ़ेगा।

इस पर वह कोलाहल मचा कि कविराज जी की 'बैठिए' 'बैठिए' नक्क़ार-खाने में तूती की आवाज़ बनकर रह गयी। एक ओर आर्य-समाजी उठ खड़े हुए, गरजे कि चाहे कवि-सम्मेलन हो या न हो, वे इस तरह की कविता कदापि न होने देंगे; दूसरी ओर कविगण अड़ गये कि यदि 'मतवाला जी' को न पढ़ने दिया गया तो वे भी न पढ़ेंगे।

कवि कुछ पुरस्कार पाकर तो आये न थे। सम्पन्न लोग धर्म यज्ञों में चंदा देते हैं। कवियों का धन था उनकी कविताएँ, उन्हीं को आहुति-स्वरूप इस धर्म-यज्ञ में डालने वे चले आये थे। जब यज्ञ के पुरोहितों को वह आहुति स्वीकार नहीं तो फिर उनका दोष कैसा? और फिर उस कवि की ललकार के बाद उस मंच पर कविता पढ़कर झूठा कलाकार बनना किसे पसन्द होता? हाल में दो पार्टियाँ बन गयीं। सभी अपने-अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए उतावले हो उठे। एक तीसरी पार्टी भी थी जिसे कविताओं की अपेक्षा यह कौतुक कहीं अधिक पसन्द था और उसका यह प्रयास था कि किसी तरह समझौता न हो पाय।

अन्त को इसी तीसरी पार्टी की जीत हुई और रात के साढ़े बारह बजे कविराज जी को सभा विसर्जित करनी पड़ी।

सभा के इस प्रकार विसर्जित होने का दुख जितना कविराज जी को था, चेतन को उससे कम न था। वह अपनी एक कविता बड़े यत्न से सुन्दर अक्षरों में मोटे से काग़ज़ पर लिखकर और कमरे के एकान्त में भाव-भंगियों सहित रिहर्सल करके ले गया था। उसकी वह कविता उसकी जेब ही में पड़ी थी और श्रोताओं पर अपनी कवित्व-शक्ति का प्रभाव डालने की लालसा भी उसके मन-ही-मन में दबी रह गयी थी।

आधी रात के सन्नाटे में जब कविराज और वह घर को लौटे तो मार्ग में कोई भी एक दूसरे से न बोला। मौन-रूप से अपनी-अपनी असफलता पर विचार करते हुए दोनों चलते गये। चेतन को केवल एक सन्तोष था कि यद्यपि वह आज जनता पर अपना सिक्का नहीं जमा सका, पर कल संगीत-सम्मेलन के अवसर पर अवश्य जमायेगा। इसी आश्वासन से भरकर उसने एक दया भरी दृष्टि कविराज जी पर डाली जो सर झुकाये अपने ध्यान में मग्न चले जा रहे थे।

दूसरी रात संगीत समारोह हुआ।

यद्यपि इस समारोह में कोई बहुत बड़े संगीतज्ञ न आये थे, पर भीड़ काफ़ी थी, क्योंकि विज्ञापन में कई लड़कियों के नाम भी थे, निम्न-मध्य-वर्गीय घरानों की लड़कियों को, जिन्हें वर-प्राप्ति के लिए गाने की शिक्षा लेनी पड़ती है, अपनी कला के प्रदर्शन का सुअवसर इन धार्मिक सम्मेलनों के अतिरिक्त कहीं और नहीं मिलता। इस वर्ग के बेकार युवकों को बिना टिकट अपनी अतृप्ति मिटाने का सुअवसर भी ये संगीत-सम्मेलन ही उपस्थित करते हैं। आम के आम गुठलियों के दाम—धर्म का काम भी हो गया और

आँखों और कानों की भूख भी मिट गयी ! बेकार समय का इससे अधिक अच्छा उपयोग और क्या हो सकता है। इसीलिए समाज के साधारण अधिवेशनों से कहीं अधिक भीड़ संगीत-सम्मेलन में थी।

रात चेतन देर से सोया था, पर प्रातःकाल ही उठकर वह दुर्गादास के यहाँ पहुँचा और निरन्तर कई घंटे तक दोनों इकट्ठे मिलकर गाने का अभ्यास करते रहे थे। दुर्गादास को आते समय संकोच हो रहा था, लेकिन चेतन उन्हें अपने संग घसीट लाया था।

सब से पहले कुछ लड़कियों ने 'वन्दना' गायी। इसके बाद प्रोग्राम आरम्भ हुआ। किंतु किसने क्या गाया, चेतन ने कुछ नहीं सुना। मौन रूप से अपने गानों की रिहर्सल करने के साथ-साथ वह इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि कब प्रो० सिंह और उनके छात्रों की बारी आती है और कब वह उनसे कुछ क्षण अपने और दुर्गादास के लिए ले पाता है।

जब आर्य-समाजी भजनीक (जो अपने गाने के साथ भाषण की पुट भी देते रहे) और लड़कियाँ (जिनकी प्रशंसा उनके सौन्दर्य और कंठ की मधुरता के परिमाण से कम या अधिक हुई) और दूसरे गवैये गा चुके तो प्रो० सिंह और उनके साथियों की बारी आयी। पहले उनके शिष्यों ने अपनी-अपनी कला के जौहर दिखाये । फिर प्रो० साहब ने स्वयं बाजा खींचा। तभी चेतन ने प्रार्थना की कि उसे और दुर्गादास को गाने का अवसर दिया जाय। "तुम अभी सभा में गाने योग्य नहीं हुए!" इतना कहकर प्रो० सिंह स्वयं गाने लगे। वे बहुत अच्छा गाये। उन्हें कई चीज़ें गानी पड़ीं। वही उनके गले का जादू जिसने चेतन को गली की सीढ़ियों पर जाते-जाते बाँध लिया था, सारे-के-सारे श्रोताओं को बाँधे हुए था। सीधे-साधे गाने, कम तान पलटे, सुन्दर गला और शुद्ध उच्चारण! और एक गाने के खतम होते ही लोग दूसरे की फ़रमाइश करते। कई गीत गाने के बाद प्रोफ़ेसर साहब थक गये, लेकिन समय अभी बहुत न हुआ था। आयोजक चाहते

थे कि वे और कुछ देर तक गायें। तभी चेतन ने एक बार फिर साहस करके अपनी प्रार्थना दुहराई और उस जल्दी और घबराहट में जब श्रोता तालियाँ पीट रहे थे, "एक और" "एक और" के नारे लगा रहे थे और आयोजक उनसे कम-से-कम एक गाना और गाने का अनुरोध कर रहे थे प्रो० सिंह ने चेतन की ओर संकेत करते हुए कहा—"अब कुछ क्षण के लिए ये गायेंगे, मेरे ही शागिर्द हैं, मैं ज़रा साँस ले लूँ।" तब आयोजक महाशय ने सोल्लास इस बात की घोषणा कर दी कि अब प्रो० साहब के दो नये शागिर्द गायेंगे, जिसके बाद वे स्वयं अपने संगीत से हमें मुग्ध करेंगे। और अपने उस उल्लास में संयोजक महोदय ने चेतन और दुर्गादास को संगीत-विद्या में विशारद बना डाला।

घोषणा को सुनकर दोनों धड़कते हुए दिलों के साथ आगे आये। दुर्गादास ने बाजा आगे खींचा। दोनों की आँखें मिलीं—कौन-सा गाना गाया जाय और जैसे आँखों ही आँखों में दोनों ने निश्चय कर लिया।

मोरी बैय्याँ पकर झकझोरी।

बाजा बजने लगा और वे गाने लगे।

दोनों तन्मय भाव से गा रहे थे कि चेतन की दृष्टि सामने बैठे दो गवैयों की ओर गयी। वे हँस रहे थे। उसने प्रो० सिंह की ओर देखा। उनका माथा सिकुड़ गया था और वे तिलमिला रहे थे। चेतन को लगा कि उनका स्वर नहीं मिल रहा। वह आनन्द नहीं आ रहा, जो उन्हें सदा इस गीत को गाने में आया करता था। उसने दुर्गादास की ओर देखा। वे आँखें बन्द किये तन्मयता से झूमते हुए आधी रात को भैरवी गा रहे थे। अचानक सामने बैठे हुए गवैये ज़ोर से हँस पड़े। इसके बाद जैसे हँसी छूत की तरह फैल गयी। तभी चेतन को ध्यान आया कि उन्हें तो खम्माच गाना था। उसने चाहा दुर्गादास से कहे कि दूसरा राग लगाओ :

बैय्याँ न पकर मोरी......

किंतु उसी क्षण प्रोफ़ेसर सिंह ने आगे होकर बाजा थाम लिया और उनका प्रिय शिष्य वही झीवर कुमार अपनी सुरीली तान से गाने लगा ।

कौन देस गया पिया मोरा बालम रे

दर्शकों की हँसी एकदम थम गयी। चेतन को इतनी शर्म आयी कि वहाँ एक क्षण भी ठहरना उसके लिए असम्भव हो गया। दुर्गादास को कुछ भी समझ में न आ रहा था। अपनी गढ़ों में धँसी हुई आँखों की पलकें मरती हुई तितली के पंखों-सी फटफटाते हुए वे आश्चर्यचकित से चारों ओर देख रहे थे। लेकिन चेतन बिना किसी से आँख मिलाये पिछले दरवाज़े से निकला और रात के अँधेरे में चोरों की तरह घर की ओर भाग चला।

६४

तीन दिन तक चेतन बाहर न निकला था। उसे लगता था जैसे सारा नगर उसकी असफलता को जान गया है। वह बाहर निकलेगा तो लोग अँगुलियाँ उठायेंगे कि यही वे संगीत विशारद हैं जो रात के ग्यारह बजे भैरवी गा रहे थे। कमरे के एकाकीपन से उकताकर वह एक दिन दोपहर को सीढ़ियों के छज्जे पर आ खड़ा हुआ था, पर जाने क्यों सामने के बरामदे में खड़ी बाबू चरणदास की वही साँवली लड़की उसे देखकर मुस्करा दी और वह हड़बड़ाकर मुड़ा। उस ग़रीब ने चाहे उसका गाना सुना भी न हो, लेकिन चेतन को लगा, जैसे वह मुस्कान उस घटना की ओर ही संकेत कर रही है। घोंघे की तरह वह अपने खोल में आ बैठा और माल अथवा लोअर बाज़ार तक जाना तो दूर रहा, वह रुल्दू भट्टे के चौक तक जाने का भी साहस न कर पाया था। रात के पिछले पहर मुँह अँधेरे ही वह उठता, शौचादि से निवृत्त होकर व्यायाम करके नल पर हाथ मुँह धोकर या स्नान करके अपने कमरे में आ बैठता, कविराज जी की पुस्तक लिखता या अपने उपन्यास का कोई परिच्छेद लिखने का प्रयास करता,

या फिर अन्यमनस्क लेटा रहता।

न जाने वह कब तक इस प्रकार उस अँधेरे कमरे में पड़ा रहता, यदि चौथे दिन उसे नारायण न आ पकड़ता।

"अरे भई क्या हो गया तुम्हें जो छुट्टी के दिन भी इस अँधेरी कोठरी में बन्द पड़े हो?" नारायण ने कहा :

चेतन ने कुछ उत्तर देने का प्रयास किया, पर अस्फुट बड़बड़ाहट के अतिरिक्त उसके ओठों से कुछ भी न निकल सका।

तब चश्मे के पीछे से अपनी आँखों की चमकती रेखा को कटाक्ष के रूप में चेतन पर डालकर नारायण ने कहा—"बाहर तो आओ। देखो तो कैसे बादल घिर के आये हैं। ऐसे में कोई भलामानुस कमरे में बैठा रह सकता है? ऐसे में तो जी चाहता है दिन भर शिमले की सड़कों पर घूमते रहें।" और दफ़्तर के वातावरण में सूख जाने वाला रस जैसे इन बादलों को देख, नव-जीवन पाकर नारायण की आँखों में उमड़ा आता था।

"मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं!" चेतन ने कहना चाहा, लेकिन नारायण जैसे उसे बरबस घसीटता हुआ-सा बाहर ले आया। कमरे के किवाड़ लगाकर दोनों नीचे उतरे और सच ही दिन भर शिमले की सड़कों और बाज़ारों में घूमते रहे।

बादल सामने घाटियों से उठते; धीरे-धीरे बढ़ते हुए, धुनकी हुई रुई की तरह ऊपर चढ़ते; समीप की घाटियों में रेंगते; चोटियों पर लटकते; दुकानों, मकानों पर छाते, बरसते और हल्के होकर और भी ऊपर उठ जाते। दिन भर दोनों ने उस सैर का आनन्द लूटा। वर्षा होने लगती तो वे किसी हवाघर में बैठ जाते या किसी दुकान के बरामदे में हो जाते और थमने पर फिर चल पड़ते। उन्हें भूख भी ख़ूब लगी थी और न केवल उन्होंने नारायण के घर जाकर स्वादिष्ट खस्ता, मठरियाँ अत्यधिक पुराने और मन्दाग्नि को प्रज्वलित करने वाले नींबू के अचार के साथ

चटख़ारे लेकर खायी थीं, बल्कि लोअर बाज़ार के हलवाई की दुकान से गर्म-गर्म इमरतियाँ भी चट की थीं और मशोबरे के सेब भी खाये थे। इसी बीच में उन्होंने जी भरकर बहस की थी और आत्मा-परमात्मा ऐसे सूक्ष्म आध्यात्मिक विषयों से लेकर समाजवाद, यथार्थवाद आदि स्थूल सांसारिक विषयों पर तर्क-वितर्क भी किया था। दोनों इन विषयों में पारंगत हों, यह बात न थी। बहस करने के लिए वे उलझते रहे थे और संध्या को जब चेतन नारायण को उसके होटल—कश्मीर हिन्दू होटल—के सामने छोड़कर अपने ढाबे की ओर जाने लगा तो नारायण ने उसे भी अपने साथ ऊपर खींच लिया था।

चेतन उस होटल के सामने से प्रायः रोज़ गुज़रता था। कई दिनों से वह नारायण को वहाँ तक छोड़ने भी जाता था, लेकिन उसे स्वयं कभी उसके ऊपर जाने का साहस न हुआ था। बात असल में यह थी कि शुरू ही में कविराज जी के व्यवहार, शिमले की माल और उस माल के वासियों की तड़क-भड़क, दर्प और अभिमान ने उसके हृदय में कुछ ऐसा हीन-भाव भर दिया था कि वह अपने-आपको एकदम हेय समझने लगा था। और जब कविराज जी के साथ ही खाना खाने का उसका स्वप्न टूटा और किसी दूसरी जगह भोजन पाने की समस्या उसके सामने उपस्थित हुई तो सीधे लोअर बाज़ार के किसी होटल वाले से जाकर पूछने का साहस उसे न हुआ। (माल के किसी होटल की ओर तो वह बाहर से देख ही सकता था, अन्दर जाने तक की कल्पना न कर सकता था।) उसके इस संकोच का एक और भी कारण था। कविराज जी से वह कुछ रुपये पेशगी ले चुका था, अब और अधिक रुपये वह माँगना न चाहता था और होटल वाले, उसने सुन रखा था, महीने के रुपये पेशगी माँगते हैं। न जाने वे कितने रुपये माँग लें! यदि उसके पास उतने रुपये न निकले तो उसे खिसियाना-सा मुँह बनाकर लौटते हुए शर्म आयगी। यही सोचकर किसी होटल में जाने

की अपेक्षा उसने यादराम से पूछा था कि कहीं कोई ढाबा आदि नहीं क्या ?

यादराम उसे सहर्ष नीचे चोर बाज़ार के एक अत्यन्त घटिया से ढाबे पर ले गया था। "सात रुपये महीने पर जितनी चाहो रोटी खाओ" उसने सोल्लास चेतन से कहा था, "ये होटल वाले तो चोर हैं, मुझसे १२ रुपये माँगते थे, हरामी कहीं के।"

चेतन और भी सहम गया था। लाहौर में शुरू-शुरू में वह जिस तंदूर पर खाना खाया करता था, उस पर बड़ी कठिनाई से उसका बिल चार रुपये महीने तक पहुँचता था। जब यादराम से (जो साधारण घरेलू नौकर था) वे बारह रुपये माँगते थे तो उससे तो पन्द्रह-बीस ही माँगेंगे—उसने सोचा था—यदि उसे मालूम होता कि शिमला इतनी महँगी जगह है तो वह कभी ५० रुपये मासिक पर वहाँ न आता और उसने उसी ढाबे पर खाना खाना आरम्भ कर दिया था।

ढाबा चाहे घटिया था, पर वहाँ सफ़ाई काफ़ी थी और जब वह टाट पर बैठकर थाली में से खाना खाता तो उसे कुछ परायापन न लगता। चंगड़ मुहल्ले में रहने वाले चेतन के लिए वह ढाबा जैसे कुछ अपनत्व का भाव लिये हुए था। फिर ढाबे का स्वामी उसे कुछ सभ्य समझकर शाम-सबेरे उसकी तरकारी और दाल में दो पैसे का घी छौंक दिया करता था। खाते समय चेतन को तेल और घी का मिला-जुला-सा स्वाद आया करता था, लेकिन होटलों के परायेपन की अपेक्षा उसे वह कहीं अधिक सह्य था। वह सन्तुष्ट था और उसने कहीं दूसरी जगह जाने की इच्छा तक भी न की थी।

'कश्मीर हिंदू होटल' के नीचे सोडावाटर का एक कारखाना था। बोतलों की पेटियों में से होते हुए वे एक बड़े तंग लकड़ी के ज़ीने से ऊपर पहुँचे। चेतन ने देखा कि सीढ़ियाँ जिस कमरे में खुलती हैं उसमें चार मेज़ लगे हुए हैं, जिन पर सफ़ेद मेज़पोश बिछे हैं। मेज़पोश वास्तव में उतने

साफ़ न थे, लेकिन उस गन्दे सील भरे ढाबे की फटी मैली चटाइयों की अपेक्षा ये गन्दे मेज़पोश भी चेतन को साफ़ लगे।

वे दोनों जाकर सामने की मेज़ पर बैठ गये। चेतन दीवार से पीठ लगाकर सीढ़ियों की ओर को मुँह करके बैठा और नारायण मेज़ के दूसरी ओर उसके सामने। बायीं ओर एक छोटे से कमरे के बाद तनिक ऊपर को रसोई-घर था। खाने के कमरे और रसोई-घर के मध्य यह छोटा-सा कमरा था और रसोई के धुएँ के कारण काला भी पड़ गया था। दीवार के साथ ही, मैल की मोटी परत के कारण काला स्याह पड़ जाने वाला, एक मेज़ पड़ा था। इसके साथ एक कुर्सी भी लगी थी। बराबर की आलमारी का आधा भाग ही वहाँ से दिखायी देता था। आलमारी के शीशे टूटे हुए थे और उसमें घी के डिब्बे पड़े थे जो कदाचित् हॉटल के स्थायी ग्राहकों के थे। चिकनाई के कारण आलमारी के किवाड़, उसके तख़्ते, शीशे, सब मैल की मोटी काली परत से ढके हुए थे और दूर से काले वारनिश से रँगे दिखायी देते थे।

उधर से दृष्टि हटाकर, चेतन ने तनिक मुड़कर दायीं ओर को देखा। दोनों ओर लटकते हुए पर्दे और बीच में एक छोटा-सा मार्ग दिखायी दिया। जब हाथ धोने के लिए उस मार्ग से गुज़रकर वह बारजे पर गया और उसने मुड़कर कमरे का निरीक्षण किया तो उसने देखा कि कमरा तो वास्तव में एक ही है। उसी में प्लाईवुड के स्थान पर लम्बी-लम्बी सुलाखों से पर्दे लटकाकर केबिन से बना दिये गये हैं। उसने यह भी देखा कि उनकी मेज़ पर भी, जहाँ नारायण बैठा था, एक लम्बी लोहे की सुलाख दूर सामने की दीवार तक चली गयी है और उसे काटती हुई एक और सुलाख दूसरी ओर गयी है। छत के साथ सुलाखों का जाल-सा बिछा था और उनसे पर्दे लटक रहे थे। चेतन ने देखा कि उनकी और उनके सामने की दीवार के साथ लगी मेज़ के इर्द-गिर्द भी पर्दे लटक रहे हैं। उस समय वे पर्दे खुले

हुए न थे, बल्कि सिमटे से केबिनों के पर्दों के अंग हो रहे थे। उस मध्यवर्ती रास्ते के दोनों ओर तीन-तीन केबिन थे जिनके दरवाज़ों पर पर्दे पड़े थे। जब वे केबिन भर जाते थे और पीने पिलाने वालों को बाहर मेज़ों पर बैठाना पड़ता तो उन पर्दों को खोलकर उन मेज़ों के इर्द-गिर्द भी केबिन से बना दिये जाते थे।

अन्दर के केबिनों में उस समय शायद बोतलें खुल चुकी थीं, क्योंकि बहकी-बहकी बातों की ध्वनि आ रही थी और कई लड़खड़ाती रुद्ध आवाज़ें यदा-कदा 'ब्वाय ब्वाय' पुकार उठती थीं। उधर से दृष्टि हटाकर उसने बारजे को देखा। बाज़ार की ओर को बढ़ी हुई उस छोटी-सी बालकनी में एक ओर हाथ मुँह धोने के लिए नल लगा था, दूसरी ओर अत्यधिक छोटा-सा शौचगृह था। खिड़कियों के पट बाज़ार की ओर को खुलते थे। चेतन क्षण भर के लिए खिड़की में जा खड़ा हुआ।

बाहर बाज़ार में बादल घुस आये थे। बत्तियों के सिमटे, धुँधले प्रकाश में नीचे बहती हुई भीड़ चेतन को कुछ अजीब-सी लगी। उस बहिया में सभी भारतीय थे। निम्न-मध्य-वर्ग अथवा बीच के मध्य-वित्त के लोग! अँग्रेज़ या उच्च-वर्ग के भारतीय लोअर बाज़ार में दिखायी नहीं देते। उनके लिए माल और माल की वैभवशाली दुकानें और ऐसे शानदार होटल हैं, जहाँ दिन में खाने के छै-छै कोर्स आते हैं और जहाँ ऊँचे दर्जे के मध्य-वर्गीय का मासिक वेतन एक ही दिन की भेंट हो सकता है। माल वालों में से लोअर बाज़ार की सैर को तभी कोई आता है जब उसकी जेबों में माल की दुकानों के नाज़ उठाने की शक्ति नहीं रहती। गोरी चमड़ी का ऐसा ही कोई जोड़ा कभी-कभी लोअर बाज़ार में दिखायी दे जाता है—जैसे नदी की धारा में कमल का पत्ता—उस धारा का होकर भी उससे अलग। चेतन भी प्रतिदिन उस बहती भीड़ का अंग बनता था। वह 'कश्मीर हिन्दू होटल' की खिड़कियों को मध्य-वर्ग के उन सैकड़ों लोगों की तरह

अरमान भरी दृष्टि से देखता था जो माल से गुज़रते हुए वहाँ के बड़े होटलों को देखकर सोचा करते हैं कि शीघ्र ही वे उनमें जाने के योग्य हो सकेंगे। उस बालकनी की खिड़कियों पर पड़े हुए पर्दे सदैव उसके सामने कल्पना-लोक बसा देते थे और वह भीड़ में ठिलता हुआ दिवा स्वप्नों में खो जाता था। वह जब भी नारायण को छोड़ने जाता, कई बार उसे इच्छा होती कि वह उसके साथ होटल के ऊपर चला जाय, पर संकोच सदैव उसके पैरों की बेड़ी बन जाता और वह उसे छोड़कर अपना स्वप्न बनाता-मिटाता नीचे चोर बाज़ार के उसी घटिया से ढाबे की ओर चल पड़ता। आज उसी बालकनी में खड़ा वह कुछ अजीब-सी अनुभूति से अभिभूत था। कुछ हल्का, कुछ उत्फुल्ल, छलकने के डर से मदिरा को अपने किनारों में सयत्न समेटने वाले प्याले की तरह वह उस उल्लास को अन्तर में सँजोये था। विमोहित-सा वह नीचे के उस धुँधले, शीतल प्रकाश में अनवरत बहती उस जन-सरिता की ओर देख रहा था. . . . . . तभी नारायण ने उसे आवाज़ दी।

नल पर जल्दी-जल्दी हाथ धो और खूँटी से लटके हुए, बार-बार हाथों के पोंछे जाने के कारण निचुड़ते से तौलिये से हाथ पोंछकर जब वह वापस मेज़ पर पहुँचा तो खाना आ चुका था। नारायण ने उसे बताया कि होटल वाले स्थायी ग्राहकों से आठ रुपया मासिक लेते हैं और आठ रुपये में एक दाल, तरकारी और रोटियाँ देते हैं।

"कितनी रोटियाँ ?" चेतन को जैसे विश्वास न आया।

"जितनी भी कोई खा ले," नारायण ने थाली उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, "हाँ यदि कोई दाल तरकारी में तड़का लगवाना चाहे तो घी उसका अपना।" फिर कुछ क्षण ठहरकर उसने कहा, "मैं तो नहीं खाता, लेकिन यहाँ गोश्त हर किस्म का पकता है और दो पैसे को सलाद की प्लेट मिलती है।"

और चेतन के 'न' 'न' करने पर भी नारायण ने सलाद की प्लेट मँगा ली। दाल और तरकारी बड़ी स्वादिष्ट थी। दोनों को घी का तड़का लगा हुआ था। सलाद का स्वाद चेतन ने जीवन में पहली बार चखा। प्लेट में टमाटर भी थे, प्याज़ भी और सलाद के कतले भी। शिमले के अपने इस निवास-काल में चेतन ने पहली बार पेट भरकर खाना खाया। उसी दिन नारायण की सिफ़ारिश पर बिना कुछ पेशगी दिये वह 'कश्मीर हिन्दू होटल' का स्थायी ग्राहक बन गया।

खाना खाने के बाद तत्काल नारायण से छुट्टी लेकर वह भागा-भागा औषधालय गया कि यादराम को अपने इस आविष्कार की सूचना दे। यादराम औषधालय बन्द करके जा चुका था। तब चेतन ढाबे की ओर भागा। यादराम खाना खाकर कुल्ला कर रहा था कि चेतन ने उसे जा पकड़ा।

"तुम तो महामूर्ख हो," वह दूर ही से चिल्लाया, "इस घटिया से ढाबे पर खाना खा रहे हो। वहाँ कश्मीर हिन्दू होटल में केवल आठ रुपये महीने लेते हैं और इतना बढ़िया खाना मिलता है कि वाह! पतले-पतले लुच्चियों से फुल्के, स्वादिष्ट तरकारियाँ और सिर्फ़ दो पैसे में सलाद की प्लेट! मैं कहता हूँ, दो पैसे में सलाद की प्लेट! कभी खायी भी है तुमने सलाद!" और सलाद और उसमें निहित विटामिनों पर (नारायण द्वारा सुना हुआ) एक छोटा-सा भाषण देते हुए उसने यादराम से अनुरोध किया कि कल से वह भी होटल ही में खाना खाया करे।

लेकिन यादराम ने निराश-भाव से केवल इतना कहा, "अरे बाबू जी, हम कहाँ होटलों में जायेंगे।"

चेतन बेसब्र होकर बोला, "अरे भई कल तुम मेरे संग चलना, आख़िर तुम क्यों होटल में न खाओ। अपने पैसों का खाओगे, कोई मुफ़्त तो खाओगे

नहीं," और फिर यादराम के असमंजस को देखकर उसने कहा, "वे एक थाली के तीन आने लेते हैं, न होगा मेरे हिसाब में खा लेना।"

और यादराम को यह संदेशा देकर चेतन इस प्रकार माल की ओर चल पड़ा जैसे अचानक अलादीन का चिराग़ उसके हाथ आ गया हो।

६५

दूसरे दिन शाम को यादराम ने घर की धुली कमीज़ और कुछ साफ़ नेकर पहनी और चेतन के साथ चल पड़ा।

यादराम को ऊपर बैठाकर अपनी इस कारगुज़ारी की दाद मैनेजर से पाने के लिए चेतन नीचे आया और उसने सहर्ष मैनेजर से कहा, "लीजिए आपके लिए एक और ग्राहक ले आया हूँ।"

मैनेजर ने खीसें निपोर दीं—"आपकी किरपा है महाराज!"

"वह भी स्थायी ग्राहक बन जायगा," अपने जोश में चेतन ने कहा और वह ऊपर पहुँचा। तब तक यादराम डटकर एक मेज़ पर बैठ गया था। लेकिन उस लम्बे-तड़ंगे, हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के लिए वह मेज़-कुर्सी बहुत छोटी मालूम होती थी। लगता था जैसे कोई बड़ा आदमी बच्चों की मेज़-कुर्सी पर बैठ गया हो। उसकी लम्बी अधनंगी टाँगें मेज़ के नीचे आ न रही थीं और वह उन्हें कुर्सी के दोनों ओर फैलाये अकड़ा बैठा था।

चेतन ने अन्दर रसोई-घर में रसोइए को आवाज़ देकर कहा कि यादराम भी खाना खायेगा।

रसोइए ने किचन के दरवाज़े से गर्दन बढ़ाकर यादराम की ओर देखा और फिर सिर हिलाते हुए विचित्र-सी मुद्रा बनाकर चेतन से कहा "पहले आप खा लीजिए!"

चेतन को उसका यों मुँह बनना बड़ा बुरा लगा। लेकिन तभी नारायण बारजे से हाथ पोंछता हुआ वहाँ पहुँच गया और बोला "आओ पहले हमीं निबट लें, एक साथ वे किस प्रकार इतने आदमियों के लिए रोटियाँ पका सकते हैं? यह बाद में खाता रहेगा?"

थालियाँ परोसकर आ गयीं और यद्यपि चेतन के लिए यादराम को खिलाये बिना खाना दुष्कर हो रहा था, लेकिन वह नारायण के साथ खाने लगा। जब वे खाना खा चुके तो नारायण ने घूमने का प्रस्ताव किया। तब रसोइए को ताकीद करके कि वह यादराम को खाना खिलाये और अपने आदेश के महत्व को जताते हुए इतना और कहकर कि वह स्थायी ग्राहक बनेगा, चेतन नारायण के साथ नीचे उतरा।

जब वे बाहर जाने लगे तो मैनेजर ने उन्हें रोक लिया और उपालम्भ भरे स्वर में उसने कहा, "यह होटल है बाबू साहब, यहाँ शरीफ़ आदमी खाना खाने आते हैं, यहाँ दफ़्तरों के बाबू आते हैं, मज़दूरों का खाना खाने का ढाबा नहीं यह!"

जब वे खाना खा रहे थे तो शायद बैरा नीचे आकर मैनेजर से शिकायत कर गया था। उसकी बात सुनकर चेतन किंकर्तव्य-विमूढ़-सा खड़ा रह गया। अब वह यादराम से जाकर कैसे कहे कि उसे खाना नहीं मिलेगा। क्षण भर सोचकर उसने कहा, "अच्छा उसे आज तो खाना दीजिए, फिर वह नहीं खाया करेगा। अब तो मैं ले आया हूँ उसे। उसका आज का खाना मेरे हिसाब में लिख लेना।

यह कहकर वह नारायण के साथ चला। लोअर बाज़ार में जीवन की नदी अपने यौवन पर थी। चेतन इस बहती इठलाती नदी में अपने-

आपको पेड़ से टूटकर गिरी हुई किसी निर्जीव डाली-सा अनुभव कर रहा था। लहरों के थपेड़ों से इधर-से-उधर होता वह बहा जा रहा था। लेकिन नारायण रौ में था। लोअर बाज़ार में आर्य-समाज के प्रसिद्ध उपदेशक स्वामी शुद्ध देव की कथा कई दिनों से हो रही थी और उसका इरादा था कि माल का एक चक्कर लगाते और कुछ विचार-विनिमय करते वहाँ पहुँचा जाय। उसने 'त्रिगुणातीत' की बात चलायी। लेकिन चेतन को 'त्रिगुणातीत' के आध्यात्मिक आदर्श से किसी तरह की दिलचस्पी न थी। उसका मन तो 'कश्मीर हिन्दू होटल' के उस खाने के कमरे की ओर लगा हुआ था। वह सोच रहा था कि यादराम को खाना मिल रहा होगा कि नहीं। नारायण की गम्भीर, पाण्डित्य-पूर्ण-व्याख्या को प्रकट सुनता और 'हूँ,' 'हाँ' करता हुआ वह वास्तव में उन होटल वालों की असभ्यता पर आग-बबूला हो रहा था, मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर रहा था कि वह भी उनके यहाँ खाना न खायेगा। कितने बदतमीज़ हैं ये लोग! वह उनके लिए एक ग्राहक लाया और इसके बदले कि वे उसको धन्यवाद देते, उलटे ऐसे पेश आये जैसे उससे कोई अपराध बन पड़ा हो। 'साले होटल लिये फिरते हैं!' मन-ही-मन उपेक्षा से उसने कहा, 'चार पर्दों या चार साफ़ चादरों से ढकी मैली-कुचैली मेज़ों से कोई ढाबा होटल तो नहीं बन जाता। वह होटल ही क्या जिसके खाने के कमरे में बैठें तो किचन अपनी समस्त कुरूपता के साथ दिखायी दे और हवा के हल्के-से झोंके के साथ लहसुन-प्याज़ की तीखी गन्ध नथुनों में समा जाय। हरामजादे! इतने गन्दे और मैले बैरे हैं कि हलवाई के नौकर भी न होंगे और दम यह है कि शरीफ़ों का होटल है! . . . .'

वह मन-ही-मन उबल रहा था। लेकिन नारायण अपने साथी की मानसिक स्थिति से अनभिज्ञ उसके कानों में अनवरत गीता का विशद ज्ञान उँडेल रहा था।

"......ज्ञान उसका स्वभाव है, स्वरूप है। उसी का प्रकाश सारी इन्द्रियों को प्रकाशित करता है। स्वामी शुद्ध देव ने कितना सुन्दर, मौलिक और अति आधुनिक दृष्टांत दिया है। जैसे एक ही विद्युत धारा अनेक बत्तियों के एक गुच्छे को एक ही बार प्रकाशित कर देती है, ठीक उसी प्रकार एक ही आत्म-ज्योति सारी इन्द्रियों को ज्योति प्रदान करती है। मनन और बोधन का प्रकाश भी उसी का है, वह स्वतः प्रकाश है।....."

वे लोअर बाज़ार पार करके ऊपर माल को मुड़ने लगे थे कि चेतन ने अचानक नारायण की वक्तृता का क्रम तोड़ते हुए कहा, "मैं तो वापस जाऊँगा नारायण।"

"तो क्या स्वामी शुद्ध देव की कथा सुनने न जाओगे। अभी शुरू होगी ९ बजे। कथा क्या करते हैं अमृत बरसाते हैं।"

"नहीं इस समय अमृत भी पीने को जी नहीं चाहता!" और उसने विदा लेने को हाथ आगे बढ़ाया।

लेकिन नारायण ने उसके हाथ को अपने हाथ में लेकर वापस मुड़ते हुए कहा, "चलो मैं इधर ही से समाज-मन्दिर चला जाऊँगा।"

होटल के पास पहुँचकर चेतन ने कहा "मैं ज़रा देख आऊँ, उन्होंने यादराम को रोटी दी है या नहीं।" और वह चला। मैनेजर नीचे नहीं था। वह ज़ीने की ओर बढ़ा। नारायण भी उसके पीछे-पीछे तंग ज़ीना चढ़ने लगा।

जब वह ऊपर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि यादराम पूर्ववत् सीना ताने कुर्सी पर डटा बैठा है और मैनेजर से झगड़ रहा है।

"क्या बात है?" चेतन ने क्रोध को बरबस दबाते हुए कहा, "जब मैंने कहा था कि पैसे मेरे हिसाब में लिख लेना....."

"बाबू जी अट्ठाइस रोटियाँ खा चुका है, आटे की सारी लोई खतम कर दी।"

"जब पैसे मैं दूँगा......" 'मैं' शब्द पर ज़ोर देते हुए चेतन ने कहना चाहा।

"लेकिन रोटी ही का सवाल नहीं। दाल सारी खतम हो गयी। हम आदमियों के लिए खाना पकाते हैं, दैत्यों के लिए नहीं। अट्ठाइस रोटियाँ......!"

फुफकारता हुआ यादराम उठा, "इन दो तोले के फुल्कों को रोटियाँ कहते होंगे," बड़बड़ाते और धमधमाते हुए वह बारजे में पहुँचा। हाथ धोकर, भीगे हाथों से मुँह पोंछ, उन्हें सिर के बालों पर फेरता हुआ वह उनके पास से धमधमाता हुआ सीढ़ियाँ उतर गया—"वाह! बाबू जी किन मूज़ियों के यहाँ ले आये मुझे"—सीढ़ियों से चेतन को उसके यही शब्द सुनायी दिये।

तब मैनेजर साहब भी बड़बड़ाते नीचे चले गये और धम से जाकर अपनी गद्दी पर बैठ गये। नारायण ने चेतन के कन्धे को छुआ। चलो अब छोड़ो इस किस्से को"—उसने कहा।

चेतन का मन अत्यन्त खिन्न था। वह उस होटल से किसी तरह का सम्बन्ध न रखना चाहता था। उसने जाकर मैनेजर के सामने अपने दोनों जून खाने के पैसे रख दिये और कहा यह लो तीन आने यादराम के।"

मैनेजर ने व्यंग्य से दाँत निपोरते हुए पैसे वापस कर दिये—"अट्ठाइस फुल्के तो वह खा गया। सात आने तो सिर्फ़ रोटियों के हो जाते हैं।"

"पर एक थाली के जब तीन आने लेते हो तुम!" चेतन चिल्लाया।

"तीन आने लेते हैं!" गद्दी पर उकड़ूँ बैठकर मैनेजर चेतन से भी ऊँची आवाज़ में चिल्लाया, "तीन आने आदमियों की ख़ुराक के लेते हैं, जन्म से भूखे जानवरों के नहीं।"

झगड़े को सुनकर बाज़ार में भीड़ इकट्ठी होने लगी थी। बड़ी

मुश्किल से नारायण ने और आठ आने चेतन से दिलवाकर मैनेजर को शांत किया और दोनों समाज-मन्दिर की ओर चल पड़े।

वायीं ओर घाटी पर तैरती हुई, जल-बिन्दुओं से भरी बोझीली बयार अज्ञेय रूप से हल्के-हल्के वह रही थी। अदृश्य फुहार जैसे निःस्वन पंखों के सहारे उड़ रही थी। उसके स्पर्श से गाल, नाक, मुँह, आँख सब ठंडे हुए जा रहे थे। सहसा बादल बाज़ार में बढ़ आये। बाज़ार की रोशनियाँ सिमटकर बत्तियों के गिर्द छोटे-छोटे वृत्तों में समा गयीं और चलते-फिरते लोग छायाएँ बनकर रह गये। अचानक चेतन की ऐनक के दोनों शीशे धुँधले हो गये। ऐनक उतारकर उसने कमीज़ के छोर से उन्हें पोंछा, किंतु शीशे अच्छी तरह साफ़ न हुए और जब उसने ऐनक को फिर नाक पर रखा तो सब चीज़ों पर विचित्र-सा झीना, झिलमिला पर्दा छा गया। बिजलियाँ और बत्तियाँ सब झिलमिलाती-सी दिखायी देने लगीं? उसने फिर ऐनक को साफ़ किया, किंतु वह साफ़ न हुई। उसकी कमीज़ शायद गीली हो चुकी थी और उसकी ऐनक के नमदार शीशों से छूकर उड़ता हुआ वाष्प पानी बन जाता था। हारकर उसने ऐनक उतार ली और अन्धों की तरह चलने लगा। उसकी आँखों पर दोहरा अँधेरा छा गया था—क्रोध का और 'मायोपिया' का।

नारायण के कोट की जेब में रूमाल अभी सूखा था। उससे अपनी ऐनक को साफ़ करते हुए फिर नाक पर रखकर उसने कहा, "यह ऐनक भी एक मुसीबत है कम्बख्त!"

चेतन ने उत्तर नहीं दिया। उसके सामने स्पष्ट वस्तुएँ भी अस्पष्ट हो रही थीं। पानी में डुबकी लगाने के बाद जैसे आँखों पर पानी का पर्दा छा जाता है, वैसा ही पर्दा-सा उसकी आँखों पर छा गया। उसे अपनी इस ऐनक पर बड़ा क्रोध आया, उसके जी में आयी कि ज़ोर से घुमाकर उसे घाटी में फेंक दे। उसने उसे धीरे से घुमाया भी, पर घाटी में फेंकने

के बदले उसने उसे कोट के अन्दर की जेब में रख लिया। उसके ओठों से एक लम्बी साँस निकल गयी और उसे अपनी उस मूर्खता पर खेद हुआ जब हँसी-हँसी में उसने केवल फैशन के तौर पर अपने बड़े भाई की पढ़ने की ऐनक आँखों पर लगा ली थी!

भाई साहब की आँखें बचपन से ख़राब थीं। जब वे कॉलेज में दाख़िल हुए थे तो पिता को उनकी आँखों पर ऐनक लगवानी पड़ी थी। डाक्टर ने एक दूर की और एक समीप की ऐनक दी थी। दूर की हर समय लगाने के लिए और समीप की केवल पढ़ते समय लगाने के लिए। यह पढ़ते समय लगाने वाली ऐनक सुनहरे फ्रेम और छोटे-छोटे शीशों वाली थी। दूर की ऐनक का नम्बर -४ था और इस छोटी ऐनक का -१ था। भाई साहब को उन दिनों पढ़ने वाली ऐनक की उतनी ज़रूरत न पड़ती, उनका अधिकांश समय तो ताश शतरंज खेलने में गुज़रता और जो थोड़ी-बहुत पढ़ाई उन्हें करनी होती वह सब वे इस ऐनक की सहायता के बिना भी कर लेते। इसलिए यह सुन्दर ऐनक अपने स्वर्ण-फ्रेम और सुन्दर डिब्बे के साथ इधर-उधर विस्मृत-सी पड़ी रहती। जब भाई साहब अथवा कोई दूसरा व्यक्ति समीप न होता तो चेतन इस ऐनक को डिब्बे से निकालकर अपनी नाक पर रख लेता और शीशे में अपनी सूरत देखा करता। अपनी नाक पर यह सुन्दर ऐनक उसे बहुत अच्छी लगती। एक दो बार अपने मित्रों में भी उसने उसे पहना और जब उन्होंने भी उसकी तारीफ़ की और फ़तवा दिया कि ऐनक के साथ चेतन सुन्दर लगता है तब, यद्यपि उसकी दृष्टि बहुत अच्छी थी, उसने चोरी-छिपे उसे लगाना शुरू कर दिया। इस ऐनक के लगाने से उसे कोई विशेष कष्ट भी न होता था, शब्द कुछ छोटे अवश्य हो जाते, पर उनकी चमक बढ़ जाती। धीरे-धीरे उसे इस ऐनक का स्वभाव पड़ गया और एक दिन जब उसने मित्रों में बैठकर दूर से कैलेंडर पढ़ने का मुकाबिला किया तो उसे पता चला कि ऐनक की सहायता से वह पाँच

पग पीछे से कैलेंडर की बारीक से बारीक पंक्ति पढ़ सकता है। बस फिर क्या था, माँ से उसने कह दिया कि उसकी नज़र भी कमज़ोर हो गयी है, अनन्त ने उसकी गवाही दी और चेतन ने अपने भाई की ऐनक पर अधिकार जमा लिया। भाई साहब ने भी इस पर आपत्ति नहीं की और चेतन ने दो-चार महीनों से जो पैसे जोड़ रखे थे, वे सब उससे लेकर भाई साहब ने उसे सुनहरे फ्रेम की वह ऐनक लगाकर छैला बने घूमने का हक प्रदान कर दिया।

अब उस सुनहले फ्रेम की ऐनक के स्थान पर सेलोलाइड के मोटे बेडौल फ्रेम की ऐनक चेतन की नाक पर थी जो गर्मी में फिसलकर नाक की कोठी पर आ जाती थी और सर्दी में सिकुड़कर कानों पर चुभने लगती थी। चेतन की यह चौथी ऐनक थी और इसका नम्बर भी अब -४ था। उसने कई बार उसे छोड़ देने का प्रयास किया था, पर वह असफल रहा था और सदैव उसे इसका नम्बर बढ़ाना पड़ा था।

बाज़ार में अन्धों की तरह चलते-चलते चेतन को अपनी उन दिनों की मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। लेकिन ऐसा क्रोध उसे कई बार आया था। बादल ऊपर को निकल गये थे, इसलिए उसने जेब से ऐनक निकाल-कर फिर आँखों पर लगा ली। सिमटा हुआ प्रकाश फैल चुका था, दुकानों और बिजली के खम्भों की बत्तियाँ ठीक आकार में दिखायी देने लगीं और आने-जाने वालों के ख़ाके भी स्पष्ट हो गये थे।

चेतन ने लम्बी साँस ली। वे दोनों सुरंग के पास से गुज़रकर चोर बाज़ार को जाने वाले मार्ग के समीप पहुँच गये थे। तभी नारायण ने कहा—"छोड़ो भी अब इस किस्से को, अन्दर-ही-अन्दर क्यों विष घोलते हो। तुमने उसे वहाँ ले जाकर ग़लती की। इन लोगों का काम तो ढाबे-तंदूरों पर ही चलता है।"

"पर यदि कोई पेटू अमीर वहाँ आ जाता तो क्या उसके साथ भी

यह लोग ऐसा ही व्यवहार करते?" चेतन ने कहा।

लेकिन उसके स्वर की कटुता दूर हो चुकी थी। देने को तो उसने यह युक्ति दे दी थी, पर अन्तर में उसे कहीं अपनी मूर्खता का आभास मिल गया था और मैनेजर के दुर्व्यवहार की अपेक्षा उसे अपनी इस मूर्खता पर अधिक क्रोध था। वह इतना बड़ा हो गया है। बी० ए० पास करके एक समाचार-पत्र के सम्पादन विभाग में काम कर चुका है। अभी तक उसे इतनी समझ नहीं कि उसे यादराम को उस होटल में न ले जाना चाहिए था, इस पुण्य भूमि में जब जाति-जाति, वर्ण-वर्ण, और वर्ग-वर्ग ही में भेद नहीं, बल्कि हर जाति, हर वर्ण के अन्दर अगनित भेद-प्रभेद हैं, तब होटलों और ढाबों में क्यों न अंतर हो? तनिक साफ़-सुथरे ढाबे का स्वामी, जिसके ग्राहकों में ४० रुपये मासिक से १०० रुपया तक पाने वाले हैं, उस ढाबे को उपेक्षा की दृष्टि से क्यों न देखे, जहाँ ४० रुपया मासिक से कम पाने वाले लोग जाते हैं? और यह 'डेविको', 'वेंगर', 'इम्पीरियल' और 'क्लार्क'—ये अपने अहं में महान् माल के होटल—ये लोअर बाज़ार के इस 'कश्मीर हिन्दू होटल' को क्यों न हेय समझें? यदि चेतन या नारायण अपने इन कपड़ों से उनमें चले जायँ तो खाना खिलाना तो दूर रहा, शायद उन्हें कोई अन्दर भी न घुसने दे।

वे समाज-मन्दिर के पास पहुँच गये थे। बाहर अहाते ही से स्वामी शुद्ध देव का गहर गम्भीर स्वर हाल में गूँजता हुआ आ रहा था। उनकी कथा शायद आरम्भ हो चुकी थी। चेतन अपनी उन मानसिक उलझनों में इस हद तक उलझा हुआ था कि नारायण कब उसका हाथ थामे उसे हाल में ले गया, उसे मालूम नहीं हुआ। वह तब चेता जब वह नारायण के साथ पीछे ही दीवार से लगी बेंच पर बैठ गया।

स्वामी जी तब बड़े मनोयोग से भक्ति की महिमा का बखान कर रहे थे :—

"जो मनुष्य भगवान के योग से दूर है, भक्ति-धर्म में रत नहीं है, उसकी बुद्धि स्थिरता को नहीं लाभ कर सकती। निश्चयात्मक बुद्धि ही को स्थिर-बुद्धि कहा गया है और वह निश्चय तब तक होना कठिन है जब तक आत्म-परमात्म-स्वरूप की उपलब्धि न हो जाय!"

चेतन ने पहले के शब्द नहीं सुने। आत्म-परमात्म शब्द से वह तनिक चौंका। स्वामी जी कह रहे थे:—

"आत्म-परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति केवल धर्म-मय-भक्ति-योग से होती है। भक्ति-रहित जन को भावना भी नहीं मिलती। शुद्ध भावों का उसके भीतर भारी अभाव बना रहता है। ध्यान में, विचार में, मनन में, श्रद्धा और विश्वास में वह डाँवाँडोल बना रहता है। एक बात में उसकी चित्तवृत्ति नहीं ठहरती। ऐसे भावना-हीन मनुष्य को शांति नहीं मिलती। वह सदा अशांत, चंचल-चित्त रहता है। उसे सुख कहाँ मिलेगा? शांति कैसे मिलेगी?"

शांति—शांति—शांति—चेतन ने बेज़ारी से सिर हिलाया और उठ खड़ा हुआ। इतनी कटुताओं, विषमताओं, भूख, बेकारी, ग़रीबी, अवहेलना, उपेक्षा, निरादर, शोषण, उत्पीड़न में घिरा कोई स्वाभिमानी स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति शांति-लाभ कैसे कर सकता है? और फिर यादराम जैसे करोड़ों अपढ़ अशिक्षित लोग इस गहन दर्शन को समझ-कर उस पर कैसे चल सकते हैं? उनके पास इस मनन-बोधन और चिन्तन के लिए बुद्धि, विवेक और समय ही कहाँ है?

और समाज-मन्दिर से निकलकर वह बड़ी रात तक जलता, सुलगता शिमले की सड़कों पर घूमता रहा। वह क्यों इस दुनिया में आ गया, क्यों इन विषमताओं में फँस गया? उसके सरल, अबोध, शिशु कवि को तो कहीं सुदूर वन्य-कुंजों में सीधा सरल-सा जीवन चाहिए था, और वह फँस गया इन उलझनों में। जीवन जैसे वह डोर है, जिसकी गुंजलकों का

अन्त ही नहीं। चेतन को याद आया—बचपन में जब कोई पतंग कट जाती थी और उसकी डोर उनकी छत पर आ गिरती थी तो वे उसे दोनों हाथों से बेतहाशा खींचने लगते थे। छत पर घूमते जाते थे और डोर खींचते जाते थे। सारी छत पर डोर फैल जाती थी। फिर जब पतंग हाथ में आ जाती और वे बिखरी हुई डोर को दायें हाथ से समेटते हुए बायें हाथ के अँगूठे और छँगुली पर उसकी गुच्छी बनाने लगते थे तो उसमें गुंजलक पड़ जाती थीं। एक निकालते कि दूसरी पड़ जाती। यह जीवन भी तो उसी डोर की तरह है। पतंग चेतन को नहीं मिलती। बस डोर है। उसकी गुंजलकें, गाँठें हैं और उलझनें हैं।......

६६

चेतन भागना चाहता था और वह भागा, लेकिन भागकर वह कहीं वन-कानन में नहीं गया। उसने किया बस इतना कि शिमले की एक ए० डी० सी० का सदस्य बन गया। ए० डी० सी० का पूरा नाम 'यंग-मेन्स एमेचर ड्रामेटिक क्लब' था। उसके सदस्यों में सभी युवक हों, अथवा उनके हृदय युवा हों, ऐसी बात न थी। क्लब के सदस्यों की अधिकांश संख्या चालीस की वयस को पार कर जाने वालों की थी। जीवन से उकताये हुए भी वे कम न थे, लेकिन यौवन के लिए जो एक तरह की लालसा-लोलुपता अधेड़ आयु वालों में होती है, वही उनमें भी थी। और फिर नाटक खेलना ही क्लब का एकमात्र काम न था। उसके अधिकांश सदस्य तो अपने गृह-जीवन की कटुताओं को दस-दस, ग्यारह-ग्यारह बजे रात तक उसकी मेज़-कुर्सियों पर बैठकर ब्रिज और मदिरा के साहचर्य में भुलाया करते थे।

यह क्लब चार नम्बर की सीढ़ियों के एक मकान में था। प्रवेश करते ही बायीं ओर को मेज़-कुर्सियाँ पड़ी दिखायी देती थीं, जिन पर

सदैव कुछ व्यक्ति दीन-दुनिया से बेख़बर ब्रिज में निमग्न रहते थे और 'वन नो ट्रम्प', 'टू क्लब्ज', 'टू स्पेड्स', 'थ्री हार्ट्स' आदि के अतिरिक्त उनके मुँह से कुछ न निकलता। इस कमरे के बराबर में एक बड़ा कमरा था जिस पर एक दरी बिछी हुई थी और दीवार के साथ एक कौच का सेट लगा था। यहाँ नाटकों की रिहर्सलें होती थी। पहले कमरे के लोग इस ओर से बेपरवाह 'गेम' और 'रबर' के चक्कर में फँसे रहते थे। मदिरा पान यहाँ बहुत न था। क्यों क्लब के अधिकांश सदस्यों को इस विभूति से उपेक्षा न थी, लेकिन उनकी जेबें सदैव इसके रसास्वादन में बाधक बन जाती थीं। वे मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखते थे और क्लब के संरक्षकों को छोड़कर किसी का भी वेतन डेढ़-दो सौ से अधिक न था। और कोई बिरला ही ऐसा होगा जिसके घर में चार-चार, छः-छः बच्चे न हों! फिर यह ब्रिज भी तो मदिरा ही का रूप था। 'छुटती नहीं है मुँह से यह काफ़िर लगी हुई' की सूक्ति ब्रिज पर भी तो लागू होती है। इसका चस्का वही, इसके रसास्वादन का आनन्द वही और इसकी विस्मृति वही। होता यों कि जब कोई ब्रिज में गहरी रक़म जीत जाता तो सब उसे पिलाने पर विवश करते और उस रात ब्रिज-ग्रुप में 'संगतरे' या 'भट्टी' की दो-चार बोतलें खुल जातीं। साल में कभी एक दो बार 'जिन' या 'स्काच' भी आ जाती। इतने सदस्यों में एक-एक डेढ़-डेढ़ पेग से नशा तो क्या होता (विशेषतः जब कि सोडा अधिक और ह्विस्की कम होती) लेकिन उन्होंने अँग्रेज़ी पी है, इस बात का नशा उन्हें महीनों रहता।

चेतन को तो शायद इस क्लब के अस्तित्व का भी पता न चलता यदि नारायण को एक शाम वहाँ किसी से मिलना न होता और वह चेतन को भी साथ न ले जाता।

दोनों वहाँ पहुँचे तो नाटक की रिहर्सल हो रही थी। पूछने पर

चेतन को मालूम हुआ कि क्लब ताज साहब (इम्तयाज़ अली ताज) का नाटक 'अनारकली' खेलने जा रहा है और उसके एक सीन की रिहर्सल हो रही है। चेतन ने वह नाटक पढ़ा न था, पर उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। एक बुक-स्टाल पर उसे देखा भी था। मुख-पृष्ठ पर बनी हुई चग़ताई की कलाकृति भी देखी थी। मिस हिजाब इस्माईल के नाम (जो बाद श्रीमती ताज बनीं) उनका सुन्दर पर सांकेतिक समर्पण भी देखा था। सुन्दर लिखायी-छपायी को देखकर उसका जी उसे ख़रीदने को चाहा था, पर वह उसे ख़रीदने के लिए कभी पैसे न जुटा पाया था। वह नाटक यहाँ खेला जा रहा है, यह जानकर उसके मन में प्रबल आकांक्षा हुई कि उसे देखे, उसकी रिहर्सलों में भाग ले, उसमें अभिनय करे। उस पुस्तक की कई प्रतियाँ वहाँ पड़ी थीं। उसे इच्छा हुई किसी-न-किसी प्रकार उनमें से एक प्राप्त करके उसे पढ़ डाले।

चेतन जब भी जीवन से भागता था, उसे प्रकृति अथवा कला की गोद ही में शांति मिलती थी। बचपन में वह कला से परिचित न था, तब प्रकृति ही का विशाल आँचल अपने में छिपाकर उसे सान्त्वना देता था। पिता के साथ उसका बचपन प्रायः ऐसे स्टेशनों पर बीता था जिनके इर्द-गिर्द मीलों तक विशाल खेत, बाग, वीराने फैले होते थे। प्रकृति का विशाल आँचल सदैव लहराया करता था और जब भी वह जीवन की कटुताओं से भागता, उस आँचल की ओट में जा छिपता। लेकिन होश सम्हालते ही वह नगर आ गया था और नगरों में, जहाँ आकाश आकाश और धरती धरती नहीं रहती, जहाँ मीलों तक मकानों, तंग गलियों और कोलाहलपूर्ण बाज़ारों के अतिरिक्त कुछ दिखायी नहीं देता, जहाँ आकाश धुएँ और धूल से धूमिल हो जाता है और चाँद सूरज भी बड़े-बड़े मकानों की ओट से निकलते हैं, प्रकृति की वह छटा कहाँ? और जालन्धर के अपने उस पुराने खंडहर मकान में (जहाँ पिता की क्रूरता के डर से माँ

उसे ले आयी थी) उसने प्रकृति की इस प्रतिमूर्ति—कला से परिचय प्राप्त कर लिया था।

कला प्रकृति ही की तो बेटी है। प्रकृति के विशाल लहलहाते खेतों, लम्बे-चौड़े निर्जन वीरानों, ऊँचे हिममंडित शिखरों, गहरी अँधेरी घाटियों, वनों-उपवनों, चाँद-सितारों, उमड़-घुमड़कर छाने वाले मेघों, नित्य नवीन रंग बदलती दिशाओं को देखकर मानव का मन अनेक सुन्दर, सुखद, करुण, मृदुल, भावनाओं से भर जाता है। तभी कवि की वाणी, कलाकार की कूची, लेखक की लेखनी, गायक का स्वर और मूर्तिकार की छेनी उन भावनाओं को सजीव करने के लिए विकल हो उठती है। कला जन्म पाती है और जिस प्रकार प्रकृति मानव के सुख-दुख में उसे सान्त्वना देती है, कला भी उसका मन बहलाती है।

नगर में आकर चेतन ने कला ही से वह सब कुछ चाहा था जो उसे प्रकृति से मिलता था। उसका खिलौने बनाना, उसका चित्र खींचना, उसका भजन लिखना, कहानी कहना, अभिनय करना सब अपने कटु-वातावरण से उसके पलायन ही का द्योतक था। फिर कला के संसर्ग में उसे वह वस्तु मिली थी जो प्रकृति की संगति में अलभ्य थी। वह वस्तु थी आत्माभिव्यक्ति। बचपन में जब वह दुखी होता, प्रकृति की रंगीनियों में अपने-आपको खो देता, किंतु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता वह अपने-आपको खो देना भर ही न चाहता था, वरन् उस प्रतिक्रिया को व्यक्त भी करना चाहता जो उस दुख और कटुता से उसके मन में उत्पन्न होती। आत्माभिव्यक्ति की यह अदम्य इच्छा कभी किसी रूप में प्रकट होती कभी किसी में। उस अभिव्यक्ति का ठीक माध्यम क्या है, यह उसने अभी तक न जाना था। लेकिन अभिव्यक्ति वह चाहता था। अपने वातावरण की कटुता के विरुद्ध प्रतिक्रिया और प्रतिशोध—यहाँ तक कि घोर प्रति-हिंसा भी उसकी कला ही में प्रस्फुटित होना चाहती और प्रकट एक निरीह,

अनाथ-सा दिखलायी देने वाला वह बालक अन्तस्तल में प्रबल झंझाओं के झकोरे सहता। धीरे-धीरे वह प्रकृति से दूर और इस नयी संगिनी के समीप होता गया। वह प्रतिदिन अपनी इस नयी संगिनी के किसी-न-किसी रूप पर मुग्ध होता था। उसकी संगति में बिताने के लिए उसके पास यथेष्ट समय था। जब भी वह उसका कोई नया रूप देखता, उसे पाने के लिए विह्वल हो उठता।

हिजाब इस्माईल के नाम

इतना मुख़्तसर ख़त न इससे पेश्तर लिखा न आइन्दा लिखूँगा। लेकिन जिन मुख़लिसाना जज़बात का इज़हार मक़सूद हैं वह एक लफ़्ज़ में भी अदा हो सकते हैं। इस मुख़्तसर अरीज़े को शर्फ़े-क़बूलियत बख़शिए। किताब का पढ़ना चन्दां ज़रूरी नहीं। इसे एक ज़मीमा समझिए। तवील मगर बेमानी।[1]

इमत्याज़

कोई बुद्धिजीवी अथवा यथार्थवादी इस समर्पण को पढ़कर व्यंग्य से हँस देता और इसी से पुस्तक के विषय और शैली को जान जाता। (न जाने स्वयं लेखक भी अपने वैवाहिक-जीवन की वास्तविकताओं में इस अरमान भरे समर्पण को पढ़कर कितनी बार हँसा होगा और इस समर्पण को उसने नयी दृष्टि से देखते हुए कितना बेमानी समझा होगा।)

---

[1] इतना संक्षिप्त पत्र न इससे पहले कभी लिखा न अब लिखूँगा। किंतु जिन भावों की अभिव्यक्ति मेरा उद्देश्य है, वे एक शब्द में भी अदा हो सकते हैं। इस संक्षिप्त पत्र को स्वीकार कीजिए। पुस्तक का पढ़ना कोई जरूरी नहीं। इसे एक परिशिष्ट समझिए--लम्बा पर बेमानी !

(इमत्याज)

लेकिन चेतन इस पर मुग्ध था। और परिशिष्ट—वह लेखक की दृष्टि में निरर्थक हो, चेतन की दृष्टि में अमूल्य था। जब नारायण अपने मित्र से मिल चुका तो चेतन ने अनुरोध किया कि किसी-न-किसी तरह वह उसे पुस्तक की एक प्रति रात भर के लिए ले दे।

नारायण ने उसे पुस्तक ले दी थी और चेतन ने उसे रात भर में पढ़ डाला था।

जब रात को अढ़ाई तीन बजे उसने नाटक समाप्त किया तो उसकी आँखों में नींद उड़ चुकी थी। न जाने यह दुखांत नाटक वास्तव में कभी घटा भी था या नहीं। पर दन्तकथा को लेकर लेखक ने जो नाटक रचा था; उसने एक दन्तकथा को मूर्तिमान सत्य बना दिया था। चेतन अपने सामने प्रेम और निराशा का वह दुखद खेल देख रहा था। वह उसका नायक बन गया था। वह सलीम बन गया था और सारी रात बन्दीखाने से आने वाली दुखिनी अनारकली की आवाज़ें—'सलीम—सलीम, शाहज़ादे—शाहज़ादे!'—उसके कानों में गूँजती, हृदय को भेदती रही थीं।

उसकी आँखों में अनारकली आ गयी थी—पन्द्रह-सोलह वर्ष की तन्वी, जिसके चम्पई रंग में ललाई की हल्की-सी आभा न होती तो बीमार समझी जाती। सजल आँखें जिनमें आकांक्षाएँ बैठी झाँक रही थीं। और चेतन—कोई उसका हृदय कचोट रहा था। अनारकली उसके सामने दीवार में जीवित चुनी जा रही थी और वह कुछ न कर पाता था। और उसने अपने-आपको रानी की गोद में पड़े और महाबली को "शेखू" "शेखू"[1] पुकारते सुना।

---

[1] अकबर सलीम को प्यार से 'शेखू' कहकर बुलाया करते थे।

उसने आँखों को मला और सोने का प्रयास किया। लेकिन वह तो नाटक का नायक बना हुआ था, उसकी एक प्रतिमूर्ति सलीम बनी उसके सामने अभिनय कर रही थी। सारे-के-सारे सम्वाद उसके कानों में गूँज रहे थे और उसे उनकी आवाज़ तक सुनायी दे रही थी।

......तुम नहीं जानती तुमने क्या कर दिया। मैं ख़ुद नहीं जानता। सब नहीं जानता अनारकली। (क्षण भर चुप रहने के बाद) तुमने मेरी तमाम आसाइशों,[1] तमाम राहतों[2] को अपनी हस्ती में समेट लिया। तुमने मेरी तमाम कायनात[3] का रस चूस लिया। तुम एक मोजज़े[4] की तरह मेरे सामने आयीं और मेरी आर्ज़ुओं[5] की नींद टूट गयी। तुमने अपनी हैरान नज़रों से मुझे देखा और मेरी रूह[6] में लामुतनाही[7] मुहब्बत के शोले भड़क उठे। तुम चली गयीं और मेरी तमाम दुनिया, तमाम आर्ज़ुएँ धड़कती रह गयीं।

(अनारकली चुप रहती है।)

......तुम अब भी चुप हो अनारकली

......फिर मैं क्या समझती। हिन्दुस्तान का नया चाँद चकोर को चाहता है। कैसी हँसी की बात है? आह तुम शाहज़ादे हो। बड़े। बहुत बड़े और मैं कनीज़[8] हूँ, नाचीज़, बेहद नाचीज़;

......अब भी तेरे दिल में शुबा[9] मौजूद है, तो ऐ

---

[1]आसाइश=आराम, चैन, [2] राहत=ख़ुशी, [3] कायनात=सृष्टि (हस्ती), [4] मोजजा=चमत्कार, [5] आर्ज़ू=आकांक्षा, [6] रूह=आत्मा, [7] लामुतनाही=निरन्तर (बे अन्त), [8] कनीज=दासी, [9] शुबा=सन्देह।

अनारकली ! ले हिन्दुस्तान को अपने क़दमों में झुका देख !
......आह ! आह !

चेतन चारपाई पर उठकर बैठ गया, लेकिन उसकी आँखों में घूमने वाले दृश्य और उसके कानों में गूँजने वाले सम्वाद लगातार चलते रहे। उसके सामने महारानी आ गयी और सलीम बना वह चिल्ला उठा--

......अगर माँ-बाप अपनी औलाद[१] के लिए अपनी कुर्बानियों को भूलना नहीं जानते तो उनका अपनी औलाद की आर्ज़ुओं पर अपनी आर्ज़ुओं को मुक़द्दम[२] समझना बेमानी है।
......आज तू क्या कह रहा है बच्चे ? इस नन्हें से दिल में माँ-बाप के खिलाफ़ इतना जहर भर गया है। सिर्फ़ इसलिए कि वह नहीं चाहते कि हरम की एक कनीज़ से शादी कर ले और दुनिया की नज़रों में अपने-आपको सुबक[३] बना ले।
......मैं जानता हूँ—यह दुनिया किस तरह देखने की आदी है (क्रोध से मुड़कर) जाइए, दुनिया की अज़ीम-तरीं सल्तनत[४] को मेरे पहलू की ज़ीनत[५] बना दीजिए और मैं फिर भी दुनिया की यह सरगोशियाँ[६] आपके कानों तक पहुँचा दूँगा— इस अहमक[७] को देखो। इसने सयासत[८] के पीछे अपने-आपको बेच डाला।

---

[१] **औलाद = सन्तान,** [२] **मुकद्दम = क्रम में पहले (अपनी आर्ज़ुओं को पहला दर्जा देना),** [३] **सुबक = हल्का,** [४] **अज़ीम-तरीं सल्तनत = महानतम साम्राज्य,** [५] **पहलू की ज़ीनत = पहलू की शोभा,** [६] **सरगोशियाँ = काना-फूसियाँ, फुसफुसाहटें,** [७] **अहमक = मूर्ख,** [८] **सयासत = राजनीति।**

......लेकिन सलीम हम इसी दुनिया के ख़ादिम[1] हैं। यह दुनिया हमारे एक-एक फ़ेल को ताड़ रही है। हम इस दुनिया से कैसे बेपरवा हो सकते हैं।

......अकबरे आज़म[2] और दुनिया के तअल्लुकात[3] पर कोई दूसरा फ़रजन्द[4] कुर्बान कर दीजिए।

......सलीम तू जो कह रहा है, समझ नहीं रहा ;

......मैं समझ रहा हूँ। ख़ूब समझ रहा हूँ। ले लीजिए, मुझसे सब कुछ ले लीजिए। इन महलों की इशरत[5], हिन्दुस्तान की सल्तनत, दुनिया की हुकूमत—सब कुछ ले लीजिए और मुझको और अनारकली को एक वीराने में अकेले छोड़ दीजिए।

......और अगर तेरे बाप यूँ न मानें।

......तो उनसे कह दीजिए कि अगर वो बादशाह हैं तो मैं बादशाह का बेटा हूँ। अगर उनकी रगों में मुग़लिया ख़ून दौड़ रहा है तो मेरी रगों में राजपूतों का लहू बेताब है और मैं जानता हूँ तलवार से क्या काम लिया जा सकता है।

चेतन उठकर कमरे में घूमने लगा। लेकिन उसे शांति न मिली, उसके सम्मुख फिर नाटक होने लगा। वह फिर सलीम बन गया। इस बार वह बन्दीखाने के दारोगा को रिशवत देकर अनारकली को देखने गया। उसने देखा वह तन्वंगी, वह कान्त-कामिनी बन्दीखाने के नंगे फ़र्श पर अचेत पड़ी है। लम्बे सुन्दर बाल किसी आकाशगामी के कटे

---

[1] ख़ादिम = नौकर, [2] अकबरे-आज़म = महान अकबर, [3] तअल्लुक = सम्बन्ध, [4] फ़रजन्द = पुत्र, [5] इशरत = सुख।

हुए पंखों की तरह बिखरे हुए हैं, मुख और भी पीला पड़ गया और आँखें बन्द हैं। उसका हृदय कंठ में आ गया। वह उसे होश में लाने का प्रयास करने लगा। उसने देखा, वह उसे जगाना चाहता है, वह नहीं जागती और उसके कानों में अपने ही मूक शब्द जैसे गूँजने लगे—

......अनारकली! अब तक बेहोश हो। जागो, मेरी रूह, जागो!

......जाग गयी। तुमसे बोल नहीं रही? तुम्हारी आवाज़ सुन नहीं रही? मेरे होशोहवास तो तुम हो। तुम्हारे होते मैं क्या बेहोश होने लगी।

......अनारकली! तुम दीवानी हो गयी हो।

......तुमसे किसने कहा। ज़ुल्म के उन पुर्ज़ों ने जो मेरे रोने पर हँसते थे, खिलखिलाते थे, क़हक़हे मारते थे, दरिन्दे![1] वीरान नींद में इनके क़हक़हों की गूँज आ रही है—मेरे पास से न जाना साहिबे आलम[2]। वे मुझे जीता न छोड़ेंगे। मार डालेंगे। छुरी भोंककर, गला घोंटकर, घूरकर, सिर्फ़ खिलखिलाकर!

चेतन का कमरा उसका दम घोटने लगा, उसी बन्दीगृह का-सा लगने लगा। वह बाहर निकल आया और सीढ़ियों की रेलिंग का सहारा लेकर खड़ा हो गया।

बाहर मकान, चौक, पेड़, पौधे—सब निशीथ नीरवता की गोद में

---

[1] दरिन्दे = हिंस्र पशु, [2] साहिबे आलम = बड़े साहिब (सलीम को नौकर और मुसाहब इसी नाम से पुकारते थे)।

लिपटे पड़े थे। ठंडी हवा चल रही थी और चाँद किसी बादल के पीछे से अपनी उदास, सजल ज्योत्स्ना से धरती को भिगो रहा था।

चेतन रेलिंग पर झुक गया। जैसे वही रानी की गोद हो—ठंडी, सुखद, स्निग्ध और वह सलीम बना अनारकली के जीवित दीवार में चुन दिये जाने के बाद विवश, लाचार, निराश और हताश उसमें आ लेटा हो। तभी महाबली अकबर के दुख और पश्चात्ताप से भरे शब्द उसके कानों में गूँजने लगे।

......ख़ुदाविन्दा[1] क्या मालूम था यों होगा? शेख़ू! मेरे मज़लूम[2] बच्चे, मेरे मजनून[3] बच्चे, अपने बाप के सीने से चिमट जा। अगर ज़ालिम बाप से दुनिया में एक राहत[4] भी पहुँची है, तेरे सिर पर उसका एक एहसान भी बाकी है तो मेरे बच्चे इस वक्त मेरे सीने से चिमट जा।

......मान जाओ शेख़ू! मान जाओ!!

......मुझे छू मत, एक दफ़ा बाप कह दे। सिर्फ़ अब्बा कहकर पुकार ले (रुद्ध कंठ से) मैं तुझे ख़ंजर तक ला दूँगा। मगर बेटा यह बदनसीब बाप, जिसे सब शहनशाह कहते हैं, अपना सीना नंगा कर देगा। ख़ंजर उसके सीने में भोंक देना। फिर तू देखेगा और दुनिया भी देखेगी कि अकबर बाहर से क्या है और अन्दर से क्या है? अकबर का क़हर[5], अकबर का सितम[6] और अकबर का ज़ुल्म क्यों है? उसके ख़ून में बादशाह का एक क़तरा नहीं। एक बूँद नहीं। वह सब-का-सब शेख़ू का बाप है। वह

---

[1] ख़ुदाविन्द=भगवान्, [2] मज़लूम=जिस पर ज़ुल्म किया गया हो, [3] मजनून=पागल, [4] राहत=आराम, सुख, [5] क़हर=कोप, [6] सितम=अत्याचार।

बादशाह है तो तेरे लिए, वह मज़दूर है तो तेरे लिए। वह क़ाहिर और जाबिर[1] भी है तो तेरे लिए। वह तेरा गुलाम है और मेरे जिगरगोशे[2] गुलामों से ग़लतियाँ भी हो जाती हैं।

चेतन की आँखें सजल हो गयीं। कितनी बड़ी ट्रेजेडी थी—कितनी महान् ट्रेजेडी! वहीं खड़े-खड़े चेतन इस ट्रेजेडी के भिन्न पहलुओं पर विचार करने लगा और सहसा उसकी सजल आँखें और भी सजल हो गयीं। किंतु उसकी यह नयी समवेदना अकबर या सलीम के प्रति न थी, बल्कि स्वयं अपने प्रति थी। उसे लगा जैसे यह ट्रेजेडी न अकबर की थी, न सलीम की, यह तो उसकी अपनी ट्रेजेडी थी। अपने-आपको सलीम अथवा अकबर के स्तर पर ले जाते ले जाते, कल्पना ही में उनके पार्ट करते-करते उसे सहसा अपनी स्थिति का ध्यान हो आया और उसके अपने अभाव दुगने होकर उसके सामने आ गये और आँसू उसके गालों पर ढुलक चले।

अकबर—उसे क्या हासिल न था? सलीम की उस दुर्बल-उपेक्षा के बावजूद वह महाबली था, भारत का सम्राट था और कदाचित् उस समय भी, जब वह भग्न-हृदय सीढ़ियों पर चढ़ा चला जा रहा था, अर्ध-चेतन में उसे इस बात का विश्वास था कि सलीम की यह दुर्बलता दूर हो जायगी। चेतन के सामने इतिहास के कई दृश्य घूम गये। इस काल्पनिक घटना पर उसने इतिहास का आवरण चढ़ा दिया और दोनों के समावेश में जब उसने अकबर की इस ट्रेजेडी को देखा तो वह अत्यन्त हल्की, अत्यन्त साधारण दिखायी दी।

और सलीम! उसका क्या गया? अनारकली के स्थान पर उसने

---

[1] **क़ाहिर और जाबिर = ज़ुल्म और ज़बरदस्ती करने वाला।**

[2] **जिगरगोशे = जिगर के टुकड़े।**

नूरजहाँ पा ली। फिर उसके पास माँ थी जो उसे दुखी देखकर गोद में ले सकती थी, उसे पिता प्राप्त था जो कह सकता था—'और मेरे जिगरगोशे गुलामों से ग़लतियाँ भी हो जाती हैं।'

लेकिन चेतन के पास क्या था? उसके माता-पिता कैसे थे? और उसके आँसू उमड़ चले। उसके कन्धे, उसका सारा शरीर झुनझुना उठा। टप-टप रेलिंग पर आँसू गिरने लगे। कितनी देर तक वह उसी दशा में खड़ा रहा। फिर जब भादों के बादलों-सा उसका हृदय बरस चुका तो अपने कुर्ते के छोर से आँसू पोंछ, नाक साफ़ कर वह धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरा।

रुल्दू भट्टे के मकान, घाटी के पेड़, ईदगाह का अखाड़ा—सब नीरव ज्योत्स्ना की चादर ओढ़े सो रहे थे! ठंडी बयार निःस्वन चल रही थी, बादल बे-आवाज़ उड़े जा रहे थे। किसी झींगुर अथवा टिटिहरी का स्वर भी सुनायी न देता था। केवल चेतन के पैरों की चाप इस महान-निस्तब्धता को भंग कर रही थी।

आँसुओं से चेतन के हृदय का बोझ हल्का हो गया था, पर उसके मस्तिष्क की नसों का तनाव कम न हुआ था। रात की उस धवल-शीतल-नीरवता में अपना दुख भूलकर उसका मन फिर मुगल रनवास में पहुँच गया। वह फिर कभी सलीम, कभी बख़्तयार, कभी सुरैया, कभी अनारकली, कभी दिलाराम और कभी महाबली का अभिनय करने लगा। उसे महसूस हुआ जैसे वह सब का अभिनय करना चाहता है। कर सकता है।

———

६७

लेकिन जब नारायण की सिफ़ारिश से (नारायण के अनुरोध पर उसके मित्र की सिफ़ारिश से) वह किसी प्रकार का शुल्क दिये बिना क्लब का सदस्य बन गया तो उसे न सलीम का पार्ट मिला, न अकबर का, वह न अनारकली बना, न दिलाराम—वह महज़ ज़ॉफ़रान बना।

चेतन को अपने अभिनय-कौशल के सम्बन्ध में बड़ा गर्व था। जब वह थर्ड ईयर में पढ़ता था तो आर्य-समाज के वार्षिकोत्सव पर 'श्रीमती मंजरी' खेला गया था। चेतन ने उसमें राय बहादुर जानकीनाथ का पार्ट किया था। उसमें उसे जो सफलता मिली थी वह अभी तक उसके मस्तिष्क में बनी हुई थी।

आर्य-समाज के किसी कॉलेज और विशेषकर जालन्धर के उस कॉलेज में किसी नाटक और फिर ऐसे नाटक का अभिनय होना जिसका आर्य-धर्म, अछूतोद्धार, अथवा किसी ऐसे ही धार्मिक विषय से दूर का भी सम्बन्ध न हो, उस समय लगभग असम्भव था। उस अवसर पर जो नाटक खेला जा

सका तो उसके दो कारण थे।

पहला तो यह कि उस वर्ष आर्य-समाज (कॉलेज सेक्शन) के वार्षिकोत्सव पर डी० ए० वी० स्कूल तथा डी० ए० वी० कॉलेज के प्रिंसिपल की (जिनके नाम के साथ 'त्यागमूर्ति' की नयी-नयी उपाधि लगी थी) सिलवर जुबली मनायी जा रही थी। ये त्यागमूर्ति पहले डी० ए० वी० स्कूल के हेड मास्टर बने, फिर अपनी दान लेने, स्कूल पर तानाशाही नियन्त्रण रखने और उसे राजनीतिक आन्दोलनों की सर्दी-गर्मी से बचाने और अवसर पड़ने पर राजनीति में भाग लेने वाले छात्रों को उनकी योग्यता और उनके भविष्य का विचार किये बिना स्कूल से निकाल देने की अपूर्व क्षमता के कारण न केवल स्कूल को इंटरमीडिएट स्टेंडर्ड तक ले गये थे, बल्कि उसके प्रिंसिपल भी बन गये थे। चेतन ने जिस वर्ष एफ़० ए० पास किया, उसी वर्ष कॉलेज में डिग्री कक्षाएँ खोली गयी थीं और चूँकि कॉलेज की यह अभिवृद्धि उन्हीं के त्याग, परिश्रम, संयम, निष्ठा, आत्मविश्वास और दृढ़प्रतिज्ञा के कारण हुई थी, इसलिए स्वयं बी० ए० होने पर भी वे उस डिग्री कॉलेज के (आनरेरी) प्रिंसिपल बने रहे। वे आर्य-समाज के आजीवन सदस्य थे, इसलिए अपने रहने खाने के अतिरिक्त उन्होंने अधिक की वांछा नहीं की। यह और बात है कि उनके साधारण बुद्धि के पुत्रों ने अपने इस त्यागमूर्ति पिता की बदौलत बड़ी-बड़ी कोठियाँ बनवा लीं और स्वयं वे त्यागमूर्ति होने पर भी कॉलेज होस्टल के 'गवर्नर' कहलाना पसन्द करते रहे और अपनी कोठी पर 'गवर्नर्ज़-कॉटेज' का बोर्ड लगाये रहे।

उस वर्ष इन त्यागमूर्ति की सिलवर जुबली मनायी जा रही थी, क्योंकि आर्य-समाज की निष्काम, निस्वार्थ, नि:स्वन सेवा करते-करते उन्हें पच्चीस वर्ष हो गये थे। दूसरे शब्दों में हर बरस बीसियों की संख्या में किताबों के कीड़े, रट्टू, स्वार्थी, निर्जीव, सरकार के दफ़्तरों में क्लर्की की कुर्सियों को सुशोभित करने वाले या अध्यापक बनकर ऐसे ही साम्प्रदायिक स्कूलों

में शिक्षार्थियों पर अत्याचार करने वाले अनुदार, संकुचित विचारों के अथवा जुनूनी छात्र पैदा करते-करते उन्हें २५ वर्ष हो गये थे । उनके छात्रों में से कुछ अपने रट्टू स्वभाव अथवा अत्यधिक परिश्रमी होने की योग्यता के बल पर ऊँचे दर्जे के क्लर्क भी हो गये थे, अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रतियोगिताओं में सफल होकर सरकार के दफ़्तरों में सुपरिंटेंडेंट, रजिस्ट्रार, हेड-क्लर्क, और जज तक बन गये थे। अपने इन छात्रों का (अथवा इने-गिने उन छात्रों का जो अपने कलुषित वातावरण के बावजूद अपनी जन्मजात प्रतिभा के कारण महान हुए) नाम ले-लेकर ये त्यागमूर्ति चंदा इकट्ठा करते थे । इन्हीं द्वितीय श्रेणी के छात्रों में से कुछ उनकी इस सिलवर जुबली पर उन्हें एक थैली पेश कर रहे थे। इसलिए ये 'त्यागमूर्ति' अत्यधिक प्रसन्न थे ।

दूसरा कारण यह था कि यद्यपि डिग्री क्लासें खुलने पर अधिकांशतः वही पुराने प्रोफ़ेसर बी० ए० की कक्षाओं को भी पढ़ाने लगे थे जो किसी जमाने में मैट्रिक और फिर एफ़० ए० को पढ़ाते थे, लेकिन यूनिवर्सिटी के सम्मुख सुरख़रू होने के लिए एक दो नये प्रोफ़ेसर भी रखे गये थे। इन्हीं में से एक गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर से नये-नये एम० ए० पास करके आने वाले युवक भी थे । इन प्रोफ़ेसर महोदय के आने से कॉलेज में कुछ नयी ज़िन्दगी आ गयी थी । कॉलेज की एक यूनियन बन गयी थी, एक ड्रामेटिक क्लब और डिबेटिंग सोसाइटी भी खुल गयी थी। और यद्यपि मन से प्रिंसिपल इन सब के विरुद्ध थे, लेकिन वे कुछ कह न पाते थे । ये प्रोफ़ेसर बड़े चतुर थे और कॉलेज की व्यवस्था के विरुद्ध छात्रों के विरोध को इन नयी दिलचस्पियों से दबाये रखते थे। दूसरी ओर इन त्यागमूर्ति को समझाते रहते थे कि अब जब आपका कॉलेज डिग्री स्टेंडर्ड तक उठ गया है तो आपको लाहौर के डिग्री कॉलेजों की कुछ परम्पराओं को अवश्य अपनाना चाहिए।

इन्हीं प्रोफ़ेसर महोदय ने 'श्रीमती मंजरी' का खेल चुना था। प्रिंसिपल की सिलवर जुबली के अवसर पर स्कूल के छात्र 'त्यागमूर्ति' के नाम से

एक नाटक खेल रहे थे, इसलिए प्रिंसिपल महोदय ने कॉलेज के छात्रों को भी नाटक खेलने की आज्ञा दे दी थी। उनका यह अनुरोध था कि नाटक स्वामी दयानन्द या स्व० लेखराम की जीवनी या अछूतोद्धार अथवा विधवा-विवाह के सम्बन्ध में खेला जाय। लेकिन एक तो उनके कॉलेज में कोई भी ऐसा न था जो नाटक लिख सके और दूसरे स्वामी दयानन्द की जीवनी पर कोई नाटक तैयार न था, फिर उन प्रोफ़ेसर महोदय ने बड़ी चतुराई और नीति से काम लेकर प्रिंसिपल को यह बात समझा दी कि यदि कोई धार्मिक नाटक खेला जायगा तो वह आर्य-समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा, क्योंकि अधिकांश नाटक राम, कृष्ण, शिव, गौरी आदि को अवतार मानकर लिखे गये हैं। एक 'श्रीमती मंजरी' ही ऐसा नाटक है जो सामाजिक है और जिसका स्कूल अथवा कॉलेज के छात्रों के चरित्र पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। फिर उन्होंने प्रिंसिपल को यह भी समझाया था कि आपके कॉलेज में मुसलमान छात्र भी पढ़ते हैं और 'श्रीमती मंजरी' ही एक ऐसा खेल है जिसमें हिन्दू-मुस्लिम मिलाप पर ज़ोर दिया गया है और वे मान गये थे।

चेतन ने नाटक में राय बहादुर जानकीनाथ का पार्ट किया था। वह तो उसमें नायक का पार्ट करना चाहता था, पर उस पार्ट के लिए प्रोफ़ेसर साहब ने हमीद को चुना था। हमीद गोरा, लम्बा, सुन्दर युवक था और जब शलवार कमीज़ पर तुर्की टोपी पहनता तो नाटक का स्वाभाविक हीरो दिखायी देता। इसके अतिरिक्त प्रोफ़ेसर साहब का वह प्रिय छात्र था, डिबेटिंग सोसाइटी का मन्त्री था और नाटक-क्लब का भी संचालक था। इसलिए चेतन ने राय बहादुर जानकीनाथ का पार्ट लेने पर ही सन्तोष किया था। शराबियों की तरह डगमगाने और लड़खड़ाने की नकल वह अपने पिता को देखकर बड़ी अच्छी तरह कर लिया करता था और फिर उसका यह भी ख़याल था कि वह 'आशिक़ाना पार्ट' करने ही के लिए

उपयुक्त है और यही सोचकर उसने अपने मन को तसल्ली दे ली थी। उसकी अभी मसें भी न भीगी थीं। इसलिए जब पाउडर लगाकर उसने पिसे हुए कोयलों की कालिख से आधी-आधी मूँछें बनायीं, सिर पर लटकेदार पगड़ी और कमर में धरती को छूती हुई धोती बाँधी तो शीशे में अपना रूप देखकर स्वयं झूम गया था।

यद्यपि नाटक की पूरी रिहर्सल न हुई थी और पर्दे भी भंगियों की उस नाटक समिति से माँगे गये थे,जिनका मन्त्री कॉलेज का जमादार था तो भी नाटक बुरा न हुआ था। अथवा यों कहना चाहिए कि कम पसन्द न किया गया था। चेतन को अर्से तक उसके मित्र जानकीनाथ के नाम से पुकारते रहे थे और उस सफलता से प्रोत्साहन पाकर उसने साल भर में कई स्थानीय नाटक-समितियों में भाग लिया था। महावीर दल की ओर से खेले जाने वाले नाटक 'अभिमन्यु वध' में वह जयद्रथ बना, सेवा समिति की ओर से अभिनीत होने वाले नाटक 'बिल्व मंगल उर्फ सूरदास' में वह 'राम भरोसे' बना। सिर घुटाकर, गेरुए वस्त्र धारण करके जब उसने साधुओं का कनटोप पहना तो उसके मित्र भी उसे न पहचान सके।

लेकिन जब अनारकली में अभिनय करने की इच्छा से नारायण को लेकर चेतन क्लब पहुँचा था तो उसे मालूम हुआ था कि सब बड़े-बड़े पार्ट बँट चुके हैं, केवल चंद कनीज़ों के पार्ट शेष रह गये हैं। डाइरेक्टर तो उसकी ग़रीब, मिसकीन, अनाथों की सी सूरत देखकर उनमें से भी कोई पार्ट उसे देने को तैयार न थे, पर जब नारायण ने बताया कि वह बड़ा उदीयमान लेखक और कवि है और पहले कई नाटकों में पार्ट कर चुका है तो उन्होंने चेतन को 'ज़ॉफरान' का पार्ट देना स्वीकार कर लिया। उनकी स्वीकृति का एक कारण यह भी था कि क्लब के पास लड़कियों का पार्ट करने वाले पात्रों का अभाव था।

चेतन पल भर के लिए असमंजस में पड़ गया था। क्या पुरुष होकर

उसे नारी का पार्ट करना चाहिए ? क्या उसे इतना साधारण-सा पार्ट करना चाहिए ? लेकिन उसके हृदय में नाटक को देखने की इच्छा इतनी प्रबल थी और प्रो० सिंह के कॉलेज को छोड़ देने के बाद एकाकी संध्याओं के अवसाद का भय उसके मन में अज्ञात रूप से इतना अधिक था कि वह मान गया था। अपने मन को उसने तसल्ली दे ली थी कि कलाकार को किसी तरह के पार्ट में भेद न करना चाहिए और दूसरी शाम पैरों में घुँघरू बाँध वह उस नृत्य का अभ्यास करने लगा था जो उसे पहले सलीम और फिर ज़िल्लेइलाही[1] के सामने करना था।

महीना भर तक वह रोज़ संध्या के समय क्लब जाता रहा। उसे अपना पार्ट न याद हुआ हो या उसके वहाँ उपस्थित होने की आवश्यकता हो, यह बात न थी। उसे रिहर्सलों में बड़ा आनन्द मिलता था।

उसका अपना पार्ट इतना बड़ा न था। उस चंचल दासी की भूमिका में उसे काम करना था जो कदाचित् हृदय के अज्ञात स्तर के नीचे शाहज़ादे का प्रेम छिपाये हुए है, किंतु दिलाराम और फिर अनारकली के कारण उसका प्रेम वहीं का वहीं दबा रहता है और जो अपनी उस दबी हुई आकांक्षा को अपनी चपलता के आवरण में छिपाये रखती है।

जाने ज़ॉफ़रान के सृजन में लेखक का कहीं यह उद्देश्य था भी या नहीं। क्योंकि प्रकट तो वह शाहज़ादे की उदास घड़ियों को घुँघरुओं की मादक स्वर-लहरी से बहलाने वाली एक चंचल, चपल दासी भर थी। वह भी ऐसी नहीं जैसी अनारकली। पर शायद अपनी भूमिका के महत्व को बढ़ाने के लिए चेतन ने ज़ॉफ़रान को भी सलीम की प्रेमिका के रूप में देखा था और उसे विश्वास था कि लेखक ने कहीं इस बात का आभास भले ही न

---

[1] ज़िल्लेइलाही = अकबर महान का खिताब।

दिया हो, पर ज़ॉफ़रान को सलीम से दबी-छिपी मुहब्बत थी ज़रूर! शायद चेतन के ऐसा सोचने का यह कारण भी था कि यदि कहीं सचमुच वह ज़ॉफ़रान होता तो वह ज़रूर सलीम से प्यार करता। इसके अतिरिक्त सलीम की भूमिका में डाइरेक्टर स्वयं काम करता था और वह इतना अच्छा पार्ट करता था कि सलीम के प्रति चेतन की दया कई गुनी बढ़ जाती और वह ज़ॉफ़रान बना उससे प्यार करता।

चेतन की स्मरणशक्ति बहुत अच्छी थी। अपना तो क्या उसे दूसरों का पार्ट भी कंठस्थ हो गया था। उसकी बड़ी इच्छा थी कि वह कुछ गाये भी। डाइरेक्टर भी चाहते थे कि यदि वह कुछ गा सके तो बुरा नहीं, पर जब उन्होंने चेतन से गाने के लिए कहा तो स्वर उसके कंठ से न निकला और जब निकला भी तो न जाने वह कैसा था कि उसे सुनकर सब-के-सब हँस दिये। इसलिए चेतन ने गाने का विचार छोड़ नृत्य की वह एक गत सीखने पर सन्तोष किया, जो उसे 'सितारा' के साथ मिलकर पहले अंक के दूसरे दृश्य में सलीम के सम्मुख करना था। किंतु एक तो उस दृश्य में सलीम अनारकली के खयाल में मग्न है और उनके नाच की ओर उसका ध्यान नहीं; इसलिए उस नाच में जान डालना लेखक का उद्देश्य भी नहीं, दूसरे ज़ॉफ़रान और सितारा से भी इस बात की आशा रखी जाती है कि वे उकताहट प्रकट करें और नाचती-नाचती थक जायँ या केवल धीमे स्वरों में बातें करती-करती महज़ पाँव हिलाती जायँ ताकि घुंघरू बजते रहें और नदी की लहरों के पट पर तस्वीरें बनाता-मिटाता शाहज़ादा जान ले कि नृत्य हो रहा है। लेकिन चेतन की इच्छा कुछ महत्व का अभिनय करने की थी और वह चाहता था कि वह और सितारा (सितारा का पार्ट करने वाला युवक) मिलकर 'रक्से माकियाँ' तैयार कर लें।

'रक्से माकियाँ' (अथवा मुर्गियों का नृत्य) वह नाच है जो नाटक में नौरोज़ के समारोह पर अनारकली के नृत्य से पहले ज़ॉफ़रान और सितारा

महाबली के समक्ष नाचती हैं। इस नृत्य में उनको लड़ाका बहनों का चरित्र दिखाना अभीष्ट है जिनकी कभी बनती है कभी बिगड़ती है। बनती कम है बिगड़ती ज़्यादा है। ज़रा कमर में हाथ डाला, गले मिलीं, गाल से गाल मिलाया और बिगाड़ का कारण उत्पन्न हो गया। एक ने दूसरी का आभूषण देखकर मुँह बनाया। दूसरी ने उत्तर में मुँह चिढ़ा दिया। बस मुर्गियों की तरह एक दूसरी से गुँथ गयीं। इसने उसके चुटकी भरी, उसने इसकी चुटिया खींची। खूब द्वन्द्व हुआ। एक हारकर उन्मन उदास बैठ गयी, दूसरी विजय के उल्लास में थिरकने लगी। क्षण भर बाद जीतने वाली को हा ने वाली पर दया आयी। रोती बहन को जा मनाया। आँसू पोंछे, गले लगाया। संधि हो गयी। अब रोने वाली ने आरसी देखी। भवें चढ़ायीं और फिर उसे बहन के आगे कर दिया कि लो अपनी सूरत तो देखो। इस पर दूसरी जल गयी। फिर द्वन्द्व होने लगा। इसने उसके चपत जड़ी। उसने इसे काट खाया और दोनों इतना लड़ीं, इतना लड़ीं कि बेदम होकर गिर पड़ीं।

चेतन को ज़ॉफ़रान के पार्ट में यह नृत्य सब से अधिक पसन्द था। जब से उसे पता चला था कि वह ज़ॉफ़रान बनेगा कई बार कल्पना में वह अपने-आपको यह नृत्य करते देख चुका था। चेतन का बाह्य जितना निष्क्रिय दिखायी देता था, अन्तर में वह उतना ही सक्रिय था। और इसलिए नृत्य को वह इसकी समस्त गति, स्फूर्ति, चांचल्य से अपने अभ्यन्तर में कई बार महाबली के समक्ष दिखा चुका था। और उसकी बड़ी आकांक्षा थी कि वह इसे सचमुच स्टेज पर करके दिखाये। किंतु एक तो क्लब में ऐसा सुन्दर और कलापूर्ण नाच सिखाने वाला कोई उस्ताद न था और दूसरे निर्देशक महोदय को चेतन की नृत्य सम्बन्धी प्रतिभा पर कुछ सन्देह था, इसलिए 'रक्से माकियाँ' काट दिया गया और चेतन को पहले अंक के दूसरे दृश्य में केवल घुँघरू बजाते रहने का आदेश मिला।

पार्ट उसका इतना अधिक रह न गया था, इसलिए अपने पार्ट की

रिहर्सल करने के बाद चेतन दूसरों का पार्ट देखता और बैठा-बैठा मन-ही-मन वह पार्ट किया करता था। फिर इस नाटक की तुलना उन नाटकों से किया करता जो उसने पहले पढ़े या देखे थे।

अनारकली भले ही एक काल्पनिक नाटक हो, जीवन की वास्तविकता से भले ही उसका बहुत नाता न हो तो भी वह नाटक अपने पहले के नाटकों से सर्वथा भिन्न था। काल्पनिक होने पर भी वह वास्तविक लगता था। पुराने नाटकों की तरह न इसमें बात-बात पर शेर और गाने थे, न अनुप्रासमय सम्भाषण। चेतन को हश्र के नाटक 'तस्वीरे वफ़ा'[1] (यहूदी की लड़की उर्फ़ रोमन दिलरुबा) का एक दृश्य याद था। उसने और हमीद ने एक बार मिलकर उसे खेलने की बात सोची थी, पर भूमिकाओं के वितरण पर झगड़ा होने के कारण सब स्कीम चौपट हो गयी थी। अनारकली के सम्वादों को सुनते समय 'तस्वीरे वफ़ा' का एक दृश्य कई बार उसके मस्तिष्क में घूम गया था।

[शहज़ादा मार्क्स यहूदी के भेस में उज़रा के कारखाने में काम करता है और एक दिन उज़रा की लड़की राहील को अपना भेद बता देता है और उसे साथ भाग चलने को कहता है। जब वह नहीं भागती तो सीने में खंजर भोंक लेना चाहता है। राहील मान जाती है। लेकिन जिस समय वे भागना चाहते हैं, उसी समय उज़रा आ जाता है।]

उज़रा—खबरदार! ठहरो कहाँ जाते हो। कहाँ भागकर छुपना चाहते हो।

निकल चलने की यह हसरत बड़ी मुश्किल से निकलेगी।
कलेजा तोड़ देगी बद-दुआ जो दिल से निकलेगी॥

---

[1] **तस्वीरे वफ़ा = विश्वास (मुहब्बत) की तस्वीर।**

तुम्हारी आर्ज़ू दुनिया से खाली हाथ जायगी।
जहाँ जाओगी मेरी बद-दुआ भी साथ जायगी।।

राहील—रहम, रहम, अच्छे अब्बा हम गुनहगारों पर रहम।

उज़रा—रहम, तुझ जैसी नाफ़रमान[1] नाहंजार पर, रहम इस जैसे बदमाश, बदकरदार पर—क्यों? इसी दिन के लिए मैंने तुझे आँखों में रखकर पाला था। इसी बुरे नतीजे के लिए अपनी जान की तरह सम्हाला था। (मार्क्स से) क्यों ओ रोमन क़ौम के ज़लील[2] कुत्ते! जिसने मुहब्बत से तेरी पीठ को थपथपाया, जिसने तुझे शरीफ़ और वफ़ादार समझकर अपनी गोद में बैठाया, उसी मुहसिन[3] पर हमला करने को आमादा हुआ, जिससे राहत और इज्ज़त हासिल की, उसी के आरामोराहत[4] मिटाने का इरादा हुआ।

मार्क्स—बुज़ुर्ग उज़रा! बेशक मैंने क़सूर किया। और ज़रूर किया। मगर यह मेरी दानिस्ता[5] खता न थी, बल्कि इस सूरत और इस दिल ने मुझे मजबूर किया।

बढ़ो आगे, छुरी लो और सीना चाक कर डालो।
खता इस दिल की है इसको जला दो खाक कर डालो।

राहील—नहीं! प्यारे अब्बा नहीं!

इस सुबहे-ज़िन्दगी की किसी तरह शाम हो
फेरो छुरी गले पै कि किस्सा तमाम हो।

---

[1] नाफ़रमान = पिता का आदेश न मानने वाली। [2] ज़लील = निकृष्ट। [3] मुहसिन = एहसान करने वाला। [4] आरामोराहत = आराम और सुख। [5] दानिस्ता = जो जान-बूझकर किया जाय।

इसकी न कुछ खता है न दिल का कसूर है
मैं इसको चाहती हूँ यह मेरा कसूर है।

उज़रा—बदबख़्त लड़की गैर कौम और गैर मज़हब की चाह छुरी होती है।

राहील—सच है, लेकिन दिल की लगी बुरी होती है।

वो जो शेरों को भी ठोकर से गिरा देते हैं,
वो भी बेदर्द मुहब्बत को दुआ देते हैं।।
जोर चलता नहीं इस इश्क के दरबार में कुछ
यह वो चौखट है कि सब सिर को झुका देते हैं।।

लेकिन अनारकली में न ये शेर थे, न ऐसी मुक्कफ़ा (अनुप्रासमयी) इबारत, न वह 'स्वगत' जो पुराने ड्रामों में कई-कई मिनट तक चलता था और जिसे थियेटर हाल के अन्त में बैठे हुए चवन्नी वालों को सुनाने के लिए अभिनेता गला फाड़-फाड़कर (अपने-आप से) कहते थे। हास्य के स्थल भी उसमें बड़े सुरुचिपूर्ण थे, जो ठहाके के बदले ओठों पर मुस्कान लाते थे। वास्तव में 'अनारकली' वह सीमा थी जहाँ उर्दू का पुराना नाटक आँख बन्द करता था और नया आँखें खोलता था। उसमें पुराने नाटकों का प्रभाव भी था और नये नाटकों के लिए निर्देश भी।

पुराने नाटकों का प्रभाव अनारकली में उसकी लम्बाई, इसके सम्वादों की अस्वाभाविकता और इसके कुछ दृश्यों की बनावट में था। पर चेतन ने तब कोई नया नाटक न पढ़ा था, न देखा था। उसके लिए अनारकली एकदम अभिनव कृति थी। पुराने नाटकों के शेरों और सम्वादों से जो प्रभाव जनता पर पड़ता था, उसका स्थान अनारकली में संकेतों और अलंकारों से भरे अस्वाभाविक सम्वादों से निकाला गया था। पर चेतन में तब इस छान-बीन और आलोचना की क्षमता न थी। वास्तविक को

अवास्तविक से अथवा यथार्थ को काल्पनिक से अलग करना उसने न सीखा था। उसका भावुक हृदय तो उन सम्भाषणों को सुनकर झूमने लगता। चौथे दृश्य में जब अनारकली और सलीम चोरी से मिलते तो चेतन का हृदय धक-धक करने लगता.....

[अनारकली हौज़ की सीढ़ियों पर बैठी शाहज़ादे के ध्यान में मग्न अपने-आप से बातें कर रही होती है। सलीम आ जाता है। वह उसे बुलाता है, पर जब वह उत्तर नहीं देती तो वह उसके कदमों पर झुक जाता है। अनारकली सहसा घबराकर उठ खड़ी होती है। सलीम उसके हाथ को थामकर उसे सीढ़ियों से उतार लेता है और आलिंगन-बद्ध कर लेता है। अनारकली चिल्ला उठती है।]

अनारकली—साहिबे आलम, साहिबे आलम!

[भावों के आवेश से वह हाँफने लगती है। अपने-आपको सलीम के आलिंगन में छोड़ देती है। सलीम उसे चूम लेता है। अनारकली आलिंगन से मुक्त होकर अलग हट जाती है]

—यह नहीं हो सकता। यह कभी नहीं हो सकता। यह हो भी गया तो ज़मीन अपना मुँह फाड़ देगी, आसमान अपने चंगुल बढ़ा देगा। यह ख़ुशी दुनिया की बर्दाश्त से बाहर है। इसका अंजाम तबाही है। शाहज़ादे भूल जाओ, शाहज़ादे भूल जाओ!

सलीम—(उसके समीप जाकर प्यार से उसकी कमर में हाथ डाल देता है) हम दोनों एक दूसरे के सीने से चिमटे हुए हों तो फिर ख़ौफ़ नहीं। आसमाँ हमें खींच ले और हम नयी रोशनियों में उठते चले जायँ। ज़मीन हमारे पैरों के नीचे से सरक जाय और हम नामालूम अँधेरों में गिरते चले जायँ, तुम्हारे

बाज़ू ढीले न पड़ें तो यह सब कुछ शीरीं होगा अनारकली, बे इन्तिहा शीरीं !

रिहर्सल जब इस स्थल पर पहुँचती तो चेतन सदैव सलीम बन जाता, नयी रोशनियों में उठता चला जाता, नामालूम अँधेरों में गिरता चला जाता। यह सब अवास्तविक उसे अक्षरशः वास्तविक मालूम होता।

इसी दृश्य में नाटककार ने नाटक की ट्रेजेडी का पता दे दिया है । जो होने जा रहा है, उसका आभास सलीम के आलिंगन में बद्ध अनारकली की इस शंका से हो जाता है—"अल्लाह क्या यह मुमकिन है ? फिर इसका अंजाम क्या होगा ? अल्लाह इसका अंजाम क्या होगा ?"

और अंजाम था नौरोज़े के समारोह पर नृत्य के मध्य (दिलाराम के षड्यन्त्र द्वारा) शराब को शरबत समझकर अनारकली का पीना, नशे की अवस्था में सलीम को सम्बोधित करके अपनी सच्ची भावनाओं को गाने में प्रकट करना और यह बेबाकी देख, अकबर का क्रोध से पागल होकर सिंहासन पर उठ खड़े होना और हाथ बढ़ाकर चिल्लाना —"हो !"

(महाबली के खड़े होते ही सारी महफ़िल खड़ी हो जाती है।)

अकबर--काफ़ूर !

काफ़ूर--ज़िल्लेइलाही !

अकबर--इस बेबाक औरत को ले जाओ और ज़िन्दां[1] में डाल दो !

अनारकली--महाबली ! महाबली !

(तख़्त की सीढ़ियों की ओर दौड़ती है पर बेहोश हो जाती है।)

---

[1] **ज़िन्दां=बन्दी घर ।**

अनारकली की माँ--(सीना थामे हुए आगे आती है) —ज़िल्लेइलाही ख़ुदा का वास्ता।

अकबर--ख़ामोश बुढ़िया।

सलीम--(उठकर बेताबाना[1] अकबर की ओर जाता है) ज़िल्लेइलाही! अब्बा जान!

अकबर--(सलीम को हाथ से ढकेल देता है) नंगे[2] खानदान!

रानी--(सलीम की ओर बढ़ना चाहती है) महाराज!

अकबर--(हाथ उठाकर) ख़बरदार!

(और यहाँ पर्दा गिर जाता है!)

यह दृश्य था जो चेतन को पुराने नाटकों की याद दिला देता। उसके सामने एक थियेटर-हाल घूम जाता, जहाँ वह दर्शकों में बैठा है। सामने लाहौर दुर्ग के शीश महल का ऐवाने खास, अपनी समस्त शान-शौक़त और सजधज के साथ खुला है। नौ रोज़ के जश्न ने इसकी भव्यता को और भी बढ़ा दिया है और इसमें यह दृश्य खेला जा रहा है। सीन पर पर्दा गिरते ही लोग तालियाँ बजाते हैं। पर्दा धीरे-धीरे फिर उठता है। अकबर हाथ उठाये, रानी सहमी, सलीम निराश, अनारकली बेहोश, उसकी माँ बेचैन, महफ़िल निस्तब्ध और दिलाराम जैसे क्षितिज को देखती-सी खड़ी है। पर्दा फिर गिर जाता है।

नाटक का यह दृश्य चेतन को उन्हीं पुराने नाटकों के वातावरण में ले जाता जहाँ टेबले की व्यवस्था होती थी और टेबले पर पर्दा गिरता था। लेकिन फिर भी 'अनारकली' में बहुत कुछ ऐसा था जो नवीन था। गत

---

[1] बेताबाना=आतुर होकर। [2] नंगे खानदान=वंश के नाम पर कलंक।

और आगत के मध्य यह नाटक जैसे एक पुल था जिस पर दोनों युगों के पदचिन्ह दिखायी देते थे। और चेतन उस दिन की बाट देख रहा था जब रिहर्सल खतम हो और वह इस नाटक को न केवल रंगमंच पर देखे, बल्कि उसमें अभिनय भी करे।

लेकिन अनारकली से पहले शिमले ही में चेतन को एक और नाटक देखने का अवसर मिला।

६८

अनारकली के स्टेज होने में अभी दस-बारह दिन शेष थे कि लाहौर का एक क्लब बड़े तमतराक से शिमले में नाटक खेलने आया। कुछ तो लाहौर से किसी क्लब का शिमले की ऊँचाइयों तक अपने सारे अमले को लेकर आना, फिर इस शान से कि उसके पात्रों में सभी सम्भ्रान्त घराने से सम्बन्धित थे और फिर विशेषता यह कि स्त्रिय़ों का पार्ट स्त्रियाँ ही करने वाली थीं। शिमले की छोटी-सी दुनिया में इस क्लब के आगमन से अच्छा ख़ासा शोर मच गया। 'पारसी विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' से 'जुबली कम्पनी' तक, सभी व्यापारिक कम्पनियों में लड़कियों की भूमिकाएँ प्रायः लड़कों द्वारा खेली जाती थीं, एमेचर कम्पनियों की तो बात ही दूसरी थी। फिर व्यापारिक कम्पनियाँ तो बाज़ारे-हुस्न से अपने मुख्य स्त्री पात्र चुन भी लेती थीं। (कम-से-कम नाच गाने का मुख्य काम उनके द्वारा सम्पन्न हो जाता था) किन्तु एमेचर सोसाइटियों के लिए स्त्री पात्र जुटाना उतना सुगम न था। उनके सदस्य चाहे रात के अँधेरे में छिपकर रूप की हाट का चक्कर लगा आयें, पर दिन के उजाले में रूप की पूजा उनके बस की

बात न थी। इसके अतिरिक्त जब नाच गाने और अभिनय को भाँड़ों और मीरासियों की चीज़ समझा जाता था, किसी मध्य-वर्गीय के लिए अपनी लड़की, बहन अथवा पत्नी को रंगमंच पर लाना कठिन था। रहे दर्शक सो वे लड़कों को लड़कियों की भूमिका में देखकर प्रसन्न थे और कई तो अपनी रुचि के नवयुवकों ही को स्त्री-भूमिका में देखने के इच्छुक थे। उनके स्थान पर यदि कोई स्त्री आ जाती तो उन्हें कदाचित् बुरा लगता।

किंतु यह तो साधारण दर्शकों की बात है। शिमले में निम्न-मध्य-वर्गियों के साथ उच्च मध्य-वर्गीय तथा उच्च-वर्गीय दर्शक भी थे, बल्कि थियेटर देखने वालों में अन्तिम दोनों वर्गों ही का बाहुल्य था। इसलिए इस मिश्रित पात्रों वाले क्लब की काफ़ी चर्चा थी और लोग नाटक के खेले जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

क्लब वाले पात्र-पात्रियों और प्रबन्धकों समेत आये थे, पर पर्दे तथा दूसरा साज़-सामान न लाये थे। वह सब उन्होंने 'यंगमेन्स एमेचर ड्रामेटिक क्लब' से उधार ले लिया था। इसी कारण चेतन को उस क्लब के नाटक की रिहर्सलें देखने, और उस नाटक के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानने और अन्त में 'भीष्म-प्रतिज्ञा' देखने का अवसर मिला।

शिमले में अपनी मिश्रित मंडली लेकर आने वाला यह क्लब कदाचित् उच्च-मध्य-वर्ग के लोगों द्वारा स्थापित किया गया था। जाति-पाँति का उन्हें उतना विचार न था और न नाचने गाने और अभिनय को ही वे इतना हेय समझते थे। कुछ पढ़ी-लिखी युवतियाँ (जिनमें से अधिकांश क्लब के सदस्यों की पत्नियाँ थीं) लाहौर के गर्ल्स कॉलेजों की दो एक अध्यापिकाओं और कुछ ऊँचे पदाधिकारियों की पत्नियों के साथ क्लब की सदस्याएँ बन गयी थीं और क्लब के खर्च पर शिमले चली आयी थीं। रुपया क्लब के पास यथेष्ट था और शायद उन लोगों की जेबों से आया था, जो नहीं

जानते थे कि अपने धन अथवा समय का क्या किया जाय, जिन्हें अपने जीवन में कुछ चटपटापन, कुछ सनसनी, कुछ ख्याति चाहिए।

यह क्लब इसलिए ही मिश्रित न था कि इसके अभिनेताओं में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी शामिल थीं, बल्कि इसलिए भी कि इसके संयोजकों में मुस्लिम और हिन्दू दोनों जातियों के लोग सम्मिलित थे। 'भीष्म-प्रतिज्ञा' नाम से जो नाटक कम्पनी खेलने जा रही थी, वह एक मुसलमान का लिखा हुआ था जो उर्दू के बड़े भारी नाटक तथा कहानीकार समझे जाते थे। हिन्दुओं का धार्मिक नाटक, एक मुस्लिम द्वारा लिखा जाय, जिसमें प्रतिज्ञा 'परतिज्ञा' और 'भीष्म 'भीषम' बन जाय, क्लब के मिश्रित होने का इससे दूसरा प्रमाण और क्या हो सकता है। इस मिलाप में केवल एक बात खटकती थी और वह यह कि क्लब के सदस्यों में चाहे मुसलमान पुरुष यथेष्ट संख्या में थे, पर मुसलमान महिला एक भी न थी। क्लब के मुसलमान सदस्य दूसरों की स्त्रियों से मिलना-जुलना, हँसना-खेलना ही शायद काफ़ी कुर्बानी खयाल करते थे और अपनी स्त्रियों के प्रति दूसरों को ऐसी स्वतन्त्रता देने का त्याग अपनी बिसात से बाहर समझते थे। इस मामले में वे अपने समस्त उदार विचारों के साथ कट्टर बने हुए थे। रहे हिन्दू सदस्य तो वे मुलसमानों को सभ्यता में पिछड़ा हुआ समझकर मन-ही-मन उन पर दया करके सन्तोष कर लेते थे।

खेल देखकर चेतन को घोर निराशा हुई। उन नाटककार महोदय ने, जो स्वयं एक सरकारी पद पर आसीन थे, नाटक के दो एक दृश्य अपने दस-पाँच मुसाहिबों और मातहतों की उपस्थिति में क्लब के सदस्यों को सुनाये थे और बड़े ज़ोरों से इस बात का दॉवा किया था कि यदि क्लब उनका लिखा हुआ वह नाटक खेलेगा तो दर्शकों का इतना जमघट होगा कि क्लब को निश्चय ही नाटक की रजतजयन्ती मनानी पड़ेगी।

नाटक सुनाने के पश्चात् उन्होंने अपने एक पूर्वलिखित नाटक 'क्रिशन सुधामा' (कृष्ण सुदामा) का उल्लेख किया था जिसे उन्होंने जुबली कम्पनी के भारी अनुरोध और पंजाब असेम्बली के स्पीकर की सिफ़ारिश पर पाँच

हज़ार रुपये में खेलने को दिया था। इस पर उनके मुसाहिबों ने इस प्रकार सिर हिलाया था जैसे स्पीकर महोदय ने उन्हीं के सामने उस कम्पनी की सिफ़ारिश की हो और उन्होंने स्वयं अपनी आँखों से कम्पनी के स्वामी को उन्हें पाँच हज़ार का चेक लिखकर देते देखा हो। इतने बड़े आदमी के मुँह से इतनी बड़ी गप सुनने पर और इतने लोगों द्वारा उसका समर्थन होने पर, उनकी ओर से क्लब की सहायता हेतु वह नाटक मुफ़्त ही पाकर क्लब के सदस्यों ने अपने-आपको धन्य माना था। इतने बड़े नाटककार का नाटक और मिश्रित पात्र! क्लब के सदस्य बड़े प्रसन्न थे और शिमले पर उनकी चढ़ाई सिकन्दर महान् की चढ़ाई से कम न थी। किंतु इन समस्त तैयारियों और 'मिक्स्ड-कॉस्ट' के समस्त विज्ञापन के बावजूद उनका वह नाटक तीन दिन तक न चल सका था। चेतन को वह नाटक देखने का सौभाग्य तीसरे दिन प्राप्त हुआ था। दर्शक थोड़े थे और जो थे वे भी उकताये हुए दिखायी देते थे।

वास्तव में उस समय पंजाब में लेखकों के जिस गुट का बोलबाला था, उसके अधिकांश सदस्य उच्च-मध्य-वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। उनमें से कोई किसी गवर्नमेंट कॉलेज में प्रोफ़ेसर था, कोई सरकार से आर्थिक सहायता पाने वाले पत्र का सम्पादक, कोई नवाबों और रईसों के मन बहलाव का सामान जुटाकर ऊँचा उठने वाला कवि और कोई दफ़्तरों की विभिन्न मंज़िलें पार करने वाला लेखक। 'भीषम-परतिज्ञा' का लेखक भी उन्हीं में से एक था। हिन्दी के शब्दों के साथ बँगला के अमर नाटककार द्विजेन्द्र लाल राय के नाटक का जो सत्यानास उसने अपने उस 'भीषम-परतिज्ञा' में किया था, उसे देखकर चेतन को बड़ा दुख हुआ था। चेतन ने द्विजेन्द्र लाल राय के नाटकों का अनुवाद हिन्दी में पढ़ा था। उनके समक्ष यह नाटक उसे अत्यन्त विरस जान पड़ा। सम्वादों में बड़े-बड़े शब्दों, अलंकारों, उपमाओं की भरमार थी, किंतु भावना और अनुभूति के अभाव में वह सब कोरा शब्दाडम्बर अत्यन्त अप्रिय लगता था और अभिनेता उन्हें बोलते समय नकल करते हुए दिखायी देते थे। महाराज शान्तनु की भूमिका में

क्लब का निर्देशक स्वयं काम कर रहा था। चेतन को उसके अभिनय में किसी तरह की विशेषता न दिखायी दी थी। फिर उसके मुख की आकृति बन्दर की-सी थी और महाराज शान्तनु का मुँह निश्चय ही बन्दर का-सा न रहा होगा (कम-से-कम चेतन ने जिन महाराज शान्तनु की कल्पना कर रखी थी, उनका मुख वैसा न था)। नृत्य, सम्वाद अभिनय, सीन-सीनरी—चेतन को सब कुछ स्वाँग का-सा लगा। रही अभिनेत्रियाँ तो वही वास्तव में दर्शकों में से लगभग सभी का आकर्षण-केन्द्र थीं। अभिनय करना तो भला वे क्या जानतीं, प्रायः सभी स्टेज पर पहली बार आने के कारण घबरा रही थीं। पुरानी अभिनेत्रियों की वह अनायासता उनमें न थी और यद्यपि चेतन के साथ बैठे दो एक दर्शकों ने उनमें से दो एक को देखकर दिल पर हाथ रखकर दीर्घ-निश्वास भी छोड़े थे, पर चेतन को उनमें से एक भी पसन्द न आयी थी।

जब वह थियेटर से निकला तो उसकी दृष्टि नोटिस बोर्ड पर लगे हुए निश्रित पात्रों के विज्ञापन पर गयी। पढ़ते ही उसे हँसी आ गयी। कितनी आशाएँ लेकर वह गया था और कितना निराश होकर लौटा? जब वह स्टेज पर से होकर घर को चलने लगा तो उसके सामने अनारकली के दृश्य घूमने लगे। अच्छा हुआ—चेतन ने मन-ही-मन सोचा—जो यह नाटक अनारकली से पहले खेला गया। इस नाटक की असफलता अनारकली की सफलता को और भी बढ़ा देगी। फीके फल को चखने ही से मीठे के स्वाद का पता चलता है। और चेतन का मन चाहने लगा कि दिन हवा हो जायँ और अनारकली के खेलने की तिथि समीप आ जाय।

६९

रात को गेटी थियेटर में अनारकली खेला जाने वाला था।

चेतन प्रसन्न था और नौ बजे ही माल पर घूमने को निकल आया था। उसने कविराज जी की पुस्तक खतम कर दी थी और आज सबेरे उसका अन्तिम परिच्छेद भी उन्हें सौंप दिया था। जब से उसने क्लब में जाना आरम्भ किया था, उसका समस्त शैथिल्य, थकन, उकताहट, अवसाद, एकाकीपन जैसे पंख लगाकर उड़ गये थे। क्लब में जाने पर कविराज जी को कोई आपत्ति न हो, इस विचार से वह सारा दिन काम में जुटा रहता था। महीना भर से वह मशीन की तरह काम करता आ रहा था। संध्या को जब सारे काग़ज़-पत्र सम्हालकर वह माल की ओर जाता तो उसके पाँवों को जैसे पंख लग जाते। नाटक के दृश्यों में घूमते, पात्रों की भाव-भंगियों को निरखते और कल्पना-ही-कल्पना में स्वयं उनकी भूमिकाओं में अभिनय करते हुए वह अपनी समस्त मानसिक और शारीरिक थकन भूल जाता। आज सुबह कविराज जी को उनकी पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद सौंप देने के बाद उसे अनुभव हो रहा था जैसे उसके कन्धों से कोई

बड़ा भारी बोझ उतर गया हो, जैसे उसके पाँवों में पड़ी हुई लौह-शृंखला कट गयी हो। जैसे अब वह निश्चिन्त होकर नाटक में पार्ट कर सकेगा।

दोपहर को थियेटर के हाल में नाटक की 'फुल-ड्रेस-रिहर्सल' होने वाली थी, पर चेतन को उस समय तक रुकने का धैर्य कहाँ?

'गेटी थियेटर' माल के सब से भरे पुरे भाग में बना हुआ है। हर वर्ष वहाँ शिमले की (अपेक्षाकृत सम्पन्न) नाटक समितियाँ, विशेष कर अँग्रेज़ी नाटक क्लब, अपने नाटक खेला करते थे। अनारकली से पहले भी हर सप्ताह उसमें कोई-न-कोई नाटक होता ही रहता था, पर सितार और दिलरुबा खरीद लेने की अपनी मूर्खता के कारण इच्छा रहने पर भी चेतन उनमें से कोई भी न देख पाया था। जब भी कभी कोई नाटक होता, वह थियेटर के बाहर लगे हुए नाटक के 'स्टिल' या 'एक्शन' चित्रों को ही देखकर सन्तोष कर लेता। 'भीष्म-प्रतिज्ञा' नेशनल ए० डी० सी० के शामियाने में हुआ था, पर उस शामियाने का 'गेटी थियेटर' से क्या मुकाबिला! आज सारे-का-सारा थियेटर उनके पास था, आज न केवल वह उसे जी भरकर देख सकेगा, बल्कि उसके रंगमंच पर पार्ट भी करेगा। यह सब सोचकर वह सुबह ही थियेटर का एक चक्कर लगाने के लिए निकल पड़ा था।

माल पर न संध्या जैसी भीड़ थी, न रौनक़। एक तरह की बेरौनक़ी ही वहाँ छायी हुई थी। दफ़्तरों को जाने वाले बाबू हाथ के छातों से छड़ियों का काम लेते हुए कभी अकेले, कभी दुकेले और कभी टोलियों में इधर-उधर चले जा रहे थे। इधर-से-उधर या उधर-से-इधर इसलिए कि माल के दोनों ओर सरकारी दफ़्तर हैं। एक ओर छोटे शिमले में पंजाब सरकार के और दूसरी ओर राम बाज़ार के आगे, मिलिट्री के। वे क्लर्क जो सरकारी क्वार्टरों में स्थान नहीं ले पाते या जिनमें अपने-अपने दफ़्तरों के पास बनी हुई कोठियों या दूसरी इमारतों में रहने की हिम्मत नहीं होती,

शिमले के अंचल में सितारों की तरह शोभित, अगनित बस्तियों में जहाँ-तहाँ दो-तीन कमरे ले लेते हैं। कई बार ऐसा होता है कि छोटे शिमले में काम करने वाले बाबुओं को नाभा स्टेट या बालूगंज और कैनेडी कॉटेज, या आर्मी-हेडक्वार्टर्ज़ में काम करने वालों को छोटा शिमला, संजोली या भराड़ी में मकान मिल पाता है और सुबह-शाम ये बाबू थकित शिथिल शिमले की सड़कों पर इधर-से-उधर या उधर-से-इधर जाते दिखायी देते हैं।

हो सकता है कि कुछ नये रंगरूट, नव-विवाहित, अविवाहित अथवा दुख को निर्विकार रूप से लेने वाले या फिर बाबूगिरी के जीवन की कटुताओं को फ़्लाश, ब्रिज, मदिरा आदि में भुला देने वाले उतने थकित न दिखायी देते हों, लेकिन अधिकांश के तन-मन इस मानसिक और शारीरिक दासता से बहुत पहले थक जाते हैं। सुबह-सवेरे दफ़्तरों की मेज़ों पर उनके आगमन की बाट जोहती फ़ाइलों, ड्राफ़्टों, रजिस्टरों, शार्टहैंड की कापियों, टाइप की मशीनों और फिर अफ़सरों की घुड़कियों का ध्यान उनके चेहरे पर उकताहट की लकीरें पैदा कर देता है और वे प्रायः हृदय के किन्हीं अज्ञात स्तरों के नीचे मनाया करते हैं कि दफ़्तर दूर हो जाय, बन्द हो जाय या 'लैंड स्लाइट' की चपेट में आ जाय और ऐसी ही दुराशाएँ पालते दफ़्तरों की ओर घिसटते चले जाते हैं।

कुछ ऐसे भी होते हैं जो चाहे दफ़्तर जाना नहीं चाहते किंतु दफ़्तर के बिना कोई ठौर-ठिकाना भी उन्हें दिखायी नहीं देता। दफ़्तर उनके लिए पनाह का काम देता है। बेसमझ या वृद्ध या बीमार या तुनक-मिज़ाज या कर्कशा या चिड़चिड़ी पत्नी और किकियाते, रिरियाते, किलबिलाते बच्चों की पलटन से उन्हें दफ़्तर के अतिरिक्त कहीं दूसरी जगह प्रश्रय नहीं मिलता। जेब की तंगी दूसरे सब मार्ग बन्द किये रहती है। वे जल्दी-से-जल्दी दफ़्तर पहुँच जाते हैं और जब तक बैठे रह सकें बैठे रहते हैं।

कौटुम्बिक झगड़ों को फ़ाइलों की विरसता में भुला देने के सिवा उन्हें और कोई मार्ग नहीं सूझता।

इन सब के अतिरिक्त ऐसे भी होते हैं जिन्हें दफ़्तर में उन्नति की भिन्न सीढ़ियों को शीघ्रातिशीघ्र पार करने की उतावली होती है। वे सब से पहले दफ़्तर पहुँचकर अफ़सरों की दृष्टि में उठ जाना चाहते हैं। घर-घाट, सैर-तमाशे से उन्हें कोई सरोकार नहीं। साहब की प्रसन्नता कैसे प्राप्त हो, किस प्रकार अपने शक्ति-हीन ढुल-मुल सीनियरों को पाँवों के नीचे रौंदते हुए आगे बढ़ा जाय और कैसे शत्रुओं को पछाड़ा जाय—इन्हीं विचारों में मग्न चाक-चौबन्द वे शिमले की सड़कों को नापते दिखायी देते ह।

लेकिन चेतन को उस समय उन क्लर्कों के भाग्यविधान से किसी तरह का प्रयोजन न था। उसे तो माल पर एक नया आकाश और नयी धरती दिखायी दे रही थी। अपने आन्तरिक उल्लास के दर्पण में उसे सब कुछ प्रसन्न, प्रफुल्ल दिखायी दे रहा था। चिन्तित से चिन्तित क्लर्क का मुख भी उसे प्रमुदित और प्रसन्न लगता था। नीले निखरे आकाश में श्याम श्वेत बादल उड़े जा रहे थे। चेतन विमोहित-सा उन्हें देख रहा था। मध्य में श्याम और कोरोंमें श्वेत वे जलद बाल छोटी-छोटी चंचल चपल किश्तियों की तरह विशाल नीलाम्बुधि में बहे जा रहे थे। चेतन उनमें से हरेक का अनुसरण करता। उसकी दृष्टि उसके पीछे-पीछे रिज के उन पेड़ों तक जाती जिनकी हरियाली के पीछे वे लोप हो जाते। कभी-कभी उसके पास से छनछनाती हुई कोई रिक्शा गुज़र जाती। वहीं देर तक खड़ा वह घंटी की छनाछन पर ताल देते हुए रिक्शा कुलियों के पैर, उनके पैरों के उत्थान-पतन के साथ उनकी गर्दन पर उठते गिरते हुए उनकी पगड़ियों के छोटे-छोटे झब्बे और नीली वर्दियों में आवृत्त एक फ़ौजी गति से हिलते हुए उनके शरीर देखता रहता। उसके लिए वह सब कुछ जैसे नया था, जैसे वह

यह सब पहली बार देख रहा था। दायीं ओर नीलाम्बर की पार्श्व-भूमि में दूर तक दुकानों के कँगूरे सूरज की प्रथम रश्मियों को चूम रहे थे। इनमें से एक पर चिलचिलाता हुआ चील का एक जोड़ा केलिरत था। नर की चोंच मादा के सिर में खुबी हुई थी। दोनों के पंख फड़फड़ा रहे थे और उनकी वासना-मय आनन्दजनित चिलचिलाहट प्रभात की उस नीरवता में दूर-दूर तक गूँज रही थी। मोहाविष्ट-सा चेतन, पंख फड़फड़ाते चिल-चिलाते उस जोड़े को, आकाशोन्मुख दुकानों के उन कँगूरों को और उनकी पृष्ठ-भूमि में दूर तक फैले हुए नीले आकाश को देखता रहा। यह चील भी विचित्र पक्षी है। वह मन-ही-मन हँसा। केलि के लिए किसी दुकान के कँगूरे अथवा किसी तार के खम्भे की चोटी के अतिरिक्त इसे कोई उप-युक्त स्थान ही नहीं मिलता! स्कॅंडल-प्वाइंट के पास से होकर वह गेटी थियेटर की ओर चला, तभी सामने से महाशय धर्मचन्द, लाला जीवनलाल कपूर, सम्पादक '**भूचाल**' के कन्धे पर हाथ रखे हुए आते दिखायी दिये।

चेतन ने जब लिखना आरम्भ किया था तो उसकी प्रथम रचनाएँ '**भूचाल**' ही में प्रकाशित हुई थीं। लाला जीवनलाल स्वयं हँसमुख, बातूनी एक के बाद दूसरी गप सुनाने और ठहाके पर ठहाका लगाने वाले मनमौजी जीव थे। किसी प्रकार के दुख को उन्होंने दिल में स्थान न दिया था और इसीलिए चौड़े मस्तक, चंचल शरारती आँखों और मुस्कराते चेहरे के साथ उनका शरीर भी स्थूलता के ओर मायल था। सफल पत्रकार थे। अशिक्षित, अर्ध-शिक्षित या फिर जाति-पाँति, धर्म-अधर्म के चक्कर में फँसे कट्टर हिन्दुओं के सिर मूँड़ने का ढंग उन्हें खूब आता था। उनके मन भाने वाला कोई वाद-विवाद वे अपने पत्र में चलाए रखते। उनकी दबी हुई वासना की भूख मिटाने के लिए एक्ट्रेसों की दुख भरी आपबीतियाँ, यूरोप के 'पापियों की' जीवन गाथाएँ, 'पतन के ज्वालामुखी पर खड़े यूरोप' में सुन्दरियों के मुकाबिले, 'यौवन की

सम्राज्ञी' कहाने वाली तन्वंगियों के जीवन की कहानियाँ अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाकर अपने पत्र में निरन्तर छापते रहते। पढ़ने वालों का धर्म भी बना रहता, वासना की भूख भी मिट जाती और वाद-विवाद में आज़ादी और आज़ाद-ख़याली को गालियाँ देने के लिए उपयुक्त उदाहरण और युक्तियाँ भी प्राप्त हो जातीं। निम्न-मध्य-वर्गीय लोगों के मनोविज्ञान की जो पकड़ उन्हें थी, किसी दूसरे पत्र-सम्पादक को न थी। यही कारण था कि उनका पत्र कई पुराने पत्रों को पीछे छोड़ गया था। महाशय धर्मचन्द भी उनके शिकार थे। लेकिन अपने घाव को दिल ही में लिये हुए वे उनसे मैत्री बनाये हुए थे और उन दिनों अपने इस प्रतिद्वन्द्वी को साथ लेकर वे ब्लैकमेलिंग के लिए राजा-नवाबों के यहाँ चक्कर लगाया करते थे।

यद्यपि चेतन ने अब भी वही कपड़े पहन रखे थे—वही कमीज़ पायजामा और वही पुराना ओवरकोट, लेकिन उसने पहले की तरह इन महाशयों से आँख नहीं चुरायी। जब वे उनके बराबर आ गये तो उसने आगे बढ़कर उनसे हाथ मिलाया। उसका सारा हीनभाव जैसे आज के दिन दूर हो गया था। इसी माल के सब से प्रसिद्ध थियेटर में वह आज रात को अभिनय करने जा रहा है। वह कलाकार है। उसका पद सम्राट से भी ऊँचा है। और अपने कलाकार सम्राट के आगे उसे ये दोनों महाशय अपनी समस्त सफलता के बावजूद अत्यन्त अकिंचन और हेय दिखायी दे रहे थे।

"कहिए, मिज़ाज कैसे हैं?" हाथ मिलाते हुए उसने बड़े तपाक से पूछा।

क्षण भर के लिए दोनों चकित से खड़े रहे। शिष्टाचार के नाते उन्होंने उत्तर दिया, "आपकी दुआ है।"

लेकिन चेतन ने उनके उत्तर और अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रश्न की प्रतीक्षा किये बिना अपने हाल-चाल का परिचय देना शुरू कर दिया। फिर बातों-बातों में उसने रात को गेटी थियेटर में होने

वाले नाटक का उल्लेख किया और उनसे पूछा कि वे नाटक देखने आ रहे हैं या नहीं। और फिर उनका उत्तर सुने बिना नाटक की महत्ता पर एक छोटा-सा भाषण दिया कि अनारकली को संसार में श्रेष्ठतम नाटकों के बराबर रखा जा सकता है। इसके बाद उसने डाइरेक्टर की प्रशंसा की और कहा कि उनके निर्देशन ने नाटक को चार चाँद लगा दिये हैं। ऐसा डाइरेक्टर यूरोप के किसी स्वतन्त्र देश में होता तो आर्मी-हेडक्वार्टर में क्लर्की की कुर्सी तोड़ने की अपेक्षा किसी बड़े थियेटर का स्वामी होता। "सलीम की भूमिका में शौकत साहब (डाइरेक्टर) पार्ट कर रहे हैं," उसने सोत्साह बताया, "लगता है जैसे सलीम का पार्ट उन्हीं के लिए बना है। शाहज़ादा सलीम का इतना सुन्दर, इतना स्वाभाविक अभिनय करते हैं कि वे मुगल सम्राट के महलों में यौवन की प्रथम हिलोर में बहते हुए स्वतन्त्र प्रकृति के उस शाहज़ादे का चित्र आँखों में खिच जाता है।" और अपनी रौ में नाटक में अभिनय करने वाले अन्य पात्रों के कौशल का बखान करते हुए उसने यह भी बताया कि वह स्वयं भी नाटक में भाग ले रहा है। उसने उन दोनों महाशयों को परामर्श दिया कि इतनी सुन्दर कलाकृति को वे अवश्य देखें और हाथ को ज़रा-सा झटका देकर छोड़ते हुए वह जैसे नशे में झूमता हुआ-सा गेटी थियेटर की ओर बढ़ा।

सिर पर नीला-नीला निस्सीम आकाश फैला था। सामने वर्षा के पानी से धुली जाकू की हरियाली थी और सड़क पर भरी-पूरी सूरज की धूप अपना वैभव बिखेर रही थी। चेतन को माल पर उस समय किसी प्रकार का भी तो अभाव नहीं लगा। उसके अन्तर की भाँति उसका बाह्य और उस बाह्य को छूता हुआ सारा वातावरण प्रसन्न, पुलकित और पूर्ण था।

७०

गेटी थियेटर के 'ग्रीन रूम' में चेतन ज़ाफ़रान के मेकअप की प्रतीक्षा में खड़ा था। यह अनुभव उसके लिए एकदम नया था। यद्यपि पहले भी, दो-चार बार उसे मेकअप करना पड़ा था, लेकिन तब पर्दे के पीछे अथवा नैपथ्य के एक ओर योंही मुँह पर पाउडर मलकर उसने पिसे हुए कोयले की स्याही से मूँछें और भवें बना ली थीं। किसी थियेटर के ग्रीन रूम में रूप-छल के समस्त प्रसाधनों की सहायता से, विशेष कर स्त्री-भूमिका में मेकअप करने का उसका यह पहला अनुभव था और वह सब उसे अजीब-सा लग रहा था।

उसने जब ग्रीन रूम का नाम सुना था तो उसने सोचा था कि वह कोई बड़ा-सा, गहरे हरे रंग का कमरा होगा जिसका फ़र्नीचर और पर्दे सब हरे होंगे। लेकिन जब संध्या को वह थियेटर पहुँचा और डाइरेक्टर ने उससे कहा कि जल्दी मेकअप कर लो और चेतन ग्रीन रूम कहे जाने वाले कमरे की ओर बढ़ा तो वह उसकी चौखट पर क्षण भर के लिए विमूढ़-सा खड़ा रह गया था।

तंग छोटा-सा कमरा, दीवारों पर दाढ़ियाँ, जटाएँ, बाल, गलमुच्छे और रूप-छल का अन्य सामान, एक कोने में एक सन्दूक़, दूसरे में ड्रेसिंग टेबिल और उसके सामने एक छोटा-सा स्टूल—बस यही था वह ग्रीन रूम! उसमें इतना भी स्थान न था कि चार कुर्सियाँ रखी जा सकें। लगता था जैसे किसी बाथ रूम या स्टोर को ग्रीन रूम में परिणत कर दिया गया है। वहीं चौखट पर खड़ा चेतन सोच रहा था कि आख़िर इस कमरे को, जिसकी दीवार पर हरे रंग का एक छींटा भी नहीं, ग्रीन रूम कहा ही क्यों जाता है?

लेकिन उसके पास उस समय ग्रीन रूम के नामकरण, उसकी परिभाषा अथवा लम्बाई-चौड़ाई के सम्बन्ध में विचार करने का समय न था। सितारा और अम्बर का पार्ट करने वाले लड़के हरमसरा (रनिवास) की कनीज़ों के कपड़े पहन रहे थे और दिलाराम का अन्तिम मेकअप हो रहा था। जेल का दारोग़ा (नाटक में जेल के दारोग़ा का पार्ट करने वाला) सन्दूक़ से कपड़े निकाल-निकालकर उन्हें दे रहा था। चेतन को खड़ा देखकर उसने उसे भी संकेत किया और चेतन अपने वस्त्र लेने को आगे बढ़ा।

जब 'अम्बर' और 'मरवारीद' कपड़े पहनकर शीशे के सामने जा खड़े हुए तो उनके स्थान पर खड़े होकर चेतन चुपचाप उन लड़कों को लड़कियाँ बनते हुए देखने लगा। नवयुवतियों के कपड़े पहने, वक्ष पर कृत्रिम छातियाँ लगाये वे लड़के अजब ज़नखे से लग रहे थे। क्षण भर बाद उसे स्वयं यही स्वाँग भरना था। तभी वहाँ खड़े-खड़े उसे पहली बार अनुभव हुआ कि अपनी समस्त असफलता के बावजूद लाहौर से शिमले आने वाला वह क्लब कितना सफल रहा था और अपनी सारी सफलता के साथ भी अनारकली में क्या कमी रह जायगी। माना कि नाटक छल है, असत्य है, पर उसकी सफलता की पराकाष्ठा यही है कि वह असत्य न

रहकर सत्य को छू ले। समस्त कला की शायद यही कसौटी है। कपड़े बाँटकर दारोग़ा (जो क्लब का मेकअप-विशेषज्ञ भी था) दिलाराम के मुख पर ग्रीज़ मलकर पाउडर लगाने लगा। उसने उसकी भवें और पलकें सँवारीं और मुख पर पाउडर की एक और तह जमाकर ओठों को रँगा। ज्यों-ज्यों चेतन दिलाराम को लड़के से लड़की बनते देखता रहा, लाहौर के उस क्लब का प्रयास उसे और भी स्तुत्य लगने लगा। उस दिन की अपनी समस्त उपेक्षा पर उसे हँसी आ गयी। उसे ख़याल आया कि यह दिलाराम (और अनारकली उससे भिन्न न होगी) जब स्वर्ग की अप्सरा कहलायेंगी तो क्या हँसी न आ जायगी ?

तभी दारोग़ा ने दिलाराम का मेकअप समाप्त किया और उसके बालों पर हाथ फेरते हुए उसे चूम लिया।

चेतन का मुख लाल हो गया। कानों के पास उसे कुछ सरसराता-सा प्रतीत हुआ। दिलाराम का पार्ट करने वाला लड़का कुछ सुन्दर था। वह सकुचाया हुआ-सा एक ओर खड़ा हो गया और दारोग़ा ने 'अम्बर' को स्टूल पर बैठने के लिए और चेतन को फ़ौरन कपड़े बदलने के लिए कहा।

यह दारोग़ा आर्मी-हेडक्वार्टर का एक तीस-पैंतीस वर्षीय बिगड़ा हुआ क्लर्क था, उसका विवाह न जाने इतनी आयु तक भी क्यों न हुआ था। मँझले क़द का दोहरा शरीर, छोटी ठोड़ी, गोल मुँह पर चेचक के दाग़, छोटी-छोटी दोनों ओर से कटी मूँछें, तंग माथा और घुँघराले बाल। उसकी आँखों में कुछ ऐसी अतृप्ति, कुछ ऐसी भूख और हिंसा थी कि एक तीव्र घृणा गोला-सा बनकर चेतन के गले में अटक गयी। जब अम्बर और मरवारीद का मेकअप करने के बाद (पुरस्कार स्वरूप) दारोग़ा ने उनका भी एक-एक चुम्बन ले डाला तो चेतन ने निश्चय कर लिया कि वह कभी इस अपमान को सहन न करेगा, वह इस ज़ोर से उसके मुंह पर मुक्का दे मारेगा कि उसके सामने के दाँत टूट जायँ।

तभी उनका निर्देशक अन्दर आ गया और दारोग़ा को किसी आवश्यक काम से भेज स्वयं जल्दी-जल्दी चेतन का मेकअप करने लगा।

चेतन को इस सारे क्लब में यह निर्देशक सब से पसन्द था। 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में डाइरेक्टर के मुकाबिले में वह कहीं सुन्दर था। निर्देशन में उसे अद्वितीय निपुणता प्राप्त थी। शायद उसका कारण यह था कि वह स्वयं एक बहुत कुशल अभिनेता था। उसका अभिनय देखकर चेतन मुग्ध हो जाया करता था। सलीम का पार्ट ही नहीं, अकबर से लेकर ख्वाजा सरा काफ़ूर तक, सब का पार्ट वह बड़ी कुशलता से कर लेता था। जब वह ताली बजाकर उस क्रोधित हीजड़े का पार्ट करता था तो हँसी के मारे पेट में बल पड़ जाते। महाबली का पार्ट करते समय उसकी आकृति पर वही रुद्र-गम्भीरता, वही लौ -दृढ़ता आ जाती। लगता जैसे कोई उकाब पर खोले उड़ा जा रहा है। चेतन ने अपने इस निर्देशक को रिहर्सलों में लगभग हर पात्र का पार्ट करके उन्हें बताते देखा था और वह उसकी इस योग्यता पर मुग्ध था। जब डाइरेक्टर उसके मुख पर ग्रीज़ पेंट कर रहा था तो चेतन ने आँखें उठाकर उसकी ओर देखा। उसकी दृष्टि डाइरेक्टर के माथे पर बनी हुई लकीरों की ओर गयी। इस नाटक को सफल बनाने के प्रयास में उसे इतनी जान खपानी पड़ी थी कि उसके ओठों की स्वाभाविक मुस्कान लुप्त हो गयी थी।

प्राइवेट क्लबों में किसी नाटक को रिहर्सलों क़ी मंज़िल से निकाल-कर रंगमंच तक ले जाना कोई सरल काम नहीं। क्लब के सभी सदस्य अपने-आपको हीरो (मुख्य पात्र) के योग्य समझते हैं और हीरो का नहीं तो कोई दूसरा महत्वपूर्ण पार्ट करना चाहते हैं। तब कई बार भूमिकाओं के वितरण पर ही नाटक की इतिश्री हो जाती है। यह बात यदि किसी प्रकार तय हो जाय तो नाटक समिति के पदाधिकारियों के सम्बन्ध में झगड़े

खड़े हो जाते हैं। इसके बाद चंदे, काम, सामान, थियेटर, उसकी सेटिंग और दूसरी बीसियों बातों की व्यवस्था करते-करते संयोजक हैरान हो जाता है। साधारणतया ऐसी संस्थाओं में एक ही व्यक्ति जी-जान से काम करने वाला होता है और उसी की हिम्मत और कार्यपटुता पर क्लब की सफलता निर्भर होती है। 'यंगमेन्स एमेचर ड्रामेटिक क्लब' की जान भी यही निर्देशक थे और इन सब पचड़ों से माथापच्ची करने के साथ रिहर्सलों में पात्रों को ट्रेनिंग देते-देते उसके मुख पर उस मुस्कान के स्थान पर जो नाटक के आरम्भ में शाहज़ादा सलीम के चेहरे पर होनी चाहिए, वह निराशा और उद्विग्नता दिखायी देती थी जो नाटक के अन्त में शाहज़ादे की आकृति पर आ जाती है।

इन्हीं सब बातों के सम्बन्ध में सोचता हुआ अपने उस डाइरेक्टर के भाग्य पर चेतन मन-ही-मन में द्रवित हो रहा था कि डाइरेक्टर की दृष्टि चेतन के वक्ष की ओर गयी और खीझकर उसने पूछा कि छातियाँ क्यों नहीं लगायीं ?

"मुझसे लगी नहीं।"

तब डाइरेक्टर ने अम्बर और मरवारीद को आदेश दिया कि वे चेतन के कुर्ते के नीचे छातियाँ फिट कर दें।

अम्बर और मरवारीद की भूमिका में काम करने वाले दोनों लड़के आगे बढ़े और उन्होंने चेतन के वक्ष पर कृत्रिम उरोज फिट कर दिये। चेतन ने शीशे में दृष्टि डाली तो अपने इस स्वरूप पर उसे मन-ही-मन हँसी आ गयी। उसका रूप यद्यपि पूरे तौर पर ज़नाना न हुआ था पर उसके बाल अम्बर और मरवारीद से लम्बे थे। इसलिए उनकी अपेक्षा वह अधिक ज़नाना दिखायी दे रहा था। अचानक न जाने उसे क्या सूझा कि उसने अपने बालों में आड़ी माँग निकाल ली और दूसरों की भाँति नकली बाल लगाने के बदले मुग़ल नर्तकियों की भाँति सिर पर चुनरी

बाँध ली। चेतन की आयु उस समय २२ वर्ष की थी। यद्यपि उसका मेकअप पूरा न हुआ था, पर मुख पर पाउडर लग चुका था। केवल ओठ, भवें और पलकें बनने से रह गयी थीं। गोल मुख, भरे हुए कल्ले, पतले गुलाबी ओठ, बड़ी-बड़ी आँखें, कानों में कृत्रिम बुन्दे और मुगल नर्तकियों की वेश-भूषा! पेंट की सफ़ेदी ने उसके सलोने रंग को गोरा बना दिया था। चेतन को अपना यह रूप बुरा न लगा। एक विचित्र प्रकार की गुदगुदी उसके शरीर में उठी।

डाइरेक्टर ने उसे दोनों कन्धों से पकड़कर एक कुशल परीक्षक की भाँति उसके कपड़ों और उन्नत उरोजों का निरीक्षण किया और तब उसके ओठों पर सुर्खी पेंट करने लगा। ओठों का मेकअप समाप्त करके वह उसकी पलकें सँवारने लगा था कि एक व्यक्ति ने ग्रीन रूम में आकर बताया कि बाहर दो व्यक्ति चेतन से मिलना चाहते हैं।

डाइरेक्टर ने कहा, "कह दीजिए उनसे कि इस समय वह मेकअप रूम में है, नहीं मिल सकता!"

"जी हमने बहुतेरा कहा था, पर वे माने नहीं, कहने लगे उनसे कहो, महाशय धर्मचन्द आये हैं और उनके साथ 'भूचाल' के सम्पादक लाला जीवनलाल कपूर हैं।"

"जीवनलाल कपूर!" चेतन का हृदय क्षण भर के लिए धड़क उठा। इस व्यक्ति से न मिलना उसे सदा के लिए अपने विरुद्ध कर लेना था। अनिच्छापूर्वक—"प्रसिद्ध अखबार के एडीटर हैं"—सफ़ाई देते हुए चेतन चुनरी का छोर उठाये अपनी उस नयी वेश-भूषा में कुछ ज़नखों की-सी चाल से चलता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ पर्दे के पीछे ग्रीन रूम को जाने वाली गेलरी के अन्दर वे महाशय खड़े थे।

चेतन को उस वेश-भूषा में देखकर निमिष मात्र के लिए दोनों

महाशय स्तम्भित रह गये। फिर अचानक लाला जीवनलाल ठहाका मारकर हँसे और उनका गगन-भेदी स्वर उस गेलरी में गूँज उठा।

बाहर से आने वाले क्षीण प्रकाश में चेतन ने देखा महाशय धर्मचन्द की कानी आँख भी हँस रही है।

तब अपनी खिन्नता को छिपाते हुए, उनके अट्टहास की ओर ध्यान न देकर चेतन ने कहा, "मैं इस नाटक में ज़ाफ़रान का पार्ट कर रहा हूँ। कहिए क्या आज्ञा है?"

"तुमने कहा था, सो हम चले आये। किसी से कहो हमें बैठा दें।"

चेतन का दिल बैठ गया—ये अजीब आदमी हैं—उसने सोचा—मैंने इनसे यह कब कहा था कि मैं आपको बैठा दूँगा। मैंने तो योंही सिफ़ारिश की थी कि खेल अवश्य देखिए। धर्म-संकट में पड़ा वह किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा।

"हमें महाराज कोटी की पार्टी में जाना था," महाशय धर्मचन्द बोले, "पर तुमने कहा था सो मैं चला आया, बल्कि महाशय जीवनलाल को भी साथ ही घसीट लाया।"

"मालूम नहीं, फ़्री पासों का प्रबन्ध है या नहीं," चेतन ने विवश होकर कहा। इसके बाद वह मुंह से जो कुछ बड़बड़ाया, वह यद्यपि उन दोनों महाशयों की तो समझ में नहीं आया, पर उसने कहना यह चाहा कि वह क्लब का बाकायदा सदस्य नहीं, केवल अभिनय के शौक़ से अस्थायी सदस्य बन गया है, आदि-आदि.....

इस पर महाशय धर्मचन्द के कन्धे पर हाथ मारते हुए लाला जीवनलाल ने फिर ठहाका लगाया।

इस बार चेतन के साथ महाशय धर्मचन्द भी कुछ खिन्न हुए और उन्होंने सफ़ाई दी कि इसी क्लब के एक बड़े सदस्य गत वर्ष उन्हें न्योता

देकर हार गये पर वह खेल देखने न आये। इस बार तो वे चेतन के अनुरोध पर उसका पार्ट देखने चले आये।

चेतन ने यह सब नहीं सुना। उसने कहा—"आप ठहरिए, मैं डाइरेक्टर से पूछ देखता हूँ।" और वह धड़कते हुए दिल के साथ वापस आया।

अचानक अपने डाइरेक्टर से कुछ पूछने का उसे साहस नहीं हुआ। जब वह मेकअप को समाप्त करने के लिए फिर स्टूल पर बैठ गया और डाइरेक्टर उसकी भवें और पलकें बनाने लगे तो उसने धीरे से कहा, "मुझे दो पास चाहिएँ। 'भूचाल' के एडीटर बाहर आये हुए हैं, उनके साथ उनके मित्र हैं......"

"हमने फ़्री पास बिलकुल बन्द कर रखे हैं।" डाइरेक्टर ने उसकी भवें बनाते हुए कहा।

"लेकिन एक्टरों के रिश्तेदारों को......" चेतन के कंठ में गोला-सा अटक गया।

"वे तुम्हारे रिश्तेदार तो नहीं!" डाइरेक्टर ने उसके स्वर-परिवर्तन की ओर ध्यान दिये बिना कहा।

चेतन चुप हो गया। बाहर जाकर उन सम्पादक महाशयों के सामने कुछ कहने का उसे साहस न हुआ। अपनी विवशता पर उसे बड़ा क्रोध आया। उसे लगा जैसे उसका भारी अपमान हुआ है। उसका जी चाहा वहाँ से भाग जाय। क्या वह उनका नौकर है? उनसे वेतन पाता है? यदि वे उसका इतना भी मान नहीं रख सकते तो वह ही क्यों उनकी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखे। लेकिन चाहने पर भी वह उठ न सका! उसे ध्यान आया, उसका पार्ट है ही कितना। डाइरेक्टर किसी दूसरे को दे देगा और प्राम्पटर की सहायता से नाटक चल जायगा। उसे दुख हुआ कि उसके पास कोई बड़ा पार्ट क्यों नहीं। हो न अनारकली (अनारकली

का पार्ट करने वाले लड़के) के साथ ऐसी बात? डाइरेक्टर उसके पाँव तक पड़ जायँ। उसे मालूम था, डाइरेक्टर किस प्रकार अनारकली की ख़ुशामदें करते थे, किस प्रकार उसकी छोटी-से-छोटी इच्छा का मान रखते थे।......

यही सब सोचते-सोचते, न जाने क्यों, न जाने कैसे संयम की पूरी कोशिश करने पर भी उसकी आँखें भर आयीं। उसका सिर झुक गया। उसने लाख चाहा कि वह आँसुओं को रोक ले, वहाँ से उठकर बाहर भाग जाय, किंतु जैसे किसी अज्ञात गोंद से उसका शरीर स्टूल से चिपक गया और उसकी आँख अनायास बह चलीं। जब डाइरेक्टर ने मेकअप को एक नज़र देखने के लिए उसकी ठोड़ी को अँगुली से उठाकर उसका मुँह ऊपर किया तो उसने चेतन की आँखों पर बहते हुए आँसू देखे।

वह चौंका। "क्यों-क्यों?..."

चेतन ने उत्तर नहीं दिया। केवल रुमाल से नाक साफ़ की। इतने बड़े युवक को, जिसके बारे में कहा गया था कि वह कवि है, लेखक है, पत्रकार है, इस प्रकार रोते देखकर डाइरेक्टर धर्म-संकट में पड़ गया। वह खिन्न-सा होकर हँसा। चेतन के कन्धे को थपथपाते हुए उसने उसे सान्त्वना देने की कोशिश की, पर चेतन और भी रो पड़ा। तभी अम्बर, मरवारीद, सुरैया, अनारकली सभी लड़के उस छोटे से कमरे में घुस आये। डाइरेक्टर ने कड़ककर सब को बाहर भेज दिया, और पुचकारते हुए उसने चेतन से कहा—"क्या बात है?"

तब बड़ी कठिनाई से अपने-आपको सम्हालकर चेतन उठ खड़ा हुआ। अपने कपड़ों को उतारने का प्रयास करते हुए उसने कहा, "मैं जाना चाहता हूँ।"

डाइरेक्टर फिर हँसा। उसकी यह हँसी स्नेह और दया से ओत-प्रोत थी। डाइरेक्टर कठोरता के लिए प्रसिद्ध था। यदि चेतन की

आँखों में आँसू न होते और वह पास न दिये जाने के कारण क्रोध से चले जाने की धमकी देता तो डाइरेक्टर उसे कान पकड़कर बाहर निकाल देता। किंतु चेतन तो रो रहा था। वह जाने के लिए कह रहा था, पर उसके पाँव वहीं जमे थे; कपड़े उतारने के लिए उसने हाथ उठाया था, पर वह हाथ कपड़ों को थामे उसी प्रकार निश्चल पड़ा था। और उसकी आँखों के आँसू थमने के बदले और भी बह निकले थे।

डाइरेक्टर ने एक एक्टर को आवाज़ दी और कहा कि देखो बाहर गेलरी में दो महाशय खड़े हैं। उनको ले जाकर अव्वल दर्जे में बैठा दो। और फिर जाते-जाते उसे रोककर कहा—"यदि वे चले गये हों तो उन्हें इधर-उधर ढूंढ़ लेना; यहीं माल या स्कैंडल-प्वाइंट पर होंगे।"

चेतन के आँसू आप-से-आप थम गये और वह फिर बैठ गया। वह चाहता था कि उसके आँसू बन्द न हों और वह रुके नहीं, भाग जाय। पर वह बैठ गया। और इतनी-सी बात पर बच्चों की तरह इस प्रकार रो उठने पर उसे खेद होने लगा।

डाइरेक्टर ने उसके आँसू पोंछे, पेंट खतम किया। भवों और पलकों को सँवारकर आँखों के नीचे हल्की-सी स्याही मल दी और एक बार परीक्षक की दृष्टि से उसे देखकर प्यार से चूम लिया। चेतन चौंका, पर उसे क्रोध नहीं आया। उसकी आँखें शीशे की ओर उठ गयीं। यह अजीब बात थी कि अम्बर और मरवारीद की अपेक्षा वह कहीं अधिक लड़की दिखायी देता था। डाइरेक्टर के इस चुम्बन से उसे एक विचित्र प्रकार की सहानुभूति, एक अजीब तरह की शांति मिली। उसने डाइरेक्टर की ओर देखा। दारोग़ा की आँखों में जो वासना थी, उसका वहाँ लेश भी न था। कुछ उस प्रकार का स्नेह उनमें वर्तमान था जो रूठे हुए बच्चे के मनाये जाने पर उसे प्यार से चूम लेने वाले पिता की आँखों में होता है।

उसके कन्धे को थपथपाकर डाइरेक्टर ने उससे कहा कि वह ऐनक उतार ले और तैयार रहे, क्योंकि उसे पहले ही दृश्य में जाना है।

चेतन ने एक दृष्टि दर्पण में डाली और ग्रीन रूम से बाहर निकल आया। तभी उसे मालूम हुआ कि उसके रोने की ख़बर एक विंग से दूसरे विंग तक चली गयी है। सभी पात्र उसकी ओर विचित्र दृष्टि और विचित्र मुस्कानों से देख रहे थे। उनकी मुस्कानों का सामना करना चेतन के लिए दुष्कर हो गया। इस सारे व्यापार से उसे वितृष्णा होने लगी। तभी उस व्यक्ति ने जो उन दोनों महाशयों को देखने गया था ग्रीन रूम में आकर कहा, "जी, वे तो मिले नहीं।"

"चिल्लाते क्यों हो!" डाइरेक्टर ने दाँत पीसते हुए धीरे से कहा।

यद्यपि डाइरेक्टर ने बड़े धीरे स्वर से उस व्यक्ति को डाँट पिलायी थी, चेतन ने यह वाक्य सुन लिया। डाइरेक्टर के सद्व्यवहार से उसके मन में क्रोध का जो बवंडर शांत हो गया था, वह एक बार फिर पूरे ज़ोर से उठ खड़ा हुआ। उसके लिए वहाँ एक क्षण भी ठहरना कठिन हो गया। कपड़े उतारने के लिए वह ग्रीन रूम की ओर बढ़ा कि नाटक की तीसरी घंटी बजी और पर्दा उठ गया। प्रार्थना आरम्भ हो गयी। इससे पहले कि वह अपने निश्चय को पूरा कर पाता उसके हाथ में किसी ने सितार दे दी और वह अम्बर, मरवारीद, सितारा, दिलाराम और दूसरी सखियों के साथ नाटक के पहले दृश्य के लिए पर्दे के पीछे जाकर बैठ गया। बड़ी कठिनाई से वे दृश्य के अनुसार बैठ पाये थे कि पर्दा उठा और नाटक आरम्भ हो गया।

मुगल सम्राट अकबर महान् के रनिवास की एक बारादरी का दृश्य था। यह बारादरी रनिवास के आँगन से दूर होने के कारण यौवनमाती दासियों की आरामगाह थी। वहाँ वे उस समय बड़ी-बूढ़ियों की दृष्टि से

परे, उनके ताँनों-तिशनों से दूर, अपने अवकाश का समय बड़े आराम से गुज़ार रही थीं।

एक बैठी चौसर खेल रही थी। कुछ शतरंज की चालों में संसार को भुलाये हुए थीं। एक तलबवाली ने पानदान खोल रखा था। लेकिन इस एकान्त स्थान का पूरा लाभ ज़ॉफ़रान और सितारा उठा रही थीं। चंचल और मुँहफट लड़कियाँ थीं—गाने बजाने की शौक़ीन! लेकिन संगीत से अधिक संगीतज्ञों की भाव-भंगियों की नकल करने ही से दिलचस्पी रखती थीं। पर्दा उठने पर ज़ॉफ़रान सितार के कान उमेठ रही थी और संगीतज्ञों की भाँति किसी तार को छेड़कर देख लेती थी कि ठीक भी कसा गया है या नहीं।

[नाटककार की तो यह इच्छा थी कि इस स्थल पर ज़ॉफ़रान और सितारा गायें, लेकिन न चेतन को वैसा अच्छा गाना आता था और न सितारा की भूमिका में काम करने वाले लड़के को, इसलिए डाइरेक्टर ने उन्हें केवल सितार के कान उमेठने और तारों को छेड़ते रहने का आदेश दिया था।]

दूसरी ओर दिलाराम, अम्बर और मरवारीद के साथ बैठी भेद भरी बातों में मग्न थी। पीढ़ी पर बैठी हुई दिलाराम अपने बढ़ते हुए सौन्दर्य के कारण सब से बढ़ी-चढ़ी दिखायी देती थी।

[उधर जब प्रार्थना हो रही थी, यह दृश्य जल्दी-जल्दी तैयार किया गया था। चेतन सितार लेकर बैठा ही था कि पर्दा उठ गया। प्रार्थना—जो उन्होंने सोचा था कि पाँच-सात मिनट लेगी—केवल तीन मिनट ही में समाप्त हो गयी थी और चेतन (ज़ॉफ़रान) अभी सितार को एक बार भी न छेड़ पाया था कि दिलाराम ने सम्वाद आरम्भ कर दिया]

दिलाराम—ऐ है तौबा क्या टन-टन लगा रखी है (नाटक में था—क्या गला फाड़ रही है) कान पड़ी आवाज़ सुनायी नहीं देती।

मरवारीद--दोपहर में दो घड़ी का आराम भी तो कम्बख़्तों ने हराम कर दिया।

ज़ॉफ़रान--(चेतन—जिसे सितार छेड़ना बिलकुल भूल गया था, यद्यपि डाइरेक्टर की ख़ास हिदायत थी) हम तुम्हें क्या कह रहे हैं?

[जब उसने गर्दन आगे बढ़ाकर यह वाक्य कहा तो कुछ लोग हँसे। चेतन ने यह भी देखा कि नैपथ्य में खड़ा हुआ डाइरेक्टर हाथ की दोनों अँगुलियाँ आँखों पर रखकर घबराया हुआ-सा उसे कुछ संकेत कर रहा है, किंतु उधर मरवारीद अपना वाक्य खतम करने को थी]

मरवारीद—घर का घर सिर पर उठा रखा है। बात करनी दुश्वार कर दी है, अभी बेचारी कुछ कह ही नहीं रही।

ज़ॉफ़रान--(चेतन—गर्दन बढ़ाकर और हाथ मटकाकर) फिर जिसे बातें करनी हों, कहीं और जा बैठे।

[लोग फिर हँसे। डाइरेक्टर ने और भी घबराकर अपनी दोनों अँगुलियाँ आँखों में गड़ायीं पर चेतन कुछ भी न समझा।]

अम्बर--पर यह तानसेन की बच्ची सितार ज़रूर बजायेंगी।

ज़ॉफ़रान--(डाइरेक्टर का आदेश था कि इस स्थल पर चेतन सितार फिर छेड़ने का प्रयास करे और अम्बर की बात सुनकर उसे छेड़ दे। किंतु चेतन यह निर्देश भूल गया और बोला) मुँह सम्हालकर बात कर अम्बर। वाह, बड़ी आयी कहीं की गालियाँ देने वाली। तू ही लगती होगी तानसेन की होती-सोती।

दिलाराम—नहीं मानेगी ज़ॉफ़रान। पटर-पटर बके जा रही है। मैं जाकर छोटी बेगम से कह दूँगी।

ज़ॉफ़रान--(सिर को झटका देकर) ऐ तो मना किसने किया है। एक बार नहीं हज़ार बार।

चेतन ने सिर को झटका दिया तो उसकी ऐनक खिसककर नाक

पर आ गयी। उसका दिल धक-सा रह गया। उसे समझ आ गयी कि उससे क्या ग़लती हुई है। अपने उस क्रोध के आवेश और घबराहट में वह ऐनक समेत स्टेज पर आ बैठा था।

उस समय जब वह ऐनक उतारने को था, क्रुद्ध-गम्भीर डाइरेक्टर लम्बे-लम्बे डग भरता स्टेज पर आया और चेतन से ऐनक लेकर चला गया।

दर्शकों में एक ठहाका गूँजा। सम्वाद फिर चलने लगा, लेकिन चेतन के सामने उसकी भूल जैसे साकार होकर आ गयी। अपने ऐनक पहने हुए रूप, डाइरेक्टर की घबराहट और दर्शकों के उपहास का ख़याल बार-बार आ उसे परेशान करने लगा। पर्दे उठते-गिरते रहे। चेतन की भूलें, डाइरेक्टर की परेशानी और उसके साथ काम करने वाले अभिनेताओं का उपहास बढ़ता रहा, और जब चेतन का पार्ट खतम हुआ तो डाइरेक्टर ने कुछ ऐसी दृष्टि से उसे देखा कि शेष नाटक देखने का मोह छोड़कर वह कपड़े बदल बाहर को भागा।

थियेटर से निकलकर वह अभी दो पग ही चला होगा कि सहसा बिजली चमकी, माल की दुकानों के कँगूरे घिरी हुई घटा की पृष्ठ-भूमि में चमक उठे और वर्षा का पहला तरेड़ा उसके मुँह पर पड़ा।

७१

कड़ुवी आँखें मलता हुआ चेतन हड़बड़ाकर उठा। अन्दर के दरवाज़े में कविराज खड़े मुस्करा रहे थे।

रात चेतन को नींद न आयी थी। नाटक को बीच ही में छोड़कर वर्षा में भीगता हुआ वह घर चला आया था। थियेटर में रुककर अपने सहकारियों के उपहास का भाजन बनने की अपेक्षा उसने इन्द्र देवता का कोप सहना श्रेयस्कर समझा था। अपनी असफलता पर वह इतना निराश और खिन्न था कि यदि उस समय वर्षा न हो रही होती तो वह रात भर शिमले की सड़कों पर घूमता रहता। उसके सपनों की पतंग जिसे वह एक महीने से निरन्तर ढील दिये जा रहा था, अचानक झपकी खाकर कट गयी थी। उसे आकाश का तारा बना देखने की हसरत उसके मन ही में रह गयी थी। कटी हुई डोर के अतिरिक्त उसके हाथ में कुछ भी न रहा था। इसी डोर को खींचता, उलझाता-सुलझाता, जलता-भुनता, खीजता-भीगता वह चला आया था।

धार्मिक वातावरण में पलने पर भी चेतन के अर्ध-चेतन मन में कहीं

भी भाग्य में आस्था न थी, इसलिए सहसा महाशय जीवनलाल के आगमन और उसके बाद होने वाली घटनाओं को भाग्य का विधान समझकर उसे सन्तोष न हो रहा था। जब वह कपड़े उतारकर बिस्तर में लेटा तो उस घटना के विश्लेषण में लीन हो गया और उसकी नींद उड़ गयी। वह कभी महाशय जीवनलाल के घटियापन को कोसता, कभी निर्देशक की तानाशाही को और कभी अपनी भावुकता को। बार-बार एक ही घटना को सब ओर से देखकर और खीजकर जब वह सोने का प्रयास करता तो घूम-फिरकर वही घटना फिर उसके सम्मुख आ जाती। उसने उठकर पढ़ने की और फिर लिखने की कोशिश की, कमरे में चक्कर भी लगाये, कनपटियों को सहलाया भी, किंतु जब भी उसने लेटने अथवा सोने का प्रयास किया, उसके कानों में महाशय धर्मचन्द और जीवनलाल के ठहाके, अभिनेताओं की कानाफूसियाँ, निर्देशक की डाँट और दर्शकों के अट्टहास गूँजने लगते। प्रातः के चार बजे होंगे जब उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह अब दुबारा थियेटर न जायगा, शेष दो दिन के प्रोग्राम में भाग न लेगा और सबेरे ही कविराज जी से कह देगा कि वह वापस जाना चाहता है।

न जाने इस फ़ैसले से उसे सन्तोष हो गया, अथवा उसका मस्तिष्क और शरीर दोनों थककर चूर हो चुके थे कि यह निश्चय करके जब वह लेटा तो उसे तत्काल नींद आ गयी थी।

"कहो अभी तक सो रहे हो?" कविराज जी उसकी चारपाई पर आ बैठे और उसकी पीठ को थपथपाते हुए बोले, "रात नाटक अच्छा हो गया।"

"अच्छा ही हो गया होगा" चेतन ने अन्यमनस्कता से कहा, "मेरे तो सिर में दर्द होने लगा था, मैं चला आया था।"

"ओह !" कविराज जी ने खेद प्रकट करते हुए कहा, "अब तो ठीक है, तुम्हारी तवीयत !"

"जी !" चेतन ने कहा, यद्यपि उस समय सचमुच उसके सिर में पीड़ा हो रही थी।

"कुंडी खुलवाने में तो कष्ट नहीं हुआ ?" कविराज जी ने सहानुभूति प्रकाशित करते हुए कहा। "मैंने मन्नी से कह दिया था।"

"जी नहीं !"

और चेतन उनसे कहना चाहता था कि अब उनकी पुस्तक तो समाप्त कर दी है, इसलिए वह जाना चाहता है, पर उसे बात आरम्भ करने का अवसर दिये बिना कविराज जी ने अपनी बात शुरू कर दी।

उन्होंने पहले उस पुस्तक की प्रशंसा की जो उसने एक दिन पूर्व समाप्त करके उन्हें दी थी; कहा—उन्हें इस बात का सन्तोष है कि काम के साथ-साथ चेतन ने अपना स्वास्थ्य भी ठीक कर लिया है। फिर शिमले के मौसम का ज़िक्र किया कि जून, जुलाई और अगस्त में वर्षा का ज़ोर रहता है, सेहत बढ़ाने वाला मौसम तो सितम्बर के महीने ही का होता है। और फिर उन्होंने बताया कि अभी उनका सितम्बर तक वहाँ रहने का विचार है और वे चाहते हैं कि चेतन भी तब तक वहीं रहे और सितम्बर के स्वास्थ्यवर्धक महीने में पूर्ण रूप से अपना स्वास्थ्य सुधार ले। अन्त में जैसे उन्हें अचानक ख़याल आ गया हो, वे बोले "बेकार समय में यदि तुम चाहो तो मेरे लिए एक उपन्यास लिखकर दे सकते हो।"

"उपन्यास !" चेतन की आँखों में आश्चर्य था।

"तुम अपने लिए जो उपन्यास लिख रहे हो," कविराज जी ने कहा, "उसके कुछ अंश मैंने तुमसे सुने हैं। मुझे वे बड़े सुन्दर लगे हैं। तुममें

प्रतिभा है। एक छोटा-सा उपन्यास तुम मेरे लिए भी लिख दो। अभी तो हम डेढ़ महीना यहाँ रहेंगे।"

"पर आप क्या करेंगे उपन्यास?" चेतन ने अपने जाने की बात भूलकर विस्मय से पूछा।

"अरे भई," अपनी मुस्कान को तनिक और फैलाते और अपने मनोरथ को तनिक और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा, "तुम किसी ऐसे युवक की कहानी लिख सकते हो जो अपने हाथों अपने यौवन का सत्यानास कर लेता है। यौवन सम्बन्धी विषयों में बालक की जिज्ञासा, अज्ञानी माता-पिता का बच्चे के प्रश्नों को टालना, बचपन की इस जिज्ञासा का बढ़ना, कुसंगति, स्कूल कॉलेज के दूषित वातावरण, नवयुवक का साथियों से अपनी जिज्ञासा को प्रकट करना, उसका कुमार्गों में जा पड़ना, इन सब बातों के कारण यौवन की बहिया में युवक के पाँवों का डगमगा जाना और आचरण भ्रष्ट होकर जवानी के अमूल्य रत्न को अपने हाथों गँवा देना, रोना-पछताना और अन्त में कविराज जी की शरण में पहुँचकर गयी हुई जवानी को वापस पाना। बस यह उस छोटे से उपन्यास के परिच्छेद हो सकते हैं।" और वे मूँछों में मुस्कराये!

चेतन पहली पुस्तक लिख देने पर ही पछता रहा था। बोला, "मेरे लिए शायद ऐसा उपन्यास लिखना कठिन हो।"

कविराज हँसे। उसकी पीठ को थपथपाते हुए बोले, "तुम्हें अपनी प्रतिभा और शक्ति का पूरा ज्ञान नहीं।"

"मैं अपना ही उपन्यास नहीं लिख पाया।"

"तुम प्रयास तो करो। एक परिच्छेद लिखो, देखें कैसा बनता है?"

और सदा कठिन कामों को निडर और निःसंकोच हाथ में लेकर, उन्हें पूरा करने का सदुपदेश देते हुए, उन्होंने अपने जीवन के उदाहरणों

की पृष्ठ-भूमि में उसे 'आत्मविश्वास' पर एक छोटा-मोटा भाषण दिया।

चेतन चुपचाप सुनता रहा। इससे पहले कि वह कुछ और कहता, वे उसकी पीठ को थपथपाकर उसे एक परिच्छेद लिखने का प्रयास करने का आदेश देकर चले गये।

७२

"यह आपकी चिट्ठी आयी है बाबू जी!"

चेतन अनमना-सा लेटा हुआ था। सुबह कविराज जी के दुकान जाने के बाद ही से वह इस तरह लेटा था। नहाने-धोने और खाना खाने भी न गया था। लेटा रहा था और गत अढ़ाई महीने की घटनाओं में खोया रहा था। बाहर जाते उसे शर्म आती थी और कविराज जी से क्या बहाना बनाये, यह उसकी समझ में न आता था। दोपहर को वे घर आये थे तो खिड़की में से उन्होंने पूछा था, "कहो कुछ लिखा ?" और जब उत्तर में वह चुप लेटा रहा था तो उन्होंने स्वयं ही कहा था, "कोई बात नहीं, आज आराम करो, कल लिखना—Try, Try again Boys—और वे हँसते हुए अन्दर चले गये थे। चेतन को शायद झपकी आ गयी थी। वह सपना देख रहा था कि वह सामान बाँधे कालका के स्टेशन पर खड़ा है, पर गाड़ी नहीं आती। फिर उसने देखा कि स्टेशन तो गेटी थियेटर की पोर्च है और अनारकली का निर्देशक उसे अन्दर की ओर खींच रहा है कि उसके कान में मन्नी के शब्द पड़े। उसने आँखें खोलीं। जहाँ सुबह

कविराज खड़े थे, वहीं चौखट में पत्र हाथ में लिये मन्नी मुस्करा रही थी।

चेतन लपककर उठा। लिफ़ाफा मन्नी के हाथ से लेकर उसने खोला, पढ़ा और उछल पड़ा "मन्नो मैं जा रहा हूँ।"

मन्नी चौखट से इधर उसके कमरे में आ गयी, "कहाँ बाबू जी?"

"बस मैं यहाँ से जा रहा हूँ" चेतन ने उल्लास से कहा, "यहाँ से जालन्धर जाऊँगा, मेरी साली की शादी है, फिर वहाँ से लाहौर!"

"आपकी बीबी भी तो वहीं होंगी?" अपने पीछे किवाड़ भेड़ते हुए उसने कहा और उसके ओठों पर एक अरमान भरी मुस्कान फैल गयी।

अपराह्न का समय था। कविराज खाना खाकर अपनी पत्नी को साथ लिये बाहर चले गये थे और नन्हा शायद सो रहा था। चेतन ने मन्नी की उन मुस्कुराती हुई आँखों में वही चमक देखी जो उसने कभी अपने झरोखे में बैठी प्रकाशो की आँखों में देखी थी। वह दरवाज़े के साथ पीठ लगाये खड़ी मुस्करा रही थी। चेतन ने देखा, मिस्सी की कालिमा उसके दाँतों की अवलि को और भी चमका रही है। उसके शरीर में झुरझुरी-सी उठी। उसने अँगुलियाँ चिटकायीं और अंगों को झँझोड़ती-सी अँगड़ाई ली।

"फिर कब आयेंगे बाबू जी?" मन्नी चहकी।

"अब मैं नहीं आऊँगा, मन्नी मैं इतने ही से ऊब गया हूँ।"

"बीबी होती तो देखती कैसे ऊबते?" और वह हँसी।

उस हँसी में न जाने कैसी बात थी कि चेतन का शरीर तन गया। इस तनाव को दूर करने के लिए वह उठकर कमरे में चक्कर लगाने लगा। लेकिन घूमते-घूमते उसने दरवाज़े का पर्दा खींच दिया और खिड़की के पट लगा दिये। मन्नी वहीं खड़ी मुस्कराती रही। उसकी आँखों में

तृष्णा की चिनगारी जो चेतन को शिमला आते हुए दिखायी दी थी, जैसे अपनी राख को हटाकर सहसा चमक उठी। घूमता-घूमता चेतन उसके पास जा खड़ा हुआ।

"हमको कहाँ याद रखोगे बाबू जी!" कनखियों से उसने चेतन की ओर देखा।

"तुम्हें कैसे भूल सकता हूँ, मन्नी!" चेतन का स्वर आर्द्र हो चला, "तुम अगर यहाँ न होतीं तो मेरे लिए यह अढ़ाई तीन महीने बिताना कठिन हो जाता।" उसने मन्नी का हाथ अपने हाथ में ले लिया, "मुझे तुम्हारे कारण कितना सुख, कितनी तसल्ली, कितना आराम मिला है," उसने मन्नी के हाथ पर धीरे-धीरे अपना हाथ फेरा, "तुम्हारे सामने अपना दुख-दर्द खोलकर मैं कई बार हल्का हुआ हूँ।"

वहीं दरवाज़े से पीठ लगाये मन्नी मन्त्र-मुग्ध-सी सुनती रही। चेतन उसके हाथ को अपने हाथ में लिये प्यार से उस पर अपना हाथ फेरता रहा। मन्नी ने विरोध नहीं किया। उसके शरीर में कई बार सिहरन उत्पन्न हुई, पर वह बोली नहीं। और जब कोने से पीठ लगाकर चेतन ने उसको अपनी ओर खींचा तो वह अनायास उसके वक्ष से आ लगी। क्षणिक आवेश में चेतन ने उसे अपने सीने से भींच लिया। कुनमुनाती-सी वह उसके शरीर से चिमटी रही। अपना मुँह भी उसने उसके वक्ष में छिपा लिया और चेतन केवल उसका गाल ही चूम सका।

तभी, जब वह उसकी ठोढ़ी को ऊपर उठा रहा था, दूसरे कमरे में नन्हा रो उठा।

नन्हें की वह रुदन-ध्वनि जैसे बिजली के अदृश्य तार-सी उन्हें छू गयी। किवाड़ खोलकर मन्नी अन्दर चली गयी और चेतन अपनी चारपाई पर आ गिरा। वायु के एक तीक्ष्ण झकोरे से खिड़की के पट खुल गये। क्षण भर के लिए चेतन के मस्तिष्क पर जो अँधेरा छा गया था, वह छँट गया।

यह उसे हो क्या गया था? यह मन्नी को क्या हो गया था? वह सोचने लगा। उस क्षण में क्या विशेषता थी? पहले भी तो इतनी बार मन्नी आयी थी, एकान्त में आयी थी। मिनटों नहीं, घंटों बैठी रही थी। कभी उसके मन में यों विकार उत्पन्न न हुआ, कभी उसकी आँखों में तृष्णा यों प्रकट न हुई। उसे जब शिमला आते समय की घटना का स्मरण होता था, वह अपने-आपको कोसने लगता था और वह समझता था कि मन्नी की दृष्टि में कलुष नहीं, उसी के अपने मन में पाप है, उसी की अपनी अतृप्ति उसे सदा भ्रम में डाल देती है। किंतु आज यह सुनकर कि वह जा रहा है और फिर शायद कभी न मिले, यह मन्नी को क्या हो गया?

चेतन ने खिड़की के पट पूरी तरह खोल दिये, दरवाज़े का पर्दा हटा दिया, और फिर चारपाई पर जा लेटा। उसकी पत्नी का वह पत्र उपेक्षित-सा वहाँ पड़ा था। चेतन को लगा जैसे उस पत्र की आँखों से उसकी पत्नी ने उसके इस कृत्य को देख लिया है। अपने-आप पर वह झुँझला उठा, मन्नी पर झुँझला उठा, उस पत्र पर झुँझला उठा। लेकिन यह झुँझलाहट नीलाकाश में घुमड़कर उठने और फिर उसी के विस्तार में विलीन हो जाने वाले बादलों-सी उसके मन में उठकर मिट गयी और वह चारपाई पर लेटे-लेटे फिर पत्र पढ़ने लगा।

वही चार-छः पंक्तियों का पत्र। यद्यपि लिखावट कुछ सुधर गयी थी, अक्षर टूटे-फूटे और शब्द अधूरे न थे, परन्तु उन भावनाओं का उसमें सर्वथा अभाव था जिनके व्यक्त करने की आशा चेतन अपनी संगिनी से रखता था—ये विरह के दिन उसने किस आकुलता से काटे हैं? उसका मन कितना उद्विग्न रहा है? चेतन की स्मृति उसे किस प्रकार सताती रही है, इनमें से किसी बात का उसमें आभास न था।

चन्दा उससे प्रेम न करती हो, यह बात तो न थी; लेकिन उसका प्यार धरती से फूट उठने वाले झरने की तरह न था जो अपने वेग को दबा

नहीं सकता, मुखर होकर निकल पड़ता है; बल्कि किसी शांत सरोवर की तरह था जो घने पेड़ों की शीतल छाया में मौन, मूक अपने किनारों में संयत रहकर निकट आने वाले की अशांति और श्रान्ति हर लेता है। किंतु चेतन की चंचल प्रकृति कल-कल नाद करते हुए बन्धन तोड़कर बह निकलने वाले चंचल, चपल झरने को पसन्द करती थी और पत्र पढ़ते-पढ़ते उसे पत्नी के बदले अपनी साली का ध्यान हो आया।

उन चार-छः पंक्तियों के पत्र से चेतन को पता चल गया था कि चार दिन बाद नीला का विवाह हो रहा है, उसका भावी पति बर्मा में नौकर है और चेतन को तत्काल बस्ती पहुँचना चाहिए। चेतन के सामने वे मधुर क्षण घूम गये जो उसने नीला की संगति में बिताये थे।

नीला का विवाह हो रहा है। उसे प्रसन्न होना चाहिए था, किंतु उसके मन में प्रसन्नता का लेश भी न था। विवाह में शामिल होने के बहाने नाटक, क्लब और फिर कविराज के चंगुल से छुट्टी पाने और इतने दिनों के बाद घर जाने के विचार से उसे जो प्रसन्नता हुई थी वह इस बात का ध्यान आते ही सहसा लुप्त हो गयी कि नीला सदा के लिए उससे बिछुड़ रही है। बर्मा—बर्मा में क्यों हो रही है नीला की शादी ? क्या जालन्धर या होश्यारपुर, अमृतसर, लाहौर, गुजरांवाला, गुरदासपुर या इनके निकटवर्ती नगरों और क़स्बों में उसके लिए कोई वर नहीं मिला ? पंडित वेणी प्रसाद की मूर्खता पर चेतन का मन खीज उठा।

लेकिन तभी किवाड़ खुला और मन्नी नन्हें को गोद में लिये हुए चौखट में आ खड़ी हुई। उसके ओठ उसी तरह मुस्करा रहे थे, किंतु उसकी आँखों में आमंत्रण-सा देती हुई रेखा मिट गयी थी। काली कजरारी आँधी ने जैसे क्षण भर के लिए निर्मल आकाश को ढक लिया था, पर उसके गुज़र जाने पर फिर वह स्वच्छ और निर्मल हो उठा था। स्वयं चेतन भी शायद अब मन्नी की मुस्कराती हुई आँखें न देख रहा था। उसकी आँखों में उसे

नीला की मुस्कान दिखायी दे रही थी—नीला की जो उससे योजनों दूर जा रही थी; शायद सदा . . . सदा के लिए। पत्र को लिये हुए वह उठा।

"मन्नी मैं ज़रा दुकान पर जा रहा हूँ" यह कहता हुआ वह सीढ़ियाँ उतरने लगा।

मन्नी ने उसके पीछे किवाड़ लगा लिये और एक लम्वी साँस भरते हुए नन्हें को अपनी गोदी से चिमटा लिया।

७३

टैक्सी कालका की ओर उड़ी जा रही थी। किसी बड़े सम्पन्न सेठ की तरह चेतन टाँग पर टाँग रखे, सीट से पीठ लगाये, ड्राइवर के बराबर बैठा था और उसके मस्तिष्क में निरन्तर कविराज जी के शब्द गूँज रहे थे।

मन्नी से विदा लेकर जब वह उनके पास गया था और उसने उन्हें अपनी पत्नी की चिट्ठी दिखायी थी और कहा था कि वह तत्काल जाना चाहता है ,तो पहले उन्होंने उसे रोकने का प्रयास किया था। "साली का विवाह तुम्हारे स्वास्थ्य से अधिक महत्व नहीं रखता, भाई।" उन्होंने कहा, "तुम्हें चाहिए कि तुम अपने शिमले आने का पूरा-पूरा लाभ उठाओ, सितम्बर तक यहाँ रहो और फिर पूर्ण रूप से स्वस्थ होकर जीवन-संग्राम में जुटो।" लेकिन जब चेतन किसी तरह भी न माना तो उन्होंने उसकी पीठ थपथपाते हुए उसे तसल्ली दी कि उनकी सहायता का हाथ सदैव उसके सिर पर रहेगा और यदि वापस जाकर समाचार-पत्र की नौकरी के सम्बन्ध में उसे कुछ कठिनाई हो तो वह सीधा उनके पास चला आये।

वे उसके लिए जो भी होगा करेंगे। अन्त में जब वह चलने लगा था, उसे रोककर उन्होंने कहा था :

"मेरे बच्चे, तुम मेरे पास तीन महीने तक रहे हो। चलते समय मैं तुम्हें दो एक नसीहतें करना चाहता हूँ। यदि मेरा लड़का विवाहित होता तो उसको भी मैं ऐसी ही नसीहत करता।"

चेतन दत्तचित्त होकर सुनने लगा था।

"वैद्य के रूप में अपने इस लम्बे अनुभव में," कविराज जी ने सहसा गम्भीर होकर बुज़ुर्गाना लहजे में कहा, "मुझे पता चला है कि सौ में से अस्सी स्त्री-पुरुष पाँच-पाँच बच्चे पैदा करने पर भी नहीं जान पाते कि वैवाहिक जीवन का वास्तविक आनन्द क्या है? सफल वैवाहिक जीवन सफल यौन-सम्बन्ध पर निर्भर है और सफल यौन-सम्बन्ध स्वस्थ शरीर और पति-पत्नी के संगी भाव पर!"

और अपनी रौ में कविराज वैवाहिक जीवन में यौन-सम्बन्ध पर उसे एक छोटा-मोटा लेक्चर देने लगे--

"हमारे देश के अधिकांश वासी उस आनन्द को नहीं जानते" उन्होंने कहा, "भावनाहीन, आनन्द-रहित, मशीन के पुर्ज़ों की तरह, वासना की करेंट से प्रचालित वे उस सम्बन्ध को निभाये जाते हैं। समय आता है कि उन्हें अपने-आप से अथवा एक दूसरे से घृणा हो जाती है। पत्नी बच्चों में जी बहलाती है और पति घर के बाहर सुख ढूँढ़ने का विफल प्रयास करता है।"

कविराज के भाषण का एक-एक शब्द चेतन के मस्तिष्क में ठोकरें मार रहा था। तभी वायु का एक शीतल झोंका आया। चेतन का ध्यान उचट गया। बायीं ओर पहाड़ का एक भाग सड़क के ऊपर तक छाया हुआ था और यद्यपि दो दिन से वर्षा नहीं हुई थी तो भी उसमें से निरन्तर पानी झर रहा था, वायु के साथ उड़ रहा था और उस स्थल को शीतल श्रान्तिहर बना रहा था। चेतन ने सिर बाहर निकाला। उसकी ऐनक धुँधली हो गयी

और मुँह ठंडी फुहार से भीग गया। सीट से फिर पीठ लगाकर उसने ऐनक के शीशे रूमाल से साफ़ किये। बायीं ओर पहाड़ी पर अनगिनत जंगली फूल खिले हुए थे और दायीं ओर घाटी में केलू सरसरा रहे थे। चेतन मन्त्र-मुग्ध-सा बैठा इस अनुपम सौन्दर्य को देखने लगा। लेकिन धीरे-धीरे फिर उसके दिमाग़ में कविराज जी के यही शब्द गूँजने लगे। साथ ही उसके सामने चंगड़ मुहल्ले की वह कोठरी घूम गयी जिसमें वह सख़्त गर्मी में निचुड़ते हुए शरीर के साथ कई बार पशु की भाँति वासना का दास बना था। उसे याद आया कि उसे कभी तृप्ति नहीं मिली। उसे लगा जैसे वह अब भी अतृप्त है। उस पुलक का (जिसका उल्लेख कविराज जी ने अपने उपदेश में किया था) उसे कभी आभास तक नहीं मिला। और उसके कानों में, अँधेरी रात में, चंगड़ मुहल्ले जैसी ही सील भरी कोठरी में सुने हुए कुछ शब्द गूँज गये। वह बहुत छोटा था; बहुत ही छोटा था। अपने भाई के साथ एक ही चारपाई पर सोया हुआ था कि सहसा उसकी माँ के सहमे-सहमे डरे-डरे स्वर ने उसे जगा दिया था। वह विनीत, सभीत, करुण स्वर में कह रही थी—"जाने दीजिए, मेरी तबीयत ठीक नहीं"—और नशे में चूर उसके पिता ने अत्यन्त अश्लील गालियाँ देते हुए उसे अपनी ओर खींचा था।

किसी भयानक दुःस्वप्न की तरह वह रात उसके मस्तिष्क में अंकित होकर रह गयी थी और विस्तृत मरु में गूँज उठने वाले किसी असहाय राही के चीत्कार की तरह उसकी माँ के वे कातर शब्द उसके कानों में गूँज उठते थे। उस रात की घटना को कल्पना में देखना, उन शब्दों को सुनना पाप समझकर वह अपने मन को दूसरी ओर लगाने का प्रयास किया करता था। वह उसे भूल भी जाता था, लेकिन कभी-कभी अँधेरी गुफ़ाओं में से जाग उठने वाले प्रेतों की तरह वे शब्द उसके सामने मूर्तिमान् हो उठा करते थे।

जब से उसने कविराज जी की बातें सुनी थीं, कई बार उसके सामने

यह घटना घूम गयी थी; उसके कानों में वे कातर शब्द गूँजे थे और कल्पना-ही-कल्पना में उसने 'में में, भें भें' करती हुई भेड़-बकरियों की तरह अगनित असहाय, अवश नारियों को वासना की छुरी का शिकार बनते देखा था!

"हमारे यहाँ विवाह भी धर्म का अंग है," कविराज जी ने अपनी रौ में कहा था, "और जिस प्रकार धर्म रूढ़िगत होकर अपने प्राण खो बैठा है, उसी प्रकार विवाह-धर्म से उसके प्राण निकल गये हैं। जिस प्रकार हमारे अधिकांश देशवासी बिना सोचे-समझे भावना-रहित होकर पूजा-पाठ, धर्म-कर्म किये जाते हैं, उसी प्रकार वैवाहिक जीवन को निभाये जाते हैं। यही कारण है कि यौन-सम्बन्ध जिस पुलक की सृष्टि करता है, उससे अगनित स्त्री-पुरुष महज़ अनभिज्ञ रह जाते हैं। दो परिचितों, मित्रों, प्रेमियों या पुलक की वाँछा रखने वाले दो शरीरों के स्थान पर यहाँ एक ओर (पुरुष में) संकोच-रहित वासना होती है और दूसरी ओर (स्त्री में) संकोचशील लज्जा; एक ओर हिंस्र पशु होता है और दूसरी ओर भीता मृगी। पत्नी जब तक संगिनी नहीं बनती, स्वयं भी उसी पुलक की वाँछा नहीं रखती, जब तक पति-पत्नी में भावनाओं का एकीकरण नहीं होता वह पुलक प्राप्त नहीं हो सकता।"

टैक्सी चली जा रही थी। चेतन के मस्तिष्क में कविराज का उपदेश चल रहा था :

"......विवाह की पहली रात ही सौ में ७५ वैवाहिक जीवन खतम हो जाते हैं।

"......विवाह की पहली रात ही अगनित पुरुष अपनी पत्नियों से घृणा करने लगते हैं।

"......विवाह की पहली रात ही अगनित नव-विवाहिता पत्नियाँ अपने पतियों के प्रति अपने अर्धचेतन में एक अवश क्रोध, एक असहाय भय, एक अज्ञात घृणा को स्थान दे देती हैं।

"......विवाह की पहली रात ही अगनित पति हैरान होकर सोचते हैं—क्या यही कुछ था विवाह में? अतृप्ति की आग में जलकर

बार-बार वे पशु बनते हैं, पर तृप्ति उन्हें नहीं मिलती। धीरे-धीरे यह अतृप्ति, यह घृणा, एक अभेद्य चट्टान बन जाती है और वैवाहिक जीवन की नदी उससे टक्करें मार-मारकर रह जाती है। उसे भेदकर अपने नैसर्गिक प्रवाह में नहीं बह पाती।"

टैक्सी चली जा रही थी। दोनों ओर पहाड़ छोटे होते-होते समाप्त हो चले थे! सड़क घूमती-फिरती नीचे मैदान से मिलती दिखायी देती थी। सामने की घाटी में कालका का नगर मैदान में बसा बड़ा सुन्दर लग रहा था। यद्यपि दिन अभी शेष था किंतु सूरज समय से पहले अपनी कान्ति खोकर बादलों में छिप गया था।

चेतन ने लम्बी साँस ली। क्षण भर के लिए उसके सामने अपना पिछला वैवाहिक जीवन घूम गया। क्या चन्दा उसकी संगिनी रही है? क्या उन्होंने कभी उस पुलक का अनुभव किया है? उसने अपने मन को टटोला, उसे तो कभी वह आनन्द प्राप्त नहीं हुआ, चन्दा को प्राप्त हुआ होगा, इसकी सम्भावना नहीं। उसने कभी यह जानने का प्रयास ही नहीं किया।

क्षण भर के लिए वह मन्नी को भूल गया, नीला को भूल गया। उसके सामने चन्दा अपने समस्त भोलेपन, संकोचशीलता, लज्जा के साथ आ गयी और मन-ही-मन उसने निश्चय किया कि ज्यों ही उसे अवसर मिला, वह चन्दा को अपनी संगिनी बनाने का प्रयास करेगा। उसे समझायेगा कि जब तक पति-पत्नी में स्वामी-भृत्या का-सा नाता है, जब तक वह केवल कर्त्तव्यवश अपने शरीर का समर्पण करती है, उन्हें वास्तविक पुलक प्राप्त नहीं हो सकता।

७४

"एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को, चलो कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को!"

एक पाँव ताँगे के बम पर और दूसरा अगले पायदान पर रखे, खुले गले का कुर्ता और एड़ियों के नीचे लटकता हुआ तहमद पहने ताँगे पर खड़ा, बायें हाथ से लगाम को हिलाता और दायें से मूँछों को ताव देता हुआ ताँगे वाला आवाज़ लगा रहा था, "चलो भई कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को, चलो कोई एक सवारी..."

चेतन को बड़ी सड़क पार करके बस्ती के अड्डे की ओर बढ़ते हुए देखकर उसने आवाज़ लगायी—

"बैठिए बाबू साहब, बस एक ही सवारी दरकार है।"

अगली सीट पर एक जगह खाली थी। चेतन चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गया। लेकिन ताँगे वाला चला नहीं। तहमद को ऊपर खोंसते हुए, घोड़े को हंटर जमाकर उसने ताँगे को वहीं अड्डे पर एक चक्कर दिया और यद्यपि चार सवारियाँ पूरी हो चुकी थीं तो भी उसने ज़ोर से हाँक लगायी—

"चलो भई कोई एक सवारी बस्ती ग़ज़ाँ को!"

चेतन चुप बैठा रहा। पहले की तरह वह ज़रा भी नहीं झल्लाया। एक और सवारी के पैसे भी उसने नहीं दिये। अपने विचारों में मग्न बैठा वह चुपचाप सामने के मकान की ओर देखता रहा जिसके परनाले से गन्दा पानी निरन्तर अड्डे के नाले में गिर रहा था।

वह प्रातः जालन्धर पहुँचा था। घर पहुँचकर माँ के पाँव छुए और आशीर्वाद पाने के बाद जब उसने चन्दा के बारे में पूछा तो उसे पता चला कि चन्दा तो सात दिन से बस्ती गयी हुई है। नीला की बारात आज ही आने वाली है और उसका साला रणवीर दो बार चेतन के सम्बन्ध में पूछ गया है।

तब सितार और दिलरुबा, जिनसे उसका प्रेम कब का खतम हो गया था और जिनके साथ चिटें लगाकर उसने सुन्दर अक्षरों में 'चन्दा के लिए' लिख रखा था, एक ओर रखकर, नहा, धो, कपड़े बदलकर वह बस्ती की ओर चल दिया।

चल तो वह दिया था, लेकिन उसका मन जाने को ज़रा भी न हो रहा था। कुछ अजीब-सा संकोच उसके मन में कहीं से आ बैठा था। कविराज का उपदेश, चन्दा से मिलने का सुख, वैवाहिक जीवन का पुलक—सब कुछ उस समय उसे भूल गया था। उसके सामने आ गयी थी नीला, उसके साथ बीती हुई घड़ियाँ, इलावलपुर के वे दिन, उसकी अपनी मूर्खता, नीला की होने वाली शादी और बीसियों दूसरी बातें। और उसे संकोच होता कि इलावलपुर की अपनी उस मूर्खता के बाद वह कौन-सा मुँह लेकर नीला के सामने जायगा।

कभी वह सोचता था कि नीला उस घटना को भूल गयी होगी, अपनी शादी में ख़ुश होगी और यह सोचकर वह तेज़-तेज़ क़दम रखने लगता। लेकिन फिर उसे ख़याल आता, यदि वह न भूली, यदि वह ख़ुश न हुई . . .और

उसकी गति मन्द पड़ जाती। इसी प्रकार तीव्र-मन्द गति से चलता-चलता वह बस्ती के अड्डे पर पहुँचकर ताँगे में आ बैठा था। लेकिन उसकी विचार-धारा न टूटी थी। उसे मालूम नहीं कब ताँगा चला, कब बस्ती के अड्डे पर पहुँचा, वह कब उतरा और बस्ती का टेढ़ा-मेढ़ा बाज़ार तै करके पंडित वेणी प्रसाद के मकान के सामने जा पहुँचा।

डेवढ़ी पार करते ही सब से पहले जिससे उसका साक्षात्कार हुआ वह थी नीला। आँगन के कोने में नाली पर अपनी पतली बाँह बढ़ाये हुए वह बैठी थी। उसकी कलाई पर जोंकें लगी हुई थीं और उसका लोहू पीकर धीरे-धीरे फूल रही थीं।

पल भर के लिए चेतन उस गोरी-गोरी कलाई और उससे चिपटी हुई उन भूरी-भूरी जोंकों को देखता रहा। फिर वहाँ से हटकर चेतन की दृष्टि उसके मुख पर गयी। उसे लगा जैसे वह कुछ पीला हो गया है। उसे लगा जैसे नीला कुछ दुबली भी हो गयी है। लेकिन उसने यह भी महसूस किया कि पीली दुबली होकर यह पहले से भी सुन्दर दिखायी देने लगी है। वह शायद 'माईयां' बैठी थी, क्योंकि उसके कपड़े मैले थे और उन पर जगह-जगह उबटन के धब्बे पड़े हुए थे। उन मटमैले कपड़ों में भी उसकी देह का सोना जैसे कुन्दन बनकर दमक उठा था। यौवन अभी पूरे वेग से न उतरा था और वह उस अर्ध-विकसित कली-सी लगती थी जिसे किसी के स्नेह-स्पर्श ने अभी फूल न बनाया हो।

एक रूखी-सी 'नमस्ते' चेतन की ओर फेंककर नीला फिर अपनी कलाई से चिमटी हुई जोंकों को देखने लगी।

चेतन का समस्त संकोच जैसे पूरे वेग से लौट आया। उसके पास से होकर वह चुपचाप दालान की ओर बढ़ गया और लोहे की खाली कुर्सी पर जा बैठा।

क्या शिमले से इतना फ़ासला उसने केवल यह रूखी-फीकी नमस्ते पाने के लिए तै किया था? उसे खेद हुआ वह क्यों चला आया इस विवाह में। इलावलपुर की घटना के बाद उसे कभी नीला के सम्मुख न आना चाहिए था।

उसने कनखियों से नीला की ओर देखा। चेतन की ओर पीठ किये वह लगातार उन जोंकों की ओर देख रही थी। एक बार भी पलटकर उसने चेतन की ओर न देखा था। शायद नीला उस घटना को न भूली थी, उसने उसे क्षमा न किया था। वह क्यों चला आया वहाँ? और उसका जी चाहा कि वापस भाग जाय। लेकिन तभी उसकी बड़ी साली गोद में अपने डेढ़-दो वर्ष के रिरियाते बच्चे को उठाये हँसती-मुस्कराती वहाँ आ गयी।

"नमस्ते जी!" बच्चे के मुँह में निस्संकोच अपना बड़ा बेडौल स्तन देते हुए उसने चेतन का अभिवादन किया।

निमिष भर के लिए चेतन के कानों में नीला के वे शब्द गूँज गये जो उसने इलावलपुर में अपनी इस बड़ी बहन के गृह-जीवन के बारे में कहे थे। इस फूहड़ को कौन इंजीनियर पसन्द करेगा—चेतन ने सोचा, किंतु प्रकट उसने हँसकर कहा, "नमस्ते मीला जी, कहिए प्रसन्न तो हैं।"

"कहिए कब आये?" मीला जी बोलीं, "आपकी राह देखते-देखते तो आँखें पक गयीं।"

"आज ही सुबह आया हूँ," चेतन बोला और फिर उसने नीला की ओर देखकर कहा, "नीला की बाँह में क्या कष्ट है?"

"फोड़ा उठ आया था कलाई पर, हकीम ने जोंकें लगाने का आदेश दिया है।"

"ब्याह स्थगित क्यों नहीं कर दिया आप ने?"

"लड़के को (दुल्हे को) फिर छुट्टी नहीं मिल सकती। बड़ी मुश्किल से एक महीने की छुट्टी लेकर आया है। सेना की नौकरी ठहरी, फिर निकट

हो तो भी कुछ हो सकता है। लेकिन बर्मा से तो बार-बार नहीं आया जा सकता।"

"बर्मा!" चेतन के दिल को धक्का-सा लगा, "क्या करता है वह?"

"मिलिट्री एकाऊँटेंट हैं रंगून में।"

तब चेतन के सामने नीला का पीला दुर्बल मुख घूम गया। उसके गले में गोला-सा आकर अटक गया। आर्द्र होकर उसने कहा, "लेकिन आपने बड़ी दूर तै की नीला की शादी!"

उत्तर में उसकी साली ने बताया कि लड़का अढ़ाई सौ रुपया मासिक पाता है और नाते में उसका देवर होता है—उसके ससुर के बड़े भाई का लड़का। बड़ा नेक, सहृदय और परिश्रमी है। पाँच वर्ष हुए, उसकी पत्नी मर गयी थी। इसके बाद उसने विवाह नहीं किया। एक से दूसरे स्थान पर बदली होती रहती थी, एक जगह टिक न पाता था। अब उसे विश्वास है कि शीघ्र ही उसकी बदली पंजाब में हो जायगी। इसलिए उसने लिखा था कि उसके लिए लड़की देख दी जाय।

"मुझे पता चला तो मैंने झट नीला की सगाई वहाँ कर दी।" मीला जी ने सोल्लास कहा। और अपनी इस कारगुज़ारी पर ख़ुद ही हँसते हुए उन्होंने स्तन को बरबस जोंक की तरह चिमटे हुए अपने लड़के के मुँह से खींचा और हल्का-सा थपेड़ा उसकी पीठ पर जमाते हुए कहा, "कमबख़्त इतना बड़ा हो गया है फिर भी मेरी जान खाये जाता है।" तभी शायद काम में व्यस्त चन्दा उधर से गुज़री। तब चिल्लाकर उसे चेतन के लिए कुछ लाने का आदेश देकर चेतन की बड़ी साली पड़ोसिन से बात करने को बढ़ गयी और वह मर्माहत-सा वहाँ बैठा रह गया।

रंगून, विधुर (पाँच वर्ष का), मिलिट्री एकाऊँटेंट—ये तीनों शब्द उसके कानों में बार-बार गूँजने लगे। चेतन ने एक बार फिर नीला की ओर देखा। उसके हाथों से जोंकें उतार ली गयी थीं। फोड़े का उभार कम

हो गया था। रक्त-स्राव के कारण उबटन की केसर से मिला उसका पीलापन कुछ और अधिक बढ़ गया था। उसकी आयु पन्द्रह-सोलह वर्ष की थी, पर उस समय वह तेरह की दिखायी देती थी। यह कली खिलने से पहले ही बिंध जायगी और फिर धीरे-धीरे मुरझा जायगी। चेतन के हृदय में टीस-सी उठी। यदि वह इलावलपुर में पंडित वेणी प्रसाद से वह सब न कहता तो क्या नीला इतनी जल्दी काले कोसों दूर, एक विधुर मिलिट्री एकाऊँटेंट की दूसरी पत्नी बनने जाती। अपनी मूर्खता की गुरुता और भी बढ़कर चेतन के सामने आने लगी। उसके लिए वहाँ बैठना दुष्कर हो गया। वह उठा, लेकिन तभी अपने गोल गुलगोथने मुख पर मृदु-हास बिखेरती हुई, तश्तरी थामे चन्दा वहाँ आ गयी।

सारा दिन चोरों की तरह वह नीला से बातें करने का अवसर ढूँढ़ता रहा। वह ज़रूर उससे नाराज़ थी। वह इतने महीनों के बाद आया था, अगर नाराज़ न होती तो अपनी मुखर चंचलता से घर भर को गुँजा देती। विवाह में उसकी चंचलता रुक जाय—चाहे वह उसका अपना ही क्यों न हो—ऐसा सम्भव न था। पर वह तो ऐसे यन्त्र-चालित-सी घूमती थी, जैसे विवाह उसका अपना नहीं, किसी दूसरी सर्वथा अपरिचित लड़की का था। चेतन से वह कन्नी काटती रही। सहेलियों, बहनों, भावजों या पड़ोसिनों में घिरी रही। दो एक संक्षिप्त शब्दों या एक आध वाक्य के अतिरिक्त उन दोनों में कोई भी बात न हो सकी थी।

"नीला कैसी हो?"

"अच्छी हूँ।"

और वह किसी सहेली से कोई बड़ी महत्वपूर्ण बात कहने चल दी।

"नीला तुम तो दुर्बल हो गयी हो।"

"नहीं तो जीजा जी।"

और सहसा भावज से कोई आवश्यक मन्त्रणा करना उसे याद आ गया।

"नीला अब तो तुम बड़ी दूर चली जाओगी।"

"हाँ जीजा जी।"

"नीला तुम मुझसे नाराज़ हो?"

"नहीं जीजा जी।"

और इससे अधिक उत्तर चेतन उससे न पा सका था। उस छोटे से आँगन में एक साथ इतना कुछ हो रहा था। इतनी चहल-पहल थी, इतने लोग आ जा रहे थे और फिर इस सब कोलाहल में उसकी बड़ी साली अपने देवर के स्वभाव, वेतन, रहन-सहन आदि का बखान निरन्तर इस प्रकार करती रही थी कि नीला से जुदा होने से पहले उससे खुलकर बातें कर लेने, उससे क्षमा माँगकर हल्का हो लेने का अवसर चेतन न पा सका था। झल्लाकर खाना खाने के बाद वह ऊपर चौबारे में निवाड़ के पलंग पर जा लेटा था।

रंगून के उस विधुर मिलिट्री एकाऊँटेंट की प्रशंसा न जाने चेतन को क्यों अच्छी न लगी थी। लेटे-लेटे उसे ख़याल आया कि नीला के इस मौन का कारण कदाचित् कहीं इतना अच्छा दुल्हा पाने का गर्व तो नहीं। उसकी साली नीचे आँगन में फिर किसी पड़ोसिन के सामने अपने देवर की प्रशंसा कर रही थी, अपनी बहन के भाग्य को सराह रही थी और लड़का रोक लेने में उसने जिस त्वरा से काम लिया था, उसकी दाद पा रही थी। चेतन के लिए वहाँ लेटे रहना कठिन हो गया। अपने भावी पति के इन गुणों को सुनकर नीला की आकृति पर कैसे भाव आते हैं, यह जानने के लिए वह,

आतुर हो उठा। झपाके के साथ नीचे गया। दालान के अँधेरे कोने में घुटनों पर ठोढ़ी टिकाये, अपने दोनों हाथ पैरों पर रखे, नीला चुप बैठी थी। न जाने वह अपनी बहन की कोई बात सुन भी रही थी या नहीं। चेतना-हीन, भावना-हीन-सी वह बैठी थी। बहाने से जब चेतन उसके पास जा बैठा तो नीला ने ठोढ़ी के बदले गाल अपने घुटनों पर टिकाकर मुँह दूसरी ओर कर लिया। क्या नीला रो रही है? चेतन का हृदय धक-धक करने लगा। क्या उसे इस शादी का दुख है, क्या उसके हृदय के किसी कोने में अब भी अपने इस 'जीजा जी' के लिए प्रेम है? और चेतन मन-ही-मन में सान्त्वना भरे, पश्चात्ताप भरे, क्षमा भरे कुछ शब्द सोचने लगा। लेकिन तभी उसकी सास ने नीला को आवाज़ दी। (बारात आने वाली थी और उससे पहले किसी रस्म का पूरा होना आवश्यक था।) नीला उठकर आँगन में गयी तो प्रकाश में चेतन ने देखा कि नीला के मुख पर रोने जैसा कोई चिह्न नहीं। वहाँ दर्प की भी कोई भावना नहीं। राग-द्वेष, उल्लास-विषाद, सुख-दुख का कोई भी भाव वहाँ नहीं। एक विचित्र, कठोर, कठिन उदासीनता-सी वहाँ छायी हुई है। चेतन विमूढ़-सा खड़ा रह गया।

तभी बाहर बारात के आने का शोर मचा और उसकी सास ने उसे बारात के स्वागत को जाने के लिए कहा।

बस्ती के एक एडवोकेट से माँगी हुई ब्यूक मोटर में दुल्हा के रूप में जो व्यक्ति मुँह पर सेहरे लगाये बैठा था, उसे देखकर न केवल चेतन को किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं हुई, बल्कि नीला के भाग्य और भविष्य पर उसका हृदय करुणा से भर आया।

क्या यही वे देवर महोदय हैं जिनके गुण सुबह से गाये जा रहे थे? बस्ती के एक दरवाज़े से बस्ती के दूसरे दरवाज़े के बाहर धर्मशाला तक (जहाँ बारात के ठहराने का प्रबन्ध था) बारात के साथ जाते-जाते, उसके

उतरने और नाश्ते आदि का प्रबन्ध करते-कराते चेतन ने इस मिलिट्री एकाऊँटेंट दुल्हे को हर कोण से देख लिया। गंजी होती हुई चाँद पर जवानी की यादगार के रूप में चंद बाल, आँखों के नीचे बढ़ते हुए गढ़े, उभरे हुए जबड़े, पिचके हुए कल्ले, (जहाँ हँसने से तो दूर मुस्कराने ही से झुर्रियाँ पड़ जाती थीं) कृत्रिम दाँत और पैंतीस से चालीस को पहुँचती हुई उम्र—यह था वह 'लड़का' जिसे श्रीमती प्रमिला देवी ने अनदेखे ही अपनी छोटी बहन के लिए चुना था।

बारात को धर्मशाला में उतारकर जब चेतन घर पहुँचा तो उसने रसोई-घर की चौखट में खड़ी अपनी सास को अपनी बड़ी साली से कहते पाया :

"तुमने देखा न था लड़के को मीला ?"

चेतन की बड़ी साली ने आँखों में आँसू भर लिये। "मुझे क्या पता था चाची कि इतनी उम्र है" वह तो बर्मा ही में था जब मैं ससुराल गयी, मुझे तो चित्र दिखाया गया था। पिता जी नीला की सगाई जल्दी करने पर ज़ोर दे रहे थे। अढ़ाई सौ रुपया लड़के का वेतन था। मैंने रोक लिया।"

"बेचारी नीला !" चेतन की सास ने दीर्घ-निश्वास छोड़ा "वह तो बच्ची है अभी।"

अपनी सास के ये शब्द तीर की तरह चेतन के अन्तर में पैठ गये। उसके लिए वहाँ बैठना, नीला से आँखें मिलाना कठिन हो गया। वह फिर ऊपर चौबारे में चला गया और जाकर अनबिछे पलंग पर लेट गया।

नीला के पिता ने जल्दी की और उसकी बहन ने अनदेखे, अनजाने (रिश्ते में अपने दूर के) देवर का केवल चित्र देखकर उससे अपनी छोटी बहन की सगाई कर दी। लेकिन उनकी इस जल्दी की तह में था क्या ? इलावलपुर की वह छोटी-सी घटना, जब नीला ने अपने इस डरपोक जीजा जी के बालों पर हाथ फेरते हुए प्रेम प्रकट किया था ! क्या वह इतना बड़ा दोष था ? इतना बड़ा पाप था कि उसको जीवन भर उस बूदम मिलिट्री एकाऊँटेंट से बाँध दिया जाय ! उसने क्यों नीला के पिता से वह सब कहा ?

क्यों वह चुप न रहा ? उसे लगा जैसे इस प्रकार नीला का गला घोंटने में समस्त दोष उसी का है। आत्म-भर्तस्ना से उसका गला भर आया, उसके सामने नीला और उसके दुल्हे का चित्र साथ-साथ आया और उसके जी में आयी कि जाकर नीला के सामने फ़र्श पर माथा पटक दे और उस समय तक न उठाये जब तक वह उसे क्षमा न कर दे। तभी उसने सुना कि चौबारे के बाहर दो स्त्रियाँ धीरे-धीरे मिसकौट कर रही हैं :

"लड़की का गला घोंट दिया बहन ने, ललतो की माँ। कुछ सुना तुमने, चालीस-पैंतालीस वर्ष का होगा दूल्हा।"

"और नीला तो अभी बच्ची है," ललिता की माँ बोली।

"मैंने तो यह भी सुना ललतो की माँ कि यह तो उसकी तीसरी शादी है।"

"तीसरी !" ललिता की माँ आश्चर्य प्रकट कर रही थी कि किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"ललतो की माँ, छन्ने भरने जा रही हैं हम, आओ जल्दी।"

और ललिता की माँ अपनी साथिन को साथ लिये नीचे चली गयी।

"तीसरी शादी"—ये दो शब्द हथौड़े की निरन्तर चोटों की तरह चेतन के मस्तिष्क को ठकोरने लगे और लेटा रहना उसके लिए कठिन हो गया। वह फिर उठा।

नीचे आँगन में मुहल्ले भर की स्त्रियाँ इकट्ठी हो रही थीं। रणवीर और उसकी पत्नी रस्सी, डोल और मिट्टी के छन्ने (कूज़े-कुल्हड़) लिये हुए छन्ने भरने के लिये चलने को तैयार थी। चेतन के नीचे उतरते-उतरते स्त्रियाँ रणवीर को आगे-आगे किये, नीला को झुरमुट में लिये, छन्ने भरने की रस्म पूरी करने के लिए चल दीं। चेतन चुपचाप उनके पीछे हो लिया।

जब डोल भरकर ऊपर आता तो उसे फिर कुएँ में उलटती, रणवीर को सताती, गाती, हँसी ठिठोली करती बस्ती के विभिन्न कुओं से छन्ने भरती हुई स्त्रियाँ, दरवाज़े के बाहर उस धर्मशाला की ओर को मुड़ीं जिसमें बारात उतरी थी तो चेतन उनके साथ नहीं गया, वह सीधा चलता गया।

धर्मशाला के आगे की दो एक दुकानें और लकड़ी के टाल पीछे रह गये। चेतन चलता गया, यहाँ तक कि वह खेतों में पहुँच गया। तब वह एक खेत की मेड़ पर हो लिया।

तृतीया का चाँद रात के इस पहले पहर ही में क्षितिज की गोद में सो गया था। तारे अपनी टिमटिमाती हुई ज्योत्स्ना से रात के बढ़ते हुए अंधकार को भरसक दूर रखने का प्रयास कर रहे थे। खेतों की मेड़ों पर जहाँ तहाँ उगे हुए शीशम के घने पेड़ अपनी सत्ता की सारी भयावहता के साथ प्रहरियों-से खड़े थे। चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई थी। केवल दायीं ओर पेड़ों के झुरमुट में रहँट निरन्तर रिरिया रहा था और दूर धर्मशाला में छन्ने भरती हुई स्त्रियाँ गीत गा रही थीं। चेतन को लगा जैसे रहँट के रिरियाते संगीत में और उन स्त्रियों के गानों में कोई अंतर नहीं, वे भी जैसे उस रहँट ही की भाँति रिरिया रही थीं। उनकी रूह का कोई तार जैसे उनके संगीत में न था, केवल प्रथा की पूर्ति के लिए उनके ओठ हिल रहे थे।

चेतन रहँट के पास ही पड़े हुए एक पुराने शीशम के तने पर बैठ गया। एक कुत्ता ज़ोर-ज़ोर से भूँक उठा, कोई चमगादड़ पंख फटफटाता हुआ ऊपर से गुज़र गया और फिर सन्नाटा छा गया। दूर धर्मशाला में स्त्रियाँ छन्ने भर और इस बहाने नीला को दुल्हा के दर्शन कराके चली गयीं। लेकिन चेतन वहीं बैठा रहा और रहँट उसी तरह 'रीं-रीं' करता रहा।

७५

"जीजा जी, जीजा जी!"

करवट बदलकर चेतन ने आँखें खोलीं। सामने के दरवाज़े से नवोदित सूर्य की धूप सीधी उसकी आँखों में पड़ रही थी। वह जान न सका कि गहरी नींद से उसे यों झकझोरने वाला कौन है? लेकिन दूसरे क्षण सूर्य की किरणों को सीधे चेतन के मुख पर पड़ने से रोकता हुआ उसका बड़ा साला रणवीर उसके सामने आ गया।

"जीजा जी, हुनर साहब आये हैं।"

"हुनर साहब!" चेतन ने व्यंग्य भरी दृष्टि रणवीर के उल्लसित मुख पर डाली और करवट बदलते हुए कहा, "तुम चलो रणवीर, मैं कुछ देर बाद आता हूँ।"

रणवीर आशा करता था कि हुनर साहब जैसे प्रसिद्ध कवि का नाम सुनते ही उसके जीजा जी उछलकर उठेंगे और उसके साथ नीचे को भाग चलेंगे, किंतु चेतन की अन्यमनस्कता और उसकी दृष्टि के व्यंग्य को देखकर उसे कुछ ज़्यादा अनुरोध करने का साहस न हुआ। "वे सुबह से आये हुए

हैं। मैं पहले भी दो बार आपको बुलाने आया था, पर आप सोये हुए थे। हमारे सामने के मकान की बैठक में हैं। आप वहीं आइएगा।" एक ही साँस में यह सब जैसे चेतन की गर्दन के पिछले हिस्से को सुनाकर रणवीर चलने को हुआ। लेकिन फिर कुछ रुककर उसने इतना और कहा, "हुनर साहब एक बड़ा सुन्दर सेहरा लिख रहे हैं।"

'सेहरा'—चेतन मन-ही-मन हँसा। न जाने उस सेहरे की रचना में किस-किस कवि की कृति पर डाका पड़ेगा, न जाने वह (अभी लिखा जाने वाला) सेहरा पहले कितने दुल्हों और उनके सगे-सम्बन्धियों को प्रसन्न कर चुका होगा और उसके बल पर हुनर साहब ने कितनी जेबों को हल्का किया होगा? रणवीर की आँखों में जो उल्लास और उसकी वाणी में जो उत्साह था, उसे देखकर चेतन को अपना उस समय का उल्लास और उत्साह स्मरण हो आया, जब पहली बार हुनर साहब से उसकी भेंट हुई थी। मन-ही-मन रणवीर की मूर्खता पर दया-भाव से हँसकर उसने आँखें मूँद लीं।

चेतन सारी रात जागता रहा था। बारात के आने से लेकर विवाह संस्कार के अन्तिम मन्त्र तक खोया-खोया-सा प्रत्येक रस्म को देखता रहा था। नीला के इस अनमिल विवाह पर उसे अतीव दुख था और यद्यपि वह अपने मन को कई तरह से समझा चुका था, किंतु फिर भी हृदय के किसी कोने में वह अपने-आपको उसका दोषी समझता था। नीला जीते जी, उसके देखते-देखते, कब्र में डाली जा रही थी और वह मजबूर था। और फिर ये बाजे, ये रस्में, ये गीत! जिस चीज़ ने उसकी मानसिक पीड़ा और भी अधिक बढ़ा दी थी, वह यही गीत थे। उसने ज्योंही दुल्हा को देखा था उसके कानों में 'सोहाग' के वे बोल गूँज उठे थे जो उसने घर में प्रवेश करते ही सुने थे—

चन्दन दे ओहले ओहले क्यों खड़ी, नी बेटी !
चन्दन दे ओहले
मैं ते खड़ी आं बाबल जी दे कोल, बाबल वर लोड़िए।
नी बेटी !
केहो जेहा वर लोड़िए ?
बाबल, ज्यों तारियां विचों चन्न, चन्ना विच्चों कान्ह,
कन्हैया वर लोड़िए[1]

साँझ को देर तक रहँट के पास बैठे रहने के बाद जब वह लौटा था तो घोड़ी की रस्म कभी की समाप्त हो चुकी थी और लग्नों की तैयारियाँ हो रही थीं। दुल्हा वेदी के नीचे आ बैठा था, पंडित जी हवन की आग सुलगा रहे थे और आँगन में वर और वधू पक्ष के लोग इकट्ठे हो चुके थे। चेतन चुपचाप जाकर आँगन की दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया।

नीला का विवाह आर्य-समाजी रीति के बदले सनातनी ढंग से हो रहा था। पंडित वेणी प्रसाद स्वयं आर्य-समाजी विचारों के थे, किंतु मध्य-वर्गीय घरानों में प्रायः लड़की के पिता का धर्म वर अथवा उसके पिता के विचारों के अनुसार बदलता रहता है। वे समस्त रस्में जिनका अभाव चेतन को अपने विवाह पर खटकता था, अपने समस्त गुण-दोषों के साथ यहाँ विद्यमान थीं। भाँवरें भी सनातनी ढंग से हो रही थीं। जब गठरी-सी बनी नीला को

---

[1] ऐ बेटी तू चन्दन के पेड़ की ओट में क्यों खड़ी है ?
मैं तो बाबल (पिता) के हुजूर में खड़ी हूँ क्योंकि मुझे वर चाहिए।
ऐ बेटी तुझे कैसा वर चाहिए ?
ऐ पिता जैसे तारों में चाँद और चाँदों में कान्हा, वैसे ही मुझे भी कन्हैया-सा वर चाहिए !

दो बालिश्त का घूँघट काढ़े वेदी के नीचे खारे पर बैठा दिया गया तो सामने बरामदे में बैठी हुई स्त्रियों ने गीत छेड़ दिया।

ओह दिन याद कर कान्हा . . . . . .

कान्हा! और चेतन के ध्यान में फिर सुहाग के वे बोल गूँज उठे। 'कैसा कान्हा वर ढूँढ़ा है नीला के लिए!' उसने मन-ही-मन में कहा और एक व्यंग्यमयी मुस्कान उसके ओठों पर फैल गयी। कौन लड़की है जो चाँद-सा वर नहीं चाहती। किंतु चाँद-सा वर क्या सभी को सुलभ है? उनकी बात तो दूर रही जो स्वयं कुरूपा होने पर भी चाँद-सा वर चाहती हैं, पर उन युवतियों में से भी कितनों को ऐसा वर मिलता है जो हर प्रकार से ऐसे वर के योग्य हैं? प्रतिदिन कान्त-कामिनी तरुणियाँ, अनमिल युवकों, अधेड़ों अथवा विधुरों के संग बाँध दी जाती हैं और ये अपढ़ स्त्रियाँ अपने गीतों में निरन्तर उन्हें 'कान्ह' और 'कन्हैया' बनाया करती हैं। क्या इनके आँखें नहीं? क्या ये चुप नहीं रह सकतीं? यदि लड़की का गला घोंटना ही अभीष्ट है तो क्या वह 'सत्कार्य' मौन रूप से नहीं हो सकता? क्या इन बाजों-गाजों और बेचारी लड़की के जले हुए दिल को और भी जलाने वाले इन गीतों के बिना काम नहीं चल सकता? चेतन ने देखा उन गाने वालियों में उसकी सास भी थी जिसने साँझ ही को भरे हुए गले से कहा था—'और नीला तो अभी बच्ची है' और वह पड़ोसिन भी थी जो बोली थी 'लड़की का गला घोंट दिया बहन ने ललतो की माँ!' यन्त्र-चालित-सी वे इन घिसे-पिटे गीतों को भावना रहित, निर्लिप्त भाव से गा रही थीं। उनके लिए जैसे इन गीतों का गाना विवाह की इस रस्म की पूर्ति का एक अंग मात्र था।

और चेतन को यह सब सोचते-सोचते उन समस्त रस्मों से घृणा हो उठी—उन अन्धी-बहरी रस्मों से, जो भावनाहीन चक्की की तरह मानवों के हृदय और जीवन कुचले जा रही थीं। क्या कभी ऐसा

समाज न बनेगा जो इन रस्मों से आज़ाद हो या जहाँ ये रस्में देखें, सुनें, अनुभव करें और समय के अनुसार (कुर्बानियाँ चाहे बिना) अपना चोला बदलती रहें।

अपने मनोभावों का, उस पीड़ा का जो उसके अन्तर में प्रति पल तीव्रतर हो रही थी, विश्लेषण करते-करते चेतन नीला की मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में सोचने लगा। वह क्या सोचती होगी? ये गाने और रस्में उसके दिल पर क्या प्रभाव कर रहे होंगे। उसने आँख उठाकर नीला की ओर देखा। गठरी-सी बनी वह चुपचाप बैठी विवाह संस्कार में योग दे रही थी। चेतन को लगा, जैसे वह मिट्टी का एक बड़ा-सा लौंदा बन गयी है, और उसके अन्तर की बिजली सदा के लिए जमकर रह गयी है।

आँगन की दीवार से पीठ लगाये वह इसी प्रकार खौलता रहा था और विवाह की ज़ंजीर नीला के गिर्द दृढ़ से दृढ़तर होती गयी। वह बैठा रहा था और पंडित ने अन्तिम मन्त्र पढ़कर घर के बड़े भाई को बधाई दी थी और स्त्रियों ने अलसाये हुए कंठों से नया गाना छेड़ दिया था।

रणवीर के चले जाने के बाद चेतन ने फिर सोने का प्रयास किया। लेकिन उसकी मुँदी हुई आँखों के सामने रात की घटना अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे के साथ घूमने लगी और उसके विशृङ्खल विचार और भी बिखर उठे।

अब, जब नीला सदा के लिए उससे बिछुड़ रही थी, चेतन को महसूस होता था कि वह उसे कितना चाहता है। बाह्य-संयम, समाज के प्रतिबन्धों और नैतिकता के आवरण के नीचे दबा हुआ उसका हृदय घायल पक्षी की तरह छटपटा रहा था। वह गर्व, जो वह नीला के प्रेम को दबाकर, ठुकराकर, सारी बात उसके पिता को बताकर, अनुभव किया करता था,

उसे कोरी प्रवंचना दिखायी देने लगी। अपना वही कृत्य जिस पर, अपनी पत्नी के प्रति अपनी वफ़ादारी के विचार से उसे गर्व था, उसे घोर अपराध दिखायी देने लगा।

चेतन की नींद बिलकुल उड़ गयी। उसकी आँखें भी मुँदी न रह सकीं। उसने करवट बदल ली। दिन बहुत चढ़ आया था। प्रकाश से कमरा जगमगा रहा था। नीचे ख़ूब चहल-पहल थी। लेकिन वह उठा नहीं। वहीं लेटा चुपचाप शून्य में देखता रहा।

यदि वह नीला के पिता को सब बात न बताता—उसकी विचार-धारा ने एक दूसरा रुख़ पकड़ा तो करता भी क्या? क्या वह चन्दा को छोड़ सकता था? क्या नीला से विवाह कर सकता था? और वह मन-ही-मन हँसा। उस आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति में यह कब सम्भव था। फिर यदि नीला का विवाह किसी सुन्दर, स्वस्थ, तरुण से होता तो क्या वह इतना दुख मानता। तब उसका यही कृत्य जो पाप बन-कर रह गया था, पुण्य हो जाता। बारात में उसका परिचय एक अति सुन्दर स्वस्थ लड़के के साथ हुआ था। उसका नाम था त्रिलोक और वह नीला के जेठ का लड़का था। चेतन ने सोचा यदि नीला की शादी चचा से न होकर भतीजे से होती तो कितना अच्छा होता? लेकिन त्रिलोक शायद किसी सम्पन्न किंतु मूर्ख, कुरूप लड़की से ब्याहा जायगा और चचा उस लड़की का पति बनेगा जो कदाचित् भतीजे के लिए उपयुक्त थी। और चेतन को लगा कि उसके, नीला के, त्रिलोक के, इस जर्जर मध्य-वर्ग के समस्त स्त्री-पुरुषों के गिर्द रूढ़ि-ग्रस्त समाज की लौह-दीवारें खड़ी हैं। क्या यह दीवारें कभी न गिरेंगी? क्या इनकी चारदीवारी में घुटकर मरने वाले स्वतंत्र होकर कभी सुख की साँस न ले सकेंगे।

बाहर गली में बाजे बजने लगे। बारात शायद खाना खाने के लिए आ रही थी। चेतन उठा। अँगुलियों में अँगुलियाँ डालकर उसने एक लम्बी अँगड़ाई ली। अपने उन्मन विचारों को सिर के एक झटके से दूर करने का प्रयास करते हुए वह बाहर निकल गया।

नहा धोकर जब वह गली के चौक में गया तो बारात खाना खा चुकी थी और खादी का कुर्ता-धोती पहने, बड़ी अदा से हाथ में काग़ज़ लिये हुनर साहब खड़े थे। रणवीर ने बड़े गर्व-स्फीत शब्दों में उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया था और वे सेहरा पढ़ने वाले थे। चेतन ने सोचा था कि सेहरा पढ़ा गया होगा। उसके जी में आया कि मुड़ जाय, लेकिन इस तरह आकर चला जाना किसी को बुरा न लगे, इसलिए वह एक ओर जाकर चुपचाप खड़ा हो गया।

सेहरा पढ़ने से पहले उन्होंने एक छोटा-सा भाषण देना आवश्यक समझा। बताया कि उनका सम्बन्ध वर तथा वधू दोनों पक्षों से है। जन्म उन्होंने जालन्धर में लिया है, लेकिन जवानी के दिन उनके अमृतसर में बीते हैं। इसलिए यद्यपि वे वधू-पक्ष की ओर से आये हैं तो भी उन्हें अधिकार होता है कि वर का सेहरा पढ़ें। और इस तरह वर के साथ अपना नाता स्थापित करके उन्होंने सेहरा पढ़ना शुरू किया।

वही पुरानी तरज़ और वही पुराने विचार—सेहरे और दुल्हे की प्रशंसा में चाँद-तारों की उपमाएँ। हर शेर के बाद चेतन सोचता—क्या इस कवि को दिखायी नहीं देता कि दुल्हा के मुख से एक भी उपमा मेल नहीं खाती। रात स्त्रियों के गीतों को सुनकर उसके हृदय में क्रोध का जो बवंडर उठा था, वह इस सेहरे को सुनकर फिर हरहरा उठा। तभी हुनर साहब ने उपस्थित जनों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करते हुए शेर पढ़ा।

यह तार हैं सेहरे के गर सीमीं शुआएँ तो
अपने में है आरिज़ भी दूल्हे का महे कामिल[1]

चेतन और न सुन सका। अधेड़ उम्र के इस गंजे विधुर को पूर्णिमा का चाँद कहना! चेतन को लगा कि न केवल सेहरा पढ़ने वाला ही अन्धा है, बल्कि सुनने वाले भी आँखों से वंचित हैं। उसका ध्यान सहसा रणवीर की ओर गया। विस्फारित नेत्र, सिर से पैर तक मानो कान बना वह खड़ा था। ऐसा लगता था जैसे हुनर साहब के मुखारविन्द से निकला हुआ प्रत्येक शब्द अमृत समान वह पी रहा है। चेतन ने चाहा जाकर दो थप्पड़ उस बूदम के मुँह पर जमा दे। सेहरा पढ़ने के लिए हुनर साहब को बुला लाया है! यदि कहीं उसकी अपनी बहन इस जैसे दुल्हे से ब्याही जाती, चेतन ने सोचा, तो वह सेहरे के बदले मरसिया पढ़ता, फिर चाहे उसके पिता मार-मारकर उसकी चमड़ी ही क्यों न उधेड़ देते।

लेकिन उसने रणवीर से कुछ भी नहीं कहा। केवल मन-ही-मन 'गधे' का खिताब देकर उसे दाँतों में 'गदहा' कहकर वह चुपचाप वहाँ से खिसक आया।

नीला गठरी-सी बनी दालान के एक कोने में बैठी थी। सहानुभूति का एक अथाह सागर उसके लिए चेतन के हृदय में ठाठें मार उठा। वह उसके पास पड़ी हुई लोहे की कुर्सी पर जा बैठा। किंतु नीला ने उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। वह बैठी रही और पाँव के अँगूठे से धरती पर बे-नाम की शक्लें बनाती रही।

चेतन नीला से कुछ कहना चाहता था। पर क्या कहे, उसे सूझ न

---

[1] सेहरे के तार यदि चाँद की किरणें हैं तो वर का मुख पूर्णमासी का चाँद है।

पाया। वह चुपचाप बैठा रहा और नीला ही की तरह पाँव के अँगूठे से धरती पर बे-नाम की शक्लें बनाने लगा।

सहसा बाहर ज़ोर-ज़ोर से बाजे बज उठे। शायद हुनर साहब ने सेहरा खतम कर दिया था और बारात वापस जाने को तैयार थी। तभी बाहर आँगन में चेतन को अपनी बड़ी साली के दो शब्द सुनायी दिये 'चले आओ इधर त्रिलोक, यह रही इधर तुम्हारी चाची।'

दूसरे क्षण हँसता-लजाता त्रिलोक दालान की चौखट में आ खड़ा हुआ। चेतन उसके लिए कुर्सी छोड़कर अलग हो गया।

"नीला यह है त्रिलोक, तेरे जेठ का लड़का।"

चेतन की दृष्टि उस नवयुवक पर गयी। पंच-शर-हस्त मदन-सा सुन्दर! फिर उसने नीला की ओर देखा—रति क्या इससे अधिक रूपवती होगी ?

तभी त्रिलोक ने कहा, "चाची जी नमस्ते!"

नीला ने आँख उठाकर देखा। चेतन को लगा जैसे क्षण भर के लिए नीला की दृष्टि त्रिलोक के मुख पर रुकी, उसका पीला-सा मुख लाल हो उठा और उस अँधेरे में उसकी उदास आँखों में एक अज्ञात-सी चमक कौंध गयी।

———————

७६

साडा चिड़ियाँ दा चम्बा वे
बाबल असाँ उड़ जाना।
साडी लम्बी उडारी वे
खबरे किस देस जाना?

आधी रात की निस्तब्धता में यह करुण गीत, जैसे किसी दूरस्थ प्रदेश से आकर निरन्तर चेतन के कानों में दर्द उँडेल रहा था। उसका गला भरा आ रहा था और आँखें आर्द्र हो चली थीं।

नीला की शादी हो गयी थी। चेतन अपनी पत्नी को वापस जालन्धर ले आया था। यद्यपि चन्दा इतने दिनों के बाद उससे मिली थी और यद्यपि आकाश पर बादल रिमझिमा रहे थे और ऋतु अत्यन्त सलोनी और सुहानी थी, लेकिन जब वह उसके साथ बरसाती के एकान्त में, एक ही चारपाई पर सोया तो उसके मन में ज़रा भी प्यार न जगा। उसकी बाँह पर अपना सिर रखे, उसके गदराये गर्म वक्ष से लगा वह चुपचाप

छत की ओर देखता रहा था। चन्दा ने एक दो वार बात चलाने का प्रयास भी किया, पर चेतन के संक्षिप्त उत्तरों ने उसे हतोत्साह कर दिया था। इस एक डेढ़ वर्ष के साहचर्य के बावजूद चन्दा कभी प्यार में पहल न कर पायी थी। वह कई दिनों की थकी हुई थी, इसलिए चेतन की उदासीनता ने उसके शरीर में सोयी हुई नींद उसकी पलकों में भर दी थी और वह चेतन से शिमले के बारे में बातें पूछते-पूछते सो गयी थी।

उसका इस तरह सो जाना चेतन को बुरा लगा था, लेकिन उसका ध्यान उस समय अपने अथवा अपनी पत्नी के मानापमान की ओर न था। उसके सामने तो नीला की बिदाई का दृश्य बार-बार आ रहा था और उसके कान निरन्तर सुन रहे थे—वही मधुर करुण गीत—

साडी लम्बी उडारी वे, खबरे किस देस जाना।

लम्बी उड़ान! कितनी लम्बी!! कहाँ जालन्धर और कहाँ रंगून? न जाने सदियों पहले अपने मायके और सहेलियों से दूर, अपनी ससुराल में बैठी किस दुखिनी की भावनाएँ इस करुण गीत में फूट पड़ी थीं। सदियाँ बीत गयीं, पर उस दुखिनी की परवशता उसी प्रकार बनी हुई है।

चेतन सोचता था इस गीत को सुनकर नीला के हृदय पर क्या बीत रही होगी? कितना पूरा उतरता था उसकी स्थिति पर यह गीत

साडी लम्बी उडारी वे......

बाहर वर्षा थम गयी थी। चेतन उठकर छत पर चला आया। बादल छटकर नीलाम्बर पर बहे जा रहे थे। हल्की-हल्की समीर चल रही थी। दूर सामने के मकान की ओट में छिपा हुआ पंचमी का चाँद अपनी मन्द ज्योत्स्ना से काली छत को बादलों की बराबरी करने से रोक

रहा था। चेतन के देखते-देखते रजत-वक्र सींग की नोक-सी छत के ऊपर बादल से बाहर निकलने लगी। आकाश में कई जगह फटे हुए मेघों में नीलिमा चमक उठी, नीचे के अंधकार में सोये खोये से मकानों की रेखाएँ उभर आयीं। धीरे-धीरे वह वक्र-सींग बाहर निकल आया, कुछ क्षण तक बहते हुए बादलों पर तैरता रहा; फिर शायद कोई भयानक काला बादल चढ़ दौड़ा और वह रजत सींग जैसे एक ओर से निकला था, वैसे ही दूसरी ओर से बढ़ती हुई उस कालिमा में डूब गया। मकान की छत फिर बादलों की बराबरी करने लगी। मकानों की रेखाएँ फिर तिमिर के उस बढ़ते सागर में डूब गयीं।

चेतन कुछ क्षण छत पर चक्कर लगाता रहा, फिर सीमेंट की ठंडी गीली शहनशीन पर बैठ गया। बायीं ओर मकानों की छतों के ऊपर दिखायी देता हुआ 'बरने पीर' का नीम एक बड़ा-सा धब्बा बनकर रह गया था। चेतन निर्निमेष उस धब्बे की ओर देखता रहा, फिर उसी धब्बे पर नीला के विवाह की समस्त घटनाएँ अपने छोटे-से-छोटे ब्योरे के साथ चित्रित हो उठीं।

त्रिलोक के प्रति नीला की आँखों में जो चमक पैदा हुई थी, उसने चेतन के मन में अज्ञात रूप से कहीं एक छोटा-सा ईर्ष्या का अंकुर उत्पन्न कर दिया था और रात होते-होते अंकुर एक पेड़ का आकार धारण कर गया था।

दिन भर चेतन उखड़ा-उखड़ा-सा घूमता रहा था। अपने सहपाठी मित्रों को उसने उनके घरों से जा खोद निकाला था और उनकी संगति में किसी-न-किसी तरह वक्त का गला घोंटकर वह संध्या को अपने चौबारे में जा लेटा था। जब बारात खाना खाने आयी थी तो वह अस्वस्थता का बहाना करके वहीं लेटा रहा था।

किंतु जब बारात जाने लगी थी और बाजे बजने लगे तो उसके लिए वहाँ लेटा रहना कठिन हो गया था। उठकर वह आँगन की मुंडेर पर जा बैठा और जब नीचे आँगन में उसने त्रिलोक की आवाज़ सुनी तो उसका दिल धक-धक करने लगा।

नीचे चची और जठीए (जेठ के लड़के) में क्या बातें हुईं, यह चेतन न जान सका, लेकिन जब त्रिलोक चला गया तो वह सब जानने के लिए वह आतुर हो उठा। अपनी छोटी साली शीला को अपने 'जीजा जी' के लिए पानी का गिलास लाने का आदेश देकर वह फिर अन्दर चारपाई पर जा लेटा था। जब शीला गिलास ले आयी तो उसने एक घूँट भरकर गिलास को सिरहाने के ताक में रख दिया और अपनी उस नन्हीं मुन्नी साली को गोद में लेकर पूछा—"नीचे कौन आया था शीलो!"

और भोली-भाली शीला ने अपने जीजा जी की प्यार भरी गोद में बैठे-बैठे सब कुछ बता दिया था कि 'और कौन आता, त्रिलोक आया था। नीला बहन से मज़ाक करता रहा। बेचारी नीला लजा-लजाकर रह गयी लेकिन उसे शर्म न आयी।'

और अपने जीजा जी के गले में बाहें डालकर उसने कहा, "आप तो बड़े 'बीबे'[१] हैं जीजा जी, पर त्रिलोक बड़ा 'गोला'[२] है।"

"क्या मज़ाक किये त्रिलोक ने तुम्हारी बहन से, शीलो?"

पर शीलो बेचारी इस बारे में अपने जीजा जी को कुछ न बता सकी। चेतन ने अन्दर-ही-अन्दर त्रिलोक की इस आदत पर जलकर अपनी साली को गोद से उतार दिया और अनमना-सा लेट गया।

त्रिलोक के प्रति यह जलन कैसी? निमिष भर के लिए चेतन के मन में ध्यान आया था कि उसे नीला के पति के प्रति क्यों ईर्ष्या न हुई जिसने

---

[१] **बीबा = अच्छा।** [२] **गोला = बुरा।**

नीला का सब कुछ हथिया लिया था, उसके इस भोले-भाले तरुण भतीजे के प्रति क्यों हुई?

लेकिन इस प्रश्न पर विचार करके उसका ठीक उत्तर ढूँढ़ सके, ऐसी स्थिति चेतन के मन की न थी! नीला का पति कुरूप था और चेतन के हृदय में यह सत्य अज्ञात रूप से छिपा हुआ था कि नीला अपने तन को भले ही अपने पति के चरणों पर रख दे, उसका मन उसे कभी न मिलेगा। वह मन उसके जीजा जी का ही रहेगा, चेतन को इस बात का विश्वास था। और उन मिलिट्री-एकाऊँटेंट के प्रति ईर्ष्या के बदले एक दया का भाव उसके मन में वर्तमान था।

और यह त्रिलोक, इसने उस विश्वास को डिगा दिया था, और नीला के तन और मन दोनों से वंचित हो जाना कदाचित् चेतन को प्रिय न था। वह बेचैनी से निरन्तर करवटें बदलता रहा था।

रात को चन्दा उसे स्वयं खाना खिलाने आयी थी और उसने चेतन को बताया कि सुबह ही नीला विदा हो जायगी। वर को शीघ्र ही अपनी नौकरी पर जाना है, इसलिए तीन से अधिक 'रोटियाँ'[१] वे लोग नहीं चाहते, सुबह नाश्ते के बाद ही वे नीला को विदा कराके ले जायेंगे। चन्दा ने उससे यह भी प्रार्थना की थी कि यदि उसकी तबीयत ज़्यादा ख़राब न हो तो नीला की विदाई के समय चेतन को अवश्य नीचे जाना चाहिए। गौना साथ ही दिया जा रहा था, इसलिए चन्दा ने उसे बताया था कि पहले नीला सुबह ही विदा होकर बारात के अड्डे (धर्मशाला) में जायगी। फिर जब बारात नाश्ते को आयेगी तो साथ ही उसे भी लेती आयेगी और दस बजते-बजते दूसरी और अन्तिम विदाई हो जायेगी। चन्दा ने पाँच रुपये भी उसके सिरहाने रख दिये थे कि विदाई के समय वह नीला के हाथ में रख दे।

---

[१] दावतें।

चेतन ने कुछ उत्तर न दिया था। रुपये चेतन ने तकिये के नीचे रख लिये थे और चुपचाप लेटा रहा था। तब चन्दा ने पूछा था—"क्या आपकी तबीयत कुछ ज़्यादा ख़राब है?"

"नहीं नहीं, कोई ऐसी बात नहीं, मैं दे दूँगा शगुन के रुपये!" और चन्दा आश्वस्त होकर नीचे चली गयी थी।

लेकिन चेतन की तबीयत वास्तव में ख़राब थी। तन से न सही, मन से वह अस्वस्थ था। वहीं लेटे-लेटे एक बार फिर उसके सामने इलावलपुर की वह घटना घूम गयी। किस तरह उसकी बीमारी की ख़बर सुनते ही नीला उसकी सेवा-सुश्रूषा में आ जुटी थी, उन चार-छः दिनों में वह कितना उसके समीप आ गयी थी। लेकिन अब......? वह कितना भी बीमार क्यों न हो जाय, वह न आयेगी। चेतन का जी चाहा, वह सचमुच बीमार पड़ जाय, मरणासन्न हो जाय। वह मर रहा है, यह सुनकर तो वह एक बार ज़रूर आयेगी। मरकर वह अपने उस पाप का प्रायश्चित्त कर देगा जो उसने अनजाने ही नीला का जीवन नष्ट करने में किया था। तब उसकी विकृत-अस्वस्थ-कल्पना के सामने उसकी अपनी मृत्यु का दृश्य भी घूम गया—वह मर रहा है, चन्दा उसके सिर को गोद में लिये बैठी है। उसकी सास, उसकी माँ, उसके भाई सब आँखों में आँसू भरे उसके आस-पास बैठे हैं। बाहर बाजे बज रहे हैं। नीला को जाना है। वह रुक नहीं सकती। उसके मिलिट्री-एकाऊँटेंट पति मिलिट्री के नियन्त्रण से बँधे हैं। उन्हें रंगून पहुँचना है। उनकी नव-परिणीता पत्नी के 'जीजा जी' की बीमारी या मौत कुछ भी उन्हें नहीं रोक सकता। जाने से पहले नीला क्षण भर के लिए आती है। अपने जीजा जी को मरणासन्न देखकर दो आँसू आप-से-आप उसके गालों पर ढुलक आते हैं। फिर वह चुपचाप उसके चरणों को छूकर, मुँह फेरकर, भाग जाती है।

नीचे आँगन में किसी ने उसकी पत्नी का नाम लेकर पुकारा था। चेतन की कल्पना का तार झन से टूट गया था। अपनी इस मूर्खता पर वह ज़ोर से हँस पड़ा था।

लेकिन उसकी हँसी ज़्यादा देर उसके ओठों पर नहीं रही। उसकी आँखों के सामने से अचानक एक पर्दा उठ गया था। अपना वास्तविक नग्न रूप उसके सामने आ गया। वह नीला को चाहता है, इस डेढ़ वर्ष के वैवाहिक जीवन के बावजूद चाहता है। उसकी उदास मुस्कान, उसकी उन्मन दृष्टि, उसके पीले मुख, उसके शरीर के एक-एक अंग को उसी शिद्दत से चाहता है, जिस शिद्दत से उसने उसे उस दिन चाहा था जब वह अपनी भावी पत्नी को देखने बस्ती ग़ज़ाँ आया था और उसने नीला की चंचल मूर्ति देखी थी। उसकी चाहना और उसकी शिद्दत में ज़रा भी तो कमी नहीं आयी थी। बुद्धि, धर्म, नैतिकता, समाज, विवाह यह सब दीवारें, जो यथार्थ में उसकी चाहना को घेरे थीं, कल्पना में गिर गयी थीं और उसके प्रेम की लौ, जिसे फ़ानूस की बिल्लौरी दीवार ने धुँधला कर रखा था, उसके टूट जाने पर स्पष्ट ही चमक उठी थी। चेतन ने बेचैनी से करवट बदली।

और उसकी रात करवटें बदलते गुज़र गयी थी। दूर किसी मुर्ग़ ने प्रातः की अज़ान दी जब उसका मस्तिष्क थककर सो गया था।

सुबह जब वह जगा था तो बारात नाश्ता खाकर जा चुकी थी। नीला की पहली बिदायगी हो चुकी थी और वह दूसरी और अन्तिम बार जाने को तैयार थी।

"जीजा जी उठिए, जीजा जी उठिए!" शीला के निरन्तर झकझोरने से वह उठा था और यद्यपि उसने 'चलो मैं आता हूँ शीलो' कहकर फिर लेटने का प्रयास किया था किंतु शीला ने उसे सोने न दिया था, "चन्दा

बहन ने आपको बुलाया है" उसने उसे फिर झकझोरा था, "नीला जा रही है !"

वह उठकर बैठ गया था और शीला नीचे भाग गयी थी। लेकिन चेतन नीचे न गया था। मन में उसने निश्चय कर लिया था कि जब नीला लम्बा-सा घूँघट निकाले अपने बड़े भाई या चाचा की गोदी में बैठ, अपने वर के पीछे-पीछे जाकर ताँगे में बैठ जायगी तो वह बिना उससे आँखें मिलाये उसके हाथ में पाँच रुपये की भेंट दे आयगा।

न जाने क्यों, न जाने कहाँ से, एक अज्ञात क्रोध उसके मन में आकर बैठ गया था। वह सोचता भी था वह किससे रूठा हुआ है ? नीला से ! उससे रूठने का उसे क्या अधिकार है ? इसका उत्तर उसे न मिला था। लेकिन उत्तर न पाकर उसके मन का क्रोध कम न हुआ था और न वह वहाँ से हिला ही था।

अभी शीला को गये चंद ही मिनट हुए होंगे कि चन्दा भागी-भागी ऊपर आयी "चलिए भी ! आप अभी तक यहीं बैठे हैं।"

"तुम घबराओ नहीं" चेतन ने अपनी पत्नी को आश्वासन देते हुए कहा था "मैं जाकर नीला का शगुन दे आऊँगा। अभी मेरे सिर में चक्कर आ रहे हैं।"

"आपकी तबीयत ख़राब है तो आराम कीजिए" चन्दा घबरा गयी थी "क्या करूँ इतना काम है नीचे कि आपके पास बैठ नहीं पायी। नीला की बिदायगी हो जाय तो आपके सिर में तेल मल दूँगी। लाइए रुपये दे दीजिए, आपकी ओर से मैं ही शगुन दे दूँगी।"

लेकिन चेतन को यह स्वीकार न था। नीला से चाहे उसका साक्षात्कार न हो, लेकिन वह उसकी अन्तिम झलक अवश्य पा लेना चाहता था। चन्दा को तसल्ली देते हुए बोला, "नहीं, नहीं कोई ऐसी बात नहीं, तुम चलो मैं आता हूँ।"

और चन्दा के जाने के बाद वह इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि कब बाजे बजने लगें, कब नीचे स्त्रियाँ नीला को लेकर गाती हुई चलें तो वह भी नीचे उतरकर उनके पीछे-पीछे हो ले।

तभी बाजे बजने लगे और स्त्रियों ने गीले भारी स्वर में गाना शुरू किया :—

साडा चिड़ियाँ दा चम्बा वे
बाबल असाँ उड़ जाना
साडी लम्बी उडारी वे
ख़बरे किस देस जाना ?

चेतन के जी को कुछ होने-सा लगा था। उसे अपने-आप पर क्रोध हो आया था। क्यों उसने चन्दा को रुपये न दे दिये। उसका जी कहीं भी जाने को न चाहता था। वह तो चाहता था, वहीं लेटा रहे और इतने दिन से मन में एकत्र होने वाली घटनाओं को आँखों के रास्ते बहा दे।

क्षण भर को वह फिर लेट गया। जब बाजे दूर चले जायँगे तब वह उठेगा, उसने मन-ही-मन सोचा और करवट बदली। लेकिन तभी सीढ़ियों में उसे गहनों-कपड़ों में लदी नीला छम-छम करती हुई आती दिखायी दी।

चेतन उठकर बैठ गया। उसका दिल धक-धक करने लगा।

नीला चौखट में आकर खड़ी हो गयी। दोनों हाथ बाँधकर मस्तक तक ले जाते हुए उसने लगभग आर्द्र स्वर में कहा, "जीजा जी नमस्ते, मेरी भूल-चूक क्षमा कर दीजिएगा।"

वह तेज़ी से मुड़ने को थी कि चेतन ने उठकर उसका हाथ थाम लिया। उसके क्रोध, ईर्ष्या, दर्द की चट्टानें जैसे नीला के एक ही वाक्य से पानी-पानी होकर बह चलीं।

"नीला मुझे माफ़ कर दो, मैंने सचमुच तुम्हारा बड़ा अपराध किया है।" और वह उसके चरणों में झुक गया!

"जीजा जी आप क्या करते हैं!" नीला ने उसे कन्धों से थामा, और फिर पीठ मोड़कर वह सिसकी को दबाती हुई नीचे को भाग गयी।

बादलों की नयी तहें आकाश पर छा गयी थीं। पंचमी के चाँद की ज्योत्स्ना गहरे अंधकार में जा छिपी थी, मकान, उनकी छतें, बरसातियाँ और बरने पीर का नीम सब अंधकार का अंग बन गये थे। एक दो बूंदें चेतन की नाक पर गिरीं। उसके विचारों का क्रम टूट गया। गीली शहनशीन पर बैठे-बैठे उसकी कमर दुखने लगी। वह उठा और अन्दर बरसाती में चला गया।

चन्दा गहरी नींद सो रही थी। चेतन चुपचाप उसके साथ जा लेटा। यौन-सम्बन्ध पर कविराज का उपदेश उसके कानों में गूँज उठा। उसे अपना प्रण भी याद आया और वह मन-ही-मन हँस दिया। कहाँ है उसका वह प्रण, उसकी वह वासना, उसकी नसों में तरल आग का उबाल। उसकी पत्नी उसके पास लेटी है, उसका गर्म गदराया शरीर उसके शरीर के साथ सटा हुआ है, लेकिन पास-पास लेटे हुए भी उसे लगता है जैसे वे एक दूसरे से कोसों दूर हैं; जैसे एक अभेद्य, अदृश्य दीवार उन दोनों के बीच खड़ी है।

वहीं लेटे-लेटे, अंधकारमय-शून्य में उँनींदी आँखों से तकते-तकते चेतन को लगा कि यह दीवार उसके और उसकी पत्नी के मध्य ही नहीं, नीला और त्रिलोक के मध्य भी है, और जब उसने और भी सोचा तो जाना कि नीला और त्रिलोक के मध्य ही नहीं, बल्कि इस परतन्त्र देश के सभी स्त्री-पुरुषों, तरुण-तरुणियों, वर्गों और जातियों के मध्य ऐसी ही अगनित दीवारें खड़ी हैं—कविराज में और उसमें, उसमें और जयदेव में, जयदेव

में और यादराम में—इन दीवारों का कोई अन्त नहीं। उस तिमिराच्छन्न निस्तब्धता में चेतन ने अगनित प्राणियों की मूक सिसकियाँ सुनीं जो इन दीवारों में बन्द थे और निकलने की राह न पा रहे थे। इन दीवारों की नींव कहाँ है? ये कब गिरेंगी, कैसे गिरेंगी? बार-बार सोचने पर भी चेतन को कुछ मालूम न हो सका। उद्विग्न व्यथित वह उठकर घूमने लगा।

बाहर ज़ोर-ज़ोर से वर्षा होने लगी और आँगन के जंगले पर पड़ी हुई टीन की चादरें वर्षा के निरन्तर थपेड़ों से क्रन्दन कर उठीं।

आ लो च ना एँ

श्री शिवदान सिंह चौहान

श्री शमशेर बहादुर सिंह

यथार्थवादी परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का उपन्यास 'गिरती दीवारें' लगभग सात सौ पृष्ठों का एक वृहद् उपन्यास है। स्वर्गीय प्रेमचंद के 'गोदान' के पश्चात् हिन्दी में लघु उपन्यासों की प्रथा रही। अधिकांश उपन्यास दो-तीन सौ पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ सके, केवल 'अज्ञेय' का उपन्यास 'शेखर—एक जीवनी' ही एक वृहद् उपन्यास इस बीच प्रकाशित हुआ है। उसके दो भाग निकल चुके हैं, तीसरे भाग की प्रतीक्षा की जा रही है। परन्तु 'शेखर—एक जीवनी' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है, और यद्यपि उसकी शैली अत्यन्त परिष्कृत और उसकी टेकनीक अति आधुनिक है, परन्तु मूलतः वह एक रोमांटिक उपन्यास है। इसके ठीक विपरीत 'गिरती दीवारें' मूलतः एक यथार्थवादी उपन्यास है, पर इस व्याख्या से उसका मूल्य 'शेखर' से किसी भी अर्थ में कम नहीं है, क्योंकि 'गिरती दीवारें' की शैली और टेकनीक भी इतनी सुगठित, सुष्ठ, परिष्कृत और कला पूर्ण है कि निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के 'गोदान' की यथार्थवादी परम्परा में 'अश्क' का यह उपन्यास एक बहुत बड़ा और साहस

सम्भवतः इस कथन में अत्युक्ति नहीं है कि 'गिरती दीवारें' पूर्ण क़दम है। हिन्दी की यथार्थवादी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में गणना करने योग्य है। प्रेमचंद के 'गोदान' ने यदि किसान जीवन का सांगोपांग चित्रण किया है तो 'अश्क' ने 'गिरती दीवारें' में निम्न-मध्य-वर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण किया है।

'गिरती दीवारें' वस्तुतः निम्न-मध्य-वर्ग के युवक चेतन की जीवनी है। चेतन 'अज्ञेय' के उपन्यास के नायक शेखर की तरह अभिजात कुल का नहीं, अतः वह प्रारम्भ से ही अपनी वंशानुगत अथवा जन्म-जात प्रतिभा की प्रखर चेतना से आक्रांत नहीं है कि सोते-जागते अपने मन में अपनी प्रतिभा की माला फेरता रहे कि मैं प्रतिभावान हूँ, असाधारण हूँ। चेतन ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि-जर्जर परिवार में पैदा हुआ था, जहाँ चीकने पात वाले होनहार बिरवा भी जीवन की दुर्द्धर्ष विषमताओं के वर्षा-आतप-घाम में रुक्ष और धूल-धूसरित दिखायी देते हैं। इस कारण शेखर की तरह अपने जीवन की अधिकांशतः अनुकूल परिस्थितियों पर शासन करके लोगों से प्रतिभा की महत्ता स्वीकार करा लेने की समस्या चेतन को उद्वेलित नहीं करती। वह सब से पहले जीना चाहता है और जीने के विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता है और इस संघर्ष के दीर्घ पथ पर साहसपूर्वक चलने के क्रम में वह अपनी प्रतिभा को कठोर अनुभवों की शिला पर टकरा-टकराकर तीव्र से तीव्रतर और उत्तरोत्तर अधिक मानवीय, सामाजिक और व्यापक बनाता जाता है। इसी कारण 'अश्क' के उपन्यास में न लम्बी-चौड़ी सैद्धान्तिक बहसें हैं, न मतामत का प्रचार, न मिथ्या दार्शनिकता का ढोंग—उसमें साधारण घटनाओं से बना साधारण जीवन अपने सम्पूर्ण सजीव वातावरण की रूप-रस-गन्धमय-चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है, यही उसकी विशेषता है।

यों कहने के लिए 'गिरती दीवारें' की समस्या पुराने ढंग के अनमेल

विवाह से उत्पन्न जीवन के दुर्निवार असामंजस्य की समस्या है, परन्तु वास्तव में 'अश्क' ने अपने को इस समस्या तक ही सीमित नहीं रखा है। 'गिरती दीवारें' का प्रत्येक वाक्य वर्तमान जीवन की विषमता की विविधता का रहस्योद्‌घाटन करता है और आज के सम्पूर्ण जीवन को अगनित समस्याओं की एक जटिल ग्रंथि के रूप में उपस्थित करता है—एक ऐसी ग्रंथि के रूप में जो अपनी जर्जरता को छिपाने के लिए अधिकाधिक निर्मम, कठोर और हिंसक बनती जा रही है, पर साथ ही जीवन के उद्दाम गति-वेग और अविराम परिवर्तन के थपेड़े खाकर जिसके बन्धन असह्य वेदना, गहरी निराशा और मानसिक उद्विग्नता पैदा करके टूटते जा रहे हैं।

इस विशाल रूपक को 'अश्क' ने चेतन की अपेक्षाकृत साधारण पर संश्लिष्ट जीवनी में अत्यन्त कलात्मक ढंग से आबद्ध किया है।

'गिरती दीवारें' अपनी शैली, कला, चित्रण और मानवीयता के कारण निश्चय ही हिन्दी का एक अनुपम और महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'अश्क' ने इसमें चेतन; चेतन के उग्र, कठोर, शराबी पिता—शादीराम; आत्मभीरु, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ—लज्जावती; नवागत यौवन और सौन्दर्य से दीप्त नीला; सरल-हृदया पत्नी चन्दा; धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र-चित्रण इतना स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक किया है कि ये पात्र स्मृति में घर बना लेते हैं। साथ ही जालन्धर, इलावलपुर, लाहौर और शिमले के वे स्थान जहाँ पर इस उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं, उनका चित्रण भी अत्यधिक सजीव हुआ है। एक प्रकार से 'अश्क' की यथार्थवादी शैली की यह विशेषता है कि उन्होंने वातावरण या परिवेश का चित्रण इतना विशद और सूक्ष्म किया है, जितना हिन्दी के किसी लेखक ने नहीं किया। और 'गिरती दीवारें' पढ़ते समय सहज ही तुर्गनेव, दोस्तोवस्की और गोर्की के उपन्यासों

का स्मरण हो आता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'गिरती दीवारें' अत्यन्त सबल और सफल कला का उपन्यास है और यदि 'गोदान' और 'शेखर' हिन्दी में अमर रहेंगे तो 'गिरती दीवारें' की अमरता पर भी आँच नहीं आयेगी।[1]

---

[1] आल इण्डिया रेडियो दिल्ली के सौजन्य से।

अश्क आधी मंज़िल पर

इस नाविल का हीरो कौन है—बस्ती ग़ज़ाँ, जालन्धर, लाहौर और शिमला की तंग बोसीली गलियों के नीचे-नीचे मकान और उनकी दीवारें (जो उनके बीच रहने वालों की किस्मत पर हर तरह से छा जाती हैं)—या इन बस्तियों का तंग-दस्त, तंगदिल छोटे बाबू लोगों का दबा-घुटा तबक़ा (जिस पर हाय-हाय की फटकार बरसती ही रहती है) या कि इसी तबक़े की कहानी सुनाने वाला उस तबक़े का एक भावुक नमूना —खुद चेतन ?

मध्य-वर्ग का यह व्यक्ति, चेतन, अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज़ समझता है। यह बड़ी और क़ीमती चीज़ जब ठोस हक़ीकत की चट्टानों से टकराती है तो जतन से पाले हुए उसके सपने, प्यारी-प्यारी विडंबनाएँ और सुनहरे आदर्शवाद सिसकियाँ लेने लगते हैं। ठोकरों पर ठोकरें; ज़हर के घूँट पर घूँट; अन्दर-ही-अन्दर नफ़रत और गुस्से के उबाल पर उबाल और आखिर हार-थककर सजीले सपनों का ज़िन्दगी के बाट-बटखरों से समझौता। और तब वह क़ीमती चीज़ बड़ी दर्दनाक हो जाती है। 'ईश्वर' और 'धर्म' की तरह 'मनुष्यता,' 'संस्कृति', 'कला,' 'प्रेम,' और 'मान-

अपनी असली क़ीमत रखते हैं; इस
प्रतिष्ठा'—सब पूँजी के बाज़ार में ही
सच्चाई को चेतन बहुत-सी कारी चोटें खाकर सीखता है। चुपचाप अपने आँसू के घूँट पीकर वह सीखता जाता है।

वह पहले 'प्रकृति' की गोद में अपनी चोटें छिपाता था तो अब 'कला' की शरण में आ जाता है—क्योंकि इसमें, 'अपने कटु वातावरण से उसके पलायन' में, 'आत्माभिव्यक्ति' का सुख है; और तभी उसको कुछ त्राण मिलता है; कुछ।... मगर 'कला' में भी उसको नजात का असली रास्ता नहीं मिलता। क्योंकि वह अभी तक अपनी अकेली हस्ती को बहुत बड़ी चीज़ समझता है। हालाँकि वह पूरे सिलसिले की एक कड़ी है, उससे अलग कुछ नहीं—है ही नहीं।

—मगर अभी उसने सारी कड़ियाँ कहाँ गिनी ?

चेतन असल में 'गिरती दीवारें' का हीरो नहीं। इसका असली 'हीरो' एक-के-पीछे-एक लगा हुआ इन कड़ियों का वह सिलसिला है, जिनके बग़ैर चेतन महज़ हवा में हाथ-पाँव मारने वाली एक छाया की तरह रह जाता है। इस सिलसिले के सब से भरे-पूरे और सजीव व्यक्ति हैं—चेतन की माँ, सब्र और सन्तोष की देवी—उपन्यास में शायद सब से कामयाब चित्र; उसका बाप, नशे और क्रूरता का देव; उसके बड़े भाई साहब, जो हर ख़रख़शे से बचने के लिए छड़ी उठाकर बाहर निकल जाते हैं; कुन्ती—उसके प्यार की पहली चीज़ और उसके सब से गहरे प्रेम को पाने वाली नीला; और इस प्रेम की आड़, उसकी भोली-भाली बीवी चन्दा। और चेतन की समाजी ज़िन्दगी को बनाने-बिगाड़ने वाले और दूसरे लोग; जैसे, 'हुनर' साहब, गाँवों में आकर शहर में रंग जमाने वाले शायर; सरदार जगदीश सिंह, समाज के शरीफ़ लुटेरों के हाथ का खिलौना; ख़ास तौर से कविराज रामदास, चेतन जैसे होनहार नवयुवकों का 'भला करने' और उनकी प्रतिभा को 'चूसने वाली' एक सब से मोटी, सब से चिकनी, चालाक

और अच्छी-भली जोंक; और प्रकाशो और मन्नों गल है कि दुबारा पढ़ने
अलावा शिमला के म्युज़िक कॉलेज के प्रोफ़ेसर, और की इच्छा होती
पूरा हलका; वगैरह-वगैरह। इन सब लोगों का पूरा फ़िल्म जि
चलता है, चेतन वह पर्दा है। इस हंगामे से अलग वह सिर्फ़ एक छाया है
जो आपको कभी-कभी उदास कर देती है। कभी-कभी बहुत उदास कर
देती है। क्योंकि वह सारा फ़िल्म उसी पर अंकित हुआ है। अश्क ने ख़ुद
उसको एक कैनवस का स्थान और दर्जा दिया है; चाहे अनजाने में ही।
वह कैनवस ख़ासा बड़ा है, इसमें सन्देह नहीं।

'गिरती दीवारें,' इस कैनवस पर, हर उस घटना, दुर्घटना, आशा, आकांक्षा, सफलता-असफलता, प्यार और चोट का, उनकी ऊहापोह का, उपन्यास है, जो निचले मध्य-वर्गी जीवन का ताना-बाना कसते और ढीला करते हैं—या बुनते हैं। हर गली कूचे और मकान-ड्योढ़ी के परिचय, और घर बाहर के अपने-पराये के सम्बन्ध से एक सस्ते ओछेपन की बू आती है, ज़िन्दगी के हर मोड़ पर सीलन की-सी ठहरी हुई ग़लीज़ बेशर्म बू; और हर चीज़, हर बात के अन्दर एक हाय-हाय भरी बेकार-सी जी-तोड़ और जान-मार कोशिश...जिसका नतीजा आख़ीर में एक दीन, विपन्न, दयनीय रूप से मुस्कराती हुई हार, लाचारी और समझौता।

बस यही रंग है हर तरफ़ इस निचली मध्य-वर्गी दुनिया का। चेतन के व्यक्तित्व के ऊपर से एक समझौते की खुरंड जब उतरती है तो नीचे से दूसरी खाल समझौते के लिए तैयार होकर निकल आती है। ये खुरंड भी इस व्यक्ति में उन दीवारों का नमूना है, जो उसे समाज में हर तरफ़ से और बहुत दूर तक, एक-के-बाद-एक घेरे चली गयी हैं। चेतन ने इन दीवारों के नक्शे बहुत तफ़सील के साथ बनाये हैं। बस्ती-बस्ती इनकी नीवें गल चुकी हैं...सीली बदबू भरी, तंग, अँधेरी, नीची दीवारें—चंगड़ों का मोहल्ला, बस्ती ग़ज़ाँ, रुल्दू भट्टा...और इनके निवासी, रूढ़ियों के कमज़ोर पुतले।

गाली गलौज, पाखंड, व्यभिचार, ढकोसले, दिखावे, रूढ़ ईर्ष्याएँ, पल-छिन सस्ती बेइमानियाँ . . .। बीसियों दीवारों की तो एक-एक ईंट तक अपनी कहानी कलाकार चेतन को सुना चुकी है। हर घटना; हर बात एक कहानी। यह सही है कि इनमें बाज़-एक कुछ ज़रूरत से ज़्यादा तूल खींच जाती हैं; जैसे गेटी थियेटर के सिलसिले में एक अध्याय तो नाटक पर निबन्ध ही हो गया है। या इससे पहले सरदार जगदीश सिंह जी का किस्सा।

मगर मध्य-वर्ग का पाठक इस उपन्यास में अपने वर्ग के एक परिवार का नमूना इतनी नज़दीक से देख लेता है, उस परिवार का अन्दर-बाहर उसके पीछे और आगे का भरा-पूरा 'क्लोज़ अप' चित्र, और इतनी तरफ़ों से लिया हुआ, उसकी आँखों के सामने आता है, कि इसका जोड़ उसे हिन्दी के किसी एक नाविल में कम—और शायद ही कहीं—मिलेगा।

इस नाविल का संतुलन यानी सम्हाल इसलिए मुश्किल भी हो जाता है और इस मुश्किल ज़िम्मेदारी को 'अश्क' पार भी कर गये हैं, मेरी निगाह में—कि चारों तरफ़ से डाली गयी लाइट में बार-बार चमक उठने वाले चेतन के आगे-पीछे और चारों तरफ़ के सीन और चित्र इतनी सारी कहानियाँ बन जाते हैं, कि नाविल के रूप में उनका तार, उनकी बँधी हुई लड़ी, टूटने-टूटने को और एकदम ढीली-ढीली-सी होने को हो जाती है, ख़तरा यह पैदा होने लगता है कि एक-एक अध्याय कई छोटी-मोटी कहानियों का, और फिर पूरा नाविल ऐसी ढेर-सी कहानियों का संग्रह बनने लगता है और फिर आखिर में निबन्ध-जैसे शुरू हो जाते हैं। (—'अश्क' उर्दू-हिन्दी के एक बहुत सफल कहानी लेखक हैं और यह शायद उनका दूसरा, मगर महत्वपूर्ण पहला ही, नाविल है।) मगर इन कहानियों के गुच्छों को ख़ासे लपेटे देकर, उनके तार अलग-अलग न लटकने देकर, उनका एक लम्बा रस्सा—मुख्य कथानक का—बना दिया गया है। मुमकिन है उपन्यासकार की यह कोशिश—उपन्यास की यह जुज़बंदी—बाज़ पाठकों को कहीं-कहीं

असफल-सी लगे, यानी ढीली। मगर, मेरा ख़याल है कि दुबारा पढ़ने पर—और इसके कितने ही हिस्सों को फिर से पढ़ने की इच्छा होती है—नाविल काफ़ी कसा हुआ मालूम होगा।

'गिरती दीवारें' का टेकनीक हमारे पुराने मन्दिरों की मूर्ति-कला की याद दिलाता है, जिनकी दीवारें मूर्तियों से भरी होती थीं। एक बीच की बड़ी मूर्ति, फिर अगल-बगल दो-चार, उससे छोटी, फिर इनके चारों तरफ़, इन मूर्तियों की कथा चित्रित करती हुई छोटी-छोटी अनेक मूर्तियाँ।... देवी-देवता; उनके गण; और उनके सेवक; और उनकी लीलाएँ...

दीवार हमारे सामने खड़ी है। मगर हम जानते हैं कि वह गिर रही हैं। रंग तो उड़ ही चुका, उसके पलस्तर भी सब ढीले-ढाले हो चुके हैं। अब नये ज़माने की चोटों में वह और न सम्हाल सकेगी।... 'गिरती दीवारें' के सभी पात्रों में मध्य-वर्गीय जीवन का गया-बीतापन, उसकी सस्ती ढीला-पोली, उसका बासी रूखापन, उसका बेहँसी की हँसी लिये हुए चेहरा, उस जीवन के व्यक्तियों की कीड़ों-सी तड़पन, पतिंगों की-सी हाय-हाय, बिलबिलाहट... जिसका इलाज है, बस, फ़नैल का एक सैलाब।

...दीवारें हैं कि दीमकों का भट: वैद्य रामदास, हुनर साहब, चेतन के बड़े भाई साहब, सरदार जगदीश सिंह, ख़ुद चेतन के घर के लोग, दादी और माँ और बाप और ससुर, बीवी और भाई और चेतन ख़ुद—सब के सब जैसे कविराज रामदास की ही किसी नयी पुस्तक के ('विवाह के भेद आदि' सिरीज़ में!) पात्र और उसके ख़रीदने वाले अलग-अलग रोगी हों। घुन का ढेर। रोग-कीटाणुओं के घर।

...टी० बी० के मरीज़ों का खाली किया हुआ जैसे कोई घर, जिसके कमरों में ज़रूरत है कि आग की लपट दिखाकर उसे 'शुद्ध' कर दिया जाय।

ख़ुद चेतन 'हीरो' जो इन सारी वास्तविकताओं से धीरे-धीरे सचेत

होता जाता है, रोगी है। उसका रोग नीला, उसकी साली, नहीं—या ही नहीं।......

कितनी सही फबती है, कि वह गेटी थियेटर में जॉफ़रान (बाँदी) बनता है और ऐनक पहने स्टेज पर चला आता है और उसको ख़बर नहीं कि सारा हाल क्यों हँस रहा है। मध्यकालीन दरबार में इस बाँदी की नाक पर ग़लती से प्रतिभाशाली लेखक वाली ऐनक रखी रह गयी है, वह और नीचे खिसक आती है। और सारे हाल को भी ख़बर नहीं कि वह अपने ही ऊपर हँस रहा है। एक 'पैंटालून' है वह[1] नाविल भर में चेतन पर जो इस बेदर्दी से प्रहार हुए हैं, वे निम्न-मध्य-वर्ग के खोखलेपन को, उसके ख़ाली-पोलेपन को, आख़ीर में और भी आँखों के आगे मूर्त कर देते हैं।—जहाँ नीला की शादी दूर-पार बर्मा में एक अधेड़ से हो रही है, जिसके जवान भतीजे की आँखों में नीला खड़ी हँस रही है। वही ग़रीब नीला, चेतन की सब से प्यारी चीज़; बेचारा चेतन;—आँखों से जीवन के उपहास का आख़िरी (आख़िरी ?) पर्दा उठ रहा है। 'गिरती दीवारें' का आख़िरी सफ़र खतम हो जाता है। मगर 'गिरती दीवारें' ख़तम नहीं हुई हैं। न उनका गिरना।

इसलिए यह उपन्यास खतम नहीं होता है, अधूरा रह जाता है। जहाँ आकर यह उपन्यास 'खतम होता है', वह आधी मंज़िल का विराम है। इसका 'परिशिष्ट' गिरी हुई दीवारें या नई नींवें जिनमें मज़बूत मिट्टी कूट-कर भरी जा रही हो, है; और चेतन (क्योंकि वह 'चेतन' है—लेखक का, स्पष्ट ही, स्थानापन्न) उनको देख रहा है। 'गिरती दीवारें' सन् ३०-३१ के आस-पास का निम्न-मध्य-वर्ग है। अभी तो—'लौट के 'बुद्धू' घर आया' है।

...

---

[1] **इटैलियन नाटकों के विदूषक जैसा।**

...चेतन ने बुद्धिजीवी कलाकार की राह पकड़ ली है। यह राह असन्तोष की है, झल्लाहट और अप ो और दुनिया भर के ऊपर क्रोध की है। इन झल्लाहटों—यानी उनके कारणों को दूर करने की है। अपने-आपको बदलने की है, यानी समाज को बदलने की। भागने की नहीं...बग़ावत की है।

अभी चेतन के आगे बहुत से पर्दे उठने बाकी हैं। सन् ३०-३१ के बाद हमारा समाज एक बहुत तेज-रौ कहानी है।

सन् ३०-३८ के चेतन या तो अब तक खतम हो लिये होंगे 'श्रीमान्,' 'शर्मा जी' या 'माननीय' बनकर, या वे सचमुच अपने समाज की नई चेतन-शक्ति बनकर, वे कलाकार बुद्धिजीवी, अपने समाज को उठा रहे होंगे अन्यथा वे ज़िन्दा नहीं रह सकते, उन गिरती दीवारों के बीच—जिनमें बहुत-सी तो सन् ४८ तक आप ही गिर चुकी होंगी। अगर्चे 'गिरती दीवारें' के आवरण पर 'पहला भाग' कहीं नहीं लिखा हुआ है, मगर मैं समझता हूँ कि इसके बहुत से पाठक इसकी कथा के अन्दर से साफ़ उसको पढ़ लेंगे, और 'अश्क' के दूसरे नाविल का सब्र के साथ इन्तज़ार करेंगे।